❀ श्रीपरमात्मने नमः ❀

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा की विषयानुक्रमणिका
निर्वाण पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध

❀ समाप्त ❀

श्रीगणेशायनमः

अथ

श्रीयोगवाशिष्ठ–भाषा

निर्वाण–प्रकरण

—❀:❀—

पहला सर्ग

—❀—

दिवस रात्रि-व्यापार,वर्णन

वाल्मीक जी ने कहा—हे भरद्वाज! अब तुम निर्वाण प्रकरण सुनो। इसको सुनकर तुम निर्वाणपद को प्राप्त होवोगे। इसमें मुनिवर वशिष्ठजी ने रामजी को ऐसा उपदेश किया है कि उसे सुनकर राजा रामचन्द्र और अन्य श्रोतागण निस्पन्द हो चित्रित से रह गये। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों जगत् कुछ है ही नहीं। वे तेज रहित और शीतल होगये। सभाके लोग और पक्षी तथा देवगण इत्यादिक वहां जितने प्राणी एकत्रित थे, सब प्रसन्न और शान्त होगये। तदनन्तर अनेक प्रकार के मङ्गलवाद्य बजने लगे कि जिसको सुनकर सब लोग प्रसन्न होगये और उपदेश-कर्ता मुनिवर वशिष्ठजी भी मौन होगये। कुछ क्षण के पश्चात् जब बाजों का बजना बन्द हुआ तब वशिष्ठजी ने रामजी से कहा--हे रामजी! तुमको आत्मपद में स्थित होने ही के लिये मैंने यह वाक्य--जाल की रचना रची है, अतः इसे सुनकर अब तुम आत्मपद में स्थित हो जावो। यदि तुम मेरे इन वचनों पर अहर्निश चिन्तन और मनन करोगे तो निश्चय ही संसार सागर को पार करके परमपद के भागी बनोगे। अन्यथा जो प्राणी इस पर आचरण न करेंगे वह संसाररूपी गढे में गिरकर अनेक कष्ट

को प्राप्त होवेंगे। पर यदि तुम इसको ग्रहण कर सङ्गरहित हो व्यवहारानुकूल विचरण करोगे तो आत्मसिद्धि प्राप्त होते देर न लगेगी। शास्त्र बतलाता है कि तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनारहित हो जावे तो ऐसे अभ्यास से सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। इस कारण हे राम, लक्ष्मण, और नृपतिजन! आप लोग मेरे उपदेश पर बारम्बार विचार करो। यही मेरा अन्तिम कथन है। अब जो कुछ कहना है, कल कहूँगा।

यह कहकर विश्वामित्र सहित मुनिवर वशिष्ठजी उठ खड़े हुये। उनके खड़े होते ही सारी सभा भी उठ खड़ी हुई। तदुपरान्त विश्वामित्र को साथ ले वशिष्ठजी अपने आश्रम को चले और श्रोतागण भी अपने-अपने मण्डलोंको प्रस्थानित हुये। राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न जी वशिष्ठजी को आश्रम तक पहुँचा गये। वहां से पुनः राजसदन को लौट अपने नित्यनैमित्तिक कर्मों को समाप्त कर भोजनोपरान्त रात्रि समय एकान्त आसन पर विराजमान हो वशिष्ठजी के उपदेशों पर विचार करने लगे। इसी प्रकार अन्य श्रोतागणों ने भी अपने २ धामों में वशिष्ठजी के उपदेशों पर विचार किया। राम आदिक राज कुमार तो रात्रिके तृतीय प्रहर तक विचार करते ही रहे और चौथे प्रहर में उन्होंने विश्राम किया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग

विश्राम दृढ़ीकरण वर्णन

प्रातःकाल होने पर राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्नादिक संध्यावन्दन कर वशिष्ठजी के आश्रम पर गये। उस समय वशिष्ठजी सन्ध्यादि करके हवन कर रहे थे। आश्रम जनसमूह से शून्य था। पर रामजी के पहुँच जाने पर सहस्रों प्राणी एकत्रित हुये। तदुपरान्त हवन करके वशिष्ठजी उठे और रत्नादिकको लेकर राजा दशरथ के द्वारपर पहुँचे।

राजा दशरथ पहले ही से मुनि वशिष्ठ के स्वागतार्थ खड़े थे। इससे वशिष्ठजी के पहुँचने पर आदर-पूजन के साथ मुनि को सभा भवन में ले जाकर व्यासासन पर बिठाया। तत्पश्चात् अनेक श्रोताजन आगे आकर यथा स्नान विराजमान हुये! तब रामजी की ओर देखकर वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी! कल मैं जो उपदेश कर गयाथा क्या आज तुमको उसका स्मरण है? वे उपदेश बड़े गम्भीर और आनन्द देनेवाले परमार्थ के रूप हैं। उनको तुम सदैव स्मरण रखो। अब आगे में आत्म-सिद्धान्त शास्त्र का वर्णन करता हूँ तुम ध्यान देकर मेरे इन अज्ञानरूपी शत्रुओं के नाशकर्ता इन्दुप्रभा वचनों को सुनो। इस वैराग्य और तत्व के विचार मात्र से संसारसागर को पार कर जाओगे। यह उपदेश सम्यक तत्व से पूर्ण है। इसको मनन करने से दुर्बोधता का नाश हो वासनाओं का क्षय हो जायगा और तुम दुःख रहित पद को प्राप्त करोगे। वह पद ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत रूप होकर स्थित हुआ है, केवल प्रेमवश द्वैत के समान भासित होता है। अन्यथा वह सब भावों से परे अविछिन्न सर्व ब्रह्म है। ऐसे महत् स्वरूप को जानकर तुम शान्तिमान होवोगे। चित्त, अविद्या, मन और जीव आदिक कुछ नहीं हैं ब्रह्म से ही यह कलनायें मात्र स्फुरित हुई हैं। इससे आकाश, पाताल और पृथ्वी में शिवसे तृण तक जो भी दृश्य हैं, सब उस ब्रह्म चिद्रूप से ही हैं। मित्र और बन्धुजन इत्यादिक सब ब्रह्म ही हैं। जगत में बुद्धि की स्थिरता अज्ञानता कलना से है और जब तक शरीर में अहंभाव एवं आत्मरहित दृश्यों में मोह है तब तक चित्त आदिक कलना और भ्रम होता रहेगा। यह मूर्खत्ता बिना सतसङ्ग और बिना सत्शास्त्र के क्षीण नहीं होने की और मूर्खता के क्षीण हुये बिना चित्त आदि भ्रम के दूर न होंगे और उच्च पद भी नहीं प्राप्त होगा। जब तक शरीराभिमान शिथिल न हो जाये और सम्यक ज्ञानसे जब तक स्थिरता न प्राप्त होजाये तब तक संसार की भावनायें नहीं मिटती हैं। चित्रादि भावनायें और विषयों

की आशा ने ही प्राणियों को अज्ञान से अन्धा और मोहसे मूर्छित कर दिया है। हे रामजी ! इस मोह वनको जब तक विचाररूपी चकोर नहीं प्राप्त होता तब तक भोग वासनायें नहीं शान्त होतीं। यदि यह शान्त ही रहे तो प्राणी इतने दुःखी न हों। हे रामजी ! जो पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हैं, वे अपने को शरीर से दूर देखते हैं और उनके लिए सारा संसार ब्रह्ममय ही दिखलाई पड़ता है। ऐसे आत्मदर्शी पुरुषों में जीव आदि का भ्रम नहीं रहता। क्योंकि वे अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर चुके हैं और उनका चित्त नष्ट हो गया है। ऐसे महात्मा और समदर्शी पुरुषों को सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है। उनको वासनायें नहीं दिखलातीं। उनका मन चैतन्य है और उनका चित्त सत्य पद को प्राप्त हुआ है। ऐसे ज्ञानी को जगत लीलामात्र भाषित होता है। उसको सदैव आत्मा की ही ज्योति का दर्शन होता है और वह सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहता है। वह सब कर्मों में लगा भी रहता है पर मोह को नहीं प्राप्त होता। क्योंकि उसकी सब वासनायें जल गई हैं और सारी आसक्तियों का नाश होगया है। ऐसे पुरुष जन्म मरण के चक्कर में नहीं पड़ते। वह ब्रह्म और जगत को दो नहीं समझते। हे रामजी ! तुम भी ऐसे ही ब्रह्म हो। इसलिये तुम अपने स्वरूप को स्मरण करो तब शान्ति पावोगे। तुममें वासना का स्मरण कैसे हो सकता है, तुम तो महाघन रूप हो। तुम जो हो, वही हो। तुममें और उसमें कुछ अन्तर नहीं है। जिसके अन्दर सारे पदार्थ हैं, जिसमें मैं तुम और अन्य की कलना है और जो सत् असत् रूप होकर भासता है, तुम वही हो। ऐसे सत्यस्वरूप, चिद्घन आत्मा को मेरा नमस्कार है। हे रामजी ! तुम वही हो, इसलिये तुम्हारी जय हो। तुम्हारा कोई आदि अन्त नहीं, तुम विशाल हो और तुम्हारा स्वरूप अगाध के समान निर्मल है। अतएव तुम अपने घनस्वरूप में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

ब्रह्मैक प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले---हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप चिदात्म है, उस चेतनरूपी स्वरूप में जगतरूपी लहरें उठती और लीन होती रहती हैं। इससे तुम्हारा जो स्वरूप है वही रूप जगत का भी है। उसमें वासना आदिक आवरण नहीं है। जीवादि की अन्यान्य वासनायें केवल आत्म-किञ्चन मात्र हैं अन्य कुछ वस्तु नहीं। तब इनका प्रसङ्ग ही क्या है ? हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त सरल गम्भीर और प्रकाशरूप है। उस समुद्र में रामरूप तुम एक तरङ्ग हो। ऐसा आत्मतत्व ही जगतरूपी व्यापारी जान पड़ता है। किन्तु वह ब्रह्म है और नित्यरूप है। उस अनुभव से अहं भिन्न नहीं और अहं से जीव भिन्न नहीं। जीव से मन भिन्न नहीं। मनसे इन्द्रिया भिन्न नहीं इन्दियों से शरीर भिन्न नहीं और शरीर से जगत भिन्न नहीं है। ऐसे महाचक्र में न कोई न्यून है न अधिक है, केवल अखण्डसत्ता जो परमतत्व है और जिसे ब्रह्मसत्ता भी कह सकते हैं वही अपने आपमें स्थित है। उसमें द्वैत कल्पना कुछ नहीं केवल वही सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण भाव से अटल स्थित है। जो महान् पुरुष अपने ऐसे स्वरूप में स्थित हैं वे जीवन्मुक्त हैं। ऐसे पुरुष को मन और इन्द्रियां विचलित नहीं कर सकतीं। ऐसे ज्ञानी को ग्रहण और त्याग कुछ नहीं हैं, वह सबसे परे है। ग्रहण और त्याग की बुद्धि तो दुःख प्रदान करती हैं। हे रामजी ! जगत की वस्तुओं में आत्मतत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मा से नाना प्रकार की उपाधियों को पाकर ही यह जगत रूप भासता है। इसलिये जगत का ऐसा स्वरूप जानकर तुम उसी में स्थित हो अपने वर्णाश्रमीय धर्मों का पालन करते हुए पाषाणवत भय हर्ष और शोक से रहित होवो। ऐसे सम्यक ज्ञान से अज्ञान और मोह नष्ट हो जाते हैं। आत्मज्ञान अज्ञान

को काट डालता है। हर्ष, शोक आदिक राग-द्वेष के विकार तो। चित्त तक ही हैं। पर ज्ञानी के पास तो चित्त रहता ही नहीं। ज्ञानी तो सोते हुये जागता रहता हैं। इससे अनात्मा में अहं भाव की नष्टता से वह कहीं बन्ध्यायमान नहीं होता। कारण कि ज्ञान से उसकी सारी वासनायें नष्ट हो गयी हैं और चित अचित्त हो गया है। ऐसे पुरुष ही जीवन्मुक्त हैं और उनको सुख दुःख में ग्रहण त्याग कुछ नहीं है और सदैव आत्मा में ही स्थित हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

❀:०:❀

चोथा सर्ग

चित्त भावाभाव वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जगत का कारण तभी तक है जब तक चित्त अज्ञान है। जब अज्ञान का नाश होता है तब मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार और इन्द्रियादिकों का निनान्त अभाव होजाता है। पर अज्ञान विना वेदान्तशास्त्र एवं आत्मविद्या के अभ्यास के वह दूर नहीं होता और अज्ञान का कारण है तृष्णा ! जब तक तृष्णा उपशम न हो, तब तक अज्ञान नहीं मिट सकता। जिसको तृष्णा मिटाने की इच्छा हो वह अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करे। इससे यह तृष्णारूपी विषूचिका रोग अवश्य शान्त हो जाता है जब आत्मचिन्तन और अभ्यास से मन शान्त हो जायेगा, जब विचार से मूर्खता नष्ट हो जायगी जब चित्त अचित्त भाव को प्राप्त होगा तब वासनाओं का भ्रम वैसे ही छिन्न भिन्न हो जायगा, जैसे तागे मोती की पिरोई हुई लड़ियाँ टूटने पर वे भिन्न २ हो जाती हैं। इसी प्रकार अज्ञान के नष्ट होने पर मानआदिक नष्ट हो जायेंगे। जो पुरुष ऐसे उत्तम अध्यात्मशास्त्र को ग्रहण नहीं करते वे पापी कीटादिक नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। हे कमलनेत्र रामजी ! तुम में जो अज्ञान और चंचलता थी वह अब नष्ट हो गई है और जब तुम आकाश के समान निर्मल और स्थिर पदको

प्राप्त हुये हो। अब मुझे विश्वास है कि तुम मेरी वाणीके द्वारा अज्ञान रूपी निद्रा से जागकर बोधवान हो गये हो। क्यों न हो जब साधारण जीव भी हमारी वाणी से जाग जाते हैं तब उदार बुद्धि तुम पर इसका प्रभाव क्यों न होगा? एक बात यह भी है कि जब गुरु दृढ़ होता है तब शिष्य शुद्धपात्र हो जाता है। क्योंकि गुरु के वचन उसके हृदय में प्रवेश कर जाते हैं। मैं समर्थ गुरू हूं, मुझे अपने स्वरूप का सदा प्रत्यक्ष ज्ञान है। फिर मैंने जो वचन कहा है वह शास्त्रके अनु-सार कहा है, तुम्हारा हृदय भी शुद्ध है, इससे मेरी वाणी को उसमें स्थान मिल गया। अब तुम चिन्ता से रहित होकर अपने प्राकृतिक आचार को करो

यह कहकर बाल्मीकिजी बोले कि, जब वशिष्ठ ने ऐसा कहा-तब सूर्य अस्त होने लगे। तब सभा के लोग परस्पर नमस्कार कर अपने २ स्थानों को गये और दूसरे दिन सूर्य भगवान् के उदय होते ही यथास्थान आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

—०:❀:०—

पाँचवां सर्ग

राघव विश्रन्ति वर्णन

इस प्रकार महाज्ञानी गुरुवर वशिष्ठजी सहित सभामंडली के यथा-स्थान विराजमान होने पर रामजी ने वशिष्ठजी से कहा-हे मुनीश्वर? आपके अमृतमय उपदेशों को सुनकर मैं तृप्त नहीं होता हूं। साथ ही संसार जाल में रहित हुये अब मुझे शान्ति मालूम होती है। अब मुझे चारों ओर से आत्मा का ही दर्शन होता है। अब मुझे नानात्व की कोई भावना नहीं है। आप द्वारा प्राप्त सम्यक्ज्ञान से अब मुझको शुद्ध आत्मा का दर्शन हो रहा है और मेरा मोह नष्ट होगया है। अब तक रागद्वेष रूपी धूलि जो मेरे हृदय में उड़ रही थी वह आप द्वारा दिये गये ज्ञानरूपी वर्षा से शान्त होगई है। इससे

अब मैं आदि अन्त से रहित अमृत तुल्य आत्मानन्द को प्राप्त हुआ हूँ। यही नहीं उसके आगे अमृत का स्वाद भी तुच्छ सा जान पड़ता है। अब मुझे ज्ञात हो रहा है कि मैं 'राम, सब में रमने वाला हूं। मेरा मुझे नमस्कार है। अब राग द्वेष से रहित होकर मैं अपने हृदय कमलमें स्थित हूँ।,जिस प्रकार चक्कर लगाता हुआ भ्रमर कमल में प्रवेश कर स्थिर हो जाता है उसी प्रकार मैं आत्मारूपी सागर में स्थिर हूँ और अपने पूर्व प्रकृति को देखकर अब मुझे हँसी आती है इत्यादि। हे मुनिश्वर ! आपके उपदेश-सागर में स्नान कर अब शोक रहित, परम शुद्ध सम, शील और अद्वैत भाव और अनुभव को प्राप्त हुआ हूं।

श्री योगवशिष्ठ भाषा निर्माण—प्रकरण का पाचवा सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

छठवाँ सर्ग

अज्ञान महातप वर्णन

रामजी का वचन सुनकर वशिष्ठजी बोले—हे महाबाहो ! निश्चय ही अब तुम आत्मपद को प्राप्त हुये हो। पर अब बोधवृद्धि के लिये मेरे ऐसे उपदेश को पुनः श्रवण करो कि जिसको सुनकर अल्पबुद्धि वाला भी आनन्द को प्राप्त होगा। हे रामजी ! जिसको अनात्मा में अभिमान है और आत्म ज्ञान नहीं है उसको इन्द्रियरूपी शत्रु दुःख देते रहते हैं। पर जिनको आत्मा का साक्षात्कार हो गया है उनको इन्द्रियां दुःख नहीं देतीं वल्कि उनकी मित्र हो जाती हैं। किन्तु जो विषयों का सेवन करते हैं उनको तो महान दुःख प्राप्त होता है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कैसा ? इन दोनों में तो तम और प्रकाश जैसा अन्तर है। आत्मा विकार रहित, नित्य मुक्त निर्लेप और उदय अस्त से भी रहित है। तब उस प्रकाशरूप भगवान्

आत्माका सम्बन्ध शरीरसे कैसे हो सकता है ? शरीर तो जड़, अज्ञान-रूप, असत्य और नाशवान है। पर आत्मा चेतन, ज्ञान, सत् और प्रकाश रूप है। फिर शरीर के साथ उसका क्या संयोग ? संयोग तो अज्ञानवश जान पड़ता है। मेरे ये वाक्य अटल हैं। यदि इन वाक्यों पर बारम्बार अभ्यास करोगे तो यह संसार का मोह छूट जायगा और संसार का मोह छूटजाने पर तुम्हें आत्माकी सद्भावना होगी। पर जब तक अज्ञानरूपी निद्रा से न जागोगे तब तक आवरण न हटेगा। इसको हटाने के लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है और उस अभ्यास में भी आवरण बार-बार आकर घेरता है, पर दृढ़ता पूर्वक करते रहने से एक दिन उसका समूल नाश अवश्य होगा। इसलिये अज्ञान और मोह नाश के लिये दृढ़ अभ्यास करो। हे रामजी ! जब तक शरीरके गुणोंका समूल नाश न होगा, तबतक आत्मदेव कभी प्रसन्न नहीं हो सकते। क्योंकि शरीर के गुणों पर प्रसन्न होना उनका स्वभाव नहीं। यदि वह ऐसा करें तो वह भी जड़ शरीर के ही समान हो जांय। इसी प्रकार यदि यह शरीर आत्मा के गुणों को ग्रहण करे तो यह भी चेतन हो जाने पर इस जड़ को कुछ ज्ञान नहीं। अतएव शरीर और आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं। फिर उससे सम्बन्ध करके व्यर्थ के लिये दुःख में क्यों पड़ते हो ? आत्मा चेतन है और शरीर जड़ है। फिर आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कैसा ? और जब सम्बन्ध नहीं तब संयोग किससे ? हे रामजी ! सूक्ष्म और स्थूल, दिन और रात्रि, ज्ञान और अज्ञान का संयोग नहीं होता। ऐसे ही आत्मा और शरीर का संयोग नहीं होता है। शरीर के सुख दुःख से आत्मा सुखी और दुःखी नहीं हो सकता। उसमें विकार कोई नहीं। वह सर्वदा निर्लेप है। यदि उसका ज्ञान हो जाये तो शरीर भी भ्रम में न पड़े। तब उसे सत्यासत्य का ठीक २ ज्ञान होजायगा। जिस प्रकार दीपक हाथमें रहने से सत् और असत् पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ज्ञान रहने से सत्यासत्य की यथार्थता प्रकट होती है।

पर अज्ञान से मोह और भ्रम होता है और उसमें पड़कर अज्ञानी जीव कदापि स्वस्थता नहीं प्राप्त करता है। ऐसे अज्ञानी प्राणी नट के समान अनेक रूप धारण किया करते हैं। उनकी गति कठपुतली के समान है! वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को अपनी चेष्टा से ग्रहण करते रहते हैं। पर जड़ वस्तुओं की चेष्टा के समान ही उनकी चेष्टायें होती हैं। क्योंकि उनके वचन आदि की चेष्टायें अनर्थ और दुःख के लिये हैं उनसे कोई कल्याण और सुख की आशा नहीं। इसीसे अज्ञानी जीव का साथ कभी सुखदायी नहीं हो सकता। उनको दान देना व्यर्थ है, उनके साथ बोलना ऐसा ही है जैसा यज्ञ में श्वान को बुलाना निष्फल है। अज्ञानी जीव शरीर की आस्था करके संसार में जन्मते मरते और पुत्र स्त्री बन्धु-बान्धव से मोह बुद्धि करते हैं जिससे वे सर्वदा दुःख पाते हैं। उनको मुक्ति कदापि नहीं मिलती, कारण कि वे अज्ञानी सदैव दृश्य-पदार्थों में लगे रहकर यथार्थ वस्तु की ओर से नेत्र बन्द किये रहते हैं। फिर उनको वह परमार्थ धन कैसे प्राप्त हो सकता है। वे मूर्ख तो स्त्री को देखकर प्रसन्न होते हैं और यह नहीं जानते कि वह स्त्री रूपी बेलि उनका समूल नाश कर देगी। वह उसके नेत्र रूपी पुष्प, अधररूपी पत्र और स्तन रूपी गुच्छे पर भँवरों के समान मँडराया करते हैं। फिर तो उस बुद्धिरूपी सरोवर के कमल में दुःखरूपी तरङ्गों में पड़ कर मरण रूपी वड़वानल द्वारा भँवाभार हो जाते हैं। हे रामजी! एक तो यह गर्भाग्नि से ही जलता हुआ जन्म लेता है दूसरे जन्म से लेकर युवा और वृद्धावस्था तक विषय सेवन करता हुआ तृष्णा की अग्नि में जलता है। ऐसे जन्म-मरण की अवस्था में यह जीव सदा भ्रमता रहता है। इसको तृष्णा और वासना रूपी टिड्डियाँ सदैव खाया करती हैं। पर ज्ञानी को संसार का कोई दुःख नहीं प्राप्त होता और अज्ञानी का संसार सागर पार करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वह अपने भीतर ही भीतर भ्रमता है और उससे

निकल नहीं पाता। उसको अल्प दुःख भी महान हो जाता है। जिस प्रकार कोल्हू के बैल को गृह में ही अधिक मार्ग चलना हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी को भी तुच्छ संसार बड़ा हो जाता है। उसके लिये पञ्चभौतिक पदार्थ सुन्दर मालूम होते हैं और वह उन्हीं में प्रीति करता है, यद्यपि वे पदार्थ सारे अनर्थों की जड़ है।

श्री योगवशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छठवां सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सातवां सर्ग

अज्ञान-माहात्म्य-वर्णन

हे रामजी! यह जगत अज्ञान से स्थित है। अज्ञान रूपी चन्द्रमा जब पूर्ण होकर स्थित होता है तब कामना रूपी क्षीर-समुद्र अनेकों तरङ्गों सहित उछलने लगता है। तब तृष्णा रूपी मंजरी पुष्ट होकर काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी चकोर को अपने ओर आकर्षित करती है। इसलिये अभिमान रूपी रात्रि को निवृत्त कर विवेक रूपी सूर्य को उदय करने की आवश्यकता है। उस सूर्य के उदय होने पर अज्ञानरूपी चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण हो जायगा, अन्यथा नहीं। हेरामजी! अज्ञानसे ही जीव भ्रमते और विपर्यय चेष्टा करते हैं। इसीसे निकृष्ट और दुःखरूपी पदार्थों को देखकर वे सुखी होते हैं और स्त्री को देखकर तो उनकी प्रसन्नता की सीमा ही नहीं रहती। यद्यपि कविजन स्त्री की विशेष प्रशंसा और स्तुति करते हैं पर वह स्त्री रक्त मांस की पुतली के सिवा और कुछ नहीं हैं। मूर्ख उसको व्यर्थ ही रमणीक जानकर मोहसे मोहित होते और नाश को प्राप्त होते हैं। भला कोई सर्पिणी से भी सुख प्राप्त कर सकता है? जिस प्रकार कदली वन का हाथी कामके वश अंकुश पाता हुआ अपमानित होता है, उसी प्रकार मूर्ख भी स्त्री की इच्छा करके अनेक दुःख पाते हैं। स्त्री की इच्छा करके मूर्ख जीव पतङ्ग के समान नाश को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी का आश्रय करने वाला भी दुःख को प्राप्त होता है। देखने और भोग करने

में तो लक्ष्मी बहुत ही सुन्दर जान पड़ती है, परन्तु सुख की इच्छा करने वाले को यह सुख नहीं देती, दुःख ही दे जाती है। लक्ष्मीकी प्राप्ति अनेक दुःख, अनर्थ और पापों की जड़ है। इसलिए हे रामजी! जगत में सुख की इच्छा करना व्यर्थ है। जन्मकाल और बाल्यावस्था से लेकर युवा और वृद्धावस्था तक जीव को अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं, शान्ति नाम मात्र को भी नहीं मिलती। सारा जगत अज्ञान से पूर्ण है। जन्म मरण बाल्यावस्था, युवावस्था, और वृद्धावस्था आदिक विचार अज्ञान से जान पड़ते हैं। इस कारण अज्ञान को नष्ट कर आत्मविचार के द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकण का सातवां सर्ग समाप्त॥ ७॥

आठवां सर्ग

अविद्यालता-वर्णन।

हे रामजी! यह संसार एक वृक्ष है, जिसमें अविद्यारूपी वेलि लगी हुई विकसित हो रही है। सुख, दुःख, भाव अभाव और अज्ञान आदि उस वृक्ष के फूल और फल हैं। उस वृक्ष से अविद्या ही सुख और दुःख दिया करती है। जब विचाररूपी घुन उस अविद्यारूपी वृक्ष में लग जाता है। तब वह वृक्ष नष्ट हो जाता है। उस अविद्या की जड़ है संवित अर्थात् प्रकाश। उसी संवित से यह नाना प्रकार की विस्तार करती है। जब उस अविद्यारूपी वृक्ष में विचाररूपी घुन लगे तब कहीं वह नष्ट होती है, अन्यथा नहीं। स्थावर जङ्गम रूपी जगत का जितना प्रसार है और मानव जीवन से लेकर देव-जीवन ब्रह्मा विष्णु तक जितने शुभ अशुभ कर्म और भाव कुभाव आदिक रूप और भूत, भविष्य, वर्तमानकाल इत्यादि जो कुछ भी देखने और सुनने में आता है—सर्वत्र इसी की महिमा विद्यमान है। हे रामजी! इसके दृश्यजाल से जो परे हो उसे आत्म-लाभ का भागी हुआ समझो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण का आठवां सर्ग समाप्त॥ ८॥

नवाँ सर्ग

अविद्या निराकरण

यह सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि हे भगवन् ! विष्णु और महेश आदिक तो शुद्ध निराकार वर्ण के हैं, आप उनको अविद्या कैसे कहते हैं ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! यह जानने के लिये पहले अविद्या और उसका तत्व जानो। अविद्यमान का विद्यमान प्रतीत होना अविद्या है और जो सदैव विद्यमान है वह तत्व है। हे रामजी ! जो चिन्मात्र सत्ता शुद्ध संवित और कल्पना से रहित है वह तत्व है। उस तत्व में अहं की भावना से जो संवेदन हुआ वही उसका आभास है। वही संवेदन फुरकर स्थान-भेद से सूक्ष्म स्थूल और मध्य भावको प्राप्त हुआ है। फिर वही दृढ़ स्पन्द से मनभाव हुआ है। उस मन के सात्वकी, राजसी और तामसी तीन स्वरूप हैं। वही तीनों त्रिगुणात्मक प्रकृतिधर्मिणी अविद्या है। उन तीनोंके तीन-तीन गुण पृथक-पृथक हैं। इसलिये अविद्या के कुल नौ गुण हैं। जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं सब में अविद्या के नवों गुण विद्यमान हैं। ऋषि, मुनि, सिद्ध, नाग, विद्याधर और देवगण इत्यादिक अविद्या के सात्विक अंश से हैं ! नाग सात्विक-तमास से और शेष ऋषि, मुनि आदिक देवता सात्विक राजस से तथा भगवान् और महादेव केवल सात्विक अंश से उत्पन्न हुए हैं। हे रामजी ! सात्विक अंश प्रकृत भाग है, उसमें जो तत्ववेत्ता उत्पन्न हुए हैं वह मोह को नहीं प्राप्त होते और वह मुक्तिके साक्षात् स्वरूप हैं ! भगवान् और महादेवजी आदिक शुद्ध सात्विक हैं, इससे वह जगत में रहते हुए भी सर्वदा मुक्तिस्वरूप हैं। जब जगत् में रहते हैं तब जीवन्मुक्त भाव से रहते हैं और जब विदेहमुक्त होते हैं, तब परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। उस अविद्या के दो रूप हैं एक अविद्या और दूसरी विद्या। अविद्या से ही विद्या उत्पन्न होती है और विद्या से ही अविद्या का

नाश होता है। पर यह दोनों ही भावना मात्र हैं। इससे तुम इस तम और प्रकाश को त्यागकर आत्मसत्ता में स्थित होवो। क्योंकि वही सत्ता सर्वत्र व्याप्त है और वही ब्रह्मतत्व सर्वशक्ति है और वह आकाश से भी शून्य है। पर वही दूध में घृत के समान जगत में सर्वत्र व्याप रहा है। जिस प्रकार दूध को मथे विना मक्खन नहीं निकल सकता, उसी प्रकार बिना बिचार किये आत्मा नहीं भासता। वह अविनाशी है। उसके निकट जगत का कोई भाव नहीं। उसी आत्मा की सत्ता से जगत दैहाहिक चेष्टा करते हैं अर्थात् चैतन्यता आती है। पर वह आत्मा सदैव अकर्ता है। इससे जगत का बीज चेतन आत्मसत्ता है। वही तुम्हारा स्वरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाणप्रकरण का नवा सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

दसवां सर्ग

अविद्या-चिकित्सा-वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! यह सारा जगत चिदाकाश रूप है, इसमें जीवादि की भावाभाव सम्बन्धी कोई कल्पना नहीं है। जो भाव प्रतीत होता है वह ऐसा ही असत्य है जैसे जेवरा का सर्प असत्य है केवल आत्म अज्ञानवश भेद कल्पना भासती है। आत्मज्ञान होने से भेद कल्पना निवृत्त हो जाती है। जब उस शुद्ध चेतन से चित्त का सम्बन्ध होता है, तब अविद्या होती है। किन्तु उस पुरुष का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। चाहे शरीर रहे चाहे नाश हो सर्वदा जैसा है वैसा ही रहेगा। केवल चित्त की चञ्चलता वश मूर्ख कहते हैं कि हमारी आत्मा व्याकुल है। जब उनके चित्त की वृत्ति शांत होती है तब वह उसीको अचल कहते हैं। वे मूर्ख यह नहीं जानते कि यह सब खेल चित्त का है। उनको पता नहीं कि हम अपनी वासना वश मकड़ी के समान आप ही आप वेष्ठित हो रहे हैं।

इतना सुनकर रामजीने पूछा-कि हे मुनीश्वर ! जो अपनी मूर्खता

वश स्थावर आदिक शरीर पाये हैं, कृपा कर बतलाइये कि उनकी वासना कैसी है? वशिष्ठजी कहने लगे,—हे रामजी! स्थावर आदिक मनरहित सत्ता में स्थित हैं और उनकी पुर्यष्टक सुषुप्ति रूप और दुःख का कारण है। मनरहित अर्थात् उनका मन नहीं नष्ट हुआ और वे सुषुप्ति अवस्था में जड़रूप स्थित हैं। कभी समय आने पर वे भी जागेंगे। रामजी ने कहा, स्थावर शरीर की सत्ता अद्वैतरूप है, इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्ति अवस्था उसके निकट है। वशिष्ठ जी ने कहा—मुक्ति का निकट होना क्या सरल है? क्या बिना बुद्धि-पूर्वक विचारे ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है? मुक्ति तो बिना आत्म-पद को प्राप्त किये नहीं मिलती। इसके लिये पहले आध्यात्मिक शास्त्रों का चिन्तन करते हुये उनसे जो सारवस्तु प्राप्त हो और जब बार-बार उसका चिन्तन करे तब वह सत्ता प्राप्त होती है और वही सत्ता परब्रह्मसत्ता है। क्या स्थावर जीव की वासना नहीं है? उसमें भी वासना है। यह बाहर से न दिखलाई पड़े पर उसमें भी सुषुप्ति वासना लगी हुई है। वह वासनाओं के जाग्रत होने पर उगते और जन्म लेते हैं। दिखलाई नहीं पड़ते। पर उनमें भी जगत की वासना लगी हुई है। वे भी अनेक जन्म पाकर दुःखी हुआ करते हैं कोई भी जीव क्यों न हो, जब तक उसमें वासनाओं का अणुमात्र भी अंश रहेगा, मुक्ति प्राप्त होना कठिन ही नहीं असम्भव है। सुषुप्ति अवस्था ही वह अवस्था है जिसमें वासनायें तो रहती हैं पर प्रकटरूपसे दिखलाई नहीं पड़तीं और नितान्त वासना रहित पद को तुरीयापाद कहते हैं और वही पद सिद्धिदा एवं मुक्तिदा है। उसी को जन्म मरण से मुक्त होना भी कहते हैं। यह स्थावर जङ्गम जितने भी जीव हैं सब में वासना भरी पड़ी है और घटपट आदिक सब पदार्थों में आत्मसत्ता समान भाव से स्थित है वही सर्वत्र व्यापमान है। ऐसी समदृष्टि एवं आत्मदृष्टि जिसको प्राप्त होती है वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। परन्तु जो असम्यकदर्शी हैं और जिन्हें पण्डितजन

अविद्योपासक कहते हैं अथवा जिनकी ऐसी दृष्टि ही अविद्या है, वही अविद्या जगतका कारण है और उसी से यह सारा जाल फैला हुआ है। उससे परे जो अपना स्वरूप है जब उसका प्रत्यक्ष हो तब वह अविद्या नष्ट होती है। उसका शुद्ध स्वरूप जान लेने पर वह अविद्या कदापि नहीं रह सकती और उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। उस शुद्ध स्वरूपके अभ्याससे सारा भ्रम नाश हो जाता है और अविद्या नष्ट हो जाती है। उसके लिये पहले यह विचारना चाहिए कि मेरा शरीर तो रक्त-मांस और अस्थियोंसे बना हुआ एक यन्त्रमात्र है, तब मैं क्या वस्तु हूँ ? सत्य क्या है और असत्य भी क्या है? ऐसा अनेक विचार करते हुए आत्मतत्व का अभ्यास करे और असत् शरीरादि से वैराग्य करे। तब असत् अविद्या नष्ट हो जाती है। फिर तो उसके नष्ट होने पर निष्किञ्चन स्वरूप जो सत् वस्तु है वही ग्रहण करने योग्य रह जाती है।

श्री योगवशिष्ठ भाषा निर्वाण—प्रकरण का दसवां सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

—ः:*:ः—

ग्यारहवां अध्याय

जीवन्मुक्त निश्चयोर्वर्णनम्

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! तुमको ज्ञान होने के लिए मेरा यही बार-बार उपदेश है कि भावना सहित अभ्यास बिना आत्मदर्शन नहीं हो सकता। जन्म जन्मान्तर से जो अज्ञान अविद्या का पर्दा उस पर पड़ा है और जो आत्मा इन्द्रियों से अगोचर है वह मन के षटविकारों सहित अभाव हुए बिना शान्तिको कैसे प्राप्ति होगी? उसके अविद्या और निकृष्ट दो रूप हैं। बहिर्मुखवृत्ति प्रधानरूप अविद्या है। इसलिये तुम अविद्याका नाश करो। इसके लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास के विना कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। अभ्यासरूपी वृक्ष से ही किसी को कुछ फल मिलता है। अन्यथा अविद्या तो जन्म जन्मान्तर से दृढ़ हुई है वह नाश कब होने की। जब ज्ञान-कृपाण से हृदय रूपी वृक्ष

की अविद्यारूपी लता को अपने प्राकृतिक आचार से निरन्तर काटते रहोगे तब तुमको कोई दुःख न होगा। जैसे ज्ञात ज्ञेय होकर राजा जनक अपने सब व्यवहारों को करते हुए भी आत्मज्ञान का दृढ़ अभ्यास करते थे, वैसे ही तुम भी विचरो। हे रामजी ! इसी निश्चय से लेकर आगे के ऋषि मुनि और देवता व्यवहार करते हुए विचरते थे। यह जितना भी विस्तृत जगत तुझको भास रहा है, वह केवल ब्रह्मसत्ता की महिमा से स्थित है। ग्रहण करने वाला, भक्षण करने वाला और शत्रु मित्र जो कुछ भी है सब ब्रह्म ही ब्रह्म अपने में स्थित हैं। ज्ञानीजन सर्वदा ऐसाही विचार करते हैं और इसलिये ब्रह्म ही को सर्वत्र स्पर्श करते हैं। ऐसे निश्चयवान पुरुषको राग-द्वेष नहीं रहता। उसके लिये भाव अभाव सब कुछ ब्रह्म ही है। तब राग-द्वेष कहां से हो ? उसके लिए मृत्यु भी ब्रह्म है, शरीर भी ब्रह्म है और मरण भी ब्रह्म है। भोग भोक्ता आदिक सब कुछ ब्रह्म ही है। वह सर्वदा ब्रह्म में ही स्थित रहता है। आत्मा में मेरे तेरे का कुछ भेद नहीं होता। इससे आत्मा में जो जगत है वह भी आत्मा ही है, यथार्थदर्शी पुरुष को सदैव ऐसा ही निश्चय रहता है पर जिनको सम्यक ज्ञान नहीं हुआ है उनको उलटा ही भासता है। पर वह सदा एक रूप है। उसमें द्वैतभावना तो ऐसे ही है जैसे जेवरी में सर्प। ऐसे ही भ्रमवश अज्ञानी को जगत दुःख रूप जान पड़ता है। पर ज्ञानी को वही सुखरूप है। मैं भी यही जानता हूँ मैं नित्य शुद्ध और सबमें स्थित हूँ। मेरे लिये न किसी का विनाश होता है और न कोई उत्पन्न होता है। संसार की समस्त भूत जातियां एक आत्मा ही में स्थित हैं और सारा जगत आत्मा है। वही आत्मब्रह्म अपने आप में स्थित है। शरीर का नाश होजाय, पर आत्मा का नाश कदापि नहीं होता। वह आत्मा ही अनेक रूप धारण कर भासित हो रहा है। उस आत्मा से जगत व्यतिरेक नहीं। शरीर कलना और इन्द्रियां तथा देवगण आदिक उस आत्मा से भिन्न नहीं हैं और

ब्रह्मरूप हैं। उस ब्रह्म में सुख और दुःख कोई नहीं। मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार और इन्द्रियाँ आदिक सब ब्रह्म ही के नाम हैं। उसमें अहं आदिक शब्दों की कल्पना करनी मूर्खता और व्यर्थ है। क्योंकि ब्रह्म सर्व शक्तिमान है। उसमें जैसी भावना करे वैसा भास आता है। इसलिये सम्यकदर्शी उसे निरहङ्कार, सुप्रकाश और सर्व शक्तिमान ही देखते हैं। ऐसे ज्ञानी के लिये ब्रह्म ही अर्पण, ब्रह्म ही हवि और ब्रह्म ही अग्निहोत्र होता और ब्रह्म ही फल देनेवाला है। जो ऐसा नहीं जानते हैं वे अज्ञानी हैं। हे रामजी! यदि कोई जन्म-जन्मान्तर का बन्धु हो तो उसे बन्धु कहा जाय, पर जो देखने में न आवे और उसका अभ्यास भी दूर होगया हो तो वह बान्धव भी अबान्धव के समान होजाता है। ऐसे ही अपना आप ही ब्रह्मस्वरूप है। जब उसकी भावना दृढ़ होजाती है तब ऐसा ही जान पड़ता है कि मैं ब्रह्म हूँ और द्वैतभाव छूट जाता है। जो ऐसा अमृत पान करे वह स्वयं अमृतमय होजाता है। ऐसा ही. मैं ब्रह्म हूँ, जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म ही होजाता है और जो नहीं जानता, वह नाना प्रकार की कल्पनाओं और जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। उसको प्राप्त ब्रह्म भी अप्राप्त भासता है। हे रामजी! ब्रह्मभावना के अभ्यास के बल से शीघ्र ही ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। उस ब्रह्मरूपी निर्मल दर्पणमें जो जैसी भावना करता है उसे वैसाही रूप भासता है। इसलिए मन भावना मात्र है। दुर्वासनाओं से स्वरूप ढँका हुआ है। जब वासना का क्षय होता है तब आत्मतत्व भासता है। जैसे सफेद कपड़े पर केशर का रङ्ग शीघ्र चढ़ जाता है, वैसे ही वासना रहित चित्तमें ब्रह्मस्वरूप शीघ्र भास आता है। हे रामजी! आत्मा सब कलनाओं से रहित तीनों काल में नित्य शुद्ध सम और शान्तरूप है। जिसको ज्ञान होजाता है वह जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ। वह सारे जगत में अपने को आकाशवत व्याप्तमान समझता है। वह जानता है कि न मुझको दुःख है और न मेरे लिए कोई कर्म है। त्याग

और वांछा भी मुझे कुछ नहीं है, मैं सब कलनाओं से रहित और निरामय हूँ। उज्वल और श्याम, रक्त, पीव: मांस और अस्थियों वाला शरीर भी मैं ही हूँ और तृण पर्यन्त पुष्प, वन, पर्वत, समुद्र और नदियां ग्रहण और त्याग तथा भूत आदिक शक्तियां भी मैं ही हूँ। मैंने ही सर्वत्र विस्तार किया है और मेरे ही आश्रय सब फुर रहे हैं। सर्वरूप रसमें मैं हूँ। जिसमें और जिससे सब है, और जिसको सब है जो ही सब है ऐसा चिदात्मा ब्रह्म मैं ही हूं। चेतन आत्मा, ब्रह्म, सत्य अमृत, ज्ञानरूप आदिक मेरे ही नाम हैं। मैं ही सब भूतों का प्रकाशक मन बुद्धि और इन्द्रियों का स्वामी हूँ। सारी भेद कलनायें तो इसने ही की थी, अब इसकी कलना को त्यागकर अपने प्रकाश में स्थित हूँ। मैं ही निर्लेप, सबका साक्षी और मैंही द्वैत कलना से रहित हूँ। मुझे कोई क्षोभ नहीं है। सारे जगत में शान्तरूप से मैं ही फैला हूँ और सारी वासनाओं से रहित क्षोभ रहित अनुभव भी मैं ही हूँ। मुझसे ही समस्त स्वादों का अनुभव होता है ऐसा चेतन रूप आत्मा मैं हूँ पर जिसका चित्त स्त्री में आसक्त है और जो उसे चन्द्रमा की कान्ति से भी अधिक प्रिय है और जिससे उस स्त्री के स्पर्श और प्रसन्नता का अनुभव होता है ऐसा चेतन ब्रह्म मैं ही हूँ। खजूर और नीम आदि में स्वरूप मैं ही हूं। मुझे पश्चाताप, आनन्द, हानि और लाभ एक समान है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया आदिक अवस्थाओं में से अनेक वृत्त होते हैं उसी प्रकार एक ब्रह्म सत्ता से अनेक मूर्तियां स्थित हैं, मैं सूर्य के समान सबका प्रकाशक रूप ब्रह्म सब शरीरों में व्याप रहा हूँ। मोती की माला के गुप्त तागों के समान मोती रूपी शरीर में तन्तु रूप से मैं ही गुप्त हूँ। मैं ही जगतरूपी दूध में ब्रह्मरूपी घृत से व्याप रहा हूँ। हे रामजी! सुवर्ण से जो अनेक प्रकार के आभूषण बनते हैं सो सब सुवर्ण से भिन्न नहीं हैं ऐसे ही कोई भी पदार्थ आत्मा से भिन्न नहीं हैं। समस्त पर्वत समुद्र और नदियाँ सत्तारूप आत्मा ही है। समस्त

संकल्पों का परिणाम और सबका प्रकाशक आत्मा ही है और सब पाने योग पदार्थों का वही अन्त है। हे रामजी ! जो ज्ञानी पुरुष हैं वह अपने को ऐसा जानकर अपने अद्वैतरूप में विगत ज्वर होकर सर्वदा स्थित रहते हैं और उन ज्ञानवानों का वही निश्चय है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११॥

बारहवां सर्ग

जीवन्मुक्त निश्चय वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जो पूर्ण बोधवान हैं उनको सदा यही निश्चय रहता है कि आत्मतत्व ही सत्य रूप है। उस बोधवान पुरुष को न किसी में राग है और न किसीमें द्वेष। उसके लिये मृत्यु और जीवन दुःख और सुख नहीं देते। वह सदा एक रस रहता है। वह सदा अभेद, अचल और साक्षात् विष्णुनारायण का ही रूप है। उसे कोई भी दुख विचलित नहीं कर सकते, वह सदा सुमेरु पर्वत के समान अचल रहता है। ऐसे ज्ञानवान पुरुष को बन और नगर का वास एक समान सुखदायक है। उनकी किसी में आसक्ति नहीं है। ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी भी सांसारिक पदार्थ में बन्धायमान नहीं होते और उसमें नहीं डूबते। इष्ट अनिष्ट उनके लिये कुछ नहीं। आपदा और सम्पदा उनके लिये समान है। वे प्राकृतिक आचार करते हुए भी सब आरम्भों से रहित रहते हैं। हे रामजी ! इसी दृष्टि का आश्रय करके तुम भी विचरो। यह दृष्टि समस्त पापों की नाशकर्ता है। चाहे जो करो पर अहंकार से सर्वदा रहित रहो। इस प्रकार यथाभूतदर्शी होने से बन्धरहित हो जावोगे। तब कैसा भी पतित प्रवाह क्यों न आवे तुम विचलित नहीं हो सकोगे। हे रामजी ! इस चिन्मात्र जगत में सत्य, असत्य कुछ नहीं है, वह जैसा है तैसा ही है। ऐसी दृष्टि का आश्रय करके तुम नीच दृष्टि का परित्याग करो। हे रामजी ! अब तुम सावधान होकर आसक्ति

रहित बुद्धि से भावाभाव में स्थित हो राग-द्वेष से चलायमान न होवो।

यह सुनकर रामजी बहुत प्रसन्न हुए और वशिष्ठजी से बोले— हे भगवन् ! अब आपके अमृतरूपी वचनों के प्रसाद को पाकर मैंने पाने योग्य पदको पाया और अब मेरे सब संशयों का नाश हो गया। आपके वचनों से मेरा सब सन्देह और मान, मोह, मद, मत्सर आदिक सब नाश होगये। इससे अब मुझे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो गयी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का बारहवां सर्ग समाप्त ॥१२॥

—o::❀::o—

तेरहवां सर्ग

ज्ञानक्षेत्र–विचार–वर्णन

यह कहकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि, हे भगवन् ! विलास पूर्ण ज्ञान से तो वासनायें उदय होती हैं, अब कृपाकर यह बतलाइए कि जीवन्मुक्त पद में किस प्रकार शान्ति प्राप्त होती है।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! संसार तरने की युक्ति का नाम योग है। वह दो प्रकार की है। एक सांख्य बुद्धि ज्ञानयोग और दूसरी प्राण से रोकने की। इस पर रामजी ने पूछा कि—इन दोनों में सुगम कौन है ? वशिष्ठजी कहने लगे, दोनों प्रकार योग शब्द है। फिर भी प्राण रोकने का नाम योग है। योग और ज्ञान दोनों प्रकारसे संसार तरा जा सकता है। शिव भगवान ने दोनों का फल एकही बतलाया है। हे रामजी ! यह दोनों युक्तियां जिज्ञासु पर निर्भर हैं। किसी जिज्ञासुको योग सरल है और किसीको ज्ञान। पर मुझे तो ज्ञानही सुगम है। क्योंकि इनमें यत्न और कष्ट थोड़ा है। यदि पदार्थों की वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान हो जाये तो स्वप्न में भ्रम नहीं हो सकता। वह सब पदार्थों को साक्षीभूत होकर देखता है और उसमें उसे कुछ यत्न नहीं होता। बुद्धिमान और योगीजन स्वभावतः उनकी एक युक्ति निकाल कर शान्तचित्त होजाते हैं। पर दोनों योगों में अभ्यास और यत्न की आवश्यकता है। बिना अभ्यास के कुछ प्राप्त नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि ज्ञान कहते किसे हैं ? उत्तर यह है कि हृदय में जो ज्ञेय है, उसका जानना ही ज्ञान है। वह ज्ञेय प्राण-अपानरूपी रथ पर आरूढ़ हृदयरूपी गुफा में सर्वदा स्थित रहता है । हे रामजी ! अब उस योग का भी क्रम सुनो जो परम सिद्धता को देने वाला है। यह प्राण वायु जो नासिका और मुख के मार्ग से आती जाती है उसके रोकने का भी क्रम आगे कहूंगा । इससे भी चित्त उपशम हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तेरहवां सर्ग समाप्त ॥१६॥

——o:::❀:::——

चौदहवाँ सर्ग

सुमेरु-शिखर-लीला वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! एक समय जब नक्षत्र चक्रसे उड़ता हुआ मैं इन्द्र की सभामें पहुँचा तो क्या देखता हूं कि वहाँ सब ऋषीश्वर बैठे हुए हैं । वहाँ पहुँचकर मैं भी बैठ गया। तब नारद आदि चिरञ्जीवी का प्रसङ्ग चलने पर शतातप नामक एक बुद्धिमान ऋषीश्वर ने कहा-सब में चिरञ्जीवी तो एक ही है । सुमेरु पर्वत के एक कौन में जो पद्मराग नामक गुफा है और जिसके शिखर पर एक कल्पवृक्ष महासुन्दर और अपनी शोभा से पूर्ण है उस पर अन्य बहुत प्रकार के पक्षियों में एक महा श्रीमान् कौवा रहता है, उसका नाम भुशुण्डि है। वह भुशुण्डि वीतराग और बुद्धिमान है। उसका घोंसला उसी वृक्ष की एक शाखा पर है । उसके जीवन के समान किसी का जीव नहीं है । वह महान आयुर्बलवाला, बुद्धिमान और शान्तमूर्ति तथा काल का भी ज्ञाता है । वास्तव में उसका जीवन सुफल और वह बड़ा पुण्यशाली है। उसको संसार की आस्था नहीं है और वह आत्मपद में विश्रान्ति पाये हुए है । हे रामजी ! ऐसा प्रसङ्ग उस सभामें बहुत देर तक होता रहा । पश्चात् सब लोग उस कौवे को चिरञ्जीवी निश्चयकर जब अपने-अपने आश्रम को गये

तब मैं आश्चर्यवान् हो उसको देखने का विचार कर सुमेरु पर्वत की कन्दरा की ओर चला । क्षण भर में वहाँ पहुँचकर मैंने क्या देखा कि कन्दरा गेरू के रङ्ग से रङ्गी है और उसमें लगा हुआ मणि रत्न अत्यन्त शोभा दे रहा है । इससे तथा और भी प्रकारों से रची हुई वह कन्दरा महान् प्रकाश को दे रही थी । उसके ऊपर गङ्गा की धवलधारा प्रवाहित हो रही थी । उसके इर्द-गिर्द देवियों के वास स्थान बने थे और गन्धर्व गान करते थे । विधाता द्वारा निर्मित उस महासुन्दर स्थान को देखकर बड़ा हर्ष होता था ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥१४॥

———o::❀::o———

पन्द्रहवां सर्ग

भुशुण्डि–दर्शन

उस कन्दरा के शिखर पर मैंने देखा कि कल्पवृक्ष महा सुन्दर फलों से पूर्ण है और उसमें मणियों के गुच्छे और सुवर्ण की बेलें लगी हुई हैं। तरागणों से दुगने उसमें फूल लगे थे और बादल से दूने उसमें पत्ते दृष्टि आते थे । उन पत्तों पर देवता, किन्नर विद्याधर और देवियाँ बैठी थीं और उनके समक्ष अप्सरायें आकर नृत्य और गान करती थीं। नाना प्रकारके पक्षी उस पर वास करते थे । गरुड़ उस पर बैठकर ऐसे शब्द करते थे मानों ब्रह्मा कमलसे उत्पन्न होकर ॐकार का उच्चारण कर रहे हैं । कई कौवे तो ऐसे थे जिनके दो–दो चोंचें थीं वह देखकर मैं आगे बढ़ा तो वहाँ अनेक कौवों को वैसे ही देखा । वे कौवे अचल भाव से ऐसे बैठे थे जैसे प्रलयकाल में मेघ और लोकालोक पर्वतों पर आ बैठते हैं इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कौवे जो इन्द्र, वरुण, कुबेर और सोम तथा सूर्य के यज्ञ की रक्षा करने वाले और पुण्यशील स्त्रियों को प्रसन्नता सूचक पति सन्देश देने वाले थे वे भी यत्र तत्र विराज रहे थे । उन सबके मध्य में ऊँची गर्दन किए एक और महान् तेजस्वी कौवा बैठा था । उसके

गर्दन की चमक नीलमणि से भी अधिक चमकीली थी । वह प्राण अपान को जीतने वाला था । ऐसा ज्ञान होता था कि उसे संसार की आगमापायी गति के बहुत कल्प तक का स्मरण और अनुभव है। जब मैं वहाँ पहुँचा तो अकस्मात न जाने कैसे वह जान गया कि यह वशिष्ठ हैं, वह खड़ा होकर बोला, हे मुने ! कहिए कुशल तो है । ऐसा कहकर उसने सङ्कल्प का हाथ रचा और मेरा पूजन कर अर्घ्यपाद्य दे वृक्ष के एक बड़े पत्र पर आसन रचकर मुझे बैठाया और बोला—हे मुनीश्वर ! आज मेरा बड़ा भाग्य उदय हुआ है कि आपका दर्शन मिला । हे मुनिनाथ ! आप देवताओं के भी पूज्य हैं, कृपाकर कहिए कि आपका आगमन किसलिए हुआ है। आपके चरणों का दर्शन पाकर आज मैंने सब कुछ जानने योग्य वस्तु को जाना है । जब इन्द्र की सभा में चिरञ्जीवियों का प्रसङ्ग चला था तब मैं भी वहाँ गया था और आप भी वहाँ उपस्थित थे । अब वहाँ से आप मेरे यहाँ आये तो मैं समझता हूँ कि श्रीमान् कृपाकर मुझे कृतार्थ ही करने आए हैं। इससे आपके श्री मुख से कुछ अमृत रूपी उपदेश सुनना चाहता हूँ ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण का पन्द्रहवा सर्ग समाप्त ॥१५॥

——०::※::०——

सोलहवाँ सर्ग

भुशुण्डि समागम वर्णन

हे रामजी ! जब कागभुशुण्डि ने मुख से ऐसा कहा तब मैंने कहा—हे पक्षिराज ! तुम्हारा कथन सत्य है । जब इन्द्र सभा में चिर-जीवियों का प्रसङ्ग आया था तब उसमें सर्व सम्मति से श्रेष्ठ निर्णय किए गये। इसमें मैं तुम्हारे जैसे शीतल चित्त और कुशल मूर्तिका दर्शन करने चला आया । निस्सन्देह तुम संसार जाल से मुक्त हुए दीखते हो । इससे मुझे बतलाओ कि तुमने कब जन्म लिया है और कैसे ज्ञात, ज्ञेय हुए हो तथा तुम्हारी आयु कितनी है और कितने वृत्तान्त

आपको स्मरण हैं । हे मुने ! आपके सब प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर मैं देता हूं । क्रमशः आप ध्यान देकर सुनिए । यद्यपि आप स्वयम् ही त्रिकालदर्शी हैं तथापि आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है । आप जैसे महात्मा पुरुष का दर्शन होने से तो समस्त पाप क्षय हो जाते हैं ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥३७॥

सत्रहवाँ सर्ग

भुशुण्डि स्वरूप वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी ! ऐसे कहकर भुशुण्डि मुझसे कहने लगा । वह भुशुण्डि कैसा है, वह सर्वज्ञ और सुन्दर तथा समता युक्त है, वह स्निग्ध और गम्भीर वाणी कहने लगा, जिसने ब्रह्मांड को भी तौल डाला है और जगत जिसको तृण के समान तुच्छ भासता है, क्योंकि उसने अनेक लोकों की, उत्पत्ति और प्रलय को देखा है । उसका चित्त किसी वृत्ति से लेपायमान नहीं होता । जैसे क्षीरसागर से निकला हुआ मन्दराचल पर्वत परिपूर्ण और सम शुद्ध है, वैसे ही उसका मन शुद्ध है । जैसे क्षीर समुद्र उज्वल है वैसे ही उसका मन आत्मपद में विश्राम पाकर उज्वल और आनन्द से परिपूर्ण है । ऐसा श्रेष्ठ योगीश्वर भुशुण्डि मुझ से कहने लगा ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा; निर्वाण-प्रकरण का सत्रहवां सर्ग समाप्त ॥६४॥

अठारहवां सर्ग

भुशुण्ड्योपाख्यान मांस व्यवहार वर्णन

भुशुण्डिजी बोले—हे मुने ! शिवजी सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं । भगवती उनकी अर्धाङ्गिनी हैं और उनके तीन नेत्र हैं । उनकी जटा बहुत लम्बी है । और वह मस्तक पर चन्द्रमा धारण किए हैं जिससे सदा अमृत टपकता है और जटा के चारों ओर गङ्गा फिरती हैं तथा पुष्पों की माला कण्ठ में विराजती है । कालकूट के पीने से वे नीलकण्ठ

एवं विष विभूषण भी कहे जाते हैं। वह सब अङ्ग में विभूति रमाये और सदा मुरडों की माला धारण किये रहते हैं। उन शान्तरूप महात्मा का गृह श्मशान भूमि है और दिशायें ही उनके वस्त्र हैं। उनके सेवक तथा सैनिक बड़े विकराल और भयानक मुखाकार वाले हैं। वे रक्त मांस के भक्षण करने वाले बड़े-बड़े भयानक स्थानों में रहते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी भयानक देवियाँ भी उन शिवजी के साथ रहती हैं। उनकी चेष्टा और उनके आचार बड़े भयानक हैं और वह बड़े भयानक स्थानों में वास करती हैं। ऐसे कुछ भयानक भूत और देवियाँ सर्वदा शिवजी के साथ भी रहा करती हैं। जया, विजया, जित और अपराजित वाम दिशा में और सिद्धा, मुखका, रक्तका और उतला दक्षिण दिशा में भैरव रुद्र के आश्रित रहती हैं। इन सब देवियों के मध्य में रुद्राणी, वैष्णवी, बाराही, वायवी, कौमारी, वासवी और सौरी आदिक अष्टनायिकायें और शतसहस्र देवियाँ वास करती हैं। यह सब देवियाँ अनेक प्रकार का भयङ्कर रूप धारण कर पृथ्वी के जीवों का भक्षण करती हैं। उन देवियों में कई तो पशुधर्मिणी अर्थात् शूद्रकर्म में प्रवृत्त जीवन्मुक्त पद में स्थित रहती हैं और कई विदित वेद जीवन्मुक्त पद में स्थित हैं। इन सबकी नायक अलम्बसादेवी हैं। अलम्बसादेवी का वाहन काक है और यह देवी अष्टसिद्धि के ऐश्वर्य से संयुक्त है एक बार इन देवियों ने विचार किया कि हम अहर्निश शिव भगवान् के साथ रहती हैं तो भी यह हमसे प्रसन्न न रहकर हमको तुच्छ जानते हैं, और उमा से बहुत प्रेम करते हैं, इससे इनको कुछ अपना प्रभाव दिखलाना चाहिए। बिना ऐसा किए अब काम नहीं चलने का। तब यह कैसे प्रभाव दिखलाया जाय। देवियाँ उमा को वश करके चुरा ले गईं और मार करके उनका माँस पकाकर भक्षण कर डाला। यही नहीं उस माँस में से शिवजी को भी थोड़ा सा दिया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अट्ठारहवां सर्ग समाप्त ॥१८॥

उन्नीसवाँ सर्ग

भुशुण्डि–आत्मबोध वर्णन

मांस के आगे जाते ही अन्तर्यामी शिवजी जान गए कि इन्होंने उमा को मारा है । फिर तो शिवजी ने महान् कोप किया । उस कोप से डरकर सब देवियों ने उमा का अङ्ग निकालना आरम्भ किया । सौरी ने नेत्र, कौमारी ने नासा और भिन्न–भिन्न देवियों ने उमा के भक्षण किए अन्यान्य अङ्गों को निकालकर पार्वती की जैसी मूर्ति थी वैसी बनाकर पुनः शिवजी से नवीन ब्याह कर दिया । तब शिवजी प्रसन्न हुए और चारों ओर आनन्द हुआ । देवियाँ भी अपने-अपने स्थान को गईं । एक दिन अलम्बसादेवी के चन्द्रनामक काक ने ब्रह्माणीदेवी की हंसिनी के साथ क्रीड़ा की जिससे उसको गर्भ रहा । जब वह ब्रह्माणीदेवी को कहीं ले जाने के अभिप्राय से गई तब ब्रह्माणी ने यह कहकर उसे लौटा दिया कि अब तू गर्भवती होगयी मेरे वाहन के योग्य नहीं है, जा फिर आना, वह चली गई उसके चले जाने पर ब्रह्माणी ने समाधि लगाकर तालकमल पत्र पर निवास किया । इधर कुछ काल बीतने पर उस हंसिनी ने तीन-तीन अंडे दिये । फिर क्रमपूर्वक उन अंडों से इक्कीस अंडे उत्पन्न हुए । हे मुनीश्वर ! कुछ दिन बाद जब उन अंडों को हंसिनियों ने फाड़ा ता उनसे हमारे अङ्ग उत्पन्न हुए । जब मैं बड़ा हुआ तब मेरी माता मुझे ब्रह्माणीजी के पास लेकर गईं । उसी समय ब्रह्माणीजी समाधि से जागरित हुई थीं, मैंने उनके चरण में मस्तक टेका और उन्होंने दुधारी वृत्ति धारणकर मुझपर अपना हाथ रख दिया । उनके हाथ रखते मेरी समस्त अविद्या नष्ट होगई और मन तृप्त होकर शान्ति को प्राप्त होकर जीवन्मुक्त पद में स्थित हुआ । उसी क्षण हमारी ऐसी वृत्ति उठी कि हम कहीं एकान्त ध्यान

में स्थित होवें। तब देवी ने हम से कहा जावो । मैं यहाँ से चलकर अपने पिता के पास आया । पिताजी ने मेरा बड़ा प्यार किया। मैंने अलम्बुसादेवी का पूजन किया । तब पिताजी ने मुझसे कहा- बेटा तुम संसार रूपी जाल में नहीं फँसोगे और जो कुछ फँसाव है वह मेरी देवीजी की कृपा से नहीं रहेगा। उसी क्षण मैंने पिताजी से कहा कि हे पिता ! हम तो स्वयं ही ज्ञातज्ञेत हुए हैं और हमने जानने योग्य सब पदार्थों को जाना है । जो नहीं जाना था वह भी ब्रह्माणीदेवी की कृपा से अब जान लिया । अब हमको केवल एकान्त वास करने की इच्छा शेष है, आप ऐसा कोई स्थान बत- लाइये तो मैं वहाँ जाकर वास करूँ । तब पिता ने मुझे इस सुमेरु पर्वत का स्थान बतलाया । उसी समय विन्ध्याचल में पिताजी के चरणों में मस्तक नवाकर मैंने आकाशमार्ग से यात्रा की और ब्रह्म- लोक में पहुँच देवीजी को प्रणाम किया । देवीजी ने अनेक प्रकार से आशीर्वाद देकर कण्ठ लगाया और मेरा मस्तक चुम्बन किया। पश्चात् अनेक देवलोकों को पार करते हुए मैं सुमेरु पर्वत के इस कल्पवृक्ष पर पहुँचा। हे मुने ! यही मेरे जन्म, ज्ञान और यहाँ के वास का अखंडित समाचार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उन्नीसवां सर्ग समाप्त ॥१९॥

बीसवाँ सर्ग

सन्त-माहात्म्य वर्णन

यह कह कर भुशुण्डिजी बोले—हे मुनीश्वर ! यह प्राचीन इतिहास जिस सृष्टि में हुआ वह इस सृष्टि से बहुत दूर है, परन्तु मैंने अपने अभ्यासबल से आपको वर्तमान के समान ही सुनाया है । यह तो मेरा कोई पुण्य था कि आज आपका दर्शन हुआ कि जिससे यह वृक्ष और आश्रम पुनीत हुआ । अब और जो पूछिये, मैं वर्णन करूँ । हे रामजी ! यह कहकर उसने भली भांति मेरा पूजन किया । तब मैंने उससे

कहा—हे पक्षिराज ! तुम्हारे तत्ववेता वे सब भाई तो यहाँ दृष्टि नहीं आते, कहाँ हैं ? यहाँ तो अकेले तुम्हीं दिखलाई पड़ते हो। भुशुण्डि ने कहा—हे मुनीश्वर ! यहाँ मैं अकेले बहुत दिन से रहता हूं। पहले मेरे सब भाई भी यहीं रहते थे, पर बहुत अधिक समय व्यतीत हुआ कि वह शरीर त्यागकर शिवलोक को चले गये। तब से चिर काल व्यतीत हुआ, मैं उसी शरीर से यहाँ एकाकी वास करता हूँ। यह काल बड़ा बली है। सन्त महन्त किसी को नहीं छोड़ता। तब मैंने पूछा—हे साधो ! प्रलय काल में तो सूर्य, चन्द्रमा वायु और मेघ आदि सब अपनी २ मर्यादा को त्याग देते हैं और महान् क्षोभ होता है। पर क्या कारण है कि तुमको खेद नहीं होता। इस पर भुशुण्डि ने कहा—संसार में बहुत जीव आधार से रहते हैं। पर दोनों ही हमारे लिए तुच्छ हैं, सत् कोई नहीं। इनमें पक्षी जाति तो और भी तुच्छ है क्योंकि उनका वास और दाना-पानी सब उजाड़ वन में है। ईश्वर ने उनकी जीविका निरावलम्ब बनाई है। पर हे मुनीश्वर ! मैं सदा सुखी और आप में स्थित रहता हूँ। मुझे कभी क्षोभ और खेद नहीं होता, मैं सर्वदा कष्ट से मुक्त रहता हूँ। हमको जगत का इष्ट अनिष्ट कभी चलायमान नहीं कर पाता। हमको जीवन और मृत्यु की भी कोई इच्छा नहीं है। क्योंकि यह दोनों अवस्थायें शरीर की हैं, आत्मा की नहीं। हमको किसी में रागद्वेष भी नहीं है, तथा पास में ही हम सन्तुष्ट रहते हैं। कारण कि इस कल्पवृक्ष पर बैठे हुए हम सदा प्राण अपान की गति को ही देखा करते हैं, इस अवस्था में मुझे रात दिन की गति का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और मैं प्राणादि की सूक्ष्म कलनाओं का ज्ञाता हूं। मैं अपनी सद्-बुद्धि से सार असार को भली भांति जानता हूँ। इसलिए मुझे सांसारिक असत्य हृदय पदार्थों की कोई इच्छा नहीं रहती। कारण कि मैं सदा उपशम पद में स्थित रहता हूं। इससे सारा जगत हमारे लिए शान्तरूप है। अन्यथा जगज्जाल का आश्रय करना तो महान्

दुःख है। क्योंकि यह सारा जगत चञ्चलरूप और अस्थिर है। इस कारण हम इसको चञ्चल समझकर पाषाणवत स्थिर रहते हुए किसी से रागद्वेष नहीं करते। हमारे लिए सारा जगत तुच्छ है। इससे अन्य जीवों के समान हम कालरूपी समुद्र में नहीं डूबते। इस निर्विकार पदको पाकर मैं मोक्ष रहित हूँ और आत्मसत्ता को प्राप्त कर उपशम रूप हूँ। तिस पर आपके दर्शन से और भी आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ। क्योंकि सन्त दर्शन से बढ़कर और कोई आनन्द नहीं। सत्सङ्गति से सब आनन्द प्राप्त होते हैं। फिर आप तो परमसत्ता और ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आज आपके दर्शन से मेरा सब दुःख छूट गया और जन्म भी सार्थक हो गया। आप जैसे सन्तों का समागम आत्मपद को देने वाला और दुःख नष्ट करके निर्भीकता प्रदान करता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का वीसवा सर्ग समाप्त ॥२०॥

इक्कीसवां सर्ग

भुशुण्डोपाख्यान में जीवित वृत्तान्त वर्णन

हे महामुने! आपने यह पूछा था कि प्रलय काल में सूर्य वायु और मेघ को भी क्षोभ होता है, तुम क्षोभवान क्यों नहीं होते, अब उसका भी उत्तर सुनिये। हे मुने! यह मेरे कल्पवृक्ष की स्थिरता का प्रभाव है कि न तो यह कभी नष्ट होता है और न उसके कारण मेरा ही नाश होता है। क्योंकि यह मेरा वृक्ष सर्व लोकों को अगम है। जब सारे भूत प्राणी नष्ट होते जाते हैं तब मैं सुखी रहता हूँ। मेरा यह वृक्ष उस समय भी कम्पायमान नहीं हुआ कि जब हिरण्यकशिपु समस्त द्वीपों को पृथ्वी सहित खैंचकर पाताल लोक ले गया और जब देव और दैत्यों में वहाँ संग्राम हुआ तब भी इस पर्वत के अचल रहने से मेरा वृक्ष स्थिर रहा। यहाँ तक कि जब विष्णु भगवान् इस सुमेरु को अपनी विशाल भुजाओं से उखाड़ने लगे और जब क्षीरसागर का मन्थन

होने लगा, जब प्रलय में पवन और मेघ का क्षोभ हुआ। तब भी मेरा वृक्ष कम्पित न हुआ। ऐसे अनेक उपद्रवों के होने पर भी मेरा वृक्ष सदा स्थिर रहा है। वशिष्ठजी ने कहा, यही तो मेरा भी प्रश्न है कि वायु और मेघ को भी क्षोभ होने पर तुम विगत-ज्वर कैसे रहे। भुशुण्डि ने कहा—उस प्रलयकाल की अवस्था में कृतघ्नी के समान अपना यह गृह त्यागकर, सब अङ्गों को समेट कर आकाश में जा स्थिर होता हूं। जिस प्रकार वासना रहित होने से मन मिट जाता है वैसे ही मैं भी अङ्गों को समेट लेता हूं और जब जैसी अवस्था आती है वैसी धारणा बाँधकर स्थित हो जाता हूँ। फिर जब अनेक तत्वों को क्षोभ प्राप्त होता है तब मैं सबका परित्यागकर ब्रह्माण्ड खप्पर के परे परमपद में सुषुप्ति, अचल और गम्भीर हो जाता हूँ। फिर जब ब्रह्मा उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करते हैं तब मैं फिर आलय में आ स्थित होता हूँ। इस पर मैंने पूछा कि—तुम्हारे समान अन्य योगीजन क्यों नहीं स्थित हो पाते। तब भुशुण्डि ने कहा—ईश्वर का नियम अथाह है, कोई नहीं जान सकता। उन योगीजनों की नीति वैसी ही है और मेरी उत्पत्ति ऐसी ही है। इसी से कहा जाता है कि ईश्वर के नियम की थाह नहीं। इस कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में उसकी यही नीति है और उस नीति के अनुसार मैं इसमें आ पहुँचा हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण का इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥२ ॥

——o::❀::o——

बाईसवां सर्ग

चिरातीत वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे पक्षिराज ! आप बड़े दीर्घ आयु वाले और ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण और अनुभवी हैं। इस अनुभव में आपने बहुत आश्चर्यमय घटनायें देखी होंगी, जो स्मरण हो उनका वर्णन कीजिये। इस पर भुशुण्डि ने कई एक ऋषियों की उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास बतलाते हुए कहा कि—ऐसी बहुत सी सृष्टियाँ

मैंने देखी हैं, पर वह सभी मिथ्या हैं, उनमें कुछ सार नहीं। आत्मदर्शी के लिए सृष्टि नहीं भासती वह सब में आत्मसत्ता का ही प्रकाश देखता है। अन्यथा एक से एक सृष्टियाँ हैं कि जिनका वर्णन अपार है। किसी २ सृष्टि में एक समान ही आकार और आचार होते हैं। किसी सृष्टि में पुत्र पिता हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाते हैं। बन्धु अबन्धु और अबन्धु बन्धु हो जाते हैं। इस भांति उस सृष्टि में सब उलटे ही प्रतीत होते हैं। कभी इस कल्पवृक्ष पर ही हमारा गृह रहता है और कभी मन्दराचल, हिमालय और कभी मालव पर्वत पर भी हो जाता है। पर इधर चिरकाल से तो इसी सुमेरु के कल्पवृक्ष पर ही है। प्रलयकाल में मेरा शरीर भी ऐसा ही रहता है। कारण कि मैं आसन मार कर ब्रह्मसत्ता में स्थित रहता हूँ। इसलिए मुझे फिर यही शरीर प्राप्त होता है। अन्यथा यह जगत तो सङ्कल्प मात्र है। सङ्कल्प से ही इसका स्फुरण होता है। इससे यह भ्रममात्र है। फिर भी इस जगत-भ्रम में अनेक आश्चर्य दिखलाई पड़ते हैं। इसीमें तो कभी २ पिता पुत्र, मित्र शत्रु, स्त्री पुरुष, पुरुष, स्त्री, कलियुग सतयुग, सतयुग कलियुग, द्वापर त्रेता और त्रेता द्वापर हो जाता है। ऐसे अनेक आश्चर्य इस जगत में भासते रहते हैं। हे मुनीश्वर! ब्रह्मा का एक दिन एक युग की एक सहस्र चौकड़ी के बराबर है। इतनी अधिक अवधि रहने पर भी एक सम ब्रह्मा दो दिन तक समाधि लगाये बैठे रहे जिससे सृष्टि शून्य हो गयी थी। क्या २ कहूँ, अनेक देश, क्रिया और विचित्ररूप हृदय में आ रहे हैं।

श्री योगवाशिष्ट भाषा, निर्वाण-प्रकरण का बाईसवां सर्ग समाप्त ॥२२॥

——o::❀::o——

तेईसवाँ सर्ग

संकल्प निराकरण

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जब भुशुण्डि ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मैंने पूछा कि हे पक्षिराज ! महाप्रलय में मृत्यु तो ग्रस लेता है, फिर तुम्हारे शरीर को क्यों नहीं ग्रसता ? मेरे इस प्रश्न पर भुशुण्डि ने कहा,—हे मुने ! आप सब कुछ जानते हैं, फिर भी जिज्ञासा के लिये जानना चाहते हैं। अतः जैसे गुरुके समक्ष शिष्य नम्रता-पूर्वक निवेदन करता है वैसेही आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं कहता हूं कि हे मुनीश्वर ! मृत्यु किसको मारता है और किसको नहीं मारता इस प्रसङ्ग को सुनिये। दुःखरूपी मोतीकी माला वासनारूपी धागेमें पिरोई हुई है। यह माला जिसके गले में है उसी को मृत्यु मारता है और जिसके गले में यह माला नहीं है उसको नहीं मारता। यह शरीररूपी वृक्ष में चित्तरूपी सर्प बैठा है। जिसको आशारूपी अग्नि नहीं जलाती, वह मृत्यु के वश में नहीं होता है। परन्तु जो राग द्वेषरूपी विष से पूर्ण है और जिसको तृष्णा चूर्ण कर रही है, उसको मृत्यु ग्रस लेता है। किन्तु जिनको यह दुःख स्पर्श नहीं करते उनको मृत्यु नाश नहीं करता। हे मुने ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, तृष्णा, चिन्ता, चंचलता और प्रमाद आदिक दुःख जिसमें होते हैं उनको मृत्यु मारता है। पर जिनको यह रोग नहीं है उनको आधि व्याधिरूपी मल नहीं स्पर्श करते और वह संसार बन्धन का कारण नहीं हो सकता। ऐसे पुरुष जो देते, लेते और सब कार्य करते हुए सदा सम शान्त रहते हैं और इष्ट अनिष्ट उनके लिये कुछ नहीं हैं, वह समाहित चित्त कहलाते हैं। हे मुने ! संसार में जितने भी ऐश्वर्यवान और सुन्दर पदार्थ हैं सब असत् और नाशरूप हैं। सत् वही है जहां सन्त का मन स्थित हो। बोधवान पुरुष इसी श्रेष्ठ मार्ग

को ग्रहण करते हैं। पर मूढ़ जगत के चल पदार्थों में रमते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—निर्वाण-प्रकरण का तेईसवां सर्ग समाप्त ॥२३॥

चौबीसवां सर्ग

—❀—

प्राण विचार वर्णन

हे मुने! वह श्रेष्ठमार्ग केवल एक आत्मदृष्टि है कि जिसको पाने से सब दुःख नाश हो जाते हैं और परमपद की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर! यह दृष्टि जीवों के अनेक जन्ममार्गों के श्रम को दूर करती और त्रयताप मिटाकर शीतलता उत्पन्न करती है। ऐसी आत्म-चिन्तना से सारे सङ्कल्पों का नाश हो जाता है और सुन्दर प्रकाश का उदय होता है। हे मुने! इस आत्म चिन्तन में यदि एक भी कोई सखी मिल जाय तो सारे दुःख सहज ही में नष्ट हो जांय। मुझे केवल एक ही सखी प्राप्त हुई है, सो मेरे समस्त दुःखों को नाशकर सौभाग्य देने वाली और जीवनमूरि है और वह है—प्राणचिन्ता। यह चिन्ता मुझे प्राप्त हुई है। हे रामजी! जब भुशुण्डि ने मुझसे ऐसा कहा तब मैंने उससे पूछा कि हे पक्षिराज! सत्य कहो, वह प्राण-चिन्ता किसे कहते हैं। तब भुशुण्डि ने कहा,—हे वेदवेत्ता और सर्व संशयग्रसन! आप बार बार मुझसे पूछकर मेरा उपहास क्या करते हैं। आप तो सर्व ज्ञाता हैं। फिर भी गुरु के समक्ष निवेदन करना ही उचित है। इससे मैं कहता हूँ कि प्राण और अपान के संसरण की गति को कि जिसके आश्रय से मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूँ और मुझे कोई बन्धन नहीं है, सब अवस्थाओं में मेरा चित्त सावधान रहता है और बन्धन कोई नहीं रहता, वही प्राणचिन्ता है। हे साधो! जिसको प्राण अपान की गति प्राप्त हुई है वह सर्व आरम्भ कर्म को करे अथवा न करे परन्तु सदा शान्तरूप रहता है और उसका समय बड़े सुख से व्यतीत होता है।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२४॥

पच्चीसवाँ सर्ग

समाधि-वर्णन

इसके पश्चात् वशिष्ठजी के दो प्रश्नों का उत्तर देकर भुशुण्डिजी ने कहा,—हे मुनीश्वर ! आत्मदृष्टि ही सबसे श्रेष्ठ है। इसको पाकर समस्त दुःख नाश हो जाते हैं। इस आत्म-चिन्तन द्वारा सङ्कल्पों का क्षय होकर हृदय शीतल हो जाता है। वही आत्म-चिन्तन हमारे जैसे का प्राप्त होना कठिन है, आपने प्राप्त कर लिया है। पूर्ण प्राप्ति का महत्व तो महान् है ही, यदि उसका कोई एक अङ्ग भी प्राप्त हो जाय तो अवश्य इन सारे तापों का नाश हो जाय और परम शान्ति प्राप्त होवे। मुझको एक ही अङ्ग प्राप्त हुआ है तो भी मुझे कोई दुःख नहीं व्यापता। वह प्राण चिन्ता मुझको प्राप्त हुई है। वशिष्ठजी कहते हैं कि जब भुशुण्डि ने मुझसे ऐसा कहा तब मैंने उससे पूछा कि प्राण-चिन्ता क्या है ? इस पर भुशुण्डि ने कहा,—हे महाराज ! आप तो स्वयं सब संशयों को निवृत्त करने वाले हैं, पूछकर मेरा उपहास क्या करते हैं। फिर भी आप सदृश शिक्षक एवं गुरु के समक्ष अपने कल्याण के हेतु कहता हूं कि जो मुक्ति मेरे जीने का कारण और आत्म लाभ देने वाली है, वही प्राण-चिन्ता है। इसी दृष्टिने मुझे परमपद दिया है और इसीसे मुझे बन्धन नहीं होता। सोते, जागते, उठते, बैठते सर्वत्र मैं बन्धन रहित सावधान रहता हूँ। उस मुक्ति का नाम है प्राण अपान का संसरण। यह मुक्ति जिसको प्राप्त हुई है, वह सदा शान्त रूप और काल से वंचित रहता है। इस युक्ति में प्राण हृदय से उत्पन्न होकर बारह अंगुल दूर बाहर जाकर स्थिर होता है और फिर अपानरूप होकर हृदय में आ स्थित होता है। हृदय से बाहर निकला हुआ प्राण अग्नि के समान उष्ण होता है और जो बाहर से भीतर हृदय में आता है वह शीतल होता है। इस शीतल अपान की उपमा चन्द्रमा से और उस उष्ण प्राण की उपमा सूर्य से है। प्राण वायु हृदय को तप्त

कर पाचन क्रिया ठीक कर अन्न को पचा देता है और अपान उसको चन्द्रमा के समान शीतल कर देता है। वह अपानरूपी चन्द्रमा जब प्राणरूपी सूर्य के साठ तत्वों में लीन होता है तब उसमें स्थित हुआ मन फिर शोक को नहीं प्राप्त होता, अर्थात् जन्म मरण के चक्कर से छूट जाता है। हे भगवन्! बाह्य आकाश के बारह अंगुल की दूरी से अपानरूपी चन्द्रमा उत्पन्न होकर हृदय के प्राणरूपी सूर्य में लीन होता है। पर जब तक वह सूर्यभाव को नहीं प्राप्त होता उसके मध्य भाव अवस्था में जिनका मन लगा है वह परमपद को प्राप्त होता है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के उदयास्त भाव का ज्ञाता होने से इसके आधारभूत आत्मा को जान लेने पर फिर मन नहीं उत्पन्न होता। जब प्राण अपानरूपी सूर्य चन्द्रमा हृदयाकाश में उदय और अस्त होते हैं तब उनके प्रकाश में हृदय के भास्कर को जो देखता है वास्तव में वही देखता है। अन्यथा बाहर के सूर्य और चन्द्र का उदय और अस्त होने से कुछ सिद्धि नहीं होती। वास्तविक सिद्धि तो तब हो जब हृदय के तम नष्ट हों। फिर आत्मप्रकाश उदय होने एवं अज्ञान नष्ट होने पर परमपद को पाकर प्राणी मुक्त हो जाता है। यह तभी संभव है जब प्राण अपान की मुक्ति जानी जाय इसमें कुछ परिश्रम नहीं। बिना यत्न ही यह दोनों उदय और अस्त हो सकते हैं। हे मुनीश्वर! हृदयाकाश से प्राण उदय होते ही प्राण का रेचक और अपान का पूरक होता है और फिर जब वही प्राण अपान में स्थित होता है तब उसी को अपान का कुम्भक कहते हैं। उस कुम्भक में स्थिरता लाभ करने से तीनों ताप नहीं तापते। अपान के रेचक और प्राण के पूरक के पश्चात् जब अपान स्थित होता है तब प्राण का कुम्भक होता है। कुम्भक में स्थित होने से प्राणी त्रैताप से मुक्त हो जाता है। क्योंकि वह अवस्था आत्मतत्व की स्थिति की है। उसमें स्थित होने से मन तत्व नहीं होता। उस कुम्भक अवस्था में जो साक्षीभूत सत्ता है वही आत्मतत्व है। उसमें स्थित

होनेसे वह कठिन होजाता है और प्राणकी स्थिरतावाली देश कालादि की अवस्था में स्थिर हुआ मन का मनत्वभाव नष्ट हो आता है । उस कुम्भक में जो शान्त तत्व है वही आत्मा का स्वरूप है और वही शुद्ध परम चैतन्य रूप है । उसका प्राप्त हुआ कदापि शोकित नहीं होता । हे मुनीश्वर ! शरीर के उस आधारभूत चिदाकाश की हम उपासना करते हैं जो प्राण का भी प्राण और अपान का भी अपान है। जो सब है, जिससे यह सब है और जिसमें ही सब है ऐसे चिदात्मा के हम उपासक हैं इत्यादि । यह मेरे प्राण समाधि की अवस्था है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा–निर्वाण–प्रकरण का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२५॥

छब्बीसवां सर्ग

चिरंजीविहेतु कथन वर्णन

हे मुनीश्वर ! इस समाधि की अवस्था से मुझे आत्मपद प्राप्त हुआ है । इस निर्मल दृष्टि के आश्रय में स्थित रह कर मे एक पल भी चंचल नहीं होता । चलते फिरते भी मेरी यह समाधि लगी रहती है और इस प्रकार मैं सर्वदा आत्मसमाधि में तल्लीन रहता हूँ । मुझे संसार के नित्य और अनित्यभावों की आवश्यकता नहीं । मैं सर्वदा अन्तर्मुख हो अपने आप में स्थित रहता हूँ । मुझमें प्राण अपान–कला की धारा अहर्निश प्रवाहित होती रहती है । उस प्रवाहमें मेरी प्रगाढ़ समाधि मुझे सर्वदा सुखी बनाये रहती है । उसमें कष्ट तो नाममात्र को भी नहीं रहता । कष्ट तो उनको होता है जो इस कला से अनभिज्ञ होते हैं । इसी से अज्ञानी जीव कल्पपर्यन्त बारम्बार गोते खाते रहते हैं । पर जो पुरुषार्थ बल से आत्मपद को प्राप्त कर चुके हैं वह सर्वदा सुखसे विचरते हैं । इसी नियम को पालन कर मैं भूत, भविष्य और वर्तमान की चिन्ता से रहित होकर निर्विघ्न विचरता हूँ । मुझे स्वरूप मात्र में भावाभाव पदार्थ नहीं भासते । इसीसे मैं दुःख रहित और चिरंजीवी हूँ । आज कल की चिन्ता मुझे कुछ नहीं है और न मैं किसी की प्रशंसा

करता हूँ न किसी की निन्दा। मेरे सुखी रहने का यही कारण है कि मैं सबमें एक आत्म भाव ही देखता हूं। इस अनिष्ट का मुझे कोई हर्ष और शोक नहीं होता। इसी कारण मैं निदुःख जीवित हूँ। मेरे मनमें चंचलता और रागद्वेष नष्ट होगया है। मेरे लिये काष्ट, सुन्दर स्त्री, तृण, पर्वत, अग्नि और सुवर्ण सब एकसे हैं। मुझे जरा मरण के दुःख और राज्य-लाभ के सुख का कोई हर्ष नहीं, मैं सर्वदा समभाव में स्थित रहता हूँ। बन्धु-बान्धव और मेरे पराये की मुझको कोई भावना नहीं है। यहां तक कि मुझे शरीर का भी कोई अभिमान नहीं है। मैं सर्वदा और सब पदार्थों में समभाव रखता हूँ। मेरे लिये कोई विषमता नहीं और न मैं किसी से सुखी हूँ और न किसी से दुःखी हूँ कि मैं ही सर्वात्मा हूँ। इससे मेरी वाणी और मेरा निश्चय सबको मधुर और हृदय गम्य है। ऐसी दृष्टि ही मुझे सर्वदा दुःख रहित बनाए रहती है इत्यादिक इस प्रकार की और भी बहुत सी बातें भुशुण्डि ने वर्णन कीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छब्बीसवा सर्ग समाप्त ॥२६॥

—❀❀—
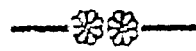
सत्ताईसवां सर्ग

भुशुण्डि उपाख्यान समाप्ति वर्णन

भुशुण्डिजी के इन आत्म उदित रूपी वचनों को सुनकर वशिष्ठजी ने आश्चर्य प्रगट करते हुए उन्हें अनेक प्रकार का धन्यवाद दिया और अपने को भी उनका दर्शन पाने से भाग्यवान माना। उसके पश्चात् आज्ञा लेकर जब वशिष्ठजी चलने को तैयार हुए तब कल्पलता से उठ कर भुशुण्डि ने अत्यन्त विनम्र भावसे उनका पूजन किया और अर्घपाद्य दे प्रणाम किया। उत्तरमें वशिष्ठजी भुशुण्डिजी को नमस्कार कर अपने योगबल से आकाश मार्गको उड़कर चले साथमें भुशुण्डिजी भी पहुंचानेको उड़े। जब दोनों एक योजन उड़ चले तब वशिष्ठजी ने बहुत कह सुनकर उन्हें लौटाया।

वशिष्ठजी कहते हैं कि—मैं जब तक अदृश्य न होगया तब तक वह मुझे बार-बार देखते रहे। पश्चात् मैं उड़ता-उड़ता अपने मंडल में जा पहुँचा और अरुन्धती ने मेरा पूजन किया। हे रामजी! भुशुण्डि का और मेरा समागम सतयुग के दो सौ वर्ष बीत जाने पर हुआ था। अब सतयुग क्षीण होगया और त्रेतायुग चल रहा है जिसमें तुम उत्पन्न हुए हो। अभी आठ वर्ष हुए हैं कि हमारा और उसका मिलाप फिर हुआ था। वह अब भी उसी वृक्षलता पर निवास करता है। हमारा और भुशुण्डि का यह समागम बड़े महत्व का था। जो इस पर विचार करेंगे वे संसार सागर से तर जाँयगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—निर्वाण—प्रकरण का सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ॥२७॥

—❀❀—

अट्ठाईसवां सर्ग

परमार्थ योग उपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे निष्पाप रामचन्द्र! जिस बोध द्वारा भुशुण्डि ने महान् संकटों को पार किया है, उस प्राण मुक्ति का अभ्यास करके तुम भी भवसागरके पार होवो। प्राण-अपान अभ्यास बलसे ही भुशुण्डि को परम तत्व प्राप्त हुआ है,इससे तुम भी ज्ञानयोग से पाने योग्य पदको प्राप्त करो। फिर जैसी इच्छा हो वैसा करना।

इस पर वशिष्ठजीके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हुए रामजीने पूछा कि, हे भगवन्! भुशुण्डि का यह चरित्र जो आपने परमार्थ बोध के लिये वर्णन किया है। उसमें रक्त, मांस और अस्थिरूपी गृह किसने निर्माण किया है। वह कहां से उत्पन्न हुआ, कैसे स्थित हुआ और उसमें कौन स्थित है? वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी! अस्थियां ही इस शरीररूपी गृह की स्तम्भ हैं। इसमें नव द्वारे हैं। यह रक्त, मांस से लेपन किया हुआ है। इसका निर्माणकर्ता कोई नहीं, यह आभास मात्र और मिथ्याभ्रम से भासता है। शरीर का भास होना तो अज्ञानता है। ज्ञान होने से वह असत्यरूप भासता है। जिस प्रकार सूर्य

की किरणों में मरुस्थल का जल भासता है वैसे ही आत्मा में देह भासता है। हे रामजी! यह सारा जगत आभास मात्र है, इसमें अहं, त्वं आदिक कल्पनायें सब मननमात्र मनमें फुरी हैं। तुम जिस अस्थि मांस और रक्तरूपी शरीर (गृह) के सम्बन्ध में पूछते हो, वह अस्थि मांस से नहीं रचा गया है, बल्कि सङ्कल्प मात्र है। सङ्कल्प नाश होनेसे इसका पता नहीं चलता। जैसे स्वप्न में शरीर धारण कर देशकाल आदिक क्रियायें देखने में आती हैं और जाग्रत होने पर उस शरीर का पता नहीं चलता वैसे ही इस शरीर की भी दशा है। यह धन, यह शरीर और यह देश मेरा है ऐसी कल्पना मनने ही की है। इससे सबका बीज मन है। जगत की वास्तविकता में मनोराज के सिवा और कुछ नहीं है। पर इसकी निस्सारता तब प्रकट होती है जब परमात्मतत्त्व का दृढ़ अभ्यास किया जाय। अन्यथा हृदय की दृढ़ भावना का अभाव होना सरल नहीं, जब उसका विपर्यय अभ्यास किया तब अभाव होता है। पर वह अभ्यास तीव्रहोना चाहिये तब उसकी भावना फलदायक होती है। तीव्र भी ऐसा, जैसे कामी पुरुषको सुन्दर स्त्री की तीव्र भावना रहती है। जब जीवको आत्मपद की ऐसी चिन्ता रहे तब वैसा रूप प्रकट होता है। उस रूप के प्रकट होने पर प्राणी आत्म ज्ञान से पूर्ण होकर निर्भय हो जाता है। इस प्रकार वैराग्य अभ्यास द्वारा जब जीव निर्मल पद को प्राप्त होता है तब उसे क्षोभ नहीं प्राप्त होता और राग-द्वेषरूपी आवरण उसको नहीं स्पर्श करते। जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा सुवर्ण होजाता है वैसेही जीव निर्मल होजाता है। इससे अहं, त्वं आदिक जो जगत है, वह केवल आभासमात्र है। इसलिये चित्त को शान्त करने के लिये सत्यासत्य की छान-बीन करके असत् का परित्याग और सत् का अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास से ही तत्त्ववेत्ता और सम्यकदर्शी को जगत के इष्टानिष्ट पदार्थ हर्ष और शोकदायक नहीं होते और किसीकी स्तुति और निन्दा न करते हुए सर्वदा हृदय में शीतल और शान्त भाव

रखते हैं। क्योंकि जितना भोग है वह अवश्य प्राप्त होगा फिर हर्ष और शोक किस लिये ? सुख और दुःख तो शरीर के व्यवहार हैं और यह बराबर आते-जाते रहते हैं और अमिट हैं। फिर शोक क्यों किया जाय ? क्योंकि सत्य असत्य नहीं हो सकता और असत्य सत्य नहीं होता। फिर संसार में आकर किसलिये द्वेष किया जाय। फिर दुःख तो कोई वस्तु नहीं। विचार रहित होना ही दुःख है। सत्या-सत्य के मीमांसक जो सम्यकदर्शी और मुनीश्वर हैं उनको दुःख नहीं होता। कारण कि समदर्शिता से उनका हृदय शीतल होता है और वे कर्तव्य के कर्तापन का अभिमान नहीं रखते। इस कारण संसार के पदार्थों को हृदय से आभासमात्र समझकर जैसे आचार हो वैसाही ग्रहण और त्यागकर आभास रहित होकर स्थित रहो। मैं ही नित्य और शाश्वत हूं चाहे ऐसा एकांतिक अभ्यास कर निर्मल अपने आपको देखो। अथवा न मैं हूँ न यह भोग हैं और न यह जगत जाल कुछ है, मैं ही सब कुछ हूँ, चाहे ऐसा अभ्यास करो तब तुमको सिद्धता प्राप्तहो। इन दोनोंमें तुमको जो सुगम हो उस अभ्यासको करो। पर यह दोनों चिंतवन मिथ्या हैं इनका परित्यागकर तुम आभासरहित होजावो। क्योंकि तुम सर्वव्यापी हो इससे तुमको विधि और निषेध का आश्रय करके निर्मल अद्वैत में ही रहना चाहिए। सारी क्रियायें करो, पर रागद्वेष से रहित रहो। रागद्वेष से रहित रहने पर तुमको उत्तमपद ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी और परम अधिष्ठान तत्व को प्राप्त करोगे अन्यथा रागद्वेषरूपी अग्नि से यदि बारम्बार तुम्हारा हृदय जलता ही रहेगा तो सन्तोष वैराग्य आदिक गुण नहीं प्राप्त होंगे। जिस प्रकार जलती हुई पृथ्वी के वनमें हिरण पाँव नहीं रखते वैसे ही रागद्वेषवाले हृदय में सन्तोष आदि नहीं प्रविष्ट करते। यह हृदय ही कल्प वृक्ष है। जब इस कल्पतरु में रागद्वेष रूपी नाग नहीं लिपटेंगे तब ऐसा कौन पदार्थ है कि न प्राप्त हो। शुद्ध हृदय वाले को सब कुछ प्राप्त होता है चाहे कैसा भी बुद्धिमान और शास्त्रज्ञ क्यों न हो यदि वह रागद्वेष से जल रहा है तो वह स्यार के समान नीच है और

उसको बारम्बार धिक्कार है। रागद्वेष करके वह जिन पदार्थों का संग्रह करता है वे आते तो अवश्य हैं पर उनको और ही ले जाते हैं फिर रागद्वेष किससे किया जाय। जो भोग है वह अवश्य प्राप्त होगा फिर धन के लिये व्यर्थ का प्रयत्न क्या किया जाय। बान्धव और वस्त्र तो आते जाते रहते हैं। यह जानकर ही ज्ञानी जगत के पदार्थों का आश्रय नहीं करते। भगवान की माया भावाभाव रूप धारण करती रहती है, इससे संसार की सारी रचना असत्य है। केवल सङ्कल्प रूप अभ्यास के वश से दृढ़ता को प्राप्त हुआ है। इसकी जो भित्ति आकारवत भासती है वह आकार रहित प्रकाशरूप है और आत्मपद सुषुप्ति के समान अद्वैत रूप है। उस सुषुप्तिरूप पद से जब गिरता है तब दीर्घ स्वप्न को देखता है। आशय यह कि अज्ञान वश प्राणी संसार स्वप्न को देख रहा है। ज्ञान होने से आत्मपद को प्राप्त हो जाता है। वह आत्मपदरूपी सूर्य सब दुःखों से रहित है। पर जो पुरुष घोर निद्रा में पड़ा हुआ है वह सूक्ष्म वचनों से नहीं जागता, बड़ा शब्द करने और जल डालने से जागता है सो मैंने तुम पर मेघ की नाईं गर्जकर वचनरूपी जलकी वृष्टिकी है। मेरे ये वचन ज्ञानपूर्ण और शीतल हैं उनसे अब तुमको बोध प्राप्त हुआ है। अतएव अब तुम ज्ञानरूपी सूर्य से जगत को भ्रमरूप देखोगे। हे रामजी! तुम्हारे लिये जन्म, मरण, दुःख और भ्रम कुछ नहीं है। तुम सङ्कल्प-रहित आत्म पुरुष अपने आप में स्थित हो। तुम्हारी वृत्ति समशान्त और सुषुप्ति के समान है। इससे तुम अपने शुद्ध-स्वरूप में ही स्थित रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण का अट्ठाईसवा सर्ग समाप्त ॥२८॥

——०::※::०——

उन्तीसवाँ सर्ग

ईश्वरोपाख्यान जगत् परमात्म रूप वर्णन

वाल्मीकिजी कहते हैं कि वशिष्ठजी के इस कथन को सुनकर रामजी सम, शान्त और चेतनतत्व में विश्राम पाकर परम आनन्द को प्राप्त हुये और सभा में भी जितने श्रोताजन बैठे थे वह भी आत्म समाधि में स्थित हो शान्त हो गये। तब एक घण्टे के पश्चात् वशिष्ठजी फिर कहने लगे—हे रामजी! संसाररूपी चक्र का नाभिस्थान ही चित्त है। जब उस नाभि में स्थिरता प्राप्त हो तब संसार शान्त प्रतीत होता है। अन्यथा उस संसार-चक्र का वेग बड़ा ही तीव्र है और बार २ यत्न करने पर भी यह फुर आता है। परन्तु दृढ़ अभ्यास से रुक भी जाता है। इसमें सत्सङ्ग और सच्छास्त्र के वाक्य बड़े सहायक होते हैं। ऐसे पुरुषार्थ का आश्रय करने से परम शांतपद की प्राप्ति अवश्य होती है। हे रामजी! संसार असत्य है, अज्ञान और भ्रम से सत्य की नाईं भास रहा है। जो मूर्ख इन असत्य रूप पदार्थों में रागद्वेष करते हैं। वह तो पत्र पर चित्रित चित्र से गिरे हुए हैं। क्योंकि वे दिन रात इष्ट अनिष्ट की चिन्ता और हर्ष में रागद्वेष किया करते हैं। पर चित्र का पुरुष ऐसा नहीं करता। वह पत्र सदृश नाशवान वस्तु के आधार रहते हुए भी सदा अचल रहता है। किन्तु यह मनुष्य अविनाशी के आधार रहते हुए भी अपने को नाश हुआ मानता है। इसलिए यह चित्र के पुरुष से भी गिरा हुआ है। मनुष्य की यह शरीर भी मनोराज के उस शरीर से जो सङ्कल्पों की केवल रचना मात्र है तुच्छ है। क्योंकि मनोराज के शरीर में यदि कदाचित दुःख आ भी गया तो वह दीर्घ काल तक रहकर झट अन्य सङ्कल्प से खड़ा होते ही नष्ट हो जाता है परन्तु इस स्थूल शरीर से ऐसी आशा नहीं। इसलिये यह भी महान् तुच्छ है। हे रामजी! इसकी तुच्छता का एक यह भी प्रमाण जानो कि मूर्ख इसके भोग के लिये अनेक यत्न करते हुए कष्ट पाते हैं।

उनको अभिमान वश यह पता नहीं कि सुख दुःख तो केवल शरीर का है, इसके नष्ट होने से मैं नहीं नष्ट हो सकता। क्योंकि मैं आत्मा हूँ और स्थूल शरीर से मेरा क्या सम्बन्ध। शरीर की रचना तो सङ्कल्पों से हुई और यह सङ्कल्प रचना विनाशरूप है। यद्यपि यह स्वप्नमय देह दीर्घकाल की रची हुई है तथापि इसके दुःख और नाश से आत्मा दुःखी और नष्ट नहीं होता। यह आत्मसत्ता सर्वदा अचल अविकारी, शुद्ध और अच्युत रूप अपने आप में स्थित है। केवल अज्ञान के दृढ़ अभ्यास ने ही देही धर्म को स्वीकार कर अपने समान बना लिया है। किन्तु आत्मा का दृढ़ अभ्यास होने से इस देही धर्म का लोप हो जाता है। यह अज्ञान-भ्रमके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं। इसी से यह कहता है कि मेरा सर्वनाश होगया और मुझको दुःख हो रहा है इत्यादि। पर यह सारी कल्पनायें अज्ञान से भासती हैं और इस भ्रमदृष्टि को धैर्य से निवृत्त करने से नष्ट हो जाती हैं। आत्मा में शरीर रस्सी में सर्प के समान ही असत्य है। इसको कुछ कर्म करने और मुक्त होने की इच्छा नहीं है। ईश्वर परमात्मा भी कुछ नहीं करता केवल शुद्ध द्रष्टा और सबको प्रकाश देने वाला है। इसलिए तुम शुद्ध स्वरूप अपने आप में स्थित होवो। क्योंकि आत्मा ही सबका साक्षीभूत है और आत्मा के आश्रय ही शरीर आदि की चेष्टा होती है किन्तु वह पाप पुण्य से रहित है। यह शरीररूपी शून्य गृह केवल अहङ्काररूपी पिशाच की कल्पना करके जीव को दुःख दे रहा है। वह पिशाच बड़ा नीच और निन्द्य है। यदि अहङ्काररूपी वैताल इस शरीरसे निकल जाय तो फिर आनन्द ही आनन्द है। इस नीच के पीछे चलकर ही पुरुष नरक प्राप्त होते हैं, इसलिये तुम इसके आज्ञाकारी मत बनो। आत्मा और अहङ्कार का सम्बन्ध नहीं है। चित्त को आत्मा समझने वाले बड़े मूर्ख हैं। क्योंकि चित्त मूढ़ है और आत्मा चेतनरूप है। इसलिए तुम चित्त के मोहसे तरो। जो चित्तरूपी वैताल के वशमें पड़ा है, उसको बान्धव और शास्त्र भी नहीं छुड़ा सकते। परन्तु जो शरीराभिमान से रहित है उसको गुरु और शास्त्र

मुक्तकर देते हैं। यों तो कोई भी शरीरगृह ऐसा नहीं है कि जिसमें अहङ्कार रूपी पिशाचने अपना आसन न लगाया हो, परन्तु उसका दृढ़ वास उसी गृह में जानो कि जिसमें सन्तोष, विचार, अभ्यास और सत्सङ्ग का अभाव होवे। पर जहाँ इतना अभाव न होवे उस शरीर में यह नहीं बास कर सकता। हे रामजी ! समस्त शरीरधारियों को चित्तरूपी बैताल, जगत रूपी महावन में भुलाकर मोह देता रहता है। इसलिए तुम सत्य, विचार और धैर्यबल से शीघ्र अपना उद्धार करो। क्योंकि यह जगतरूपी पुरातन बन है और इसमें भोगरूपी तृष्णा बहुत सुन्दर है पर उसके नीचे बहुत बड़ी खाई है। जीवरूपी मृग भोगों की रमणीयता पर मुग्ध होकर उनके भोगने की लालसा एवं तृष्णासे नरक आदिक जन्मों में गिरते हैं पर तुम ऐसा मत होवो। क्योंकि भोग तृष्णा तो नरक में गिराने वाली है। इससे तुम इसकी तृष्णा का परित्याग कर दो। हे रामजी ! देखने में जो स्त्री रमणीय भासती है उसका आलिङ्गन अल्पकाल ही के लिये सुखदायक है, अन्त में वह कीचड़ के ही समान है। जो पुरुष इस खाई में गिरता है उसका निकलना अत्यन्त दुस्तर है। इसलिये तुम सद्वृत्ति का आश्रय कर ग्रहण और त्यागवाली असतवृत्ति का परित्याग कर केवल आतमतत्व का आश्रय करो। अन्यथा यह अस्थि मांस और रक्तसे पूर्ण अपवित्र शरीर तो दिनरात दुष्ट आचार से ही संलग्न रहेगा। इसके लिए भोगेच्छा परमार्थ साधन में सहायक नहीं हो सकती। क्योंकि इस शरीर को तो सङ्कल्पने रचा है और प्राण से चेष्टा करता हुआ इसमें अहङ्काररूपी पिशाच बैठकर गर्जन करता है। जिससे मन की वृत्तियाँ सुख और दुःख को ग्रहण करती हैं और जीव को दुःख होता है। यह बड़ा आश्चर्य है। किन्तु परमार्थसत्ता एक है और सर्व समान है। उसमें द्वैतभाव नहीं, जड़ और चेतन की कल्पना भी असत्य है। ऐसी कल्पना तो यथार्थ दृष्टिके अभाव से ही प्रकट होती है। पर जब यथार्थ दृष्टि प्राप्ति होजाती है तो यह भेद कल्पना स्वयं ही नष्ट हो जाती है। भला, विचारने की बात है कि जो

सत्य व असत्य कैसे हो सकता है और जो असत्य है वह सत्य कैसे हो सकता है। फिर जो आत्मा सर्वदा सत्य रूप अपने आप में स्थित है उसमें यह भारी भेद कहाँ से आया। द्वैत को कौन कहे उसमें तो एक का भी अभाव है। पर यह कल्प तब नष्ट होजाती है जब चित्त नष्ट हो। यह चेतन है, यह जड़ है, यह उत्पन्न होता है, यह नाशवान है इत्यादि समस्त कल्पनायें असत्य हैं। गुरु और शास्त्र भी आत्मा को ही चेतन बतलाते हैं और आत्मस्वरूप में स्थित करनेके लिये ऐसेही दृष्टांत देते हैं। उनके उपदेश द्वारा जब स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो जाती है तब यह जड़ और चेतनकी भेद कल्पना नष्ट हो जाती है और केवल तत्व वस्तु भासती है। परन्तु जो मूर्ख होते हैं वे गुरु द्वारा जड़ और चेतन का विभाग किये जाने पर भी उस उपदेश को नहीं ग्रहण करते। हे रामजी! बड़ा आश्चर्य तो यह है कि चित्त, इन्द्रियाँ और शरीर भिन्न २ हैं और शरीर का कोई कर्ता दृष्टि नहीं आता फिर भी अहङ्कार से वेष्ठित हो यह जीव दुःख पाया करता है। किंतु जो विचारवान पुरुष आत्मपद में स्थित हैं उनको कोई क्रिया दुःखदायक नहीं होती। हे रामजी! शीश, नेत्र, रक्त, मांस, अस्थि मन और समस्त भूत जातियों से भी परे चित्त रहित केवल चिन्मात्र और साक्षी रूप हो इसलिये इस देह की ममता त्याग कर नित्य शुद्ध और सर्वगत आत्मस्वरूप में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उन्तीसवा सर्ग समाप्त ॥२६॥

——०::❀::०——

तीसवां सर्ग

रुद्र वशिष्ठ समागम

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ऐसी दृष्टि का आश्रय करने से तुमको आत्मानन्द की ऐसी प्राप्ति होगी कि उसके आगे तुमको अष्ट सिद्धियों का ऐश्वर्य भी फीका लगेगा। एक दृष्टि और है। यह मोह का नाश करके पाने योग्य कठिन आत्मपद को सुख से प्राप्त कराती है। इस दुःख रहित दृष्टि को शिवजी से मैंने सुना

है। हे रामजी ! बन हिमालय पर्वत के कैलाश शिखर पर जहाँ शिवजी स्वामिकार्तिक और अपने गणों सहित अत्यन्त रमणीय शून्य स्थान में बैठे तपस्या कर रहे थे वहाँ जाकर मैंने उनकी पूजा की और फिर एक कमण्डल और फूल माला लेकर पास ही में एक गुफा बनाकर मैं तप करने लगा। उस समय मैं केवल जल पीकर और कुछ फल खाकर रहता था। मेरे साथ कुछ विद्यार्थी भी थे, समय निकाल कर उनको पढ़ाता था और शास्त्रों के अर्थ पर भी विचार करता था। इसी क्रम से मैं अपना तप काल करने लगा। एक बार मैंने लम्बी समाधि लगाई। और श्रावण बदी अष्टमी की अर्द्धरात्रि को मैं समाधि से जाग्रत हुआ। जाग्रत होने पर मैंने देखा कि समस्त दिशायें शान्त हैं और प्रकृति की अनोखी छटा यत्र तत्र जगमगा रही है। कुछ देर के घोर अन्धकार के पश्चात् निर्मल चन्द्रमा उदय होकर अपनी अमृतमय किरणों से चन्द्रमुखी कमलों को प्रफुल्लित कर रहे हैं। सप्तर्षि और तारागण ऊपर ऐसे मँडरा रहे थे मानो मेरे तप को देखने आये हों। उन सप्तर्षियों के पीछे तीन तारे हैं और उनके मध्य में उस समय का मेरा मन्दिर है। उसी मन्दिर में मैं सदा विराजमान रहता हूँ। इस अवस्था के कुछ देर बाद मुझे अनेक अनोखी छटा दिखलाई पड़ने लगी। कहीं माखन का पहाड़ खड़ा था, कहीं शंखों की तुमुल-ध्वनि हो रही थी और कहीं मोतियों का समूह एक चित्त होकर उड़ रहा था और कहीं गङ्गा का प्रवाह उछल रहा था। इन दृश्यों को देखकर मैं विचारने लगा कि यह क्या हैं ? तब तक मुझे दिखलाई पड़ा कि शिवजी अपने गणों के साथ गौरी भगवती का पाणि पकड़े हुए चले आ रहे हैं। इस प्रकार मन से ही देखकर मैंने मन से ही मन्दरा पुष्प लेकर मन से ही प्रणाम किया और मन से ही प्रदक्षिणा कर आसन से चल खड़ा हुआ। तब चंद्रकलाधारी शिव जी ने मेरी ओर कृपा दृष्टि से लेकर कहा—हे विप्र ! अर्घ्यपाद्य

ले आवो, मैं तेरे आश्रम में अतिथि होकर आया हूँ। हे निष्पाप! तुम्हारा कल्याण हो। यह कहकर शिवजी अपने भृत्यों सहित मेरी गुफा में आये। तब मैंने यथाविधि चरण से सिर पर्यन्त गणों सहित शिवजी का पूजन किया। इस प्रकार जब पूर्ण भाव भक्ति सहित शशिकलाधारी भगवान शिवजी का पूजन कर चुका तब शिवजी ने मुझसे कहा हे विप्र! अनेक प्रकार की चिन्तन करने वाली जितनी चित्तवृत्तियाँ हैं अब तेरे स्वरूप में विश्रान्त को प्राप्त हुई हैं और तेरी संवित आत्मपद में स्थित हुई हैं। पर यह तो कहो कि तुम्हें इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में खेद तो नहीं होता? और इस पर्वत पर कुवेर के जो निशाचर विचरते हैं वह तुमको कष्ट तो नहीं देते? हे रामजी! शिवजी के ऐसा पूछने पर मैंने कहा—हे भगवन्! आपका स्मरण करने वाले को इस लोकमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जो न प्राप्त हो और ऐसा कौन है जो आपके सेवक को कष्ट दे सके। जो आपके चरणों का स्मरण करते हैं उनका सब ओर से पूर्ण आनन्द है और वे जगत में किसी प्रकार दीन नहीं होते। जिस समय और जिस दिशा में एकान्त बुद्धि बैठकर आपका ध्यान किया जाय वही समय और वही दिशायें बन्दनीय हैं। हे प्रभो! आप का ध्यान समस्त आपदाओं का नाश करने वाला और सर्व सम्पदारूपी लता को बढ़ाने वाला वसन्त ऋतु है। आपका स्मरण ज्ञान खानि और अघ की हानि करने वाला है। यदि एक क्षण भी शान्त चित्त से आपका स्मरण किया जाय तो सारे दुःख और क्लेश नष्ट हो जाँय। वाल्मीकिजी कहते हैं कि यह कथा समाप्त भी न हो पायी थी कि इतने में दिन का अन्त हुआ और सभा के लोग परस्पर प्रणाम आदि करके अपने-अपने स्थान को गये। दूसरे दिन सूर्य भगवान् के उदय होते ही फिर अपने अपने स्थानों पर आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३७॥

इकत्तीसवाँ सर्ग

देवार्चन-विधान वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! मेरे ऐसा कहने पर माता गौरी ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक मुझ से पूछा कि हे वशिष्ठजी ! पतिव्रताओं में श्रेष्ठ अरुन्धतीजी कहां हैं ? उनको ले आइये वह मेरी प्रिय सखी हैं, मैं उनसे कई वार्ता करने आई हूँ। हे रामजी ! जब पार्वतीजी ने मुझसे ऐसा कहा तब मैं जाकर अरुन्धती को बुला लाया। फिर दोनों परस्पर वार्तालाप करने लगीं। इधर मैंने शशिकलाधारी शिवजी से अनेक अनुनय विनय करके पूछा कि, हे प्रभो ! देव अर्चन का विधान क्या है, कृपाकर मुझे बतलाइये तब शिवजी कहने लगे,—हे विप्रश्रेष्ठ ! तुम देव किसको मानते हो ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सहस्र नेत्रधारी इन्द्रदेवजी नहीं हैं और पवन, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और तुम तथा मैं भी देव नहीं हूँ। यह देह और चित्त भी देव नहीं है। सच्चा देव वह है जिसमें कल्पनारूप नहीं है और जो अकृत्रिम, अनादि तथा अनंत हैं उसी का नाम देव है। देव शब्द से उसी का पूजन किया जाता है। वह सत्ता शान्त और आत्मरूप है। उसीको सब में सर्वत्र देखना यही उसका पूजन है। परन्तु जिसको उस संवित तत्व का ज्ञान नहीं है, उसके लिये आकार अर्चना की आवश्यकता है। जैसे जो पुरुष योजन पर्यन्त नहीं चल सकता उसके लिये एक दो कोस चलना भी अच्छा है। इस प्रकार जो पुरुष अकृत्रिम देव की उपासना नहीं कर सकता उसको आकार की उपासना करना अच्छा है। उस उपासनामें भावना के अनुसार उपासक को भोग के लिये फल प्राप्त होता है। जो उस अकृत्रिम अनन्तदेव की उपासना करता है, उसको परमात्मा वही फल देता है। जो अकृत्रिम फल को त्यागकर कृत्रिम फल की कांक्षा करते हैं वह ऐसे हैं जैसे ही कोई मन्दरा वृक्षको त्यागकर कंज के बन को प्राप्त हो। उस देव की पूजा क्या है और कैसे होती है सुनो।

बोध, साम्य और शम यह तीन पुष्प हैं। बोध कहते हैं सम्यक ज्ञान को अर्थात् आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञान और साम्य कहते हैं सब में पूर्ण देखने को और शम कहते हैं। चित्त निवृत्ति को और चित्त निवृत्ति का अर्थ है आत्मतत्व से भिन्न कुछ न फुरना। इन्हीं तीनों पुष्पों से चिन्मात्र देव की पूजा होती है। उसके अर्चन के लिये आकार अर्चन की आवश्यकता नहीं। जो प्राणी आत्मसंवित चिन्मात्र को त्यागकर जड़ की उपासना (पूजा) करते हैं वे चिरकाल तक क्लेश भोगते हैं। इसीसे तो ज्ञान-ज्ञेय पुरुषों ने आत्मज्ञान से भिन्न पूजन अर्चन को बालकों का खेल कहा है। अस्तु, निराकार भगवान आत्मा जो परम कारणरूप है उसका सर्वदा ज्ञान रखना ही देव का पूजन है, अन्य कोई पूजा नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण का इकत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३१॥

बत्तीसवां सर्ग

शरीरपात-विचार वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा,—हे विप्र! सारा विश्व परमात्मा का ही स्वरूप है और परमात्माकाश ब्रह्म ही एक देव कहलाता है। उसी का पूजन मुख्य है और उसी से सब फल प्राप्त होते हैं। वही देव सर्वज्ञ हैं और उसी में सब स्थित हैं। वह अकृत्रिम देव अज और अखंड है। जो परमसुख के अभिलाषी हों उनको चाहिये कि साधन द्वारा उसे प्राप्त करें। हे वशिष्ठ! तुम श्रेष्ठ जिज्ञासु हो इससे मैंने देव अर्चन का यह प्रकार तुमसे बतलाया है। पर जो जिज्ञासु नहीं हैं और जिनकी बुद्धि बालकों के समान अनिश्चयात्मक है उनके लिये धूप, दीप और पुष्पादि की अर्चना ही योग्य है। पर उनकी यह आकार युक्त कल्पित देवकल्पना मिथ्या है। हे मुने! जो प्राणी अपने संकल्पों से देवता की रचना करके उस पर धूप, दीप, चन्दन और दूध चढ़ाते फिरते हैं वह उनकी केवल भावना मात्र है। इसीसे उनको सङ्कल्परचित फल भी प्राप्त होता है।

पर यह अर्चना केवल बाल विनोद है। वह बाल विनोद अर्चना तुम्हारे लिये नहीं है। तुम्हारे जैसों के लिये तो सर्व आत्मा भावना का ही अर्चन श्रेष्ठ है। स्वयं मेरा सिद्धान्त भी ऐसा ही है कि एक देव ही तीनों लोकों में व्याप्त है। मुझमें तुझ में और चार प्रकार के समस्त भूत जातियों में वही स्थित है। समस्त त्रैलोकी उसी देव से चैतन्य हो रहा है। वही चिन्मात्र देव जगत का सार भूत, पूजनीय और सब अभीष्टों का सिद्धिदाता है। वह देव दूर नहीं है और उसको प्राप्त करना भी कठिन नहीं है। क्योंकि वह सब में स्थित सब की आत्मा ही है। शास्त्रकारों ने उसी को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया है। चराचर भूतप्राणियों के मन की जितनी क्रियायें मन करता है सब आत्मा के ही आश्रय होती हैं। वह आत्मा समस्त संसार का प्रकाशक, सबसे रहित, नित्य शुद्ध और अद्वैत रूप है। वह एक रूप आत्मा ही अनेक रूप होकर भासती है। देव, दानव और मनुष्य सब उसी एक देव में स्थित हैं। यही नहीं समुद्र पहाड़ आदि सब में वही एक तत्व विद्यमान है, सारा जगत उस आत्मा का ही चमत्कार है। उसी परमात्मा में समस्त जीव प्रवाहित हो रहे हैं। चतुर्भुज रूप धारण कर वही चेतन सत्ता दैत्यों का संहार करती है। जैसे एक सुवर्ण से अनेक रूप के भूषण होते हैं, वैसे ही एक चेतनत्व अनेक रूप होकर स्थित होता है। इन्द्र और ब्रह्मा आदिक सब उसी चेतन सत्ता से हुए हैं और समस्त शरीर उस एक चेतन तत्वसे ही बने हैं। हे मुनीश्वर! उस एक चेतन सत्ता ने ही समस्त जगत के प्रतिबिम्ब को धारण किया है और समस्त क्रिया उसी एक देव से सिद्ध हो रही है तथा सूर्य आदि में प्रकाशित उसीका प्रकाश है। भाव अभाव प्रकाश, अन्धकार सब उसी चेतन से है। आशय यह है कि समस्त पदार्थ उस एक आत्मा ही से सिद्ध हो रहे हैं। हे मुने! इस शरीर वृक्ष में शाखायें तो अनेक हैं, पर चेतन रूपी मंजरी के बिना शोभायमान नहीं होता और

रस हीन वृक्ष बढ़ नहीं सकता. वैसे ही चेतन विना शरीरोन्नति का विकार आत्मा बिना सिद्ध नहीं होता।

यह कहकर वशिष्ठजी ने कहा,-हे रामजी ! जब शिवजी ने मुझसे ऐसा कहा, तब मैंने पूछा कि-हे देवेश ! यह तो हमने माना कि चेतनतत्व ही सर्वत्र व्याप्त है पर इस प्रकार विस्तृत होने के पूर्व वह तत्व था, अब तो विस्तृत हो जाने पर वह चेतन्यता से शून्य है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव कैसे हो, कृपाकर मुझे बतलाइये ? शिव जी ने कहा-हे ब्राह्मण ! शरीर में दो चेतन स्वरूप हैं। एक चैतन्योमुखत्व अर्थात् जीव दूसरा निर्विकल्प आत्मा। जो चैतन्योमुखत्व दृश्य से मिला हुआ है वह जीव है पर वह जीव भी चेतनस्वरूप से पृथक् नहीं है। केवल चित्तसत्ता के फुरने से अन्यरूप हो जाता है। आदि में चित्त स्पन्द चित्तकला में हुआ है, तब शब्द को ग्रहण करके आकाश से स्पर्श और स्पर्श से वायु आदि पंचतन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। फिर देश का विभाग हुआ जिसमें जीव प्रतिबिम्बित हुआ। फिर निश्चयात्मक वृत्ति उत्पन्न हुई जिसका नाम बुद्धि पड़ा। उस बुद्धि में जब अहं वृत्ति उत्पन्न हुई तब उसका नाम अहङ्कार हुआ। तदुपरान्त संकल्प विकल्प वृत्ति उठी जिसका नाम मन हुआ। मन के चिन्तन से चित्त हुआ जिससे संसार की भावना हुई तब संसार का अनुभव हुआ और फिर अभ्यासवश संसार भासने लगा। जैसे उलटे ज्ञान से ब्राह्मण अपने को शूद्र माने, वैसे ही भावना के उलटे ज्ञान से चेतन अपने को जीव मानने लगा। इस प्रकार संकल्प विकल्प आदि विकार के वश होकर चैतन्य शरीर भाव को प्राप्त हुआ चित्त-मल मोहित हो जड़ता का आश्रय लेकर जन्म मरण के चक्कर में पड़ा हुआ गर्भ आदिक अनेकों दुःख भोगता रहता है, और इस प्रकार स्वरूप से गिरकर कभी स्थिर नहीं होता। स्वरूप से गिरा हुआ अनात्मा में अहं करके दुःख का अनुभव करता है। पर वह उसकी भूल है क्योंकि शुद्ध चेतन में निराभाव होकर चित्तकला के फुरने से जगत का कारण हुआ है,

परन्तु वास्तव में स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है। हे मुने! चेतन सत्ता ही जड़ दृश्य को अङ्गीकार कर जीवत्व को प्राप्त हुआ है। वही जीव अर्थात् मन प्राणरूपी रथ पर चढ़कर पदार्थों की भावना से अनेक भेद को प्राप्त हुए के समान स्थित हुआ है। आशय यह है कि चेतन ही अनेक प्रकार होकर स्थित हुआ है और यह जीव कला ही आत्मा की सत्ता को प्राप्त कर वृत्ति में फुरन रूप होती है। जैसे सूर्य की सत्ता को पाकर नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं, वैसे ही परमात्मा की सत्ता को पाकर जीव वृत्ति में फुरता है और चित्तत्व में स्थित परमात्मा से फुरणरूप जीवित रहता है। यह जीव आधि व्याधियों से जो दुःखी रहता है, उसका कारण यही है कि इसने अपने स्वरूप को भुला दिया है और सांसारिक भोग पदार्थों की ओर लगा है। फिर तो दुःख और दीनता का प्राप्त होना अनिवार्य है। अतः सूर्य पर बादलों के घिरने के समान ही मूढ़ता ने आत्मा को घेर लिया है। जब तक प्राण रूपी वायु का अभ्यास न होगा तब तक यह जड़ता कैसे निवृत्त होगी? अस्तु प्राणों का अभ्यास करके जड़ता को दूर कर आत्म स्मरण करना चाहिये। इसके लिए वासनाओं को निर्मल करने की आवश्यकता है। इसमें भी कई प्रकार हैं। पर जिनकी वासनायें निर्मल हुई हैं किन्तु उनका समूलनाश नहीं हुआ है, वह स्थिर होकर एक रूप हो जाती हैं और वे जीव जीवन्मुक्त होकर चिरकाल तक जीवित रहते हैं और हृदय कमल में प्राणों को रोककर शान्ति को प्राप्त होते हैं। फिर तो काष्ठ और लोष्ठ के सदृश उनका शरीर गिर पड़ता है और पुर्यष्टका आकाश में सदा के लिये लीन हो जाती है। पर जिनकी वासनाओं का नाश नहीं होता, मरणोपरान्त उनकी पुर्यष्टका आकाश में स्थित हो फिर उठती है और तब उस वासना के अनुसार वह स्वर्ग, नरक को देखने लगता है। किन्तु जब शरीर मन और प्राण से रहित होता है, तब शून्य रूप हो जाता है। जैसे एक घर को त्यागकर प्राणी अन्यत्र चला जाये तो वह शून्य हो जाता है, वैसे ही मन और प्राण

त्याग देने पर शरीर शून्य हो जाता है। हे मुने! यों तो चित्तसत्ता सर्वत्र है किन्तु जहां पुर्यष्टका होती है वहां भी भासती है और वहां ही चेतन का अनुभव होता है अन्यत्र नहीं। हे मुने! जब जीव शरीर को त्याग देता है तब पंचतन्मात्राओं को ग्रहण करके साथ ले जाता है और जहाँ इसकी वासना होती है वहां को प्राप्त होता है। पहले इसका अन्तवाहक शरीर होता है, फिर मोह के दृढ़ अभ्यास से स्थूल भाव को प्राप्त होता है। फिर तो स्थूल में अहं भाव करके विपर्यय वृत्ति धारण करता है, जिससे भ्रम को प्राप्त होता है। शरीर से पुर्यष्टका के निकल जाने एवं आकाश में लीन हो जाने पर शरीर स्फुरण बन्द हो जाता है और उसी को मृतक हुआ कहते हैं। हे मुने! इस प्रकार अपने स्वरूप का विस्मरण कर यह जीव बार-बार शरीर को धारण करता और नष्ट होता रहता है। फिर उसका शोक करना व्यर्थ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—निर्वाण-प्रकरण का बतीसवां सर्ग समाप्त ॥३२॥

—※—

तैंतीसवां सर्ग

दैव-प्रतिपादन वर्णन

शिवजी के ऐसा कहने पर वशिष्ठजी ने पूछा कि हे भगवन्! जब वह चेतनसत्ता अर्थात् परमात्मा पुरुष एक है तब उसमें अनेकता कहां से प्राप्त हुई और भूत भविष्यकाल भी कहां से दृढ़ हो रहे हैं? इसका उत्तर देते हुए शिवजी ने कहा—हे विप्र! वह चेतनसत्ता सर्व शक्तिमान है। एक भाव से दो भी प्रकट होता है और दो की अपेक्षा से एक कहलाता है। पर यह दोनों ही कल्पना मात्र हैं। यह कल्पना चित्त के फुरने से है। चित्त न फुरे तो दोनों की कल्पना मिट जाती है। जैसे बीज से लेकर फल पर्यन्त वृक्ष का जो विस्तार है सो एकही रूप है और घटना बढ़ना उसमें कल्पनामात्र है, वैसे ही चेतन में चित्तकल्पना होने से जगत रूप भास रहा है पर

वह वही एक रूप है। जैसे वृक्ष संयुक्त भी बीज एक वस्तु रूप है और कुछ नहीं हुआ परन्तु बीज के फुरने से ही वृक्ष ही भासता है ऐसी ही जब शुद्ध चेतन में चेतन कलना फुरती है, तब जगत रूप हो भासता है। अतएव यह कारण कार्यरूपी जगत को भास रहा है केवल असम्यक दृष्टि से भास रहा है अन्यथा जैसे जल में तरंग कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही आत्मा में जगत कोई भिन्न वस्तु नहीं है। वह चेतनरूपी एक लता ही अनेक रूप होकर भास रही है। हे मुने! जब सब कुछ चेतन ही है, तब मेरे प्रश्न को स्थान ही कहां है? क्योंकि देश, काल, क्रिया, नीति आदिक जितनी शक्तियां हैं, सब में एक चिदात्मा ही है। उस ब्रह्म में जगत के स्फुरण से ही अहं, त्वं आदिक—नाना प्रकार के नाम हुए हैं, पर वह ब्रह्म, शिव, पर-मात्मा आदिक नामों से पुकारा जाता है जो वाणी का विषय नहीं है। वही निर्विकल्प तत्व सदा अपने आप में स्थित है, और सारे जगत में वही चेतन तत्व भास रहा है। हे मुने! जब उस महाचेतन में किंचनता आती है तब वही जीवरूप होकर स्थित होता है और तब द्वैत कलना को देखता है। पर वह भ्रममात्र है। जब यह जीव अभ्यास द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप की ओर सावधान होता है तब वही रूप हो जाता है। हे मुने! यह हम पहले बतला चुके हैं कि इस जीव का आदि शरीर अन्तवाहक है और संकल्प उसका रूप है। अतः जब उस अन्तवाहक शरीर में अहं की तीव्र भावना होती है तब वही शरीर आधिभौतिक हो जाता है। आधिभौतिक में दृढ़ता होने पर और उसकी भावना द्वारा राग-द्वेष से शोभायमान होता है। फिर जब हृदय में विचार उत्पन्न होता है तब संकल्परूपी आवरण हट जाता है और जीव अपने वास्तविक रूप को प्राप्त हो जाता है। अन्यथा जीव अपने संकल्प विकल्प से आप ही भय पाता रहता है। हे महामुने! परमार्थतः द्वैत कुछ है ही नहीं। सब संकल्प रचना है। संकल्प से रचे दृश्य संकल्प के अभाव से हो जाते हैं। संकल्पों का अभाव हो जाने पर तो दुःख कुछ नहीं रहता। केवल संकल्प की

हढ़ता ही दुःख दे रही है। तब इस सङ्कल्पमात्र की इच्छा त्यागने में क्यों आलस्य किया जाय ? हे मुने! सङ्कल्प विकल्प ने ही जीवों को दुःखी बना रखा है। इसके हटने पर तो चिह्न का पता नहीं लगता और यह जीव उच्चपद पर जा विराजता है। यह देखी हुई बात है कि जिस पुरुष ने विवेकरूपी वायु से संकल्परूपी मेघ को दूर किया है वह निर्मलता को प्राप्त हुआ है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही संकल्प-विकल्प से रहित जीव निर्मल भाव को प्राप्त होता है, और संकल्प त्याग के पश्चात् जो शेष रहता है वही सत्तामात्र परमानन्द तुम्हारा स्वरूप है। आत्मा सर्व शक्तिमान है, जैसी भावना होती है वैसा ही वह अपनी भावना से देखता है। इसमे सब संकल्पमात्र है. भ्रम से उदय हुआ है। संकल्प लीन होने से सब लीन हो जाता है। हे मुने! संकल्परूपी लकड़ी है और तृष्णारूपी घृत है और जन्मरूपी अग्नि है। जब असंकल्परूपी वायु और जल में इसका अभाव करे तब यह शान्त हो जाता है। अन्यथा संकल्परूपी वायु से तृण के समान भ्रमता है। हे मुने! तृष्णारूपी बेल को जीव संकल्परूपी जलसे सींचता है, जब असंकल्परूपी तेज उस जल का शोषण करे और विचाररूपी खड्ग से उस बेल को काटे तब उसका अभाव होता है। जिसका भाव नहीं है. उसका अभाव नष्ट होने से उसका अभाव ही हो जाता है। यह जगत केवल असम्यक् ज्ञान से भास रहा है। सम्यक ज्ञान होने से लीन हो जाता है। जब जीव को अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है तब यह अपने को दीन और दुःखी जानता है पर स्वरूप का ज्ञान होने से समस्त दुःख मिट जाते हैं। तब यह अज्ञानरूपी मल से रहित जीव निर्मल होकर शुद्धपद को प्राप्त होता है। मैं एक आत्मा हूं, मुझमें द्वैत कुछ नहीं है—जो ऐसी युक्ति की भावना करता है उसका द्वैतभाव मिट जाता है और वह उत्तमपद, ब्रह्मदेव पूज्य, किंचित और निष्किंचन के समान एक रूप हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४३॥

चौंतीसवाँ सर्ग

परमेश्वरोपदेश-वर्णन

शिवजी के मुख से इस तत्व मय वाणी को सुन लेने पर वशिष्ठजी ने पूछा—हे भगवन् ! जिस महा सत्ता में समस्त पदार्थ लीन हो जाते हैं वह सत्ता कैसी है ? और आपने जैसा कहा है कि मन से ही मन क्षीण हो जाता है और इन्द्रियां मनमें लीन हो जाती हैं सो वह पद कैसा है ? कृपाकर मुझे बतलाइये । शिवजी ने उत्तर दिया, कि हे मुनिवर ! मन की क्षीणता के तीन पद हैं। जिनमें प्रथम पद की व्याख्या तो यह है कि जब प्राणी मन और इन्द्रियों को उन्हीं से छेदकर विचार द्वारा वश करके और किसी अपर उपासना को करके जब आत्म-ज्ञानी होता है, तब उसको एक और द्वैत की कल्पना नहीं रहती जिस प्रकार भुना हुआ बीज नहीं उगता, उसी प्रकार मनके उपशम होने पर मनमें जगत् सत्ता के भाव नहीं उठते । फिर तो प्राणी आत्म-तत्व के प्रकाश से प्रकाशित होता है और उसके चित्त की चञ्चलता नष्ट हो जाती है और वह परम निर्मल सत्ता को प्राप्त हो जाता है। उसका ज्ञान सुषुप्ति के समान निर्भय हो जाता है और वह संसार सागर को पार करने वाला शान्ति रूप आत्मा को पाकर शांति रूप होजाता है । हे मुनिवर वशिष्ठ ! अब दूसरा पद सुनो दूसरा पद यह है कि जब चित्तरूपी शक्ति में सङ्कल्प विकल्प नहीं उठते और वह अनेक भावनाओं में नहीं दौड़ता तब चन्द्रमा के समान शीतल हो कर सुषुप्ति रूप हो जाता है और तब वह अपने को आकाश के समान विस्तृत रूप झलकने लगता है। तब उसका चित्त आत्मा में ऐसा लीन हो जाता है कि उसे दृश्य आदिक उत्पातों का कोई भी प्रबल वायु नहीं डिगा सकता । उसकी चित्त-वृत्ति आत्मा में ऐसा विश्राम पाती है, जैसे गन्ध पुष्प में स्थित होता है । वह आत्मसत्ता न जड़ है न चेतन है और न उसमें कोई कलना है । वह सत्ता

समस्त सत्ता को ध्यान करने वाली चिन्मात्र तथा अंकुर रूप है। जो उस सत्ताको प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिसको वह पद प्राप्त होता है, उसको तुरीया पद कहते हैं। वह पद समस्त दुःखों से रहित है। उस सत्ता को पाने वाला सर्वत्र और प्रत्येक अवस्था में सम भाव से साक्षीरूप स्थित रहता हुआ शान्ति स्वरूप है। हे मुनिवर वशिष्ठ! तीसरा पद यह है कि जब वृत्तियाँ आत्मतत्व में लय हो जाती हैं और भावाभाव की कोई कलना नहीं उठती तथा वृत्ति अत्यन्त अचल हो जाती है उस समय उसको वह परम शान्त तुरीया पद से भी आगे जो एक अद्वैत और परमपद है जहां वाणी को भी गम नहीं, वह उस पदको प्राप्त होता है। हे मुने! यह पद समस्त कलनाओं से रहित और श्रेष्ठ है। तुम उसी पदमें स्थित होओ। उसमें प्रवृत्ति निवृत्ति कुछ नहीं है। वह अद्वैत समसत्ता प्रकाशरूप अपने आप में स्थित है। उसमें और जगत में कोई अणुमात्र भी भेद नहीं।

वाल्मीकिजी कहते हैं, हे भारद्वाज! जब शिवजी ने ऐसा कहा तब उस शान्ति-रूप परमतत्व के प्रसङ्ग को सुनकर वशिष्ठजी की वृत्तियाँ आत्मतत्व में स्थित हो गईं और वह लिखित कीर्ति के समान चुप होगये। शिवजी तो पहले से चुप थे फिर एक घड़ी तक चित्त की वृत्ति वैसी ही बनी रही। फिर शिवजी जागे।

श्री योगवाशिष्ट भाषा, निर्वाण—प्रकरण का चौतीसवां सर्ग समाप्त ॥६४॥

——०::❀::०——

पैंतीसवाँ सर्ग

देवनिर्णय

वाल्मीकिजी कहते हैं कि जब एक घड़ी पश्चात् शिवजी ने नेत्र खोले तो क्या देखते हैं कि वशिष्ठजी आंख मूंदे पड़े हैं। तब शिवजी ने कहा—हे मुनिवर! अब आँख क्यों मूंदे हो, जागो। जो कुछ देखना था सो तो देख चुके हो। अब समाधि में बैठने का क्या प्रयोजन? तुम्हारे जैसे तत्ववेत्ता पुरुष को तो

हेयोपादेय कुछ नहीं है। तुम तो बड़े आत्मदर्शी हो और तुमको जो प्राप्त करना चाहिये था सो तुम प्राप्त भी कर चुके हो फिर चुप क्यों हो ? हे रामजी ! ऐसे शब्दों द्वारा मुझमें प्रवेशकर शिवजी ने वृत्तियों को जगाया। जब मैं जागा तब शिवजी ने मुझसे कहा, कि हे वशिष्ठजी ! इस शरीर की चेष्टा प्राणों द्वारा होती है। उसमें आत्मा उदासीन होकर बैठा रहता है। उसको करना भागना कुछ नहीं होता। जीव को शरीर के प्रमाद में अहं भाव उठता है। जिससे वह अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। फलस्वरूप अनेक दुःखों को प्राप्त हो अन्तर आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है किन्तु जब इसकी आत्मा का विचार उत्पन्न होता है तब उसके सारे दुःख निवृत्त हो जाते हैं और शरीराभिमान का अन्त हो जाता है। वह आत्म सत्ता अथवा ब्रह्मसत्ता सर्वत्र है परन्तु जहाँ सात्विक भाव अधिक होता है वहाँ ही भासती है। परन्तु मलीन शरीर वालों में आत्मसत्ता नहीं भासती यों तो वह शुभ सत्ता सब में और सर्वत्र है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी वहीं हैं। अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्यादि कारण और सब देवों का देव वही एक देव है। अन्य सब उसके टहलुये हैं। समस्त पृथ्वी सहित देश कालादिक उसीसे सम्पन्न हैं। हे वशिष्ठजी ! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदिक सबका आदि कारण वही है और उसी से सब उत्पन्न हैं। इसलिए वह सबका पूजनीय सबमें प्रकाशमान और चेतन तथा अनुभव स्वरूप है। उसका आवाहन करने के लिये किसी मन्त्र आसन और पदार्थ की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो सर्वत्र विद्यमान है। पांव उठाया नहीं कि वह सामने खड़ा है। फिर उसके पाने का भी यत्न किया। मनसा, वासा, कर्मणा ये तीनों रूप से ही सर्वदा भास रहा है। अतः वही सबके प्रणाम करने और पूजन तथा जानने योग्य है। उसका साक्षात्कार होने पर सब शान्त हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का पैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥३५॥

छत्तीसवां सर्ग

महेश्वर-वर्णन

शिवजी बोले—हे मुनीश्वर ! चिद्रूप तत्व सबके भीतर स्थित है वही सबका चेतन और भौतिक प्रकाश से रहित परम प्रकाशरूप है। वही समस्त कर्मों का कर्म, समस्त धर्मों का धर्म, समस्त सारोंकासार और अनुभवगम्य शुद्ध देव ईश्वर है । वह अलौकिक प्रकाश देने वाला है और सत असत् से रहित महान् सत्यरूप है । वही सर्वसत्ता की सत्ता चिन्मात्र तत्व नाना रूप धारण कर रहा है। जैसे सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी हो भासती है, वैसेही यह जगत उसमें भासता है। हे मुनिवर वशिष्ठ ! उसी आत्मतत्व का यह आभास प्रकाश है। उससे भिन्न कुछ नहीं । जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से जगत भिन्न नहीं है। उस सत्ता के आगे सुमेरु भी परमाणु रूप है और सम्पूर्ण काल भी उसका निमेषरूप है । समुद्रों सहित पृथ्वी उसके एक रोम के अग्रभाग के समान तुच्छ है। हे मुनिवर ! यद्यपि वह देव बड़े से बड़े सब कर्मों का कर्ता भासता है तथापि वह कुछ नहीं करता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उस देव से सत्य न हो। अतः उस देव को जो सब है और जिससे यह सब कुछ है और जो सब में नित्य है, उस सर्वात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥३६॥

—०::❀::०—

सैंतीसवाँ सर्ग

नियति नृत्य वर्णन

हे मुनिवर ! वह देव सबमें स्थित है। और सब धर्मोंका धर्म और सब कर्मों का कर्म है । समस्त भूमण्डल ही क्या, समस्त त्रिलोकी उसके आगे परमाणु रूप है। वह महान शुभकर्मी होते हुए भी कर्तृत्वभाव को नहीं प्राप्त होता। वह द्रव्य रहित और शरीर रहित होते हुये भी

द्रव्यवान और शरीरवान् है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो देव की सत्ता से सत्य न हो। नाना प्रकार के जितने भी शब्द हैं सब उस सर्व शक्तिमानरूप यत्न के डब्बे से ही निकले हैं। घ्राणेन्द्रिय, और त्वचा और श्रवणेन्द्रिय संयुक्त जितनी इन्द्रियाँ और तत्व सम्बन्धी जितने पदार्थ तथा इन्द्रियों के जितने व्यवहार हैं सब उसी की रचना है। वह सर्व शक्तिमान सत्ता ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिमें स्थित है। और उसीने समस्त नीतियों को रचा है। उसी की प्रेरणामयी नीति-न्याय पर समस्त जगत नृत्य कर रहा है। उसकी नीति शक्ति से कुछ भिन्न नहीं है। वह एक रसदेव सदा प्रकाशमान और साक्षीरूप में सर्वत्र स्थित है। अतः उस एक देव में द्वैत कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सेंतीसवां सर्ग समाप्त ॥३७॥

अड़तीसवां सर्ग

वाह्यपूजा वर्णन

शिवजी बोले—हे वशिष्ठजी ! उस सर्वात्मा शान्तरूप देव की पूजा दो प्रकार की होती है। एक वाह्य की, दूसरी अन्तर की। साधु और योगिजन इसी मार्ग का अनुसरण करते हैं। दोनों प्रकार की उपासनायें ध्यान द्वारा होती हैं। ध्यान ही पूजन है और पूजन ही ध्यान है। ध्यान भी किसका ? आत्मा का ? क्योंकि आत्मा ही तो त्रिभुवन का आधारभूत और सबको प्रकाश देने वाला है। अतः उस आत्मा का ध्यान कर मन जहाँ-जहाँ जावे वहाँ-वहाँ उसके रूप को देखे। वही दृष्टि विराट रूप और सबका सार भूत है। वाह्य रूप में उसका विराट स्वरूप अनन्त है, अपार है। परमाकाश उस विराट स्वरूप की ग्रीवा है। अनन्त पाताल उसके चरण हैं। अनन्त दिशायें उसकी भुजा हैं। सर्व-प्रकाश उसके शास्त्र हैं और वह हृदयाकाश के एक कोण में स्थित रह कर समग्र ब्रह्माण्ड समूहों की परम्परा को प्रकाश देता

है। उस परमाकाश का अपार रूप है। ब्रह्मा विष्णु और रुद्रादिक देवता आदि जीव उसकी रोमावलि हैं। इतना ही क्या, समग्र त्रिलोकमें जितने भी शरीरधारी यंत्र हैं, सबमें वह व्याप्त है और सब उसी के द्वारा चेष्टा करते हैं। इसलिये वह देव एक भी है और अनन्त भी है। पर उसका स्वरूप सत्ता मात्र है। काल उसका द्वारपाल है और पर्वतादिक ब्रह्माण्ड जगत उसके शरीर के किसी एक कोण में स्थित हैं। तुम उसी देवका चिंतन करो। उस देवके सहस्रों चरण, सहस्रों नेत्र सहस्रों सिर और भूषण युक्त सहस्रों भुजायें हैं तथा सर्वत्र जिसके श्रवणेन्द्रिय हैं। सब ओर जिसका मन है, जो सब कल्पना से परे है, जो सर्वदा सबका कर्ता, सब सङ्कल्पों के अर्थ का फल दाता और जो सब ओर मङ्गल स्वरूप, समस्त प्राणियों में स्थित और जो समस्त साधनों का सिद्धदाता है, वह सबमें सब प्रकार सब काल में स्थित है। हे मुनीश्वर! तुम उसी देवका चिंतन करो। उपरोक्त प्रकार का जो ऐसा देव है तुम उसी के ध्यान में सदा सावधान रहो। यही उस देवका पहिला पूजन है। दूसरे पूजन का प्रकार यह है कि जो संवित मात्र देव है और जो सदा अनुभव रूप होकर प्रकाशित होता है उसका पूजन दीपक और धूप से नहीं होता। उसकी पूजा न तो पुष्प से होती है, न दान से होती है, न केशर के लेप से होती है और न अर्घ्य न पाद्यादि पूजा की सामिग्रियों से होती है। उसकी क्लेश रहित पूजा नित्य ही और हर घड़ी होती रहती है। चलते, फिरते, उठते, बैठते, देते लेते, स्पर्श करते, सूंघते और श्रवण करते हुये आदि जितनी शुभ क्रियायें होती रहती हैं सब उस प्रत्यक्ष चेतन और साक्षी में अर्पण कर उसके परायण रहना ही आत्मदेव की पूजा करना है। आत्मदेव की पूजाके लिये ध्यान ही धूप दीप और ध्यान ही सब सामिग्री है। ध्यान से ही वह देव प्रसन्न होता है और ध्यान से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर! इस प्रकारके ध्यान से कैसा भी मूढ़ क्यों न हो उसके सब दोष मिट जाते हैं। यदि एक

एक घड़ी भी ऐसा शुद्ध ध्यान किया जाय तो राजसूय यज्ञ करने जैसा फल प्राप्त होता है। ऐसा ध्यान जितना भी अधिक समय लगा कर किया जायगा उतना ही अधिक और महान् फल प्राप्त होगा। यही परम योग है, यही परम क्रिया है और यही परम प्रयोजन है। जिसको मेरी यह बतलाई हुई दोनों पूजायें प्राप्त होती हैं, वह परमपद के भागी होते हैं और समस्त देवता उसको नमस्कार करते हैं तथा वह पुरुष सबका पूजनीय हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण--प्रकरण का अड़तीसवा सर्ग समाप्त ॥४५॥

———०::※::०———

उनतालीसवां सर्ग

देवार्चन विश्राम वर्णन

शिवजी बोले—हे मुनिवर! अब मैं तुमको आत्मा की पूजाका एक और प्रकार सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो यह अभ्यन्तर का पूजन है। यह पूजन सर्वत्र, सब प्रकार और सब काल में होता रहता है। चलते, बैठते, जागते, सोते और सब व्यवहारों में रहते हुए वह नित्य ही ध्यान में रहता है, कभी व्यवधान नहीं पड़ता। हे मुने। इस शरीर में जो बोधरूप एक चिह्न है, वही तुम्हारा इष्टदेव है। तुम सब कुछ करते हुए भी उसी की पूजा करो। रागद्वेष से रहित रहकर यथा लाभ में सन्तुष्ट होना और सर्वदा उस साक्षीरूप अनुभव में स्थित रहना ही उसकी पूजा है। वही सूर्य, वही चन्द्रमा है। उसीसे समस्त पदार्थों को प्रकाश मिल रहा है और वही सब पदार्थों का समूह है और वही एक देव अनेक स्वरूप होकर स्थित है। ऐसी भावना करके किसी अन्य प्रकारकी वृत्ति को न लगाना और ऐसा समझना कि वह देव प्राण अपानरूपी रथ पर आरूढ़ शरीररूपी गुफामें पूर्ण ज्ञान सहित स्थित है और वह सबकर्मों का कर्ता और भोक्ता तथा सर्व भावका स्मरण कर्त्ता और भगवतरूप है।

हे मुने! इस प्रकार उस देव को समझकर जो उसकी पूजा करता है वही वास्तविक पूजक है। उसकी बाह्य पूजा कहाँ और

कब की जाय। वह तो सर्वत्र स्थित है। स्वयं तुम्हारे शरीर के रोम रोममें वह विद्यमान है। हाँ, उसका प्रकाश प्राणरूपी आलय में अवश्य स्थित है, किन्तु हृदय-कण्ठ, तालु, जिह्वा, नासिका और पीठ आदि में सर्वत्र व्याप्त है। शब्द आदिक विषयों को वह मन द्वारा प्रेरणा करता है। पर अनेक स्थान में व्यापक होने के कारण वह देव अनेक नहीं एक है। किन्तु उसका साक्षात्कार केवल हृदय में ही होता है। केवल अपनी भावना से ही शीघ्र द्वैत भाव भासित होता है अन्यथा यह स्वप्न जगत जो भी दृष्टिगोचर हो रहा है केवल एक विराट आत्मा ही है। इसलिए तुम अपने को उसी विराट की भावना करो। मेरा ही शरीर समग्र ब्रह्मांड है और मैं ही सबका प्रकाशक हूं। नीति और इच्छा आदि मेरी ही शक्तियाँ हैं और वह शक्तियाँ मेरी ही उपासक हैं। मेरा मन ही द्वारपाल है और नाना प्रकार के ज्ञान ही मेरे शरीरके आभूषण हैं। कर्मेन्द्रियाँ मेरे द्वार हैं और ज्ञानेन्द्रिय मेरे गण हैं। मैं ही अछेद्य, अभेद और अखण्डरूप सदा अपने में स्थित हूँ। हे मुने! ऐसी भावना करके जो एक देव का पूजन है, उसे परमात्म देवकी प्राप्ति होती है जिससे दुःख दारिद्रय का निस्सन्देह नाश हो जाता है। फिर तो उसे इष्ट, अनिष्ट का कोई भी भाव नहीं आता। तब उसको न तो किसी में हर्ष करना है और न शोक। आशय यह कि वह प्राप्ति और अप्राप्ति में सदा एक रस रहता है। कितनी भी कठिन आपदा क्यों न आवे, कैसी भी सुख की सामिग्री क्यों न उपस्थित हो, उस ज्ञानी और साधु पुरुष के लिए क्या है? उसको तो जो भी आकार प्राप्त हुआ सबमें आनन्द है, समदृष्टि भाव है। वह सदैव प्रारब्ध भोग को प्रधान मानकर किसी में हर्ष शोक नहीं करता। जब भी जैसा आ उपस्थित होता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है। वह समझता है कि वह भोग आपातरमणीय और नष्ट मान भी है। इसलिये वह हेयोपादेय से रहित होकर केवल आत्म-चिन्तन में लीन रहता है। कारण कि इस समदृष्टि ने ही तो उसे

आनन्द दिया हे मुने ! तुम भी इसी दृष्टि का ध्यान करो। यही उस देवका यथार्थ पूजन है। देश कालादिक क्रिया और शुभाशुभ कैसा भी प्राप्त हो उसमें संसरण विकार को न प्राप्त होना। सारा द्रव्य कोष अनर्थ रूप हो जाने पर उक्त सिद्धान्त से विचलित न होवे तो यह अनर्थ रस समदृष्टिरूपी रस से मिलकर अमृतमय हो जाता है। इस प्रकार से साक्षीरूप रहना ही उस देव की वास्तविक अर्चना है। हे मुने ! ऐसी दृष्टि वाला प्राणी जीवरूपी चेतनसत्ता को भी लांघकर परम चेतनसत्ता (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है। बस, यही वास्तविक देव दर्शन है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उन्तालीसवा सर्ग समाप्त ।।३९।।

चालीसवाँ सर्ग

देवतत्व विचार वर्णन

शिवजी बोले—हे मुनिवर-वशिष्ठ! इस प्रकार से जो मैंने देव अर्चन का रूप बतलाया है, वह सर्व श्रेष्ठ है और देव को प्रसन्न एवम् अमर करने वाला है। उसके प्राप्त होने पर तो राग द्वेष का कहीं अणुमात्र भी पता नहीं चलता। फिर ऐसे ही रूप से देव की अर्चना क्यों न की जाय। जिस मार्ग से चलने पर बृहद्काय और घोर दुःख की प्राप्ति का सुख दुःख लेश मात्र भी नहीं होता वह मार्ग तो बहुत ही श्रेष्ठ है। हे मुने ! जैसे अर्चन का रूप मैंने बतलाया है उस विराट मार्ग का अनुसरण करने वाले को अवश्य शान्ति प्राप्ति होगी। क्योंकि आत्म अर्चन ही वास्तविक देव अर्चन है और आत्मशक्ति ही अनन्तरूप धारण कर त्रैलोक्य में विद्यमान है। हमको तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि आत्मदेव से पृथक कुछ नहीं है। हे मुनिवर ! तुम दया से इसी दृष्टि का आश्रय ग्रहण करो और प्रारब्ध जो कुछ सुख दुःख आकर प्राप्त होवे, शोक रहित हो आत्मदेव का अर्चन करो तो अवश्य शान्ति को प्राप्त होवोगे। यही वास्तविक देवपूजन है।

इस दृष्टि का आशय करने से तुम्हारे जन्मान्तर के दुःख नष्ट हो जायेंगे।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४०॥

इकतालीसवां सर्ग

जगन्मिथ्या-तत्व-प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले—हे भगवन्! शिव किसको कहते हैं और ब्रह्म किसे कहते हैं तथा आत्मा और परमात्मा किसे कहते हैं। फिर कृपाकर बतलाइये कि निष्किञ्चन, शून्य विज्ञान आदिक और संज्ञा किस निमित्त हुई है? शिवजी बोले—हे मुनिवर! महा-प्रलय में जब समस्त वस्तुओं का अभाव हो जाता है तब वह सत्ता जो इन्द्रियों का विषय नहीं उसे निष्किंचन कहते हैं। वशिष्ठजी ने पूछा हे देव! जब वह इन्द्रियों का विषय नहीं तब उसको कैसे पाया जा सकता है शिवजी ने उत्तर दिया—हे मुनिवर! जो मुमुक्षु है और वेदाश्रय में जिसकी वृत्ति सात्विक होगई है और जिसको सद्गुरु-शास्त्र की प्राप्ति हुई है, उसकी अविद्या नष्ट होजाती है और उसको आत्मतत्व का प्रकाश हो जाता है। इस प्रकार जब कितनी ही वार अविद्या नाश होती है तब आपना आप दिखलाई पड़ता है। जैसे वायु से बादल और जैसे मृतिका से हाथ की लगी स्याही और मैल से मैल दूर होता है, वैसे ही अविद्या के सात्विकी भाव गुरु शास्त्र अविद्या के आवरण को नष्ट कर देते हैं और जब इस प्रकार गुरुशास्त्र को मिलकर विचार प्राप्त होता है तब विचार से स्वरूप की प्राप्ति होती है और द्वैत भ्रम का लोप हो जाता है। पुनः सर्वात्मा ही प्रकाशित होता है। इस प्रकार जब विचार द्वारा आत्मतत्व का निश्चय हुआ तब अविद्या कहाँ रह सकती है? हे मुनीश्वर! मैंने कहा कि आत्म प्राप्ति गुरुशास्त्र के द्वारा होती है इसका आशय आपने क्या समझा। गुरु नाम है इन्द्रियों के समूह का। परब्रह्म तो सब इन्द्रियों से परे हैं, फिर उसकी प्राप्ति कैसे हो? वह अकारण होते हुए भी कारण है क्योंकि यह गुरु शास्त्र

के अभाव में ही अज्ञान की सिद्धिता होरही है। गुरु-शास्त्र बिना बोध की सिद्धि नहीं होती। पर परमात्मा तो निर्लेप है और अदृश्य है तो भी गुरु-शास्त्र से पाया जाता है। इस सम्बन्ध में दोनों निर्णय है यथा—आत्मा गुरुशास्त्र से पाया भी जाता है और नहीं भी पाया जाता वह आत्मतत्व अपने आप ही पाया जाता है। जैसे अँधेरे की वस्तु दीपक के प्रकाश से प्राप्त की जाय पर उसे दीपक ने नहीं दिया अपने आप यत्न से पाया, वैसे ही गुरुशास्त्र भी हैं। यदि दीपक हो और नेत्र न हो और नेत्र न हो दीपक हो तब वस्तु नहीं प्राप्त होती-वैसे ही गुरु शास्त्र भी हो और अपनी तीक्ष्ण बुद्धि युक्त पुरुषार्थ भी हो तब आत्म तत्व की प्राप्ति होती है। जब शिष्य को गुरु, शास्त्र और शुद्ध बुद्धि यह तीनों प्राप्त होती हैं तब संसार के सुख दुःख निवृत्त हो जाते हैं। उसीको आत्मपद की प्राप्ति कहते हैं। हे मुनिवर! अब नाम के भेद सुनो। जब बोध होने पर कर्मेन्द्रियों और बुद्धेन्द्रियों का नाश हो जाता है, तब उसके पीछे जो शेष रहता है उसको संवित तत्व, आत्मसत्ता आदि नाम से संबोधित करते हैं और जहां यह सम्पूर्ण नहीं, वहाँ इनकी वृत्ति भी नहीं। उसके बाद जो शेष सत्ता रहती है वह आकाश से भी सूक्ष्म निर्मल, अनन्त और ऐसी परम शून्यरूप है कि जहां शून्य का भी अभाव है। हे मुनिवर! अब जो शान्तरूप है मुमुक्षु और मनन कलना से संयुक्त हैं उनको जीवन्मुक्ति पद के बोध हेतु शास्त्र ने मोक्षोपाय भी रचे हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, लोकपाल, पण्डित, पुराण, वेद और शास्त्रों ने सिद्धान्तों की रचना की है उनमें चेतन ब्रह्म, शिव, आत्मा, परमात्मा और रात्रि, पुनः सत, चित और आनन्द आदिक यह तीन संज्ञा ही अनेक प्रकार से रही है उसी को शिव, आत्मा, ब्रह्म और परमात्मा आदि भिन्न नामों को शास्त्रकारों ने कल्पित किया है, जिसमें ज्ञानी कुछ भेद नहीं मानते। उस देव के हम टहलुये हैं और उस देव को प्राप्त हों इस प्रकार कहकर हम ज्ञानीजन उसकी अर्चना करते हैं।

इस प्रकार शिवजी से अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर वशिष्ठजी ने पूछा कि हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जगत को गन्धर्व नगर और स्वप्नपुरके समान कैसे कहा जाता है? क्योंकि यह जगत तो प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। शिवजी बोले—हे मुनीश्वर! यह जगत अविद्यमान है। जैसे मृग-तृष्णा का जल असत्य है, वैसे ही जगत भी असत्य है। उसमें वासना और वासक तथा वासना करने योग, यह तीनों ही वृथा हैं। जैसे मृग-तृष्णा का जल पीकर कोई तृप्त नहीं होता, वैसे ही यह जगत भी असत्य है इसके पदार्थों की वासना करना व्यर्थ है। ब्रह्मा से आदिक्रम पर्यन्त सब जगत मिथ्या है। जब वासना और वासक तथा वासना करने योग्य इन तीनों का अभाव हो, तब केवल आत्मतत्व ही शेष रहता है, शेष सब भ्रम शान्त हो जाता है। हे मुनीश्वर! यह सारा जगत भ्रममात्र है। जैसे बालक को अपने परछाईं में बैताल भासता है और जब विचार कर देखे तो बैताल का अभाव हो जाता है, ऐसे ही अज्ञान से यह जगत भासता है, आत्म विचार से इसका अभाव हो जाता है। अतएव देहादिक भी आत्मा में अज्ञान वश हो बस रहे हैं। जिसको बुद्धि है, वह हमारे उपदेश के योग्य नहीं। उपदेश विचारवान को करना चाहिये। ज्ञानी को उचित है कि जो मूर्ख, असत्कर्मी और अनार्य है उसको उपदेश करे, जिससे उसमें विचार, वैराग्य और नम्रता आदिक गुण उत्पन्न हों। पर जो इन गुणों से रहित विपर्यय हो उसको उपदेश करना ऐसा ही है जैसे किसी की महासुन्दरी सुवर्ण के समान कन्या के साथ कोई श्वान में विवाह करने की इच्छा करे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का इकतालीसवां सर्ग समाप्त ॥४१॥

—❀❀—

बयालीसवाँ सर्ग

परमार्थ–विचार वर्णन

इतना सुनकर वशिष्ठजी ने शिवजी से पूछा कि हे भगवन्! वह जीव जो आदि स्वरूप उत्पन्न होकर इस शरीर के अन्दर स्थित है सो कैसे हुआ है? तब शिवजी ने वशिष्ठजी से कहा कि हे मुने! जैसा मैं तुम से कह चुका हूँ कि इस जीव की उत्पत्ति परमाकाश से हुई है वह ठीक है। आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होकर जीव ने अपने को शरीर रूप में देखा पर वह आदिसत्ता ज्यों की त्यों स्थित रही, उसमें केवल जीव का स्फुरण हुआ किन्तु वह स्वयं प्रमाद को न प्राप्त हुआ और अपने स्वरूप ही में अहं करके ईश्वर होकर स्थित हुआ। उसको केवल यही निश्चय हुआ कि मैं नित्य, शुद्ध, परमानन्द रूप और अव्यक्त परम पुरुष और सनातन हूँ। इस प्रकार उसे आदि जीव भी कह सकते हैं। हे मुनीश्वर! उसी आदि जीव ने विष्णुरूप होकर कहीं ब्रह्मा को नाभि कमल से उत्पन्न किया है और कहीं वही विष्णु से रुद्र हुये हैं। उस चेतन आकाश में जैसे–जैसे सङ्कल्प उठा है, वैसा ही रूप होकर स्थित हुआ है। पर वास्तव में वह सब असत रूप है केवल अज्ञान और भ्रमवश सत्यरूप होकर भासता है। यह नाना प्रकार की जितनी सृष्टियां हैं तो उस परमाकाश के एक निमेष मात्र से ही उत्पन्न हुई हैं किन्तु वह सब असत्य हैं। हे मुनीश्वर! प्रत्येक जीव की अपनी २ सृष्टि है और सब अपने ही सङ्कल्पों में स्थित हैं किन्तु सब में आत्मा ही का चमत्कार है। उस आत्मा में देश और कालका सद्भाव नहीं, सब अपने २ सङ्कल्प में फुरते हैं। जैसे आदि तत्व से जीव होकर ईश्वर फुरे हैं, वैसे ही समस्त कर्मों का स्फुरण हुआ है। रुद्र से लेकर वृक्ष पर्यन्त सब उसी तत्वसे एक क्षण में फुर आये हैं। इससे आत्मा में सृष्टि केवल आभास रूप है और यह मायामय संसार केवल भावना से ही भासित हो रहा है। जब

आत्मा का अभ्यास होता है तब भेदकल्पना मिट जाती है और केवल अनामय रूप शिव तत्व ही भासता है। हे मुने! इस सत्य और असत्य रूप जगत का बनाने वाला केवल मन है, आत्मतत्व नहीं वह आत्मतत्व न दूर है न निकट, न पूरब है न पश्चिम। वह तो केवल सत्य और असत्य के मध्य में अनुभवरूप और उसका ज्ञाता है। उसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण सब व्यर्थ हैं। हे मुनीश्वर! आपने जो पूछा था वह मैंने बतलाया इसमें चित्त लगाओगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। अब पार्वती सहित अपने वांछित स्थान को जाता हूँ। हे रामजी! जब भगवान शिवजी ने ऐसा कहा तब मैंने अर्घ्य पाद्य से उनका पूजन किया और वह पार्वती को साथ लेकर अपने गणों सहित आकाशमार्ग को चल दिये। फिर जहां तक वह दिखाई पड़े मैं उनकी ओर देखता रहा। पश्चात् अपने कुशासन पर आ बैठा और जो कुछ शिवजी ने कहा था, उस पर स्मरण शक्ति द्वारा विचार करने लगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा—निर्वाण—प्रकरण का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४२॥

तैंतालीसवां सर्ग

विश्रान्त्यागमन वर्णन

हे रामजी! शिवजी के ऐसा कहने पर मैंने अर्घ्यपाद्यादिक द्वारा उनका पूजन किया और वे पार्वती सहित चले गये। तब मैं अपने कुशासन पर चला आया। शिवजी ने जो उपदेश दिया था उस पर विचार करने लगा। विचार करते २ मुझे ज्ञात हुआ कि विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध सब जीवों के लिये एक समान है। इसीसे ज्ञानी पुरुष सावधान रहकर देखते, सुनते, बोलते, खाते, सूंघते और स्पर्श आदि क्रियाओं को करते हुए भी आत्मतत्व की ही अर्चना में रहते हैं। पर जो अज्ञानी हैं, उनको कर्त्तापन, भोक्तापन का अभिमान होता है जिससे वे सदैव दुःखी बने रहते हैं। इसलिए अज्ञानियों का मार्ग निन्दनीय है। तुम उनकी दृष्टि को त्यागकर ज्ञानियों

की दृष्टिका आश्रय कर संसाररूपी बनमें विचरो। इस प्रकार असङ्ग रहने से तुमको दुःख नहीं प्राप्त होगा। ऐसी समान वृत्ति वालों के लिये चाहे वैसा ही सङ्कट क्यों न उपस्थित हो वे दुःख को नहीं प्राप्त होते। क्योंकि सुख और दुःख तो अनित्य हैं। यह बराबर आते जाते रहते हैं। इनको ऐसा ही आगमापायी जानकर हर्ष और विषाद करने की आवश्यकता नहीं। यह चाहे जैसे जावें। जिसे जाना है वह अवश्य जावेगा और जिसे आना है, वह अवश्य आवेगा। इसके लिए अपने को तप करना ठीक नहीं। क्योंकि जब समस्त जगत् तुम से है और तुम्हीं जगत्के रूप हो तब हर्ष और शोक किसके लिये करोगे। अस्तु, इसी दृष्टि का ही आश्रय करके संसार में सुषुप्तिरूप होकर विचरण करो। इस प्रकार सम अवस्था को प्राप्त कर समप्रकाशरूप हो जावोगे। बस, इस सम्बन्ध में मुझे और कुछ नहीं कहना है जो कुछ कहना था कह दिया। अब आगे तुम्हारी इच्छा। जैसा चाहो वैसा करो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी का हृदय गद्गद् हो गया और वह क्षण भर के लिये मौन हो गये। पश्चात् मृदुशब्दों में वशिष्ठजी से बोला—हे मुनीश्वर! आपकी अमृतमय वाणी से मेरा कलुषित हृदय निर्मल होगया और समस्त संशयों का नाश होकर अब मैं ऐसा अचल और स्थित होगया जैसे सुमेरु पर्वत अचल और स्थित है। अतएव अब मझे किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है। साथ ही अब मैं ऐसा होगया हूँ कि मुझे किसी पदार्थ के ग्रहण और त्याग की इच्छा नहीं रही जिस प्रकार इच्छा नहीं, उसी प्रकार अनिच्छा भी कोई नहीं है। मैं शान्त और स्थित हूँ। अब मेरे लिये स्वर्ग और नरक दोनों समान हैं। अब मुझे सब ब्रह्ममय प्रतीत होता है। हे महाज्ञानिन्! अब तक जो इस संसाररूपी महासागर की रागद्वेषरूपी तरंगें हैं जिनमें शुभ और अशुभरूपी मच्छ भरे हुए हैं और जो मुझे अहर्निश भयभीत करते हैं, वह अब आपके प्रसाद से अब भयभीत नहीं

करते और अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं इससे पार होगया। यही नहीं, सबकी सार वस्तु को प्राप्त कर अब मैं पूर्ण आत्मा हूँ, मुझमें कोई भेद सत्ता नहीं और मैं परमशान्त हूँ—अब मुझे ऐसा ठीक २ प्रतीत हो रहा है।

श्री योगवाशिष्ट भाषा–निर्वाण–प्रकरण का तैतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४३॥

—※※—
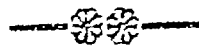
चौवालीसवां सर्ग

चित्तसत्ता वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! अब मैं तुमसे यह कहूँगा कि अपनी इस अवस्था को स्थिर रखने के लिये प्रतिक्षण सतर्क रहा करो। कभी चूक न होने पावे क्योंकि लक्ष्य चूक जाने पर सिवा पश्चाताप के और कुछ नहीं आता। और तत्सम्बन्धी जो कुछ भी यत्न करना है वह मनसे करना। विना प्रेमपूर्वक मनसे किये केवल इन्द्रियों से हठात् यत्न करने से कुछ लाभ नहीं होता। और कदाचित लाभ होवे भी तो वही क्षणस्थायी होता है, दृढ़ नहीं। जो उस क्षणिक स्थिरता मे प्रसन्न हो जाता है, वह महान् मूर्ख है। ज्ञानी जन ऐसे क्षणिक सुख में नहीं बँधते। हे रामजी ! प्रत्येक जीवों को वांछा ही दुःख देती है। अनेक कष्ट करके प्राणी वांछा को सिद्ध करते हैं। पर जब वह प्राप्त हो जाती है तब उसका सुख क्षण भर होता है पुनः वियोग होने पर कष्ट ही कष्ट प्राप्त होता है। तब महान् कष्ट देने वाली वांछा को क्यों न त्याग दिया जाय ? अब यहीं प्रश्न यह है कि वांछा होती क्यों है? उत्तर यह है कि स्वरूप के अज्ञान और शरीरादिक की दृढ़ भावना से अहंभाव होता है जिससे वांछा आदिक अनेक अनर्थों की उत्पत्ति होती है। अस्तु सर्वदा ही ज्ञानरूपी पर्वत पर चढ़े रहना चाहिये और उस पर पहुँचकर फिर उससे नीचे कदापि न गिरना चाहिये। अभिमान वश अहन्तारूपी गढ़े में गिरना बड़ी मूर्खता है। पर हे रामजी ! जब तक दृश्यभाव

विद्यमान रहता है तब तक उपशान्त रूप अपने स्वभाव सत्ता को, जिसको पाकर सारे विकल्पजालों का नाश हो जाता है,-उसे प्राप्त करना दुष्कर है। यदि उस स्वभावसत्ता की प्राप्ति हो जाये तो फिर कोई द्वैतभास न फुरे और सारे विकल्प नाश हो जाय। यथार्थ ज्ञान होने से, मन निरस हो जाता है। आत्मा का अज्ञान ही तो बन्धन है और आत्मा का बोध ही मोक्ष है। अतः मुक्त होने के लिये अपने आपको जागृत करो। जागृत करने के लिये पहले सर्व वासनाओं का त्याग करना होगा। वासना रहित पुरुष की समस्त क्रियायें विकार रहित होती हैं। चाहे उसके मार्ग में कितने ही क्षोभ क्यों न आ उपस्थित हों, पर उस पर पुरुष को कोई विकार नहीं प्राप्त होता। ऐसे अभ्यासी के लिये ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन अवस्थायें आती हैं। जब तीनों उसे आत्मरूप भासती हैं, तब उसे संसार में किसी का भय नहीं रहता। क्योंकि चित्त के फुरने से ही जगत उत्पन्न होता है। जब चित्त ही, जो बासना संयुक्त प्राणों से उदय हुआ है-लय हो जायेगा तब जगत भी लय हो जायेगा! इसलिये अभ्यास करके वासना और प्राणों को स्थित करना चाहिये। मूर्खता से कर्म उदय होते हैं और मूर्खता नष्ट होने से कर्म नष्ट हो जाते हैं। अतएव सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों के विचार से मूर्खता को ही नष्ट करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वायु के संसर्ग से धूल उड़कर आकाश का स्वरूप धारण करती है उसी प्रकार चित्त के फुरने से जगत होता है। हे रामजी! जब चित्त फुरता है तभी नाना प्रकार का जगत भासता है, अन्यथा नहीं। हे रामजी! परमपद की तभी प्राप्ति होती है, जब वासना रहित प्राणों का निरोध हो। वह परमपद जो दर्शन और दृश्य के मध्य में एकान्त सुख ब्रह्म रूप है, उसका साक्षात्कार होने से मन का क्षय हो जाता है। मन के क्षय होने के समान सुख स्वर्ग में भी दुर्लभ है। जिस प्रकार मरुस्थल में वृक्ष का होना असंभव है, उसी प्रकार विषयी चित्तको सुख प्राप्त होना असम्भव है। चित्त

के उपक्रम का सुख अकथनीय है। सांसारिक विषय के बड़े से बड़े सुख उसके आगे तुच्छ हैं। क्यों कि सांसारिक सुख तो नष्ट हो जाते हैं, पर आत्म सुख का नाश नहीं होता। वह अविनाशी है और उत्पन्न तथा नष्ट होने से रहित है। हे रामजी! अज्ञानता वश चित्त की उत्पत्ति होती है और आत्मज्ञान होने से चित्त शान्त हो जाता है। यही बात जगत् के सम्बन्ध में भी है। जगत् अज्ञान से ही भासता है, ज्ञान से नहीं। ज्ञान होने से पर चित्त अचित्त हो जाता है और यह जड़ जगत् ब्रह्मसत्ता होकर भासता एवं सत्पद को प्राप्त होता है। हे रामजी! देखने में ज्ञानी का चित्त भी क्रिया करता है पर वास्तव में उनका चित्त अचित्त रहता है। जो अज्ञान से भासता है वह ज्ञान से शून्य हो जाता है और फिर नहीं उत्पन्न होता। वह चित्त शान्त पद को प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ समय तक तो वह तुरीया अवस्था में स्थित हो विचरता है फिर तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है। नीचे, ऊपर और मध्य में सर्वत्र वह एक ब्रह्म ही अनेक होकर स्थित है और वही सर्वात्मा है-चित्तादिक कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौवालीसवां सर्ग समाप्त ॥४४॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

विल्वोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! अब तुम संक्षेप में एक और अपूर्व ज्ञान सुनो जिसको जान कर पूर्ण बोध हो जायेगा। एक बेलि का फल जिसको हुए अत्यन्त युग व्यतीत हो गये और जो कभी जर्जरी भाव को नहीं प्राप्त होगा और जिसका विस्तार अनन्त योजन पर्यन्त है। वह चन्द्र के समान सुन्दर वृक्ष अनादि है और उसमें अविनाशी रस है जिस कारण उसका कभी नाश नहीं होता। महाप्रलय की वायु सुमेरु आदिक महान् से महान् पर्वतों को तृण के समान उड़ा देता है पर उस वृक्ष को हिलाने में वह कभी समर्थ नहीं होता। योजनादि की तो अनेक संख्यायें गणना

में आती हैं पर उसकी संख्या अगणित है। इस प्रकार का बृहद् बेल फल है। उसकी बृहद्ता के वर्णन में केवल यही बहुत है कि उस बेल फल के आगे ब्रह्माण्ड भी सूक्ष्म और तुच्छ भासता है। उसका आदि अन्त और मध्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, और इन्द्रादिक भी नहीं जान सकते। उसका आकार और फल भी अदृष्ट है। वह निज प्रकाश से प्रकाशमान होता है, घन उसका स्वरूप है और वह विकार रहित सदा अचल है। वह चन्द्रमा के समान शीतल और सुन्दर है। वह सबका प्रकाशक है और उसमें संवितरूपी रस है सो अपका रस वह आपही लेता है और सबको देता है। उसमें अनेक चित्र रेखाओं का वास है पर वह अपने स्वरूप को नहीं त्यागता। वह स्पन्दरूपी रसों का आगार है तथा वह एक ही रूप होकर भी अनेक रूप से भासता है। हेयोपादयो वस्तुयें और भूत, भविष्य, प्रकाश, तम, विद्या, अविद्या, देश, काल, क्रिया, नीति और रागद्वेषादिक कलना काल सब उसी के रस से फुरते हैं। कारण कि वह बेल आत्मरूप है और वह अनुभवी रस से पूर्ण है। इससे वह सदैव अपने आप में स्थित और नित्यशान्त स्वरूप है जो पुरुष उसको जान लेता है वह धन्य हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पैतालीसवां सर्ग समाप्त ॥४५॥

छियालीसवां सर्ग

शिलाकोषोपदेश-वर्णन

यह सुनकर रामजी बोले-हे भगवन्! आपके इस कथन से मुझे यह निश्चय हुआ कि मज्जारूप चेतन और अहंतादिक जगत में कुछ भेद नहीं हैं, एक द्वैत कलना ही सर्वत्र है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जिस प्रकार ब्रह्माण्ड की मज्जा सुमेरु आदिक पर्वत व पृथ्वी है, उसी प्रकार उस चेतन बेल की मज्जा यह ब्रह्माण्ड है। अतः वह बेल ही समस्त जगत का चेतन है और उसका विनाश नहीं होता। उस चेतनरूपी मिरचे के बीज में जगत का चमत्कार तीक्ष्णता है जो सुषुप्त अवस्था के

समान निर्मल है। हे रामजी ! इसके अतिरिक्त इसी प्रकार का एक और आश्चर्यमय आख्यान सुनो । वह अत्यन्त सुन्दर प्रकाशयुक्त और शीतल है। हे रामजी ! एक विस्तृत रूप शिला है जिसमें कहीं छिद्र नाम मात्र को नहीं है और उसका रूप बादल के समान है। उसकी बेल बड़ी ऊँची है और जड़ बहुत नीची है। उसमें कमल उत्पन्न होते हैं और उसकी अनेक शाखायें हैं । रामजी ने कहा– हे भगवन्! आपका कहना सत्य है । मैंने भी उस शिला को देखा है। वह सालग्राम की मूर्ति है जो नदी में विद्यमान है। वशिष्ठजी ने कहा–हाँ, तुमने उस शिला को देखा है परन्तु यहां मैं जिस शिला का वर्णन कर रहा हूँ वह अपूर्व है । उसके भीतर ब्रह्माण्ड के समूह हैं और कुछ नहीं। वह अत्यन्त घन रन्ध्र रहित है। आकाश, पृथ्वी, पर्वत, देश और नदियाँ आदि सभी उस शिला के अन्दर स्थित हैं। यही उस शिला का वर्णन है। पर जैसे ही इस शिला से भिन्न कुछ नहीं है, वैसे ही यह जगत आत्मारूपी शिला से भिन्न नहीं है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल इस आत्मारूपी शिला की पुतलियाँ हैं । जैसे शिल्पकार पुतलियाँ कल्पता है वैसे ही वैसे यह जगत आत्मा में कल्पा हुआ है। इसका शिल्पी मन है, जिसने जगतरूपी नाना प्रकार की पुतलियों की कल्पना की है । अन्यथा आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। जिस प्रकार शिला में पुतलियाँ होती हैं। और उनका उदय अस्त नहीं होता, वह शिला सहित ज्यों की त्यों होती हैं, उसी प्रकार आत्मा है जगत का न तो उदय होता है और न अस्त होता है। कारण कि आत्मा निर्लेप है उसमें द्वैत की कल्पना नहीं होसकी। जो कुछ कल्पनायें होती हैं वह केवल अज्ञानवश होती हैं। ज्ञान होने से शान्त हो जाती हैं । हाँ, यह ठीक है कि विकार भी आत्मा के ही आश्रय से भासते हैं किन्तु आत्मा विकार रहित है । उस ब्रह्म में विकार केवल आभास मात्र हैं । जिस प्रकार बीज में पत्ते डाल और फल फूल का विस्तार मौजूद रहता है, उस प्रकार चिद्घन

आत्मा में जगत का विस्तार मौजूद है, उससे भिन्न नहीं। वह अपने आप में स्थित है और जगत उसी का रूप है। जब वह एक मौजूद है तब द्वैत भी कहा जायगा, जब एक नहीं होगा तब द्वैत कहाँ से होगा। अस्तु जगत और आत्मा है कुछ भेद नहीं है। जिस प्रकार शिला में भिन्न-भिन्न अनेक मूर्तियाँ हैं और उसका आधार शिला अभेद्य है, उसी प्रकार आत्मा में जगत् मूर्ति अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न भासती हैं पर चेतन रूप जो आधार है वह अभेदहै। वह ब्रह्म-सत्ता समान और समस्थित है। दृष्टिमात्र में उसमें बड़े बड़े विकार उत्पन्न होजाते हैं पर वास्तव में वह सर्व विकारों से रहित और स्थित हैं। जैसे जल और तरङ्ग में तथा भूषण और सुवर्ण में भेद नहीं है वैसे ही अधिष्ठान सत्ता और जगत में भेद नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छियालीसवां सर्ग समाप्त ॥६४॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

सत्तोपदेश-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जिस-जिस प्रकार बीज के अन्दर वृक्ष होता है, उसी प्रकार जगत भी आत्मा में है। किन्तु सर्वदा अच्युत और सम होते हुए भी उसमें कोई भेद विकार और परिणाम नहीं है। जगतके आदि अन्त और मध्यमें वह आत्मा ही अपनी सत्तासे स्थित है। देश, काल और कर्म आदिक कलनायें एक और अर्थ संयुक्त जितने भी प्रकार की कलनायें हैं सब का सम्बन्ध आत्मा ही से है और सब उसी का रूप है। जिस प्रकार वृक्ष के आदि अन्त और मध्य में सब बीज की ही सत्ता माननीय है उसी प्रकार जगत् के आदि अन्त और मध्य में आत्मसत्ता ही भास रही है, वह उसी का स्वरूप है। उस चैतन्य स्वरूप-महान् आदर्श आत्मा में ही सारा जगत् प्रतिबिम्बित हो रहा है और यह समस्त जगत् संकल्पमात्र है। जैसा स्फुरण जिसको होता है आत्मा के आश्रित होकर वैसा उसे भासता है। हे रामजी ! आत्मरूपी डब्बा

है और उससे जगतरूपी रत्न निकलते हैं। जैसा स्फुरण होता है वैसा ही भास आता है। यद्यपि आत्मरूपी शिला निरन्ध्र है तथपि जैसे जलमें तरङ्ग जलरूप है, वैसे ही ब्रह्म सत और शान्तरूप से स्थित है। उसमें जगत का कोई स्फुरण नहीं। वह शिला की रेखा के समान ही है। जिस प्रकार आकाश शून्य है, जल द्रवित है, वायु स्पन्द है, उसी प्रकार ब्रह्ममें जगत भी है। अस्तु, ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं है। ब्रह्म ही जगत है और जगत ही ब्रह्म है। इसमें भावाभाव भेद की कोई कल्पना नहीं। वह ब्रह्म सत्ता ही सबको प्रकाशती और जगतरूप होकर भासती है। सुमेरु आदिक पर्वत और तृण से लेकर वन पर्यन्त भूत प्राणियों से संयुक्त जितना भी चित्त परिचय है सब उस परमसत्ता से ही भास रहे हैं। वही समस्त पदार्थों से सूक्ष्म और स्थूल भाव से व्याप्त है। वह एक ही ब्रह्मसत्ता जल, थल, आदि में अनेक रूप से भास रही है। जिस प्रकार मोर के अण्डे में ही अनेक रूप विद्यमान हैं और शनैः शनैः उसमें अनेक रङ्ग प्रकट होते हैं: वे क्या हैं, उसका रस एक ही है, पर वही अनेक रूप होकर भासता है। इसी प्रकार यह जगत एकरस ब्रह्मसत्ता ही से है। जैसे मोर के अण्डे से एकही रस रहते हुए भी अज्ञानी उसमें अनेक रङ्ग का होना मानते हैं वैसे ही यह अनउपमा नानात्व जगत अज्ञानी के हृदय में स्थित है। पर वास्तव में यह जगत परमात्मा में छिपा है। किन्तु छिपा रहने पर भी परमात्मा ही है। नानारूप होने से उसका परिणाम नहीं हो सकता। इतने पर भी अज्ञानी को नानात्व ही भासता है किन्तु ज्ञानवान को एक सत्ता ही भासता है। हे रामजी ! जिसको दिव्य दृष्टि नहीं है उनको तो नानात्व ही भासेगा; पर जैसे मोरके अण्डे अनेकरूप दिखाते हैं तो भी वह एक ही रस है वैसे ही इस जगत में भिन्न-भिन्न पदार्थ भासते हैं तो भी एक ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥४७॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

ब्रम्हैक प्रतिपादम

वशिष्ठजी बोले,—हे रामजी! जिस प्रकार बिना उपजे ही कान्ति रङ्ग मयूर के अण्डे में होते हैं और वह बीजसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार अहं, त्वं आदिक जगत आत्मामें बिना उदय हुए ही उदय रूप भासता है। अतः आत्मसत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहते नहीं बनता। आत्मसत्ता में स्थित होनेके समान सुख न तो स्वर्ग में है और न किसी अन्य स्थान में है। इसीसे तो ऋषि, मुनि और महान् से महान् योगी जन दृश्यदर्शन सम्बन्धी स्फुरण को त्यागकर आत्म सुख में विश्रान्ति पाने के लिए स्थित होते हैं। अतएव, आत्म सुख के समान उत्तम सुख कोई नहीं। जिनको उस संवित में संवेदन का कोई स्फुरण नहीं है उन प्राणियों को कोई दृश्यभावना नहीं फुरती और न कोई कर्म उनको स्पर्श करता है। उनके प्राण निस्पन्द होते हैं और वे चित्त तथा चेतन से रहित हो चित्रवत स्थित होते हैं। हे रामजी! चित्तकला के फुरने से ही तो जगज्जाल प्राप्त होता है। अन्यथा वह तो शान्तरूप और स्थित है। जिस प्रकार युद्ध सैनिक करते हैं राजा नहीं, पर जीत-हार राजा की ही जाती है, उसी प्रकार चित्त के फुरने द्वारा बन्ध और मोक्ष आत्मा ही में होता है। यद्यपि आत्मा अच्युतरूप और सत् है तथापि मन, बुद्धि और चित्त उसमें गन्ध और मोक्ष भी होता है। अन्यथा आत्मा तो सब का प्रकाशक है। उसमें न दृश्य है, न बिस्तार है, न दूर है, और न वह उपदेश का ही विषय है। वह केवल अनुभवमात्र चैतन्य स्वरूप स्वयं सिद्धि है। देह, इन्द्रिय, गुण, चित, वासना, जीव, स्पन्द स्पर्श, आकाश, सत्, असत्, मध्य, शून्य, अशून्य, देश, काल, वस्तु और अहं इदं इत्यादि कुछ नहीं है। वह सर्वशब्द रहित हृदय स्थान में प्रकाशित अनुभवरूप है। उसका आदि अन्त कुछ नहीं। न उसे

शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है, न वायु सुखा सकती है, न कोई उसे चलायमान कर सकता है और न वह यह है, न वह है, वह केवल चित्तरूपी आत्मतत्व है जो जन्म मरण से रहित है। शरीर बार-बार उत्पन्न और नष्ट होता है और आत्म रूपी आकाश सबके भीतर और अखंड अविनाशी है। जिस प्रकार अनेकों घरों में एक ही आकाश स्थित है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों में एक ही ब्रह्मसत्ता आत्मरूप से स्थित है। हे रामजी! स्थावर जङ्गम रूपी जगत् जो कुछ देखने में आता है, वह सब ब्रह्म का ही स्वरूप है। वह ब्रह्म निर्मम, निर्गुण, निराकार निर्मल, निर्विकार और आदि अन्त से रहित, सम और शान्तरूप है। हे रामजी! तुम इसी दृष्टि का आश्रय करो। इस दृष्टि का आश्रय करने से तुमको महान् से महान् कार्य भी स्पर्श न कर सकेंगे। क्योंकि काल, क्रिया, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति और संसार आदिक जो कुछ भी संसरण रूप संसार है, वह सब ब्रह्म का ही रूप है। अस्तु, तुम इसी दृष्टि का आश्रय करके सुख पूर्वक विचारो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अड़तालीसवां सर्ग समाप्त ॥४८॥

उनचासवाँ सर्ग

स्मृति-विचार-योग वर्णन

इतना उपदेश सुन चुकने पर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि हे भगवन्! आपने कहा है कि ब्रह्म में विकारता नहीं है तो जब विकार नहीं है तो यह जगत् किससे भासता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वशिष्ठजी रामजी से कहने लगे—हे राघव! पहले यह सुन कि विकार है क्या? जिस वस्तु ने अपने पूर्व रूप को त्यागकर उलटा, अन्यरूप धारण किया हो, वह विकार कहलाता है। जैसे दूध दही होने पर फिर दूध नहीं होता और बाल्यावस्था के व्यतीत हो जाने पर पुनः बाल्याकाल नहीं आता

उसको विकार कहते हैं। किन्तु ब्रह्म तो ऐसा नहीं है। न तो उसके आदि में विकार है, न अन्त में और न मध्य में। पर जो विकार भासता है वह चेतन अज्ञान वश है। अतः ब्रह्म-सत्ता ज्यों की त्यों अद्वैतरूप है और आत्म अनुभव से उनका प्रकाश होता है। अन्य सब वस्तुयें तो बार-बार रूप परिवर्तन करती रहती हैं। पर ब्रह्म-सत्ता ऐसी नहीं है फिर उसमें विकार कैसे जहा जाय। हे रामजी! विचार और ज्ञान से जिस वस्तु की निवृत्ति हो जाय उसे भ्रम कहते हैं और इस कारण वह कुछ है भी नहीं। पर यह सब विकार आदि तो भी तक भासता है कि जब तक आत्मबोध का अभाव है। जब जिसका बोध होते ही समस्त विकार नाश हो जाते हैं, तब उसे विकार कैसे कहा जाय। जब उसका नाम ही ब्रह्म है और जब जिसका आदि अन्त सत् है तब उसके मध्य को भी सत् जानना चासिये। यदि इससे भिन्न प्रतीत होता है तो उसे अज्ञान कहना चाहिये। क्योंकि वह आत्मरूप सर्वदा समरूप है। आकाश और वायु तक अन्य भावको प्राप्त हो जाते हैं, पर आत्मसत्ता कदापि अन्यभाव को नहीं प्राप्त होती।

रामजी ने पूछा—हे भगवन्! यह तो हमारी समझ में आगया कि ब्रह्म सत्ता सदा निर्विकार और निर्मल है पर उस ब्रह्मतत्व में यह अविद्या कहाँ से घुस आई। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! उस ब्रह्म में अविद्या तो कोई नहीं है। वाच्य वाचक शब्द से तो उसमें अविद्या नहीं है। अहं, त्वं, अग्नि वायु और भ्रम आदिक तो सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही है। अविद्या का कहीं नाम भी नहीं है। यहाँ तक कि जिसका नाम ही अविद्या है वह भी तो केवल एक भ्रममात्र है।

इस पर रामजी ने कहा—हे भगवन्! आपने उपशम प्रकरण में कहा था कि अविद्या है, फिर आप कैसे कहते कि अविद्या नहीं है। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! उस समय तुम अबोध थे तब युक्तिपूर्वक तुमको जाग्रत करने के लिए वैसा उपदेश दिया था पर अब तुम प्रबुद्ध हुए हो इसलिए स्पष्ट कह दिया कि अविद्या

अविद्यमान है। हे रामजी! वेदवादियों ने अबोध जनों को जागरण करने के लिये अविद्या, जीव और जगत आदि क्रम वर्णन किया है। अबोध मनको जब तक युक्तिपूर्वक अनेक उपदेश नहीं किया जाता तब तक उसकी अविद्या दूर नहीं होती और भ्रम नाश नहीं होता तथा अज्ञान दूर नहीं होता। पर बोधवान् हो जाने पर फिर उसे युक्तिपूर्वक सिद्धांत न कभी समझाया जाय तो भी वह समझ जाता है किंतु अप्रबोध मन बिना युक्ति और अनेक यत्नके बोधवान् नहीं होता। हे रामजी! जिस कार्य की सिद्धि करना चाहे उसे युक्तिपूर्वक सिद्ध करे अन्य यत्न से नहीं। युक्तिरूपी दीपक से ही अन्धकार दूर होता है, बल और यत्न से नहीं। फिर अज्ञाननिद्रा तो बिना युक्तिपूर्वक यत्न के नहीं जाती। जैसे अप्रबोध के आगे सर्व-ब्रह्म का उपदेश देना व्यर्थ है और जैसे किसी दुखी का दीवाल के आगे जाकर दुःख कहना व्यर्थ है, वैसे ही अप्रबोध को सर्व-ब्रह्म का उपदेश देना व्यर्थ होता है। अस्तु, अब तुम यह धारणा करो कि त्रिकाल और त्रिजगमें सर्वदा अहं त्वं आदिक सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। उसमें द्वैत की कोई कल्पना नहीं है। यह दृष्टि रखते हुए तुम जो चाहो करो। साथ ही दृश्य संवेदन के स्फुरण से बचते हुए सर्वदा आत्मा में स्थित रहो। इस दृष्टि से तुम्हें कोई कार्य स्पर्शित न करेंगे। हे रामजी! परमात्मा सदा चैतन्य वपु प्रकाश स्वरूप और सर्वदा अहंवृत्ति से फुरता है। इसलिए तुम चलते, बैठते, खाते पीते और सोते हुए प्रतिक्षण उसी अनुभव रूप में स्थित रहो। इस प्रकार तुम्हारा सब अहं और समभाव नष्ट हो जायगा और तुम उस शान्तरूप ब्रह्म में जो समस्त भूतों में स्थित है उसको प्राप्त होवोगे। फिर तुम्हें आदि अन्त से रहित शुद्ध संवित मात्र प्रकाश स्वरूप आत्मा ही का दर्शन होगा। आत्मा में प्रकृति भिन्न नहीं है। जैसे जेवरी में सर्प भासता है वैसे ही आत्मा में सब कुछ भासता है। हे रामजी! यह चित्तरूपी वृक्ष कल्पना रूप जैसा बीज बोता है, वैसा ही चित्तरूपी अँखुआ उत्पन्न होकर भाव रूप

संसार को उत्पन्न करता है । पर जब आत्मज्ञान से कल्पना रूप बीज जलकर भस्म कर दिये जाते हैं तब चित्तरूपी अँखुये का नाश हो जाता है और उस चित्तरूपी अँखुये में सुख दुःखरूपी वृक्ष नहीं उत्पन्न होता । हे रामजी ! यह द्वैत का भ्रम जो कुछ है सब केवल अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, ज्ञान होने से नष्ट हो जाता है । अस्तु, संसर–भ्रम से निवृत्त होने के लिए तुम परमार्थ वस्तु आत्मा की भावना करो ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का उनचासवां सर्ग समाप्त ।।४९।।

——o::❀::o——

पचासवाँ सर्ग

संवेदन–विचार वर्णन

इतना उपदेश सुन चुकने पर रामजी विनय पूर्वक वशिष्ठजी से बोले कि हे महाज्ञानिन् ! अब आपके ज्ञानरूप अमृत से सिञ्चित होकर मैं पूर्णपद में स्थित हुआ हूँ । मेरे जानने और देखने योग्य जो कुछ था सो मैंने देख और जानलिया। इससे अब मैं उस परमपदमें पूर्ण हूँ कि जिस पदने इस विश्वको पूर्ण किया है । यह जानकर भी हे मुनिवर ! अब मैं आप से अपने बोध के लिए नम्रतापूर्वक यह पूछता हूँ कि यह कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और घ्राण आदिक पाँचों इन्द्रियाँ तो प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती हैं पर यह जैसे जीवित रहने पर अपने २ विषयों को ग्रहण करती हैं, वैसे ही मरे पर क्यों नहीं ग्रहण करतीं कृपया यह मुझे समझाइये । दूसरा प्रश्न यह कि घटादिक की नाईं बाहर से तो वह जड़ स्थित हैं पर इनका अनुभव हृदय में कैसे होता है । तीसरे यह कि ये पाँचों पृथक २ होते हुए भी इकट्ठी कैसे हुईं ? चौथे यह कि देखने सुनने आदि की यह सब वृत्तियाँ एक आत्मा में कैसे एकाकर हो जाती हैं ? साधारणतया तो मैं इनको जानता हूँ, पर आप कृपाकर इनका विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये ।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! आत्मतत्व आकाश से भी सूक्ष्म और स्वच्छ है, इससे इन्द्रियाँ, चित्त और घट, पट आदिक पदार्थ उससे भिन्न नहीं हैं। जब चेतनतत्व से पुर्यष्टका चैत्यताकी स्फूर्ति करके फुरी जब उसने आगे इन्द्रियों को देखा और इन्द्रियगण चित्त के आगे हुए। इनकी घनता से चेतनत्ता पुर्यष्टका को प्राप्त हुई। फिर तो उसमें सब घटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित हुये पुर्यष्टका में भासने लगे।

इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि हे मुनिवर ! उस पुर्यष्टका का रूप क्या है कि जिसने इस अनन्त जगत की रचना की इस महान् आदर्श में क्या प्रतिबिम्बत है ? वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! जगत का बीजरूप ब्रह्म, आदि अन्त से रहित निरामय, प्रकाश स्वरूप, कल्पना और कलना से रहित चिन्मात्र और अनादि है। कलना के सन्मुख होने से उसी का नाम जीव हुआ है। जब उस जीव ने शरीर को चेता तब अहङ्कार हुआ इससे वह मनन करने लगा। मनन करने से वह मन हुआ। जब निश्चय करने लगा तब बुद्धि हुई। बुद्धि से इन्द्रियाँ हुईं और इन्द्रियों से जब शरीर की भावना करने गया तब शरीर हुआ। फिर वही जब घट पटकी भावना करने लगा तब घट पट हुये। इस प्रकार जैसी २ भावना हुई वैसे ही पदार्थ होने गये। हे रामचन्द्र ! इसी स्वभाव का नाम पुर्यष्टका है। स्वरूप के उलटे ज्ञान अर्थात् दृश्यभाव होने से कर्ता, भोक्ता और सुःख, दुःख आदि भावना, कलना और अहङ्कार जो चित्त शक्ति में हुई इससे उसको जीव कहा जाता है। वह जीव भावना—स्वरूप होने से वैसी—वैसी वासना करता है। वासनाओं से सिंचित होने के कारण जीव, जीव-स्वरूप के प्रमाद से महाभ्रमजाल में गिरता है जिससे वह अपने को शरीरधारी मनुष्य मानता है अथवा यह जानता है कि मैं सुर और स्थावर हूँ किन्तु यह नहीं जानता कि मैं चिदात्मा हूँ। यही मिथ्यज्ञान उसे डुबाता है और शरीरादि मान करके वासना के वश हो चिरकाल तक अर्द्ध उर्द्ध और मध्य में भ्रमता फिरता है। किन्तु

जब वही जीव विचार और अभ्यास करके आत्मबोध को प्राप्त करता है तब संसार बन्धन से मुक्त हो आत्मपद को प्राप्त करता है। यही स्वरूप से गिरना और उठना है । हे रामजी ! यह तो हुआ आत्म-विवेचन । अब तुम अपने प्रश्न का उत्तर सुनो कि मृतक होने पर इन्द्रियाँ विषको क्यों नहीं ग्रहण करतीं। उत्तर यह है कि चित्त कलना का स्फुरण शुद्धतत्व में होता है और स्फुरण होने से ही वह जीवरूप होती है और मन के साथ षटेन्द्रियों को लेकर शरीररूपी गृहमें स्थित हो बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं। आशय यह है कि मनके साथ रहने पर ही षटेन्द्रियों को विषय का ग्रहण होता है अन्यथा नहीं अब यह सुनो कि इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न रहती हैं तो भी उनकी एकता कैसे होती है। इसका उत्तर यह कि अहङ्काररूपी तागे से वे एकाकार (एकत्रित) हो जाती हैं । हे रामजी ! इन्द्रियाँ शरीर और मन आदिक सब जड़ हैं । किन्तु आत्मसत्ता को पाकर यह सब अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। और इनका ग्रहण करना तभी तक होता है, जब तक पुर्यष्टका शरीर में होती है। शरीर में पुर्यष्टका के निकल जाने पर इन्हें विषय-ग्रहण की शक्ति नहीं रहती। हे रामजी ! यह जो श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा भासते हैं इनको इन्द्रियां नहीं कहते, इन्द्रियाँ तो एक सूक्ष्म तन्मात्रा हैं । शरीररूपी गृह है जिसमें श्रवणादिक झरोखे लगे हुए हैं और जैसे किसी कृत्रिम गृह के झरोखों में जो वस्तु रखी जाय अथवा आजाय तो उसका अधिकारी वह झरोखा नहीं प्रत्युत उस गृह का स्वामी है उसी प्रकार शरीर-गृह का स्वामी आत्मदेव है और श्रवण, नासिका आदि केवल झरोखा मात्र हैं, इससे उनको इन्द्रियों का पद नहीं प्राप्त होता। सर्व शरीर में विद्यमान जो आत्मदेव है और जिनसे जीव का रूप हुआ है उनके भाव (ख्याल) मात्र को इन्द्रियाँ कहते हैं अथवा जब तक जीवकला पुर्यष्टकारूप को शरीर धारण किये रहती है और उनमें आत्मदेव जब तक बिराजमान रहते हैं तब तक उसमें ग्रहण करने

वाली जो सूक्ष्म तन्मात्रा होती है वही विषयों को ग्रहण करती है और उसी को इन्द्रिय कहते हैं। हे रामजी ! देखो, कोई कथामें बैठा है और कथा की ओर उसका ध्यान न होकर कहीं दूसरी ओर है तो वह प्रत्यक्ष श्रोता समूह में बैठे रहने पर भी कुछ नहीं सुनता क्योंकि उसकी श्रवणेन्द्रिय किसी के साथ गई है। इसी प्रकार जब पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक हो जाता है और इन्द्रियाँ भी विषयों को नहीं ग्रहण करतीं। हे राघव ! अहं त्वं आदिक जितने भी दृश्य हैं सब आत्मारूपी समुद्र से ही तरङ्ग के समान फुरे हैं। तत्पश्चात् दृश्य कल्पना हुई है। अतः देश काल और क्रिया आदिक कुछ नहीं है, सब असत्य हैं। यह जानकर सांसारिक सुख, दुःख, हर्ष, शोक और राग-द्वेष से रहित होकर विचरण करो। फिर तुम्हारे निकट माया नहीं आवेगी और तुम उससे मुक्त हो जाओगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥५०

——०::❀::०——

इक्यावनवां सर्ग

यथार्थोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! वास्तव में इन्द्रियादिकों की भी कोई उत्पत्ति नहीं है। जैसे कमलज ब्रह्मा की उत्पत्ति को मैंने तुमसे कहा है जो पुर्यष्टका रूप ही उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही अन्यों की उत्पत्ति हुई है। हे रामजी ! पुर्यष्टका में स्थित होकर यह जीव जैसी २ भावनाओं को करता गया वैसा ही वैसा भासने लगा। पुनः उसकी सत्ता पाकर सब अपने २ विषय को ग्रहण करने लगे अन्यथा इन्द्रियों की तो कोई भी वास्तविकता नहीं है। इनका स्फुरण तो केवल आत्माभास से है। इनकी उत्पत्ति केवल संवेदन से है जैसा कि अगले अध्याय में बतला चुके हैं। शुद्ध सत्ता में जो अहं अर्थात् संवेदन (कम्प) हुआ वही कम्प जीव रूप पुर्यष्टका भाव को प्राप्त हो बुद्धि मन और पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न कर जीवकला स्वयम्

उसमें स्थित हुई है। उसी को पुर्यष्टका कहते हैं। पर इनकी उत्पत्ति आत्मा में नहीं बल्कि स्पन्द में है। आत्मा एक अनेक कुछ नहीं हैं, वह अनामय होते हुए भी उसमें अनेक संवेदन हैं। उसमें न तो कोई द्वैत कलना है और न कुछ मन शक्तिही है। वह सत्ता केवल शान्त और चिन्मात्र है। वही परमात्मा है और वही मन सहित षटेन्द्रियों से परे अचेत है। समस्त जीव उसी से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु यह भी मैं केवल उपदेश हेतु कहता हूँ, अन्यथा कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल अहं विपर्यय भाव होने से ही उसमें जीव उत्पन्न हुआ है और इसी का नाम अविद्या है। सो यह अविद्या भी उपदेश को पाकर लीन हो जाती है। उपदेश कैसा, गुरु और शास्त्र का। जब सद्गुरु और शास्त्र का उपदेश प्राप्त होता है तब यह भ्रम रूप आकर शान्त हो जाता है और ज्ञानरूप आत्मा शेष रहता है। वह भी कैसा कि आकाश भी सूक्ष्म, किन्तु उसके आगे आकाश जैसा सूक्ष्म वस्तु भी स्थूल भासता है। वह भी भ्रम है। हे रामचन्द्र! आत्मा में जगत है, ऐसी कहावत है, परन्त यह मिथ्या है। क्यों कि जो वस्तु अबोध से भासती है और प्रबुद्ध ज्ञान से नहीं पायी जाती, वह माया नहीं तो क्या है? जिस प्रकार मृग-तृष्णा का जल पीने में नहीं आता उसी प्रकार जगत के कोई भी पदार्थ परमार्थ साधन में नहीं आते। हे रामजी! ज्ञान सहित जिस वस्तुकी प्राप्ति हो वही तो सत् और अन्य सब कुछ भ्रम है। अतः यह जीव-पुर्यष्टका असत् होने पर भी भ्रम वश सत् भासती है। इसको जब तक सद्गुरु और शत् शास्त्रों का उपदेश विचार नहीं प्राप्त होता तब तक जगत्—भ्रम का नाश नहीं होता। पर जब प्राप्ति होजाती है तब उसी पुर्यष्टका में स्थित होकर यह जैसी भावना करता है वैसी सिद्धि प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार जीवकला अपनी परछाईं में बैताल की कल्पना करता है उसी प्रकार जीवकला अपने आप से देश कालादि को कल्पती है। पर वह संवेदन भी आत्मा

के साथ अनन्यरूप है। जैसे आकाश में शून्यता अनन्यरूप है वैसे ही आत्मा में संवेदन भी अनन्यरूप है। उस संवेदन में उत्पन्न हो कर-यह पदार्थ ऐसा है, यह ऐसा होगा और ऐसा ही स्थित है इत्यादि स्फुरण होकर जीव ने जैसा निश्चय धारण किया है उसीका नाम नीति है। पर स्वरूपतः सब आत्मा ही है। आत्मसत्ता ही रूप धारण कर स्थित है। जैसे गुड़ और शक्कर आदिका रूप एक गन्ने के ही रस से है और जैसे मिट्टी के सब प्रकार के बर्तन एक मिट्टी से ही हैं, वैसे ही घट, पट आदिक भिन्न भिन्न रूप होते हुये भी सब एक आत्मसत्ता ही से है। आदिजीव ने जैसा निश्यच किया है, वैसा ही स्थित है, अन्य नहीं। चिदानन्द ब्रह्म अपने आप में स्थित है, इससे शरीरादिक सब चिन्मात्र हैं। हे रामजी! यह सारा जगत आत्मा का किञ्चन मात्र है। इसमें दृश्यों की कोई वास्तविकता नहीं। जेवरी के सर्प समान ही सब कुछ भ्रम से भास रहा है। जैसे स्वप्न में पतन होना असत्य ही है, वैसे ही इस जीव को अन्य शरीर भासित होता है। अन्यथा आत्मसत्ता ज्योंकी त्यों है केवल स्फुरण से ही अनेक रूप धारण कर रही है। जैसे अनेक स्वांगों को धारण करने वाला नट एकही है, वैसे ही अनेक स्वांगों को धारण करते रहने पर भी आत्मसत्ता एक ही है। हे रामजी! सब में एक ही सत्ता विद्यमान है। परन्तु सत् स्वरूप प्रमाद वश जीव अपने को जन्मते और मरने वाला मानते हैं। किन्तु वह जन्म मरण असत्य है। केवल भ्रम-भावना वश उसे ऐसा विपरीत ज्ञान होता है जैसे निद्रा का स्वप्न जाग्रत अवस्था में मिथ्या ही प्रतीत होता है वैसे ही अधिष्ठान रूप आत्मा का ज्ञान होने पर जगत भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे सुकृत कर्म पूर्व दुष्कृत कर्मों को भंग कर देते हैं वैसे ही पूर्व की निकृष्ट वासना को भी आत्म सत्ता का अभ्यास कर पुरुष प्रयत्न द्वारा मलिन वासनाओं को नष्ट कर देता है। पर जब तक मलिन वासनायें साथ हैं तब तक जन्म

मरण का गोता लगता ही रहेगा। किन्तु जब साधु संगति और सत्शास्त्रों का अभ्यास व विचार होकर आत्मज्ञान का उदय होता है तब संसार-बन्धन अवश्य छूट जाता है। हे रामजी! वासना रूपी कलङ्क को लेकर ही यह जीव अवतारित हुआ है। जैसे बालक अपनी परछाईं में ही भूत की कल्पना करता है, वैसे ही वासनाओं से घिरा जीव पुर्यष्टका में स्थित हुआ है। पुर्यष्टका कहते हैं मन, बुद्धि और अहंकार आदि की तन्मात्राओं को। उसका शरीर अन्तवाहक है। किन्तु चेतन आत्मा इतना सूक्ष्म अमूर्त है कि निर्मल आकाश भी उसके आगे स्थूल है। फिर स्थूल शरीर तो उसके समक्ष सुमेरु पर्वत ही है। अतः जीव बहुत सूक्ष्म है। केवल स्वप्न-भ्रम और जड़रूप सुषुप्ति इन दोनों अवस्थाओं में ही पड़े रहकर स्थावर जङ्गम रूपी जीव अहर्निश भटक रहे हैं। अन्यथा सबका शरीर तो अन्तवाहक ही है। पर खेद है कि ऐसी सूक्ष्मता को लेकर भी जीव कभी स्थावर में पाते हैं तो कभी वृक्ष और पत्थरादिक योनिमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार समस्त जीव कर्म वासना वश भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त करते हैं। जब स्वप्न में होते हैं तब कर्मानुसार जंगम योनि को और जब अधिक तामसी वासना होती है तब कल्पवृक्ष चिन्तामणि आदिक स्वरूप को प्राप्त होते हैं। किन्तु जब तामसी स्वभाव का उदय होता है जो महान अन्धकार एवं मोहरूप है तब वृक्ष और पाषाण आदि योनि को प्राप्त होते हैं। यह मोहरूप सुषुप्ति अवस्था है। इसके अतिरिक्त एक विशेष रूप स्वप्न अवस्था है। यह जीव कभी होता है, कभी सुषुप्ति रूप स्थावर होता है। हे रामजी! सुषुप्ति मोहरूप है और उससे उतरकर विशेषरूप स्वप्न अवस्था होती है। स्वप्न अवस्था के पश्चात् जाग्रत अवस्था होती है। यह जाग्रत अवस्था बोध होने पर की अवस्था है और वह अवस्था भी दो प्रकार की होती है। एक जाग्रत का नाम जीवन मुक्ति और दूसरी का विदेह मुक्ति है।

तुरीयारूप जीवनमुक्ति है और दूसरी तुरीयातीत विदेह मुक्ति है। जब जब पुरुष यत्न करके बोध को प्राप्त करता है, तब-तब जीव को इस अवस्था की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। हे रामजी ! जीव का स्फुरण ज्ञानरूप है, जब यह सत्, असत् और अनेकानेक जिन दृश्यों की ओर झुकता है तब उसी दीर्घभ्रम को देखता है। अतः जीव में जितनी भी सृष्टियों का स्फुरण होता है सब आत्मसत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे बटलोही में दाल के समान ही जल उछलता है वह जलके सिवा और कुछ नहीं है, ऐसे ही जीव में आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। जो अन्य वस्तु भासती है वह केवल मायामात्र है। हे रामजी ! यह समस्त जगत संकल्प-रचना है। जो घट पट आदिक बाहर से देखता ग्रहण करता है, वही एक देह में स्थित हुआ बाहर भी घट पट आदिक होकर स्थित हुआ है। इसी से वह ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध को देखता है और कहता है कि यह मैंने ग्रहण किया, यह मैंने लिया है। किन्तु ज्ञानीजन ग्रहण और त्याग का कुछ अभिमान नहीं करते। उनको भीतर बाहर सब चिदाकाश ही भासता है। वास्तव में यही सत्य भी है। आत्मा में द्वैत वस्तु कुछ नहीं। आत्मा ही जगतरूप होकर भास रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण का इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५१॥

—o❀o—

बावनवां सर्ग

नारायण—अवतार

वशिष्ठजी बोले हे रामजी ! यह जाग्रत अवस्था भी भ्रममात्र है। इससे स्वप्न और जाग्रत एकही रूप है। जैसे स्वप्नमें जाग्रत का एक क्षण भी बहुत अधिककाल होता है, वैसेही स्वरूप के प्रमादवश जाग्रत दीर्घकालका भ्रमही है जिसमे सत् असत् को सत् तथा जड़ को चेतन और चेतन को जड़ जानता है। यह विपर्यय ज्ञान से इस प्रकार

जानता है, जैसे स्वप्न में एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है। ऐसे ही जीव आदिक एक से अनेक होकर भासते हैं। जैसे सुषुप्ति से स्वप्न-भ्रम का उदय होता है, ऐसे ही अद्वैत आत्मा में जगत भ्रम होता है। अतः आत्मा अनन्त और जीवों का बीजरूप है। जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही भासता है। पर जिन पुरुषों को स्वरूप की स्थिति हुई है वे सदा निःशंक होकर विचरते हैं, जैसे अब नारायण विष्णु आकर निःशंकता का उपदेश करेंगे और उसको पाकर अर्जुन मुक्त होकर विचरेगा। ऐसा ही हे महाबाहो! तुम भी विचरण करो। हे रामजी! जैसे अब पाण्डुपुत्र अर्जुन सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करेगा और सब व्यवहार में सुखी और स्वस्थ रहेगा ऐसे ही तुम भी निःशङ्क होकर विचरो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा कि, हे भगवन्! पाण्डु पुत्र अर्जुन कब होवेगा और नारायण विष्णुजी उसे निःशङ्कता का उपदेश कैसे करेंगे? कृपाकर इस वृतान्त को मुझे सुनाइये। वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी! जैसे पत्ती जालमें भ्रमते हैं, ऐसे ही संसार जाल में भूतप्राणी भ्रम रहे हैं। पर उन समग्र अस्थि तन्मात्राओं में आत्म सत्ता ही अपने आप में स्थित है। उस निर्मल तत्व में आत्म-सत्ता अपने आप ही स्थित है। उन्हीं में से कोई चन्द्रमा, कोई सूर्य और कोई लोकपाल होकर स्थित हैं। पंचभूतों का क्रम उन्हीं ने रचा है। यह ग्रहण है, यह त्याज्य है, पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक प्राप्त होता है इत्यादिक मर्यादा को उन्हीं लोकपालों ने स्थापना की है। समस्त जीव इसी प्रकार की संसार सरिता में प्रवाहित हो रहे हैं। वह सरिता अविच्छिन्न रूप होते हुए भी क्षण में नष्ट हो जाती है। उसका नष्ट होना क्या है, आत्मा की अपेक्षा और अविच्छिन्न रूप है सत्? ऐसे ही जगत में वैवस्वत सूर्य का पुत्र यमराज बड़ा प्रतापवान स्थित है। वह महान् तेजस्वी और सब जीवों को मारने वाला, ऐसे नियमधारी प्रजा में स्थित है, उसी का नाम यमराज है। जीवों को मारना और

दण्ड देना यही उसका कार्य है। इस नियम से वह चित्त में पहाड़ की नाईं स्थित है। किन्तु चतुर्युग से उस यमराज का यह भी नियम है कि कुछ दिनों तक किसी जीव को नहीं मारना। इस प्रकार उदासीन के सदृश वह कभी आठ वर्ष, कभी बारह वर्ष कभी सोलह वर्ष का नियम धारणकर पर्वत के समान चित्त में स्थित है और किसी को नहीं मारता। तब पृथ्वी निरन्ध्रभूत होजाती है और चलने को मार्ग नहीं रहता और अनेक दुष्ट जीव अन्य जीवों को दुःख देते हैं जिससे धारा व्याकुल और दुःखी हो जाती है, तब उस पृथ्वी के भार को उतारने के लिये नारायण विष्णु अवतार धारण कर दुष्ट जीवों का नाश कर धर्म की स्थापना करते हैं। हे रामजी! इस प्रकार के नेमधारी यमदेव को अनन्त युग अपने व्यवहार को करते व्यतीत होगये हैं। भूत और जगत भी अनेक होचुके हैं। अब वर्तमान दशा में इस सृष्टि में यम का नाम वैवस्त है। अब यह यम आगे चलकर अपने नियम का पालन करेगा और बारह वर्ष तक किसी को न मारेगा। परिणाम यह होगा कि जीव क्रूर कर्म करने लगेंगे और पृथ्वी भूतों से निरन्ध्र हो जावेगी, तब जैसे चोर से दुःखित होकर स्त्री अपने पतिकी शरण में दौड़कर जाती है वैसे ही प्राणियों से संघटित हो पृथ्वी पाप भार से व्याकुल और दुःखित होकर विष्णु जी की शरणमें जाती है। तब विष्णुजी नर शरीर धारणकर पृथ्वी का भार उतारते और धर्म की स्थापना के लिये देवताओं सहित अवतार लेकर आते हैं। वही भगवान विष्णु नरों में नायकभाव को प्राप्त हो एक शरीर से वसुदेव के गृहमें पुत्ररूप कृष्ण नाम से उत्पन्न होंगे और दूसरे शरीर से राजा पाण्डु के गृह अर्जुन नाम से जन्म लेंगे। उन्हीं राजा पाण्डु को युधिष्ठिर नाम से एक धर्म का पुत्र उत्पन्न होगा और जिसकी मेखला समुद्र है ऐसी पृथ्वी का वह राज्य करेगा। उस धर्मपुत्र के चाचाको भी पुत्र होंगे जिनमें दुर्योधन सबसे श्रेष्ठ होगा और जिसके साथ भीम का बड़ा युद्ध होगा। समय आने पर दोनों

पक्ष युद्ध की इच्छा करेंगे। उस युद्ध के लिये अट्ठारह अक्षौहिणी सेना एकत्रित होगी। फिर तो उसमें महाभयानक युद्ध होगा और उनके बल से हरि भगवान पृथ्वी के भार को हरण करेंगे। हे रामजी! उन सेनाओं के युद्ध में अर्जुन नामधारी जो विष्णु का ही शरीर होगा वह गाण्डीवधारी होगा और वह प्रकृत स्वभाव में स्थित रह हर्ष, शोक और विकार आदि भावों से रहित होगा। जब दोनों सेनायें समक्ष खड़ी होंगी तब वह अपने बन्धु बान्धवों को युद्ध के लिये सन्नद्ध देखकर मूर्छित हो जायेगा और कायरता वश उसके हाथ से गाण्डीव धनुष गिर पड़ेगा तब बोध देह के लिये उसको हरि भगवान उपदेश करेंगे और इस प्रकार कहेंगे कि—हे नरकेशरी अर्जुन! तुझे यह मोह कहां से होगया और तू मनुष्यभाव को क्यों प्राप्त हुआ? तू परम प्रकाश आत्मतत्व है, इससे कायरता को त्याग दे। तू सबका आत्मा आनन्द अविनाशी है। तेरा आदि अन्त नहीं है। तू कायरता को व्यर्थ ही प्राप्त होरहा है। तू सर्वव्यापी, परम अंकुररूप, निर्मल, दुःख से रहित, नित्यशुद्ध और निरामय है। हे अर्जुन! आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है। यह अजर, अमर, नित्य निरन्तर और पुरातन है। शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। यह सबका आदि है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५२॥

—०❀०—

तिरेपनवां सर्ग

अर्जुनोपदेश वर्णन

श्रीभगवान् बोले हे अर्जुन! जो इस आत्मा को मरने वाला और मारने वाला मानता है, वह मूर्ख है। आत्मा न मरता न मारा जाता है, क्योंकि यह अक्षय रूप है, और आकाश से सूक्ष्म और निराकार है। फिर उस आत्मा को जो परमेश्वर है उसको कौन मार सकता है। हे अर्जुन! तू

अहङ्कार रूप तो नहीं है फिर तुझे यह अनात्म अभिमान रूपी मल कहां से लग गया, तू तो जन्म मरण से रहित और मुक्ति रूप है। फिर तू करता और भोक्तापन का अभिमान क्यों करता है। तेरे जैसा मुक्ति रूप पुरुष समस्त विश्व को भी मारे तो भी उसने किसी को नहीं मारा ऐसा वह अपने को निरबन्ध समझता है। हे अर्जुन! मैं और मेरा यह जो मिलन भाव का निश्चय है, पुरुष को उस आत्मा से पृथक करने वाला है। जिसका जैसा दृढ़ निश्चय होता है वैसा ही अनुभव होता है। इस कारण तू मलिन निश्चयों को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो। अन्यथा मलिन भावनाओं के पीछे तू नष्ट हो जायगा। हे अर्जुन! यह पंच तत्वों से उत्पन्न हुई इन्द्रियां दिन रात विषय वासना में ही स्थित रहती हैं। इनसे अहंकार करके मूढ़ पुरुष अपने को कर्ता मानते हैं और कहते हैं, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, स्वाद लेता हूँ, और मैं गन्ध लेता हूँ, इत्यादि। हे अर्जुन! यह सब कर्म तो इन्द्रियों के हैं, जीव व्यर्थ ही अहंभाव करके क्लेशित होता है। दूसरे मिलकर कर्म करते हैं और दूसरा एक उसमें अभिमान करके दुःख पाता है यह बड़ा आश्चर्य है। कर्म तो करती हैं इन्द्रियां, और अभिमान वश राग द्वेष में पड़कर जीव दुःख पाता है, अतएव अभिमान और इन इन्द्रियों को साथ छोड़कर तू अपने स्वरूप में स्थित हो। योगी-जन इसी प्रकार कर्म करते हैं और सदैव मन बुद्धि और इन्द्रियों से कर्म करते हुए भी अभिमान-वृत्ति नहीं करते। इसी से उनको आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे अर्जुन! समस्त जीवधारियों को अहंकार ही दुःख दे रहा है। हे अर्जुन! चाहे कैसा भी सुन्दर शरीर वाला क्यों न हो पर यदि वह शरीर में विष्टा लपेटे हो तो उसकी शोभा जाती रहती है। कोई कैसा भी विद्या और गुणों से विभूषित क्यों न हो यदि उसे अनात्म में अभिमान है तो उसकी शोभा नहीं हो सकती। परन्तु जो अहंकार रहित और सुख दुःख में सदा एक रस रहता है और जो क्षमावान है, वह चाहे शुभ करे अथवा अशुभ

करे, उसे कर्मों का स्पर्श नहीं होता । इस प्रकार निश्चयवान होकर हे अर्जुन ! तू भी कर्मों को कर । हे पाण्डु नन्दन इस युद्ध को करना तेरा धर्म है, इसलिये तू इसे कर । अपना निकृष्ट धर्म भी कल्याणकारी है पराया धर्म उत्तम भी हो तो भी दुःख दायक है । इन दोनों में तुझे जो अच्छा लगे वह कर । जब तुझ में अहंभाव न होगा तब तुझे कोई कर्म स्पर्श न करेंगे, अतः तू शंका और अभिमान को त्याग कर अपने समस्त आचारों को ब्रह्मार्पण योग में स्थित होकर कर्म कर । ऐसे ब्रह्ममय कर्मों को करते हुए तू शीघ्र ही संकल्प से परे सन्यास प्राप्त कर ब्रह्मरूप हो जायेगा ।

यह सुनकर अर्जुन ने पूछा हे भगवन् ! कृपा कर आप यह बतलाइये कि शंका त्याग, ब्रह्म अर्पण और योग तथा सन्यास क्या है ? श्री भगवान ने कहा—हे अर्जुन ! पहले तुझे यह जानना चाहिये कि ब्रह्म किसे कहते हैं ? जहाँ समस्त संकल्पों का नाश हो और जहां किसी भावना का उत्थान हो और अचेतन चिन्मात्रसत्ता ही शेष रहे उसको परब्रह्म कहते हैं । ऐसा जानकर उसे प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये और जिस विचार के साथ उसको पाया जाय उसका नाम ज्ञान है, और जिसमें स्थित होना है उसको योग कहते हैं । यह सब कुछ ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, समस्त जगत में मैं ही हूं इत्यादि ऐसी भावना करनी ब्रह्मार्पण है । यह नाना प्रकार का जगत् जो भीतर बाहर शून्य भाव दिखाई पड़ता है उसकी उपमा शिलाके समान है उसके आश्रय स्पन्दकलना स्फुरण [कम्प] के समान होकर भासती है । वही कलना जगत होकर स्थित हुई है । उसका रूप आकाश की नाईं शून्य है । वह एक है तथापि अनेक भूत होकर स्थित हुई है । जैसे समुद्र में तरङ्ग के बुदबुदे अनेक रूप हो कर स्थित हैं और वे जल ही हैं, अन्य कुछ नहीं, वैसे ही एक ही वस्तुसत्ता घट पद आदिक आकार होकर भासती है । हे अर्जुन ! वही एक अनेक रूप से विद्यमान है परन्तु उस एक को अनेक नाम

रूप से देखना अज्ञान है और भिन्न देव इन्द्रियां, प्राण मन और बुद्धि आदि अनेक हैं इससे उनमें अहं प्रतीति कर एकत्र भाव देखना भी अज्ञान है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन! अब संगरहित की व्याख्या सुन। समस्त संकल्प जालों के त्याग को संसरहित कहते हैं और सर्व कलनाजाल फल को ईश्वर पर छोड़ कर्म करते रहने का नाम—ईश्वरार्पण है। हे अर्जुन! जब ऐसी भेद रहित भावना हो तब आत्मबोध की प्राप्ति होती है, और अर्थ सहित सब शब्द एक रूप भासते हैं अर्थात् सब शब्दों का एक ही शब्द भासता है और एक ही अर्थ सब शब्दों में भासता है। हे अर्जुन! सारा जगत मैं ही हूं, मैं ही दिशा हूँ मैं ही आकाश हूँ, मैं ही कर्म हूँ, मैं ही काल हूँ--ऐसा जो सर्वात्मा मैं हूँ सो तू मेरे मन को लगा और मेरी भक्ति कर और मेरा ही भजन कर और मुझी को नमस्कार कर तब तू मुझको प्राप्त होगा हे अर्जुन! मैं आत्मा हूँ। तू मेरे ही परायण हो। अर्जुन ने कहा—हे देव! आपके यह और अपर दो रूप हैं। उन दोनों में किसका आश्रय करूँ कि मुझे परम सिद्धान्त प्राप्त हो। भगवान ने कहा—हे नित्यानन्द! मेरा एक समान रूप है, परम रूप, आदि अन्त से रहित और अनामय है। जिसे ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा आदि कहते हैं। इस रूप की प्राप्ति तुझे तब होगी, जब तू प्रबुद्ध हो जायगा। मेरा रूप आदि अन्त और मध्य से रहित है। इसको पाकर तू आवागमन से मुक्त हो जायगा। पर जब तक तू अप्रबुद्ध है, तब तक तू मेरे इस चतुर्भुज रूप का पूजक बन कर्मों को कर। ऐसा करते हुए जब तू ज्ञानवान होगा तब आत्मा से ही आत्मा का अर्थात् मेरा पूजन करेगा। क्योंकि मैं ही आत्मतत्व और सब का आत्मा हूँ। हे अर्जुन! मैं जानता हूँ कि अब तू प्रबुद्ध हुआ है और तेरे समस्त संकल्प जाल नष्ट होगये हैं और अज्ञ तू आत्मसत्ता में स्थित हुआ है, पर जब तक तू समस्त भूतजातियों में केवल

एक आत्मा को ही स्थित न देखेगा तब तक तुझे सम बुद्धि न होगी और न वास्तवमें तुझे स्वरूपकी दृढ़ स्थिति ही प्राप्त होगी। इस से हे अर्जुन! तू योग से सर्व भूतों में स्थित केवल एक आत्मा ही को देख। जिसको ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है, उसको आत्मा से परे कोई अन्य भावना नहीं उठती और वे एकाग्र चित्त से भजन करते हैं। हे अर्जुन! जिसमें न सत् और न असत् है और जिसमें ही सर्व शब्दों का अर्थ है, वही आत्मसत्ता समस्त लोकों के चित्त में प्रकाश रूप से स्थित है। हे भरतर्षभ! जैसे तिल में तेल और दूध में घृत स्थित रहता है, वैसे ही समस्त लोकों के अन्दर तत्वरूप से मैं स्थित हूँ। समस्त शरीर धारियों में जो चेतना शक्ति है और उस चेतना शक्ति से परे जो सूक्ष्म अनुभवसत्ता है, वह भी मैं ही हूँ। जिस प्रकार रत्न के भीतर बाहर प्रकाश होता है उसी प्रकार मैं समस्त पदार्थों के भीतर बाहर स्थित हूँ। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त पदार्थों में समान सत्ता से मैं स्थित हूँ। अजन्मा और जन्मा तथा नित्य मुझे ही कहते हैं। मुझ में ही जो चित्त संवेदन हुआ, वही ब्रह्म सत्ता के समान हुई है और स्फुरण से ही जगतरूप होकर भास रही है,अन्यथा कुछ नहीं। इस कारण हे अर्जुन! आत्मा को न सुख है न दुःख है। वह सबका साक्षीरूप और सबमें समान भाव से स्थित है। शरीर के नाश होने में आत्मा का नाश नहीं होता। फिर उसके लिये तू क्यों मोह करता है। हे अर्जुन! जल में रस, वायु में स्पर्श, अग्नि में प्रकाश और आकाश में शब्द आदि मैं ही हूँ। हे पाण्डुनन्दन! मैं तुझ से और क्या कहूँ। सृष्टि का प्रलय और नाश तक तो मुझ से ऐसे ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं जैसे समुद्र में तरंगें उत्पन्न और लीन होती है। जिस प्रकार सुवर्ण में आभूषणों का अनेक रूप है, उसी प्रकार यह अनेक स्वरूप आत्मा ही के हैं। अतएव यह अनेक स्वरूप ब्रह्म से भिन्न

नहीं है। फिर कहां का यह भावविकार और कहां का जगत-द्वैत क्या कहूँ जो वही है। तू व्यर्थ ही मोहित हो रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का त्रेपनवाँ सर्ग समाप्त ॥५३॥

चौवनवां सर्ग

सर्व ब्रह्म प्रतिपादन

श्री भगवान बोले—हे महाबाहो! तेरी प्रसन्नता और हित के लिये अब मैं फिर तुझे कुछ उपदेश देता हूँ, तू ध्यान देकर सुन। यह जो उष्ण और शीत इन्द्रिय को स्पर्श होते हैं वे आते—जाते रहते हैं, इससे तू उनको सहन कर। यह अनित्य हैं और आत्मा को स्पर्श नहीं करते। तू आत्मा है और आदि अन्त और मध्य से रहित निराकार, अखण्ड तथा पूर्ण है, इससे शीत उष्ण तुझे खण्डित नहीं कर सकते। कारण कि आत्मा में इनका निवास नहीं है। हे अर्जुन जो इन्द्रियों भोग से चलायमान नहीं होता, उस जीव को सुख दुःख समान हैं और वह मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कारण यह तुच्छ है। आत्मा से इनका स्पर्श नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न-दुःख जाग्रत पुरुष को स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार इन्द्रियां और उसके विषय आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते। हे अर्जुन! ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष सुख और दुःख में न विचलित हो अपने शरीर को पत्थर बनाकर उसमें स्थित रहते हैं। हे परन्तप! यह चित्त भी बड़ा जड़ है और इन्द्रियादिक भी जड़ हैं, पर आत्मा चेतन है। फिर तू इनसे मिलकर अपने को शरीर क्यों समझता है और इसके नष्ट होने से तू अपने को नष्ट हुआ क्यों मानता है ऐसा समझना तो मूर्खों का काम है। मूर्ख अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। किन्तु जिसे आत्मा का बोध होता, वह ऐसा नहीं मानता, उसे आत्मज्ञान से सुख दुःख का अभाव हो जाता। हे अर्जुन! न कोई जन्मता है और न कोई मरता है। यह जगत ब्रह्म स्पन्द है। इस ब्रह्मरूपी समुद्र में तू

एक तरङ्गरूप फुरा है और कुछ काल रहकर फिर उसी में लीन हो जायगा। इससे तेरा स्वरूप निरामय ब्रह्म है, उसमें मान, मद, शोक, सुख, दुःख सब असत्‌रूप हैं इससे तू शान्तिवान बन। हे अर्जुन! पहले तू ब्रह्ममय युद्ध कर और जितनी अक्षौहिणी सेना है सबको अनुभव से नाश कर। यह जो कुछ दिखलाता है वह द्वैत नहीं एक ब्रह्मरूप ही सर्वदा स्थित है। इससे तू ब्रह्ममय युद्ध कर और सुख, दुःख, लाभ, अलाभ और जय पराजय सबको ब्रह्मयुद्ध में इकट्ठा कर। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ भी जगत भासता है, सब ब्रह्म ही है ऐसा जानकर लाभ अलाभ में सम होकर स्थित हो और अन्य की चिन्ता न कर। हे अर्जुन! शरीर के साथ कर्मों का होना तो स्वाभाविक है। फिर जो कुछ कर्म करे उसे आत्मा ही में क्यों न अर्पण करे जैसा निश्चय होता है, वैसा ही रूप उसको भासता है। जब तू ऐसा अभ्यास करेगा तब ब्रह्मरूप हो जायगा, इसमें कुछ संशय नहीं। हे अर्जुन! जो कर्मों में आत्मा को अकर्ता देखता है, और अकर्ता जो है, उसको कर्ता देखता है, वही बुद्धिमान और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। हे अर्जुन! जिनमें कर्मफल की इच्छा नहीं है और कर्मों में भी उसकी स्पर्धा नहीं है, वह योग में सदा स्थिर रहकर कर्म करता है। हे अर्जुन! ऐसा कर्म करने वाला ही श्रेष्ठ है। इससे तू कर्तापन के अभिमान और कर्म फल की इच्छा को त्यागकर दे। जो इस प्रकार निसङ्ग होकर कर्म करता है और जिसे समस्त अभ्यासों में कामना और संकल्प नहीं उठता वही बुद्धिमान और पण्डित है और उन्हीं को ज्ञान प्राप्त होता है। वही सब कामनाओं से रहित और शान्तरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा. निर्वाण-प्रकरण का चौवनवां सर्ग समाप्त ॥५४॥

—०❀०—

पचपनवाँ सर्ग

जीव-तत्व-निर्णय

श्री भगवान बोले—हे अर्जुन ! तू अजर, अमर अविनाशी और देश काल से रहित आत्मा है, इस कारण शोक मत कर। यह जगत जो तुझे भासित हो रहा है, वह केवल अज्ञान वश भास रहा है। अज्ञान है प्रमाद और प्रमाद है अनात्म में अभिमान और यह अभिमान ही अज्ञान है। अतः इस शरीर से तू अभिमान मत कर, क्योंकि यह मिथ्या है और इससे दुःख होता है। पर आत्मा अविनाशी और सबको प्रकाश देने वाला है, अतएव उसको कोई नाश नहीं कर सकता। अज्ञानी मनुष्य इसका नाश होना मानते हैं।

यह सुनकर—अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! आप कहते हैं कि आत्मा अविनाशी है और सबका अपना आप है। यह मैं पहिले ही समझ गया. परन्तु अब यह बतलाइये कि इसका नाश भी होता है, या नहीं और होता है तो कैसे ?

श्री भगवान बोले—हे अर्जुन! परमार्थतः तो किसी का भी नाश नहीं होता, परन्तु अज्ञान से सबका नाश होता है और सब मृत्यु के ग्रास होते हैं। इसी कारण तो मैं कहता हूँ कि तू आत्मवेत्ता बन। वह आत्मा एक अद्वैत है। जब उसमें एक कल्पना भी संभव नहीं तब द्वैत कहां से होगा। हे अर्जुन ! मूर्खता एवं अज्ञानता वश जब अनात्म देहादिक में आत्मा की भावना होती है तब उस कारण जगत ही सत्य प्रतीत होता है और वासना करके जीव तदनुसार जगद्भ्रम को देखता है किन्तु जब वही जीव स्वरूप का अभ्यासी बन जाता है तब वासनायें नष्ट हो जाती हैं। इससे हे अर्जुन ! तू स्वरूप का अभ्यासकर और अहं मम आदिक वासनाको त्यागकर केवल आत्मा की भावना कर। यह देह वासना रूप है,जब वासनायें निवृत्त होंगी तब देह लीन होजायगी और तब देश कालादि क्रिया और जन्ममरण भी न

रहेगा। क्योंकि इनका अविर्भाव तो अपने ही संकल्प से हुआ है और उन भ्रमरूप वासनाओं से वेष्टित हो यह जीव भटक रहा हैं। जब आत्मज्ञान होता है तब वासनाओं से मुक्त होता है और तभी इसको निःसंकल्प निराबोध आत्मतत्व की प्राप्ति होती है और उसी को मोक्ष कहते हैं। हे अर्जुन! जो वासनाओं से मुक्त है वही मुक्त है। अन्यथा कोई पुरुष सर्व धर्मपरायण भी क्यों न हो और सर्वज्ञ शास्त्रवेत्ता भी क्यों न हो, पर जब तक वासनाओं से मुक्त नहीं हुआ तब तक चारों ओर से बँधा है। किन्तु जिसके अन्तर वासना नहीं है उसको मोक्ष जान। चाहे कोई दरिद्र और अत्यन्त दुखी भी क्यों न हो और देखने में उसकी प्रभुता भी क्यों न लोप होगई हो, पर यदि उसकी वासनायें नष्ट हो गयी हैं तो वह भी बड़ा प्रभुता वाला है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचपनवा सर्ग समाप्त ॥५५॥

पचपनवां सर्ग

चित्त वर्णन

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन! इस प्रकार तू वासना रहित और संसार से विरक्त होजा तो तेरा अन्तःकरण स्वच्छ हो जायेगा और तू जरा मरण से मुक्त होकर आकाशवत् निर्मल और सर्व प्रिय होकर संसार में स्थित रहेगा। हे अर्जुन! प्रवाह पतित कार्य जो हो उसे कर युद्ध में कायरता न दिखा। क्यों कि आत्मा अविनाशी है और देह नाशवान है, देह का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं वे राग-द्वेष से रहित होकर समस्त ऊँच नीच कर्मों को करते हैं। अतः तू भी विरक्त होकर विचर। हे अर्जुन! जो अपना और पराये का त्याग करते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष बन्ध नहीं होते, किन्तु जो मूर्ख हैं वे इसी में बँधे रहते हैं। इसके विपरीत विरागीजन मूर्तिवत होकर क्लिष्ट से क्लिष्ट कार्य क्यों न हो कर ही डालते हैं और भद्र पुरुषों की तरह

वासना रहित कार्य करते हैं। जिस भांति कच्छप अपने अङ्ग को समेट लेता है, उसी भांति ज्ञानी विषय वासना से संकुचित होकर रहते हैं और अपने को चिन्मात्ररूप मानते हैं और संसार को पिरोये हुए मणि के समान जानते हैं और संसार को अपना अङ्ग समझते हैं। हे अर्जुन! जिस प्रकार चाँदनी का रङ्ग-विरङ्गा चित्रित चित्र चाँदनी के वस्त्र से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार संसार आत्मा से भिन्न नहीं है। चाँदनी पर चित्रकार की रचना है और मन ने संसार को रचा है। पर यह रचना वैसे ही है जैसे शिल्पी मनमें ही स्तम्भ की पुतलियों को कल्पता है। वैसेही इस मन ने संसार रूपी अनेक पुतलियों की कल्पना की है। हे अर्जुन! जिस प्रकार स्वप्न आकाशवत् [नहीं के तुल्य, शून्य] है उसी प्रकार यह जगत भी आकाशवत् शून्य है। जैसे मन स्वप्न के क्षणमात्र को बड़े काल का अनुभव करता है और पहले की स्मृति को सत्य कहता है उसी प्रकार यह संसार प्रमाद के वश होने से सत्य भासता है परन्तु जब आत्मदर्शन होता है तब जगत-भ्रम निवृत्त हो जाता है, इस कारण हे अर्जुन! तू भावाभाव वृत्तियों को त्याग कर स्वरूप में स्थित हो। ऐसा करने से तू आकाशवत् निर्मल हो जायगा। यह जितने भी पदार्थ भासते हैं, सब आकाशरूप हैं, केवल एक क्षण में मन के स्फुरण से यह नाना रूप हो भासते हैं। परन्तु अफुर होने से लीन हो जाते हैं। अस्तु, यह जगत प्रमाद से ही भास रहा है। आत्म दर्शन से, इसका लोप हो जायेगा। आत्मा निर्वाण रूप है। हे अर्जुन! बड़ा आश्चर्य है कि यह कुछ है नहीं और इसमें नाना प्रकार के रङ्ग भासते हैं।

श्री योगवासिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छप्पनवा सर्ग समाप्त ॥५६॥

—०※०—

सत्तावनवां सर्ग

अर्जुन विश्रान्ति

श्रीभगवान् बोले हे अर्जुन ! इसके अतिरिक्त यह भी आश्चर्य देख कि चित्र तो तब होता है जब उसका आधार भूत वस्त्र होता है। पर यहां तो चित्र पहले ही उत्पन्न होते हैं और आधार-भूत बाद को। यह आश्चर्य नहीं तो क्या है ? हे अर्जुन ! यह माया की कैसी प्रधानता है कि आकाश में आकाशरूपी पुतलियां उत्पन्न और लीन होती हैं और सारी सृष्टि आकाशरूप है तो भी आकाशरूप आत्मा में स्थित है। वह आत्मा एक और अद्वैतरूप होते हुए भी उसमें उत्थान हुआ है और उस उत्थान से ही उसको स्वरूप का प्रमाद हुआ जिससे उसने दृश्यभ्रम को देखा और फलतः अनेक वासनारूपी जेवरीके साथ बँधा हुआ भटकता है। पर हे अर्जुन ! वह उस प्रकार के नाना—भ्रमों को देखता हुआ भी स्वरूपतः ज्यों का त्यों है और सारा जगत उसमें ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। किन्तु वह आत्मा छेद भेद से रहित ब्रह्म और ब्रह्म ही में स्थित है। फिर उसमें भेद कैसा ? जिस प्रकार जल-तरङ्ग के बुद-बुदे भी जल के ही रूप हैं और अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार यह सब ब्रह्म से पूर्ण आत्मा में ही आत्मा स्थित है अन्य वासना की कोई कल्पना नहीं। पर स्वरूप के प्रमाद से बासवासक का भेद होता है। किन्तु सम्यकज्ञान होने से वासनायें नष्ट हो जाती हैं। हे अर्जुन ! वासना रहित पुरुष ही मुक्त हैं और वासना-बन्धन पुरुष बन्ध है। हे अर्जुन ! जिसके अन्तर वासना का बीज तो है किन्तु वह वाह्य-दृश्य में दिखाई नहीं देता वह बीज भी बड़ा विस्तार वाला है। इस कारण वासना-क्षय के हेतु निरन्तर ज्ञानरूपी अग्नि को उत्पन्न करते रहना चाहिये, इससे वासनारूपी बीज भस्म हो जायगा और फिर संसार-भ्रम कदापि उदय न होगा। हे अर्जुन ! तू शान्तात्मा है। मुझे विश्वास है कि अब तेरा भ्रम निवृत्त होगया तब तू आत्म-

पद को प्राप्त हुआ है जिससे तेरे मन-मोह को निर्वाण पद प्राप्त हुआ अब तेरे लिये व्यवहारवाद और चुप रहना एक समान है, क्योंकि अब तू सम्यकज्ञानी हो शान्तरूप निःशंक पद को प्राप्त हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा. निर्वाण-प्रकरण का सत्तावनवां सर्ग समाप्त ॥५७॥

—०❀०—

अट्ठावनवाँ सर्ग

श्रीकृष्ण अर्जुन सम्वाद—भविष्यद्गीता वर्णन

इस प्रकार भगवान् कृष्ण के अमृतमय वचनों को सुनकर अर्जुन ने कहा—हे अच्युत! आपके प्रसादसे अब मेरा भ्रम नष्ट होगया। अब मैं आत्मस्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। हे प्रभो! अब मुझे क्या करना है, कृपाकर आज्ञा दीजिये। भगवान् बोले—हे अर्जुन! प्रमाण विपर्यय, विकल्प, अभाव और स्मृति यह मन की पाँच वृत्तियां हैं। तू इन पाँचों को हृदय से निकाल। जब यह पाँचों निकल जायेंगी तब तेरा चित्त शान्त हो जायगा और आधि, व्याधि आदिक दुःख तुझे बाधित न कर सकेंगे। जिस पुरुष ने इन पर विजय पायी है वह निस्सन्देह आत्मपद को प्राप्त हुआ। वह आत्मसत्ता परम प्रकाश रूप है, जो पुरुष संकल्प विकल्प से रहित हैं और जिनको इन्द्रियों का विषय तुच्छ है वे इन्द्रियों से अतीत इस पद को प्राप्त होते हैं। उनको वासना का स्पर्श नहीं होता। उस पदको प्राप्त कर लेने पर यह घट पट आदिक पदार्थ सब शून्य हो जाते हैं। इस प्रकार आत्म साक्षात्कार हो जाने से चित्त वृत्ति भी नष्ट हो जाती है और वासनाओं का तो नितान्त अभाव हो जाता है। अतएव विरक्त पुरुषों को कोई वासना नहीं रहती। पर यह तभी सम्भव है जब आत्माको भी अपने आप ही जाने। बिना इसके जाने तो नाना प्रकार के आकार विकार संयुक्त दृश्य भासते ही हैं। पर जब शुद्ध और स्वच्छ आत्मतत्त्व में स्थित होता है तब आकाशवत् निर्मल भाव को प्राप्त होता है और स्वयं को तथा सबको भी पूर्ण देखता है।

तब उसे सर्व आकार में आत्मसत्ता का दर्शन होता है । उस परम वस्तु की उपमा कैसी और क्या दें ? जो इस प्रकार आत्मस्वभाव में स्थित हो विचरता है वह त्रिलोकी का भी नाथ है ।

वशिष्ठजी ने रामजी से कहा–हे रामजी ! उस समय जब ऐसा शब्द त्रिलोकी के नाथ कहेंगे तब क्षणभर के लिये अर्जुन मौन हो जायेगा और फिर श्री भगवान् से ऐसा बोलेगा कि–हे भगवन् ! आपके अमृतरूपी वचनों को श्रवणकर अब मेरा सारा शोक जाता रहा और अब मुझे बोधका भी प्रकाश हुआ है, अतः अब आपकी जो आज्ञा हो, मैं करने के लिये सन्नद्ध हूँ । हे रामजी ! ऐसा कहकर अर्जुन गाण्डीव को धारण करेगा । फिर भगवान् को सारथी बनाकर निःस्सन्देह निर्भय होकर रणकौतुक करेगा और उस युद्ध में हाथी, घोड़े और मनुष्यों को मारेगा जिससे रक्त की धारा प्रवाहित होगी और शूरों को नष्टकर वह जैसा का तैसा ही बना रहेगा और स्वरूप से विचलित न होगा ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अट्ठावनवां सर्ग समाप्त ॥५८॥

उनसठवाँ सर्ग

प्रत्यागात्म बोध वर्णन

वशिष्ठजी बोले–रामजी ! ऐसी दृष्टि का आश्रय कर अब तुम सन्यासी बनजाओ और अपने समस्त कर्मों का ब्रह्मार्पण कर दो । वह ब्रह्म सर्वत्र है और यह सब उसीसे है, तुम उसीको परमात्मा जानो । जो उस एक सत्ता की भावना करता है, वह उसको प्राप्त होता है । वह सत्ता संवेदन की फुरना से रहित है और वही चेतना से रहित सबका प्रकाशक है । हे रामजी ! तुम उसी को परमपद जानों, क्योंकि वही आत्मा सबका परम इष्टरूप, महा उत्तम और परमगुरु का गुरु तथा आत्मरूप है । शून्यवादी उसको शून्य और विज्ञान वादी उसको विज्ञान तथा ब्रह्मवादी उसी को ब्रह्म कहते हैं । वही आत्मा इस जगतरूपी मंदिरको प्रकाश करने वाली दीपक है और वही

हृदयाकाश में स्थित है और वही सत्यमें सत्य और असत्य में असत्य है। जगत के समस्त पदार्थों में उसी का प्रकाश है । चन्द्रमा, सूर्य और तारे आदि जो कुछ दिखाई पड़ते हैं सबमें उसीका प्रकाश है। समस्त पदार्थ उसीसे प्रकट हुए हैं और सब उसी से सिद्ध होते हैं। यह आत्म संवित अपने विचार से ही पाया जा सकता है। हे रामजी! यह जितने भी भावाभाव-पदार्थ भासित हो रहे हैं, सब असत्य है, इतनी कोई वास्तविकता नहीं, यह केवल प्रमाद दोष से ही कलना रूप हो भासते हैं। हे रामजी! इसका तब नाश होता है जब विचार की उत्पत्ति हो, अन्यथा जिसके अन्तर अहं भाव विद्यमान है उसे यह जगजाल मिथ्या भ्रम से भासेगा ही परन्तु यह जगत कुछ वस्तु नहीं है वह ब्रह्म सत्ता अपने आपसे ही समान रूप में स्थित है, अन्य द्वैत कुछ नहीं। जब ऐसा दृढ़ निश्चय तुमको होगा तब तुम व्यवहार करते हुए भी भीतर से निःसङ्ग और शान्तरूप रहोगे। जो पुरुष उस समान सत्ता में स्थित है वह इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग-द्वेष नहीं करता और सदैव शान्तरूप रह उदय अस्त नहीं होता, वह सर्वदा सम भाव में स्थित रहकर स्वस्थरूप औप अद्वैत तत्व में स्थित होता है। वह जगत में व्यवहार भी करता है तो भी शुद्ध नहीं होता आशय यह है कि जगत के समय व्यवहारों को करते हुए भी उसका चित्त सदैव निर्मल रहता है। हे रामजी! जो ज्ञानी पुरुष हैं, ये इस जगत् को आत्मा का ही चमत्कार मानते हैं, वह आत्मा न एक है, न अनेक है, केवल आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। अब देखो यह कि संसार है क्या ? चित्त में जो कलना शक्ति है उसके फुरने का ही नाम संसार है। जब वह शक्ति प्रकट हो तब उसको परमपद कहते हैं। अब और देखो कि चित्त क्या है ? महा चेतन में जो निज का भाव है कि मैं आत्मा को नहीं जानता यही चित्त है, जो संसार का कारण है। हे रामजी ! यह नियम है कि निज के अभाव से पदार्थ का भी अभाव हो जाता है, पर आत्मा

के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है जीव के ऐसा कह देने से कि मैं आत्मा को नहीं जानता—आत्मा का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि अभाव को जानने वाला भी तो वह आत्मा ही है। पर वह आत्मा है कैसा? वह शून्य और अजड़रूप परमचेतन है। इस कारण तुम्हारा जो कुछ भी अर्थ है सब आत्मा ही में करो। हे रामजी! ऐसी दृढ़ भावना करने से तुम्हारा संसार भ्रम निवृत्त हो जायगा और केवल आत्म-भाव ही शेष रहेगा। हे राघव! चित्त के स्फुरण का ही नाम तो संसार है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, और प्रमाता, प्रमान, प्रमेय त्रिपुटीरूप चित्त ही होता है। भाव यह कि चित्त से ही त्रिपुटी होती है जैसे सुवर्ण से भूषण प्रकट होते हैं, वैसे ही चित्त से त्रिपुटी भी प्रकट होती है, इससे चित्तस्पन्द कोई अन्य वस्तु नहीं, केवल आत्मा ही का अभावरूप हैं। इसको उत्पन्न करने वाला अज्ञान है। यदि ज्ञान हो जाय तो लीन हो जाता है हे रामजी! भोग की प्रबल—तृष्णा ने ही उस अज्ञान को उत्पन्न किया अन्यथा भोग भावनाओं के निवृत्त होने पर तो ज्ञान का परम लक्षण सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि सत्स्वरूप को जानने वाले ज्ञानी जनों को भोग की इच्छा नहीं रहती, आत्मज्ञान से सन्तुष्ट रह तुच्छ भोजन आदि विषयों की तृष्णा और इच्छा नहीं करते। कारण कि जब भोग असत्य हैं, तब उसकी तृष्णा क्या? पर यह मन बड़ा मूर्ख और प्रबल है। जब गुरु और शास्त्रों के युक्तपूर्ण उपदेशों को ग्रहण करे तब उन युक्तियों से शुद्ध हो वश में होता है, अन्यथा इस मनको वश करने के लिए कोई अपने शरीर ही को क्यों न काट डाले यह चित्त कभी स्थिर नहीं हो सकता। अतएव चित्त स्थिर करने में सद्गुरु और सत्शास्त्र ही सहायक हो सकते हैं और निश्चय ही चित्त स्थिर हो जाता है चित्त का स्थिर होना क्या है, चित्त का अभाव हो जाता है। चित्त के अभाव होने से आत्मज्ञान उत्पन्न ... अज्ञान को ऐसा नष्ट कर

देता है कि फिर उसका पता नहीं चलता कि वह कहाँ चला गया। इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। इस मन की सीमा केवल मन तक ही में, इससे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मामें न तो बन्ध है न मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष तो कल्पना में होते हैं। विचार करने से न तो कुछ बन्ध है और न कुछ मोक्ष है। यह समस्त कल्पना चित्त के स्फुरण से ही हो रही है। चित्त का स्फुरण नष्ट होने से, समस्त कल्पनाओं का अभाव होकर शान्ति प्राप्त होती है। इस कारण तुम जिस ज्ञानरूप आत्मा से इस जगत की उत्पत्ति हुई है उसी आत्मपद में चित्त को लीन कर अनुभव रूप आत्म प्रकाश में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उनठसवां सर्ग समाप्त ॥५६॥

साठवाँ सर्ग

विभूत योग वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! वह परमात्मपद जिसे परम तत्व कहते हैं, वह हमको सदैव प्रत्यक्ष है। वही वस्तु रूप, प्रत्येक आत्मा और सर्व सत्ता दर्पण है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। उस आत्मा ही से यह जगत-सत्ता प्रकट होती है। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार भी जड़ात्मक हैं। इनसे रहित जो है, वह परमपद है। उसी पद में ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि स्थित हैं। उसमें स्थित होने ही के कारण उनकी इतनी ऊँची प्रभुता है। उसमें स्थित होने वाले की न तो कभी मृत्यु होती है और न वह कभी शोकित रहता है। इतना सुनकर रामजी ने कहा हे भगवन्! जब मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ही नहीं रहते तब वह सामान्य सत्ता कैसे शेष रहती है और उसको कैसे जाना जाय? वशिष्ठजी बोले हे रामजी! खाते, पीते, देखते, सुनते और बोलते तथा अन्याय क्रियाओं को करते हुए जो दिखलाई पड़ता है वह आदि अन्तसे रहित संवित सत्ता है? सारा संसार उसी का रूप है और वही सर्वगत अपने आपमें स्थित है। आकाश, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध

आदिमें भी उसीका रूप विद्यमान है। कहाँ तक कहें बुद्धि, मन अहङ्कार अग्नि, घट यह और वह आदिक स्थावर-जङ्गम रूप जड़ और चेतन आदिमें जड़ चेतन रूपसे वही स्थित है उत्पत्ति और प्रलय भी उसीसे है बाल, वृद्ध, युवा और मृत्यु आदिमें वही पपमेश्वर तद्रूप स्थित है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो उससे भिन्न हो। हे रामजी! यह भिन्नता और अनेकता तो भ्रम वश भासित हो रही है, अन्यथा, आत्मा में यह अनेकता नहीं। जो कुछ है सर्वत्र और सर्व प्रकार वह आत्मा ही स्थित है। हे रामजी! इसी प्रकार वह सामान्य सत्ता शेष रहती है, तुम उसी में स्थित रहो।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का साठवां सर्ग समाप्त ॥६०॥

इकसठवाँ सर्ग

जगत-स्वप्न विचार वर्णन

वाल्मीकजी बोले कि जब इतनी कथा वशिष्ठजी कह चुके तब सूर्य भगवान् अस्त हो चले। फिर तो सूर्यास्त को देख समस्त सभा के लोग एक दूसरे को नमस्कार करते हुए स्नान करने को चले गये और दूसरे दिन सूर्य भगवान् के उदय होते ही अपने आसनों पर आ विराजे तब रामचन्द्रजी ने नम्रता पूर्वक मुनिवर वशिष्ठजी से प्रश्न किया कि-हे भगवन्! जब हमारे स्वप्नपुर के समान ही ब्रह्माने देवको ग्रहण किया है और जो उनको उस असत्य में प्रतीति है वही दृढ़ प्रतीति हमको कैसे उत्पन्न होगी? वशिष्ठजी कहने लगे-हे रामजी! वास्तवमें पहले ब्रह्माको जगत असत्य भासता है सत्य नहीं, किन्तु जब वह सर्वगत चैतन्य संवित को जगत मानकर दिग्दर्शन करते हैं तब उनके सम्यक दर्शन का अभाव हो जाता है और तब उन्हें स्वरूप में अहंभाव उत्पन्न होजाता है और वह वही रूप देखने लगते हैं। फिर तो जिस प्रकार स्वप्न में स्वप्न जगत दृढ़ हो भासता है, उसी प्रकार ब्रह्मा को भी वह स्वप्न नहीं भासता और उनको जगत की दृढ़ता हो जाती है किन्तु जिसकी उत्पत्ति स्वप्न पुरुष

से है वह स्वप्न ही कहा जायगा अतएव यह सारा जगत चेतन तत्व के अभाव से स्फुरित होता है इस कारण जगत के समग्र पदार्थों की कोई वास्तविकता नहीं, केवल भ्रममात्र और मन के सङ्कल्प से ही भासित हो रहे हैं यही कारण है कि जगत का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो सिद्ध न हो और अपनी मर्यादा को न त्यागे अतएव यह सारा जगत मनके सङ्कल्प मात्र से उत्पन्न हुआ है। इस कारण यह गन्धर्व नगर और इन्द्रजाल तथा शम्बरके माया के समान ही असत्य है केवल भ्रम के वश होने से सत्य भासता है। अस्तु ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सत् और असत् न हो, सब मनके स्फुरण में भरा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का इकसठवा सर्ग समाप्त ॥६१॥

बासठवाँ सर्ग

भिक्षु-संसार-दाह वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह संसार मिथ्या है इसको सत्य कदापि न जानो, वह बड़ा मूर्ख है जो इसको सत्य जानता है। जैसे द्रुतगामी मृग गढ़ेमें गिरकर महान् दुःख को प्राप्त होता है और पुनः उससे भी बढ़कर दूसरी खाई में गिरकर अत्यन्त दुःखी होता है, वैसे ही मूर्ख पुरुष आत्मा के अज्ञान से संसार रूपी गढ़े में गिरकर दुखी होता है और पुनः भ्रम वश दुःखातिदुःख को देखता है। इस सम्बन्ध में एक इतिहास तुम्हारे श्रवण करने योग्य है, तुम ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! योगके आठ अङ्ग हैं जिनका पालन करनेसे उत्तम सुख समाधि की प्राप्त होती है। पूर्व काल में एक सन्यासी था जो समाधिस्थ रह कर अपने हृदयको शुद्ध करता था उसकी यह अवस्था थी कि एक बार जब वह समाधि लगाता तो पूरा दिन उसमें लगा रहता और जब वह समाधि से उतरता तब फिर समाधि लगा लेता था। और प्रकार की समाधि लगाकर जब वह कुछ समय व्यतीत कर चुका तब यह चिन्तवन करने लगा कि जैसे प्रकृति पुरुष विचरते हैं वैसे ही मैं भी विचरूँ और चेष्टा करूँ। यह विचारकर उसने एक विश्वकी कल्पना

की और स्वयं उसका राजा बन अपना नाम भींवट रक्खा। ऐसी कल्पना से राजा बन वह राज्य करने लगा। परन्तु जैसे ही वह शुभ-कर्मी तथा द्विजपरायण था वैसे ही मदिरा जैसे त्याज्य पदार्थ का भी सेवन करने में पूर्ण अक्षम था। एक बार निद्रा में उसे स्वप्न हुआ कि तुम ब्राह्मण हो मदिरा क्यों पीते हो तबसे उसने मदिरा पान करना त्याग दिया और अपने ब्रह्मत्व पर आकर वेदाध्ययन करने लगा। इस प्रकार वेदाध्ययन और पाठ करते जब कुछ समय व्यतीत हुआ तब उस रात में यह स्वप्न हुआ कि तुम राजा हो, क्षत्रियोचित कर्म करो। तबसे वह वृहद् सेना सहित राजा होकर विचरने लगा। जब इस प्रकार भी कुछ समय व्यतीत हो गया तब शयन करने में रात को यह स्वप्न हुआ कि तुम देवता की स्त्री हो इससे देवता के साथ रहो, तब वैसे ही रहने और शोभा पाने लगा। इस प्रकार एक स्वप्न के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और चौथा पांचवाँ उसे कई स्वप्न हुए जिससे कभी हिरणी, कभी बिल्ली, कभी भँवरी, कभी कमलिनी, कभी हस्ती, कभी हंस और कभी जल की तरङ्ग बनकर भ्रमता फिरता था। सब से अन्तिम बार अपने सङ्कल्प वश वह ब्रह्मा का हंस हुआ। जब हंस बन वह ब्रह्माजी के पास गया तब ब्रह्माजी के उपदेश से आत्म ज्ञान हुआ और वह शान्त हुआ। हे रामजी! केवल अज्ञान के ही कारण उसे इतनी अवस्थायें प्राप्त करनी पड़ीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का बासठवां सर्ग समाप्त ॥६२॥

त्रेसठवाँ सर्ग

स्वप्न-शतरुद्र-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! इस प्रकार वह हंस एक बार सुमेरु पर्वत पर उड़ता हुआ चला जा रहा था कि उसके मनमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं रुद्र हो जाता तो अच्छा था। ऐसे भाव का उठना था कि जैसे स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिंब शीघ्रही पड़ जाताहै वैसेही शुद्ध अंतःकरण

के सत्सङ्कल्प से वह रुद्र होगया। हे रामजी! जिसका ज्ञान अनुत्तर है उसे रुद्र कहते हैं अथवा जिसको जान लेने पर और कुछ जानने की आवश्यकता न रहे, जिसका ऐसा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, उसे रुद्र कहते हैं। उसी पदको प्राप्त होकर वह हंस अपनी चेष्टा करने लगा और साथ ही अपने गुणों पर भी दृष्टिपात करने लगा। तब उसके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि ओ हो, मैं तो अज्ञानवश बड़े भ्रम को प्राप्त हुआ। कैसी विचित्र माया है। अब जो मेरे शरीरपड़े हैं,उन्हें चलकर जगाऊँगा। ऐसा विचार कर वह रुद्र उठ खड़ा हुआ और अपने स्थानको चल पड़ा। तब सर्व प्रथम वह अपनी उस पर्णकुटी में गया, जहाँ कि उसका प्राथमिक सन्यासी शरीर पड़ा था। शरीरको देखकर उसने उसे चित्तशक्तिसे जागृत किया। जागृत करने पर सन्यासी के शरीर में ऐसा ज्ञान हुआ कि 'मैं ही खड़ा हूँ, और उसने, यह जाना कि मुझे रुद्रने जगाया है, किन्तु उसे यह ज्ञान होगया कि अमुक-अमुक मेरे और भी बहुत से शरीर पड़े हैं और अब चलकर उन्हें जगाना चाहिये। ऐसा विचार कर रुद्रको साथले चला और झींवट के स्थान में पहुंचा। वहाँ पहुँच कर क्या देखता है कि झींवट की मृतक शरीर और मदिरा के वर्तन वहाँ अब तक पड़े हैं और उसके इर्द-गिर्द चेतनाशक्ति घूम रही है। तब सन्यासी ने झींवट को चित्तशक्ति से जगाया। झींवट उठ खड़ा हुआ। खड़े होने पर उसको यह ज्ञान हुआ कि मेरे और भी शरीर हैं और इन्होंने ही मुझे जगाया है। अब रुद्र, सन्यासी और झींवट तीनों साथ २ चले और यह विचारने लगे कि हम तो परमात्मा में चैतन्योमुखत्व होने से सन्यासी हुये थे फिर इतने शरीरों को कैसे प्राप्त हुये? हे रामजी! ऐसा विचार करते ही उसे ज्ञात हुआ कि सन्यासी से झींवट ब्राह्मण, राजा, चक्रवर्ति राजा, देवाङ्गना, हरिणी, भँवरी, बिल्ली और हंस तथा पुनः ब्रह्मा का हंस इत्यादि जितने भी शरीर मैंने धारण किये हैं सब अज्ञान की वासना वश पाये हैं। इन शरीरों में जब मैंने अन्तिम बार हंस की शरीर को प्राप्त किया और जब ब्रह्माजी

का दर्शन हुआ तब उनके उपदेश से मुझे सम्यक् ज्ञान हुआ क्योंकि मैं पहले पूर्ण अभ्यास कर चुका था, जिससे अकस्मात् सत्सङ्ग का मिलाप होगया । ऐसा विचार कर वह तीनों चले और जहाँ–जहाँ उनकी शरीरें पड़ी थीं वहाँ-वहाँ पहुँचकर उन सबको जगाना आरम्भ किया । जगाते हुए उन्हें यही निश्चय हुआ कि हम चिन्मात्ररूप और जागरण से रहित हैं । हे रामजी ! इस प्रकार रुद्र, सन्यासी, झींवट, मद्य पान-करने वाला ब्राह्मण और राजा रानी तथा हस्ती, यही जागृत होने पर सात रुद्र हुए । उन सातों का केवल शरीर ही पृथक-पृथक था वरन् चेष्टा और निश्चय सबका एक समान था । इस कारण हे रामजी ! सारा विश्वव केवल अज्ञानरूपी फुरण से उत्पन्न हुआ है । यदि ज्ञान-पूर्वक देखा जाय तो वास्तव में कुछ हुआ नहीं । इसी से ज्ञानी पुरुष समस्त विश्व को अपना ही स्वरूप देखते हैं । पर उसी को अज्ञानी भिन्न-भिन्न जानते हैं । कारण कि वे अपने स्वरूप को नहीं जानते हे रामजी ! यह समस्त विश्व अपना ही स्वरूप हैं, केवल अज्ञानवश अर्थात् स्फुरण से ही संसार रूप हो भासता है, किन्तु उस फुरण में आत्मा ही स्वरूप है, इस कारण हे रामजी ! उस फुरणों का ही त्याग करो और दूसरा कुछ है नहीं, यही यत्न करो । चाहे जिस प्रकार से यह शत्रु मरे, उसी प्रकार से इसको मारो । अच्छा, अब इस शत्रु के बध हेतु मैं तुम्हें एक सुगम उपाय यह बतलाता हूँ कि तुम चिन्ता कुछ न करो । देखो, इसमें यत्न कुछ नहीं है और यह उपाय बहुत सुगम है । चिन्ता करना ही दुःख है और चिन्ता से रहित होने को ही सुगम कहते हैं । बस, मेरा यही कथन है, आगे तुम्हारी जैसी इच्छा हो ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का तिरेसठवां सर्ग समाप्त ॥६३॥

———o::❀::o———

चौसठवाँ सर्ग

गणत्व प्राप्ति-वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा कि—हे मुनिवर ! उस झींवट ब्राह्मण से लेकर सन्यासी के रूप की कथा तो हम सुन चुके पर उसके पश्चात् क्या हुआ, कृपाकर उसे भी बतलाइये। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! ब्राह्मण से आदि तक जितने शरीर थे, जब रुद्र के जागने से सब सुखी हो इकट्ठे हुए तब रुद्र ने उनसे कहा कि हे साधो ! अब तुम सब अपने अपने स्थान को जावो फिर कोई समय ऐसा आवेगा कि जब तुम लोग मेरे गण होकर मुझको प्राप्त होवोगे और महा कल्प में हम सभी विदेह मुक्त हो जावेंगे। ऐसा कहकर रुद्र अन्तरध्यान हो गये और वह सब अपने २ स्थान को चले गये। हे रामजी ! अब भी वह तारे के रूप में मुझे कभी आकाश में दिखाई पड़ते हैं। रामजी बोले—कि हे मुने ! सन्यासी से लेकर झींवट तक हस्ती आदिक जितने भी शरीर धारण किये हैं वह और उनकी सृष्टि कैसे सत् हुई, कृपाकर यह मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि हे रामजी ! आत्मा सबका अपना आप शुद्ध और चैतनाकाश तथा अनुभवरूप है। इस कारण वह देश, काल और वस्तु का निश्चय कर लेने की शक्ति रखता है और वैसे ही आगे बन भी जाता है। उसमें जैसा स्फुरण होता है वैसा ही आगे-आगे होता जाता है। हे रामजी ! शुद्ध मन से सतसङ्कल्प का आविर्भाव होता है और अशुद्ध मनमें असतसङ्कल्प का। इसी नियम से सन्यासी का अन्तःकरण तो शुद्ध था वह नीचे जन्मों को कैसे प्राप्त हुआ ? इसका उत्तर यह है कि वह मदिरा पीता था। फिर वैसे क्यों न होता। संवेदन में जैसा स्फुरण होता है वैसा ही होकर भासता है मानलो कि किसी पुरुष का अन्तःकरण शुद्ध है और उसके मनमें यह स्फुरण हो कि मेरा एक शरीर भेड़ा होजाय और एक शरीर विद्याधर होजाय तो

भला और बुरा दोनों हो जायगा। इस पर तुम कहो कि बुरा क्यों हुआ भला ही होता, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे कु-संस्कार अर्थात मलिन वासना से पण्डित का पुत्र चोर होवे को उसको दुःख होता है। अतः फुरणे ही से सब ऊँच नीच होते हैं। जब अभ्यास और परमयोग की प्राप्ति होती है तब वह शुद्ध होता है। सद्गुरु द्वारा प्राप्त मंत्र-जप को अभ्यास और चित्त स्थिर करने को योग कहते हैं। इसके द्वारा अभ्यासी जैसा चिंतवन करता है वैसी ही सिद्धि उसे प्राप्त होती है। पर यह अज्ञानी के लिये सम्भव नहीं। भावनाओं और सङ्कल्पों की सिद्धि शुद्ध अन्तःकरण में होती है, अशुद्ध में नहीं। शुद्ध हृदय वाला जिसका चितवन करता है दूर होते हुए भी वह प्राप्त हो जाती है। यदि तू कहे कि सन्यासी तो एक था उसने बहुत से शरीरों को कैसे चेत लिया तो इसका उत्तर यह है कि वह योगीश्वर था और उसने योगिनी देवियों अर्थात् सिद्धियों को प्राप्तकर लिया था। ऐसे जो योगीश्वर होते हैं उनका सङ्कल्प सत्य होता है, वे जो चाहते हैं होजाता है। ऐसे कितने ही सत्सङ्कल्प वालों को मैं देख चुका हूँ। देखो भगवान् विष्णु एक शरीर से तो क्षीर सागर में शयन करते हैं और दूसरे शरीर से अवतार धारण कर लोकोपकार करते हैं। इसी प्रकार इन्द्र एक शरीर से स्वर्ग में रहते हैं और दूसरे शरीर से संसार में भी बैठे रहते हैं। ऐसे ही यज्ञ देवियाँ रहती तो हैं अपने स्थान पर बड़े-बड़े ऐश्वर्यों को लिये हुए देशों में भी विचरती हैं। इसी प्रकार योगियों का जैसा सङ्कल्प होता है वैसे ही सिद्धि उन्हें प्राप्त होती है। पर अज्ञानियों के लिये यह दुर्लभ है। क्योंकि मोह के कारण नीच गति को प्राप्त होते हैं और आत्मपद से गिरकर संसाररूपी गढ़े में पड़े हुए महान् दुःख को भोगते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौसठवां सर्ग समाप्त ॥६४॥

——०::※::०——

पैंसठवाँ सर्ग

विद्योत्तर विस्मय-वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से कहा कि हे भगवन् ! आपने जो इस सन्यासी की कथा कही है सो इसके समान कोई और भी है या नहीं कृपाकर मुझे बतलाइये । वशिष्ठजी ने कहा हे रामजी ! आज रात में मैं समाधिस्त होकर देखूँगा यदि कोई होगा तो कल दिन में तुमसे कहूँगा । वाल्मीकिजी कहते हैं कि जब वशिष्ठजी ने ऐसा कहा तब दोपहर का समय हो गया था अतः कथा समाप्त हुई और नौबत नगारे बजने लगे पश्चात् सब लोग एक दूसरे को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान को जाने लगे । रामचन्द्र ने वशिष्ठजी के चरणों की पूजा की और राजा दशरथादि राजाओं ने पुष्प चढ़ाये । तत्पश्चात् वशिष्ठजी से लेकर ऋषि, मुनि और जितने राजा लोग थे सब अपने-अपने स्थान को चले गये । अपने स्थान पर पहुँच कर शास्त्रोक्त व्यवहारानुसार अपनी नित्य क्रियाओं को किया । पुनः रात्रि में जब लोग शयन करने गये तब वशिष्ठजी ने क्या ज्ञानोपदेश किया है इस प्रश्न को बार-बार अपने मनमें विचरने लगे । उस विचार में सबको रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत होगई । पुनः सूर्योदय होने पर सब अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त हो सभामण्डल में आ स्थित हुए और राम, लक्ष्मण आदि भी सब दण्ड-प्रणाम करते हुए अपने अपने स्थान पर जा विराजे ।

श्री योगवाशिष्ट भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पैंसठवा सर्ग समाप्त ॥६५॥

——०::※::०——

छासठवां सर्ग

भिक्षुक संसृति–वर्णन

वाल्मीकिजी कहते हैं जब इस प्रकार फुरणे से रहित और शांतिभाव से समस्त मंडली यथा स्थान बैठगई तब वशिष्ठजी अपने आप ही कहने लगे कि हे रामजी ! तुम्हारी प्रीति के लिए संसाररूपी मढ़ीमें समाधिस्त होकर मैंने बहुत खोज किया पर आकाश, पाताल और सप्त द्वीपमें उस सन्यासी के समान मुझे कोई सन्यासी नहीं दिखाई पड़ा । तब रात्रि के पिछले पहर में मैं फिर खोज करने लगा । उस समय उत्तरीय भाग के चिन्माचीन नगर में एक मढ़ी मुझे दिखलाई पड़ी जिसका द्वार बन्द है और जिसमें एक उज्वल केश वाला वृद्ध सन्यासी बैठा है और बाहर उसके शिष्य बैठे हुए मढ़ी का पहरा दे रहे हैं कि कोई दरवाजा न खोल देवे और हमारे गुरु की समाधि न भङ्ग हो जावे आज इक्कीस दिन से वह समाधि में बैठा है और ऐसा मालूम होता है कि वह दूसरा ब्रह्मा है समाधि के इतने ही दिनों में उसे सहस्त्र हर्ष का अनुभव हुआ है और उसने बहुत जन्मों को भी पाया है, वह जन्म कैसा और वह सृष्टि भी कैसी ? समाधि अवस्था में उसने जो देखा और जो विचरण किया वही उसकी सृष्टि और जन्म है । हे रामजी ! कल्पनान्तर में इसी के समान एक और भी था । बस यह तीन ही थे इनमें एक को तो मैं अब भी बहुत देख रहा हूं और वह दोनों ही दिखलाई पड़ते हैं ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का छासठवां सर्ग समाप्त ॥७०॥

——०::❀::०——

सड़सठवां सर्ग

ब्रह्म की एकता

यह सुनकर राजा दशरथ ने वशिष्ठजी से कहाकि हे मुनीश्वर ! यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं अपना अनुचर भेजकर उस सन्यासी को जगाऊँ । विश्वामित्र ने कहा—हे राजन्! अब उसको क्या जगाना है। वह एक महीने के पश्चात् स्वयं ही खोलेगा । इस समय तो वह मृतक होकर ब्रह्मा का हंस हुआ है और ब्रह्मा के उपदेश से वह जीवनमुक्त पद को प्राप्त हुआ है, मढ़ी में तो केवल उसकी पुर्यष्टका ही पड़ी है, राजा दशरथ से ऐसा कहकर वशिष्ठजी ने रामजी से कहाकि हे रामजी! यह सारा विश्व संकल्पमात्र ही है इस पर यदि तुम कहो कि सब एक ही जैसे क्यों हुए तो इसका उत्तर यह है कि ऋषि, मुनि और राजाओं सहित संसारमें जितने लोग हैं वह कई बार एकही समान रूप धारण करते हैं यह जो वर्तमान नारद हैं इनके समान और भी नारद होंगे और उनकी चेष्टा तथा शरीर ऐसा ही होगा । महर्षि व्यासदेव और शुकदेव, भृगु और भृगु का पिता राजा जनक, कर्कटी और अत्रिमुनि आदि ऋषीश्वर जैसे हैं ऐसेही आगे भी होंगे फिर इसमें प्रश्न क्या? हे रामजी ! ब्रह्मा से लेकर पाताल पर्यन्त यह संसार सब मन का रचा हुआ है इस कारण सब असत्य है। चित्त कला के वहिर्मुख होने से ही संसार और देश कालादि की उत्पत्ति होती है। यदि चित्तकला अन्तर्मुख हो जाये तो यह सब प्रपञ्च कहाँ, तब तो आत्मपद प्राप्त होता है । दुःख तभी तक में जब तक वृत्तियाँ वहिर्मुख हैं। वहिर्मुख होनेही से कहता है कि मैं सदा दुःखी हूँ अन्यथा अपना स्वरूप तो आनन्द रूप है उसमें दुःख कहाँ? दुःखी तो तब होता है जब देह और इन्द्रियों के साथ-साथ मिलकर चेष्टा करता है । हे रामजी ! तुम इस अज्ञान रूपी फुरणे से रहित हो । फुरणे से ही तो यह दुःख आदि की अवस्था प्राप्त होती है अन्यथा अमृतरूपी आत्मा में जन्म, मरण, शोक, दुःख

और कलङ्क आदि कहा-महान आश्चर्य है कि अद्वैत आत्मा में यह नाना भाव अज्ञानवश भासित हो रहे हैं। क्यों न हो यहाँ तो माया है पर हे रामजी ! तुम एक रूप आत्मा हो तुममें इस फुरणे ने ही इस विश्व की कल्पना की है, अतः चाहे जिस प्रकार हो तुम फुरणे से रहित हो और विना इसके आत्मदर्शन नहीं हो सकता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सड़सठवां सर्ग समाप्त ॥७३॥

अड़सठवाँ सर्ग

मौन-यत्न वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार देखो कि आत्मा ही संसार का सारवस्तु है तुम उसीमें सुषुप्ति की नाईं मौन हो रहो। रामजी ने कहा-हे महामुने ! वाणी मौन, इन्द्रिय मौन, और हठ पूर्वक मौन, इन्द्रियों को वशमें करने का यह तीन मौन तो मैं जानता हूँ पर आप कहते हैं कि सुषुप्ति मौन हो रहो। सो यह सुषुप्ति मौन क्या है ? कृपाकर मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे कि हे रामजी ! यह तीनों मौन कष्टकर और तपस्वी के हैं किन्तु सुषुप्ति मौन ज्ञानी और जीवनमुक्त पुरुष का है तुम जिन तीनों मौनों को जानते हो क्या उनकी ठीक-ठीक व्याख्या भी जानते हो ? नहीं। अच्छा तो सुनो, पहिला मौन है वाणी का कि जिसमें बोलना नहीं है और दूसरा मौन है समाधि का कि जिसमें नेत्रों को बन्द कर लिया जाता है और देखा कुछ नहीं जाता। तीसरा मौन वह है जिसमें इन्द्रियों और मनको स्थिरकर और हठपूर्वक एकही स्थान दृढ़ होकर इन्द्रियों की भी चेष्टा बन्द कर देनी पड़ती है, यह तीनों मौन कष्टदाय और तपस्वियों के हैं। ज्ञानी इस मौन को नहीं बल्कि सुषुप्ति मौन को ग्रहण करते हैं। सुषुप्ति मौन में वाणी और इन्द्रियों से चेष्टा होती है तो भी आत्मा से जब कुछ अन्य न भासित हो तब वह उत्तम मौन है। अथवा ऐसा हो कि न मैं हूं और न वह जगत है इत्यदि जब ऐसे निश्चय में स्थित हो तब यह महा उत्तम मौन कहा जाता है। हे रामजी !

आत्मा की सिद्धि विधि और निपेध दोनों प्रकार से होती है । उस आत्मा में स्थित होना ही यह बड़ा मौन है। उस प्रकार जब आत्मा में जागृत हो संसार द्वैतरूप के फुरणे से सुषुप्ति हो जावे तो उसी को सुषुप्ति मौन कहते हैं। यह सुषुप्ति मौन चौथा मौन हुआ। अब पाँचवां तुरीयातीत मौन सुनो कि जो अनादि अनन्त और जरा से रहित, शुद्ध और निर्दोष है। इस निश्चय में स्थित होना महान् उत्तम है। इस मौन का आश्रय करके ज्ञानी सुख की इच्छा नहीं करता जिससे उसे दुःख का त्रास भी नहीं होता और साथ ही वह हेयोपादेय से रहित रहता है । हे रामजी! तुम रघुकुल में चन्द्रमा रूप हो इस कारण अपने स्वभाव में स्थित हो इसी महान् उत्तम मौन को ग्रहण करो। तुम ओंकार स्वरूप हो इस कारण ओंकार को ही अङ्गीकार कर इस पाँचवें महान् उत्तम मौन में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥६८॥

उनहत्तरवां सर्ग

प्राण-मन-संयोग-विचार वर्णन

रामजी बोले—हे भगवन्! पहले आपने जो सौ रुद्र कहे थे, वे रुद्र थे अथवा रुद्र और रुद्र के गण थे । वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! रुद्र और रुद्रगण में कुछ अन्तर नहीं है। फिर रामजी ने पूछा—हे मुनिवर! यह तो सब एक चित्त थे, सो क्या जैसे दीपक से दीपक पैदा कर लिया जाता है, उसी प्रकार पैदा हुए या कोई अन्य विधि है, सो हमें सुनाइये? तब वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! अन्तःकरण दो प्रकार का होता है एक शुद्ध और दूसरा मलिन, शुद्ध अन्तःकरण निरावरण और मलिन अन्तःकरण सावरण होता है । शुद्ध अन्तःकरण का फल तत्काल सिद्ध होता है, किन्तु मलिन अन्तःकरण का फल सिद्ध नहीं होता, इसलिये शुद्ध जो निरावण रुद्र है वह आत्मा है और सर्वव्यापी है। इस पर रामजी ने कहा हे मुने! उस रुद्र 'शिव' को भी क्या

कहें जो रुण्डों की माला गले में पहनता है, विभूति लगाई है, स्मशानों में विचरता है और स्त्रीको बाम भाग में लिए रमता है वह तो मलिन चेष्टा वाला है उसे आप शुद्ध अन्तःकरण वाला कैसे कहते हैं। तब वशिष्ठ जी ने कहा—हे रामजी ! यह जो आप कह आये हैं वह तो अज्ञानियों के लिए है न कि ज्ञानियों के। जो शुद्ध विषे वर्ते और अशुद्धता न करे और जो ज्ञानी है वह क्रिया के लिये अपने प्रति कुछ नहीं देखता उसको शुद्ध, अशुद्ध, राग और द्वेष कुछ नहीं कर सकता ऐसा जो शिव है न उसे ग्रहण करता है न त्याग। जो स्वाभाविक चेष्टा होती है और वह स्वाभाविक चेष्टा वैसी होती हैं सुनिये, आदि परमेश्वर में विष्णु भगवान् की चार भुजाओं से फुरण हुआ। कि संसार की रक्षा करेंगे और शुद्ध चेष्टा रक्खेंगे और अवतार धारणकर पाप का नाशकर धर्म की रक्षा करेंगे यह आदि फुरण हुआ। हे रामजी ! इस क्रिया का इनको राग-द्वेष और कुछ हेयमोपादेय नहीं और निज क्रिया का भी कुछ अभिमान नहीं इससे यह कर्म-बन्धन में नहीं फँसते। हे रामजी ! यह संसार फुरण मात्र है जब तू फुरणों से रहित हो जायगा, तब तुझे त्रिपुटी न भासेगी और आत्मा कुछ और ही भासेगा। इसलिये तू अज्ञानरूप फुरणों से पृथक हो। जब तू आत्मपद को जान जायगा तब तुझे ज्ञान होगा कि मेरे लिए फुर दृश्य और अदृश्य कुछ नहीं है और आत्मपद को समझ जायगा। जिसके लिए कुछ फुरना ही नहीं उसमें द्वैत कहाँ ? हे रामजी ! दृश्य, अदृश्य फुरण और विद्या तथा अविद्या यह सब जिज्ञासु को समझने के लिए कहते हैं। अन्यथा आत्मा के प्रति कुछ नहीं कहना है, आत्मा एक है इसमें द्वैतभाव नहीं। संसार का ज्ञान तब होता है जब चित्त वृत्ति वहिमुंख होती है, किन्तु जब अन्तमुंख होती है अन्तमुंख परिणाम पाता है तब अहङ्कार और ममता का नाश होजाता है और केवल चेतनमय तत्व ही शेष रहता है। इस प्रकार जब वृत्तियाँ अत्यन्त ही अन्तमुंख हो जाती हैं तब वहाँ 'है' और

'नहीं' भी कुछ नहीं रहता। हे रामजी! तुम ऐसी ही आत्मा और अपने आप शान्त रूप हो, इसमें ऐसा और वैसा कहने के लिये वाणी का गम नहीं है। जब तुम ऐसे अपने आपमें स्थित होवोगे तब जानो कि मुझमें अहंभाव का फुरना कुछ नहीं है और आत्मरूपी सूर्य का साक्षात्कार होने पर दृश्यरूपी अन्धकार का अभाव हो जायगा क्योंकि आत्मरूपी समुद्र गम्भीर और शुद्ध है और इसमें सङ्कल्प रूपी वायु प्रवृष्ट नहीं होता अतः यह सारा संसार चित्त का ही चमत्कार और अंशांशी भाव से रहित और अद्वैत है। हे रामजी! ऐसा बोध होने पर तुम्हारे लिये सारा विश्व आत्मरूप हो जायगा, इस कारण तुम बोध में स्थित होओ। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु और महेश यद्यपि यह तीन नाम पृथक् २ हैं तथापि इनका स्वरूप और इनकी चेष्टा एक ही समान है। प्रीति करके न कोई अङ्गीकार करने योग्य है और न द्वेष करके कोई त्याग करने योग्य है। यह नाम तो संसार के देखने मात्र है ज्ञान में इन नामों का कोई मूल्य नहीं है। जब बोध में ही जागृत है तब नाम क्या? और बोधमें जागृत होना भी क्या है? सुनो, ज्ञानियों ने दो मार्ग नियत किये हैं। एक संख्या मार्ग, दूसरा योगमार्ग। मैं आत्मा हूँ। सत् और चेतन हूँ और यह जितने दृश्य हैं सब जड़ और असत्यरूप मुझमें अज्ञान से कल्पित हैं, किन्तु मैं आत्मा द्वैत हूँ, मुझमें अज्ञान और दृश्य दोनों ही का नितान्त अभाव है, जो ऐसा निश्चय सिद्धान्त हो उसे सांख्य कहते हैं। योग कहते हैं प्राणों के स्थिर करने को। प्राण के स्थित होने से मन भी स्थित हो जाता है और जब मन स्थित हो जाता है तब प्राण भी स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार परस्पर दोनों का सम्बन्ध है। वशिष्ठ जी के ऐसा कहने पर रामजी ने कहा कि हे महाज्ञानिन्! प्राण का स्थित होना तो मुक्त होना है न? तब मृतक पुरुष के प्राण तो निवृत हो ही जाते हैं इससे वे सभी मुक्त हैं।

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह ठीक नहीं, जब जीव पुर्यष्टका में

स्थित होकर जैसी भावना करता है और फिर शरीर को त्यागकर आकाश में स्थित होता है उसको मरण अवस्था कहते हैं और जब उस वासना रूप प्राण से उसे संसार का भास होता है और जब प्राणक्रिया से वासनाओं का क्षय करता है तब वह मुक्त होता है परन्तु ज्ञानी की वासना क्षय हो जाती है इससे वह जन्म-मरण से रहित हो जाता है। जन्म-मरण से रहित होना क्या है कि चित्त सत्य पद को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार योग से भी प्राणवायु स्थिर हो जाता है और सारी वासनायें भस्म हो जाती हैं। स्वरूप की प्राप्ति होने से संसार के पदार्थों का अभाव हो जाता है। इस प्रकार चित्त के सत्यरूप हो जाने से फिर वह संसारी नहीं होता। आत्मा में न बन्ध है न मोक्ष है, बन्ध और मोक्ष की कल्पना तो चित्त ने की है। चित्त को शान्त करने के लिये उपरोक्त मुनि का अभ्यास करना चाहिये, इससे प्राण अवश्य स्थित होगा और प्राण के स्थित होने से आत्मपद की प्राप्ति अवश्य होती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उनहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥६९॥

——o::❀::o——

सत्तरवां सर्ग

बैतालोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह संसार मृगतृष्णा के जलवत् भासता है और आभास मात्र पड़ा फुरता है। इस पर एक कथा मुझे स्मरण आ गई जो तुम्हारी प्राप्ति के लिये कहता हूँ, सुनो। मन्दराचल पर्वत पर एक बहुत बड़ी गुफा थी, उसमें एक बैताल रहता था और वह मनुष्यों का भक्षण करता था उसने एक दिन यह विचार किया कि किसी नगर का भक्षण कर जावें किन्तु वह एक साधु की सत् मयत्री में रहता था और वह साधु भी उसी का दान ग्रहण कर भक्षण करता था। इस आचरण से वह अपने किये पर पछताने लगा, कि मैं मनुष्यों का भोजन करता हूँ,

यह बहुत बड़ा पाप कर रहा हूँ—तब उसने यह निश्चय किया कि अब से मैं मूर्ख मनुष्य को भक्षण करूँगा और उत्तम पुरुष को नहीं। ऐसा निश्चयकर क्षुधातुर हो एक समय रात्रि को घर से निकला और एक वीर राजा जो यात्रा के लिए निकला था उससे उसका साक्षात् हो गया और ऐसा कहकर कि तुझे खाऊँगा खड़ा हो गया। राजा ने कहा यदि तू मेरे पास अन्याय करने के विचार से आयेगा तो तुझे मार गिराऊँगा। वैताल ने कहा कि मैं तुम से कदापि नहीं डर सकता। यदि ऐसा ही है तो मैं अज्ञानियों का भक्षण करता हूँ, यदि तू मेरे प्रश्नों का उत्तर दे तो तुझे नहीं खाऊँगा। मेरा पहला प्रश्न यह है कि जिसमें ब्रह्माण्ड रूपी अणु है वह सूर्य कौन है? दूसरा, जिस पवन में आकाशरूपी अणु उड़ते हैं वह पवन कौन है? तीसरा जिसमें केले के वृक्षवत् और कुछ नहीं निकलता वह वृक्ष क्या है? और चौथा प्रश्न यह है कि वह पुरुष कौन है जो स्वप्न में स्वप्न और फिर उसमें और स्वप्न देखता है और उसमें रहते हुए भी उस परिणाम को नहीं प्राप्त होता? इन प्रश्नों का यदि तुम यथोचित उत्तर न दोगे तो मैं तुम्हें अवश्य ही खा जाऊँगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

इकहत्तरवां सर्ग

राजा-वैताल-सम्वाद वर्णन

राजा ने कहा—हे वैताल! सुन, एक मिरच ब्रह्म रूप है और उसमें यह सत्पद आत्म चैतन्य तीक्ष्णता है और ऐसी मिरचों की अनेक डालियाँ एक वृक्ष में और ऐसे अनेक वृक्ष एक जङ्गल में और एक शिखिर पर अनेक जङ्गल पाये जाते हैं और ऐसे सहस्र शिखर एक पर्वत पर और अनेक पर्वत एक नगर में हैं और ऐसे अनेक सहस्र नगर और द्वीप में और ऐसे अनेक द्वीप इस पृथ्वी पर हैं ऐसी सहस्रों पृथ्वी एक अण्डे में हैं और ऐसे कई सहस्र अण्डे समुद्र की लहरें हैं और ऐसे अनेक

समुद्र एक समुद्र की लहरें हैं और ऐसे कई सहस्र समुद्र एक पुरुष के उदर में है और ऐसे कई पुरुषों की माला एक पुरुष के गले में पड़ी हुई हैं। ऐसे कई लाख कोटि सूर्य के अणु हैं जिस सूर्य से सर्वत्र प्रकाश हुआ है और जिसमें अनेक सृष्टि विद्यमान हैं, वह सूर्य आत्मा है। हे बैताल ! इस प्रकार तू सम्पूर्ण सृष्टि को जान। यदि तू इसे सत्य जानता है तो सब सृष्टियाँ सत्य हैं पर इस सृष्टिको तू स्वप्न जानता हो तो सभी सृष्टियाँ स्वप्न हैं। आत्मा अपने आप में स्थित है। इसमें कुछ भिन्नता और अणु नहीं है। अब तू और क्या जानना चाहता है ? आत्मा में ही आत्मपद है, तू उसी पद में स्थित हो। उसी सत्पद से सब सत्ता सङ्कल्प द्वारा उदय हुई है और सङ्कल्प के लय होने से सब लय भी हो जाती हैं। तूने जो यह प्रश्न किया कि वह कौन सूर्य है जिससे ब्रह्माण्डरूपी अणु होते हैं इसका उत्तर यह है कि, वह ब्रह्म सूर्य है। केले का वृत्त जो तूने पूछा था उसका उत्तर यह है कि केले की नाईं विश्व की आत्मा है। जैसे केले के भीतर शून्य आकाश ही निकलता है वैसे ही विश्व के भीतर इस आत्मा से भिन्न कुछ नहीं निकलता है जो अद्वैत है। उससे विपरीत द्वैत कुछ नहीं। उस ब्रह्म पवन में ही ब्रह्माण्ड के समूह उड़ते हैं पुनः वहीं स्वप्ने से स्वप्ना देखता है। पर वह एक अपने आप में ही स्थित है। चित्तकला फुरने से अनेक, ब्रह्माण्डों का भास होता है उसी को स्वप्न कहते हैं इसमें भी कुछ भिन्न नहीं। वह एक ही रूप रहता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल भी है। वह ऐसा स्थूल है कि उसमें मन्दराचल भी अणु के समान है और उसमें वाणी का गम नहीं, अपने आप में स्थित और इन्द्रियों से भी अगोचर है इसलिये वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। हे मूर्ख ! तू इतना भूख से व्याकुल क्यों है ? तू अद्वैत रूप आत्मा है और आनन्द रूप अपने आप में स्थित है। राजा के ऐसे उपदेश सुन वह बैताल वहाँ से चला और एकान्त में जा विचरने लगा कि ऐसे मृगतृष्णारूपी जलवत् व्यर्थ संसार से मुझे क्या आवश्यकता और

एकान्तवासी वनको ढूढ़कर ऐसे ध्यानमें स्थित हो सत् आत्मपद को प्राप्त हुआ। हे रामजी! उस आत्मा में ब्रह्माण्ड अणु की भाँति स्थित है इसलिए निर्विकल्प आत्मा में स्थित होकर इन्द्रियों को भी स्थिर करो।

श्री योगवशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का इकहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

भागीरथोपदेश प्रसङ्ग

इस प्रकार वैताल की कथा समाप्त कर वशिष्ठजी ने रामजी से कहा कि हे रामजी! अब में राजा भगीरथ की कथा कहता हूँ कि जिस प्रकार उसकी मूढ़ता का लोप हुआ और वह स्वस्थ चित्त होकर अपने पुरुषार्थ से स्वर्ग गङ्गा को इस भूगोल में ले आया, ध्यान देकर सुनो? राजा भगीरथ बड़ा ही उदार था। उसने पास अपनी अर्थ सिद्धि के लिए जो कोई आता वह उसके सङ्कल्प को अवश्य पूर्ण करता। यही कारण था कि वह सबको हृदय से प्रिय था जहाँ उसमें मयत्री के यह उच्च भाव थे वहाँ वह शत्रु विजयी भी ऐसा था कि कैसा ही प्रबल शत्रु क्यों न हो उसके समक्ष वह मस्तक ऊँचा न कर सकता। उसके निकट न कोई सुख था न कोई दुःख था, आशय यह कि वह सुख दुःख में सदा समभाव में स्थित रहता था। वशिष्ठजी ऐसा कह ही रहे थे कि रामजी ने पूछा हे भगवन्! भगीरथ ने मनमें क्या आया कि वह गङ्गा को ले आया। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि हे रामजी! भगीरथ धर्म वृत्ति का पुरुष था। एक बार उसने अपनी प्रजा में देखा कि अधर्म की वृद्धि हो रही है तब वह किस प्रकार दूर हो। उसने उन मूर्खों का जो पाप-कर्म में रहते थे, उद्धार करने के लिए गङ्गा को लाने का विचार स्थिर किया। ऐसा विचार स्थिर कर वह ब्रह्मा, रुद्र और यत्न ऋषियों का आराधना कर तप करने लगा। हे रामजी! इसके पूर्व अगस्त्यजी समुद्र को सोख चुके थे, गङ्गा के आने से समुद्र का बड़ा उपकार हुआ। उस समय गङ्गा के दो प्रवाह चलते थे, एक तो आकाश में और

दूसरा पाताल है। किन्तु परम पुरुषार्थी राजा भगीरथ ने गङ्गा का तीसरा प्रवाह भूलोक में भी चला दिया क्यों न हो वैरागी और विचारवान् पुरुष के लिये कुछ दुर्लभ नहीं है। यद्यपि उस समय भगीरथ की युवावस्था थी जिस अवस्था में वैराग्य का आना और वैसा विचार उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन है किन्तु धन्यवाद है उसको कि उसे यौवनावस्था में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ और वह घर से निकल पड़ा। घर से चलकर वह अपने गुरु त्रितल ऋषि के पास पहुँचा। ऋषिजी का दर्शन कर भगीरथ ने पूछा कि हे भगवन्! क्या ऐसा भी कोई सुख है जिसको पा जाने से जरा और मरण का दुःख निवृत्त हो जावे? क्योंकि संसार के समस्त सुख तो भीतर से शून्य हैं पर इनका परिणाम दुःख ही दुःख है। यदि आप कृपाकर ऐसा कुछ बतला सकें तो मेरी प्रीति के लिए बतलाइये। त्रितल ऋषि ने कहा हे राजन्! यदि तुम जानने योग्य 'ज्ञेय' अर्थात् आत्मज्ञान को जान जावो तो अवश्यमेव शान्तपद को प्राप्त होवोगे। हे राजन्! यह जरा मरण तो तभी तक भासता है जब तक ज्ञान रूपी सूर्य का उदय नहीं होता, ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर तो अज्ञान का ऐसा लोप हो जाता है कि पता नहीं चलता कि वह कहाँ गया। वह आत्मानन्द सर्वज्ञ और उदय अस्त से रहित अपने आप में ही स्थित है। उसका साक्षात्कार होने पर चित्त की जड़ ग्रन्थि टूट जाती है और अभिमान करने वाली अनात्म इन्द्रियाँ भी निवृत्त हो जाती हैं। उसके सारे कर्म निवृत्त हो जाते हैं और समस्त संशयों का क्षय हो जाता है कारण कि तब वह अपने शुद्ध स्वरूप को पाकर ज्ञान में स्थित हो जाता है और वह जिसमें स्थित होता है वह सत्ता सर्वगत नित्य स्थित और उदय अस्त से रहित है। यह सुनकर भगीरथ ने कहा—हे भगवन्! जानने को तो मैं यह सब जानता हूँ पर मुझे शान्ति नहीं प्राप्ति होती अतः कृपाकर मुझे ऐसी युक्ति बतलाइये कि मैं उस चिन्मात्र आत्मा में स्थित होऊँ। त्रितल ऋषि ने कहा—अच्छा अब मैं तुमको एक

ज्ञान सुनाता हूँ कि जिसको जान लेने पर तुम्हारे दुःख दूर हो जायेंगे और तुम्हें ज्ञेय में निष्ठा होगी। फिर जो तुम्हारा जीवभाव नष्ट हो जायगा और तुम सर्वात्मारूप हो स्थित होवोगे पर ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिये तुम्हें यत्न करना पड़ेगा। वह यत्न भी क्या तुम्हें इन्द्रियों में अभिमान न करके कौटुम्बिक दुःख से अपने को वञ्चित रखना होगा और सर्वदा इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में एक रस रहकर चित्त वृत्तियों को रोक तथा एकान्तसेवी बन आत्मचिन्तन करना होगा इसके साथ ही तुम्हें कुसङ्गों का परित्याग और सर्वदा ब्रह्म-विद्या का विचार करना होगा। इस प्रकार तुम्हें तत्व ज्ञान का दर्शन हो जायगा। इसके विपरीत जाना अज्ञानता है। हे राजन्! ज्ञेय को जानने के लिये यह बहुत सुन्दर युक्ति मैंने तुमसे कही है। यदि तुम इसका आचरण करोगे तो तुम्हें शान्त पद अवश्य प्राप्त होगा। हे राजन्! अहं एक है और दूसरा मम। यह दोनों ही इस जीव के प्रबल शत्रु हैं। जब तुम इसका त्याग करोगे तब वह सर्व आत्मा जो सबको प्रकाश देने वाले आनन्दरूप और स्वयं संसार के आनन्द से रहित है उसका भास होगा। हे रामजी! जब इस प्रकार गुरुवर त्रितलऋषि ने कहा तब राजा भागीरथ ने कहा—हे भगवन्! इस अहङ्कार का और मेरा तो बहुत चिरकाल का सम्बन्ध है भला यह क्यों कर साथ छोड़ेगा तब ऋषि ने कहा हे राजन्! चाहे कैसा भी चिरकाल का सम्बन्ध क्यों न हो पुरुष के प्रयत्न से अहङ्कार निवृत्त अवश्य हो जाता है। वह पुरुष-प्रयत्न क्या है, सुनो? भोगों में दृष्टि और उसकी वासनाओं से अपने को वञ्चित रखने और बार-म्बार स्वरूप की भावना अर्थात् विचार करने को ही पुरुष प्रयत्न कहते हैं। ऐसा करने से तुम्हारा जीव-अहङ्कार निवृत्त हो जावेगा। इसके निवृत्त होने पर तुम को सर्वात्मा ही भासित होगा और शान्ति रूप का ऐसा प्रकाश होगा कि तुम सदैव के लिये दुःख से रहित हो जाओगे, पर जब तक यह अहं और मम बना है तब तक उस आत्मा पद की प्राप्ति दुर्लभ है राज्य लेकर क्या करोगे तुम्हारे शत्रुओं को

जिन्हें तुम्हारा राज्य लेने की इच्छा है उनको अपना राज्य दे डालो और तुम क्षोभ से रहित होकर स्त्री, पुत्र और बन्धु-बान्धव के मोह से रहित हो जाओ। देखो मेरा भी मोह न करना और एकान्त देश में स्थित हो अपने शत्रुओं के द्वार पर कि जो तुझे भला कहने की इच्छा नहीं रखते जा-जाकर भिक्षा माँग। अब उठ यहाँ से चलदे।

श्री योगवशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का बहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७२ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

निर्वाण–वर्णन

हे रामजी! त्रितल ऋषि के ऐसे उपदेश को सुनकर राजा भगीरथ वहाँ उठ खड़ा हुआ और गुरु को दण्ड प्रणाम कर अपने राज्य में पहुँच गुरू के उपदेश को हृदय में धारण कर राज्य करने लगा। राज्य करते हुए जब उसे कुछ दिन व्यतीत हुआ तब उसने अग्निष्टोम यज्ञ करना आरम्भ किया। अग्निष्टोम वह यज्ञ है कि जिसमें तीन दिन में धन का त्याग कर दिया जाय इस यज्ञ को आरम्भ कर राजा भागीरथ ने अपने समस्त हाथी घोड़े रथ भूषण और वस्त्र इत्यादि जितने ऐश्वर्य थे सब ब्राह्मण, अर्थी पुत्र, स्त्री और शत्रुओं को बाँट दिया। फिर क्या कहना था एक सुयोग्य अवसर शत्रुओं को हाथ लगा और इन्होंने राजा भगीरथ को निर्बल जान उनके नगर को घेर लिया यहाँ तक कि राजा की हवेली और वास स्थान को भी रोक लिया। अब राजा के पास केवल एक धोती और एक अंगोछा ही शेष रहा। तब वहाँ से निकल जङ्गलों में जा विचरने लगे इस प्रकार कुछ दिनों तक शान्तपद आत्मा में स्थित हो वनों में विचर चुके तब अपने देश में आकर शत्रुओं के द्वार पर जा-जाकर भिक्षा माँगने लगे। उनकी इस अवस्था को देख शत्रुओं का भाव बदल गया और सब उनकी पूजा करने लगे और कहने लगे– भगवन्! अब अपना राज ले लीजिये पर भगीरथ ने उसे तृण के समान जान नहीं ग्रहण

किया और वहाँ कुछ दिन रहकर भगीरथ अपने गुरु त्रितल ऋषि के पास आये। गुरु ने शिष्य को और शिष्य ने गुरु को आत्म तत्व से ग्रहण किया। फिर तो गुरु और शिष्य दोनों वनों में विचरने लगे। दोनों ही रागद्वेष से रहित और आत्म पद में स्थित थे, इससे उन्हें न तो शरीर रखने की इच्छा थी और न शरीर जाने की। वे केवल इच्छा रहित प्रारब्ध में स्थित थे। गुरु और शिष्य की इस अवस्था ने भूतल ही क्या स्वर्ग लोक तक में कोलाहल मचा दिया फिर तो सिद्धों ने आकर उनकी पूजा की और बहुत सा ऐश्वर्य भेंट दिया। यही क्या बहुत सी अप्सरायें भी ऐश्वर्य और भोग के पदार्थ लिये उनके पास आईं पर उन्होंने आत्म सुख के समक्ष इन्हें तुच्छ जाना। हे रामजी! तुम राजा भगीरथ के समान ही आत्मपद में स्थित होवो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तिहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

चौहत्तरवां सर्ग

भगीरथ उपाख्यान समाप्ति-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! इस प्रकार वहाँ कुछ समय व्यतीत कर राजा भगीरथ देशाटन करने चले तो एक ऐसे नगर में पहुँचे कि जहाँ का राजा मर गया था और वहाँ की लक्ष्मी एक राजा की इच्छा करती थी। उस नगर में पहुँच कर भगीरथ अपनी भिक्षुवृत्ति धारण कर भिक्षा माँगने लगे। वह भिक्षा माँग ही रहे थे कि मृतक राजा के मन्त्री की दृष्टि भगीरथ पर पड़ी। उसने भगीरथ में राज लक्षणों को पाकर कहा-भगवन्! हमारा राज्य नृपति शून्य है, अतः अच्छा हो कि आप इस राज्य को अङ्गीकार करें और इसमें आपको कोई हानि भी नहीं है, क्योंकि यह आपको अनिच्छित प्राप्त हुआ है। इस पर भगीरथ ने उस राज्य को ग्रहण कर लिया। राज्य को ग्रहण करना ही था कि नगाड़े बजने लगे सेना पूर्ण होकर कौतूहल शब्द करने लगी, रनिवास की स्त्रियाँ भी भगीरथ के पास जा स्थित हुईं। इधर तो यह हो रहा था और उधर राजा

भगीरथ अपने जिस राज्य को शत्रुओं को देकर आये थे उस देश के मन्त्री और प्रजागण भगीरथ के पास आकर विनय पूर्वक बोले कि महाराज ! आप अपने जिस राज्य को शत्रुओं में बाँट आये थे वे सभी काल कवलित हो गये अतः आप चलकर अपने राज्य को ग्रहण कीजिये। हम सभी यह जानते हैं कि आपको राज्य की इच्छा नहीं है, पर तो भी आप राज्य कीजिये। कारण कि अनिच्छित वस्तु का त्याग करना उचित नहीं है। यह सिद्धान्त भगीरथ को भी मान्य था जिससे उन्होंने उस राज्य को भी अपना लिया। अब भगीरथ दो राज्यों के राजा हुए। एक दिन राजा भगीरथ यह विचार करने लगे कि मेरे पिता कपिल मुनि के शाप से भस्म हो कूप में पड़े हैं उनका उद्धार कैसे होगा ? तब कुछ क्षण के पश्चात् उन्होंने यह निश्चय किया कि इसके लिये भी तप करना चाहिये। तब वह एक स्थान में स्थित होकर गङ्गा को लाने के लिये भी तप करने और ब्रह्मा, शिव, यक्ष और ऋषियों की आराधना करने लगे। इस प्रकार जब तप करते करते सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये, तब विष्णु भगवान् के चरण कमलों से प्रकट हुई गङ्गा उन्हें प्राप्त हुई और वे पितरों का उद्धार करने के लिये गङ्गा के प्रवाह को साथ ले समुचित और शान्त रूप में स्थित हो विचरने लगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७४॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

शिखिरध्वज-चुड़ालोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! अब भगीरथ की कथा के समान ही एक और आख्यान सुनो। पूर्वकाल में एक शिखरध्वज नाम का राजा राज्य करता था। वह भी भगीरथ के समान ही शूरवीर और धन एश्वर्य सम्पन्न तथा उदार और धैर्यवान् था। वह सदैव शान्तपद में स्थित रह सर्व दुःखों से मुक्त हो किसी पर अन्याय न करता और उसके पास जो

कोई अपना अर्थ सिद्ध करने आता है वह उसे निराश न करता था। वशिष्ठजी ऐसा कह ही रहे थे कि रामजी ने कहा—हे भगवन्! यह वृत्ति तो ज्ञानियों की है, भला इस वृत्ति वाला राजा शिखरध्वज अब जन्म क्यों लेगा, ज्ञानी तो फिर जन्म नहीं पाता? वशिष्ठजी कहने लगे हे राघव! यह तो ठीक है पर जैसे एक ही समुद्र में तरंगें उठती हैं और उनमें कोई आधी कोई पूरी और कितनी ही विलक्षण रूप की होती हैं, किन्तु उनकी चेष्टा और स्वरूप एक ही समान होते हैं, वैसे ही आत्म समुद्र में कितने ही विलक्षण स्वरूपों का स्फुरण होता है। हे रामजी! इसी नियम से जब द्वापर युग की सब मन्वन्तर और चार चौकड़ियाँ व्यतीत होंगी तब मालव देश में एक इसी नियम का राजा उत्पन्न होगा पर यह शिखरध्वज न होगा वह दूसरा होगा। अब इस शिखरध्वज का कुछ चरित्र सुनो। जब वह सोलह वर्ष का राजकुमार था तब एक बार आखेट को जाने लगा उस समय अपनी फुलवारी का दृश्य देखते हुए टहल रहा था कि उसकी दृष्टि एक भँवरे और भँवरी पर पड़ी कि जो कमल पुष्प में केलि लीला कर रहे थे। उस लीला को देख शिखरध्वज को यह विचार आया कि मुझे भी स्त्री की प्राप्ति हो, इस विचार के उठते ही वह स्त्री की प्राप्ति और उसके साथ पुष्प शैया पर शयन करने के लिए उत्कण्ठित और चिन्तित हो गया उसकी इस चिन्ता का प्रकाश राजमन्त्रियों पर पड़ा और वे जान गये कि हमारे राजा को स्त्री की आवश्यकता है, अस्तु अब राजा का विवाह कर देना चाहिये। निदान एक राजकन्या के साथ उसका विवाह हो गया। विवाह हो जाने से शिखरध्वज बहुत प्रसन्न रहने लगा। राजा की स्त्री बहुत सुन्दर थी इससे वह उसको बहुत प्यार करता था और वह भी राजा से स्नेह करती थी। राजा के हृदय में जब किसी बात की चिन्ता उठती तो वह उस बात को सबसे पहले अपनी रानी से कहता था, आशय यह कि जैसे भँवरी और भौंरे में प्रेम था वैसा ही प्रेम राजा और रानी में था। जब इस प्रकार विलास करते कुछ दिन व्यतीत होगये तब राजा अपना

सारा राज्य मन्त्रियों को सौंपकर रानी सहित बन को चला गया और वहाँ नाना प्रकार की चेष्टा करते हुए दोनों शिव और पार्वती के समान विचरने लगे। तत्पश्चात् उस विचरण में राजा ने योग-क्रिया सीखना आरम्भ किया। रानी चुड़ाला की बुद्धि बड़ी तीव्र थी इससे वह सब बातें शीघ्र ही समझकर राजा को सिखाती थी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का पिचहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७५॥

छिहत्तरवां सर्ग

चुड़ाला प्रबोध वर्णन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! इस प्रकार अनन्त भोगों को भोगते हुए राजा की यौवनावस्था व्यतीत होकर वृद्धावस्था आ गई। तब दोनों राजा-रानी को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे यह विचारने लगे कि यह संसार मिथ्या है और इसके भोगी भी असत्य और क्षण-स्थाई हैं। हम लोगों ने यद्यपि इतना काल भोग-विलास में व्यतीत किया किन्तु यह तृष्णा पूरी नहीं हुई। हे रामजी ! जैसे हाथ पर का जल बह जाता है उसी प्रकार आयुर्बल भी घटते-घटते लुप्त हो जाता है। जहाँ चित्त की वासना रहती है वहाँ दुःख भी रहता है। जैसे चील पक्षी अपने अज्ञान के वश मांस के पीछे २ दौड़ता है उसी प्रकार अज्ञानता के साथ दुःख भी दौड़ा करता है आशय यह है कि जहाँ अज्ञानता रहती है वहाँ दुःख भी अवश्य रहता है। जिस प्रकार आमकी डाल से पका हुआ फल पृथ्वी पर गिर पड़ता है वही दशा इस शरीर की भी है। तब किस प्रकार इस संसाररूपी चिन्ता से निवृत्त हों ऐसा विचार कर राजा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये ब्रह्मज्ञानियों की सेवा में गये। वहाँ पहुँचकर राजा और रानी ने उनकी पूजा की पुनः उनसे ब्रह्मज्ञान सुनने लगे। ज्ञानियों से बतलाया कि आत्मा शुद्ध, आत्मारूप, चैतन्य और एक है, उसकी प्राप्ति से सर्व :दुःख निवृत्त हो जाते हैं। हे रामजी ! तब रानी चुड़ाला इस विचार में पड़ी कि यह संसार क्या है और संसार की उत्पत्ति किससे है। जब

गया वह निरन्तर विचार करने लगी तब उसे ज्ञान हुआ कि यह पञ्चभौतिक शरीर और समस्त इन्द्रियाँ जड़ हैं। यह इन्द्रियाँ तो यहाँ तक जड़ हैं कि बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के कुछ चेष्टा नहीं कर सकतीं। फिर ज्ञानेन्द्रियाँ भी तो जड़ हैं, किन्तु मैं इस सबसे परे हूँ। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार जो कुछ भी हैं सब मुझसे भिन्न और जड़ हैं। मैं जीव भी नहीं हूँ क्योंकि जीव में फुरना होता है और मैं सर्वदा फुरण से रहित और उदयरूप अविनाशी, अनन्त और आत्मा हूँ। मुझमें रागद्वेषरूपी ताप नहीं है। मैं निर्मल और अहं त्वं से रहित चिन्मात्र पद हूँ। मुझमें चित्त नहीं है, मैं सदा अचल और अद्वैत हूँ। इसी पद को तो ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म और परमात्म चेतन कहते हैं। यह आत्मा ही तो मन, बुद्धि आदि दृश्यों सहित संसाररूप होकर फैला हुआ है। पर खेद है कि अज्ञानी इस गन्धर्व नगर को भी सत्य जानते हैं। किन्तु अब मैंने जान लिया कि मैं एक रस हूँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७४॥

सतहत्तरवां सर्ग

अग्नि, सोम विचारयोग वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! ऐसा निश्चय कर चुड़ाला भोग वासनाओं से निवृत्त होकर जानने योग्य शान्तपद को पाकर अब सुशोभित हुई और बारम्बार यह कहती हुई प्रसन्न होने लगी कि हाय अब तक मैं अपने स्वरूप से गिरी हुई थी और अब मुझे शान्ति प्राप्त हुई और मेरे सारे दुःख नष्ट हो गये। ऐसा विचार कर एकान्त में जाकर समाधि लगा बैठ गई। फिर तो उसे वह आनन्द प्राप्त हुआ कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी आनन्द निमग्नता को देखकर राजा शिखध्वज को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने रानी के पास जाकर कहा-हे अनघे! तुझे ऐसा क्या आनंद प्राप्त हुआ कि तू अब फिर युवावस्था को प्राप्त हो गई। क्या तुझे

ऐसा कोई अमृतसर तो नहीं प्राप्त हो गया कि तू उसे पान कर अमर हो गई अथवा तुझे किसी योगीश्वर ने उस कला को बतला दिया कि जिसे जानकर तू ऐसी हो गई है। तेरे चित्त को देखकर तो ऐसा जान पड़ता है कि तुझे त्रिलोकी के राज्य से भी कोई अधिक सुख प्राप्त हो गया है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल दीख पड़ता है वैसे ही अब तेरे श्वेत केश भी मुझे बहुत सुन्दर दीख पड़ते हैं, अतः तू मुझे बतला कि तुझे ऐसी कौनसी वस्तु प्राप्त हो गई है। चुड़ाला ने कहा—हे राजन्! आप जो कुछ देख रहे हैं सब में किञ्चनता है पर मैं निष्किञ्चन पद को प्राप्त कर श्रीमान् और शान्त रूप हुई हूँ। भोग पदार्थों को नहीं, मैं अभोग भोगों को भोग कर तृप्त हुई हूँ। भाव यह कि आत्मज्ञान को पाकर अब मुझे आत्मा में विश्राम मिला है इसी से मैं सदैव शान्तिरूप और श्रीमान् हूँ। हे राजन्! इस प्रकार अब मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ। अब मैं वहाँ स्थित हूँ कि जहाँ मन और इन्द्रियाँ नहीं जा सकतीं और जहाँ अहंकार का भी उत्थान नहीं है, मैं ऐसे पद को प्राप्त हुई हूँ, क्योंकि वह पद अमृतपद और सबका आत्मा है। अब न तो मेरा नाश होगा और न मुझे कोई भय है। रानी के ऐसा कहने पर राजा शिखरध्वज हँसकर बोला कि—हे मूर्ख रानी! यह तू क्या कहती है तेरा यह कहना कि जो सत्य है वह असत्य है, कौन मानेगा? ऐसा कहने वाला कि मैं ऐश्वर्यों को त्यागकर श्रीमान् हुई हूँ शोभा नहीं पा सकता- तू कहती है कि मैं ईश्वर हूँ और अभोग भोग को मैंने भोगा है यह तेरी कैसी मूर्खता है। पर अच्छा यदि तू इसी में प्रसन्न है तो ऐसा ही विचार किन्तु यह बातें तुझे शोभा नहीं देतीं और तेरे ऐसे कथन को कोई सत्य नहीं मानेगा। ऐसा कहकर राजा उठ खड़ा हुआ और दोपहर काल आ जाने से वह स्नान करने चला गया। इधर रानी के मन में यह चिन्ता हुई कि मेरा राजा तो आत्मपद में स्थित न हुआ। यदि उसे इस पद की प्राप्ति हुई होती तो वह मेरी बातों को अवश्य समझता। इस बातको मनमें रखकर वह पुनः अपने आचार में लगी और राजा

पर अपने निश्चय का प्रकाश न होने दिया। एक समय रानी के मन में यह आया कि मैं प्राणों को ऊपर चढ़ा और अपान को वश कर आकाश और पाताल दोनों स्थानों में पहुँचूं तो बड़ा अच्छा हो ऐसा विचार कर रानी योग में स्थित हो प्राणायाम करने लगी। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने ऐसा पूछा कि—हे भगवन्! यह संसार जो सङ्कल्प से उत्पन्न हुआ है और इस स्थावर-जङ्गम संसार वृक्ष का बीज भी सङ्कल्प ही है तो प्राणायाम कौनसा ऐसा पवन है कि जिससे वह नीचे और ऊपर उड़कर जाता है, कृपाकर यह मुझे समझाइये। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! सिद्धियाँ तीन प्रकार की होती हैं। एक सिद्धि का नाम उपादेय है। यह वस्तु मुझे प्राप्त हो जावे, इसका नाम उपादेय सिद्धि है। इसके लिए अज्ञानी यत्न करते हैं। दूसरी सिद्धि यह है कि मेरा अमुक दुःख निवृत्त हो जावे और मैं सुखी हो जाऊँ। पर ऐसी चिन्ता वे करते हैं कि जो महा अज्ञानी हैं। मैं यह कर्म करता हूँ इसका फल मुझे मिले यह तीसरी सिद्धि है पर ऐसा विचार करने वाला भी अज्ञानी ही है पर ज्ञानी का निश्चय ऐसा नहीं होता। वह अपने को कर्त्ता और भोक्ता नहीं मानता। हे रामजी! अब योग द्वारा जिस प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उसको सुनो। देखो इस शरीर में कई चक्र हैं। एक नाभिके नीचे है जिसका नाम है मूलाधार चक्र। उस मूलाधार में सर्पिणी के समान कुण्डल मारकर एक कुण्डलिनी शक्ति बैठी है कि जिसका विषय जानना है और जिसके ही कारण से समस्त नाड़ियाँ समष्टि नहीं हो पाती है। जब उस कुण्डलिनी को योग क्रिया द्वारा जगाया जाता है तब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और आत्मा का साक्षात्कार होता है। ऐसी सिद्धि को प्राप्त करने वाला मुखमें गुटका रखके जहां चाहे वहाँ जा सकता है और नेत्रों में अंजन डालके जिसको देखा चाहे उसको देख लेता है। सारांश कि तब देश, काल, क्रिया और वस्तु सब उसके आधीन हो जाती हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी को भी वश कर लेना उसके लिए

सहज है, यह सुनकर रामजी ने कहा–हे भगवन्! आत्मा तो देश, काल, वस्तु से रहित है फिर उस कुण्डलिनी शक्ति से उसका प्रगट होना कहां तक ठीक है। वशिष्ठजी ने कहा कि हे रामजी! यह तो तुम जानते ही हो कि ब्रह्मसत्ता सर्वत्र है तब सात्विक गुण से उसका प्रगट होना क्या आश्चर्य है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल और थल में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है वैसे ही सब विद्यमान आत्मा सात्विक गुणों में दिखलाई पड़ता है। अच्छा अब इसकी पूर्ण व्याख्या सुनो। हे रामजी! कुण्डलिनी शक्ति से ही समस्त नाड़ियाँ उदय होती हैं। जब यह जीव प्राणवायु को उस शक्ति में स्थिर करता है तब जैसे राजा की सारी सेना उसके वश होती है वैसे ही सब शक्तियां प्राण के वश हो जाती हैं। पर जब तक प्राणवायु वश नहीं होती तब तक आधि व्याधि रोग उत्पन्न होते हैं। इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! आधि-व्याधि रोग क्या हैं? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि मन की पीड़ा आधि रोग है और शरीर का दुःख व्याधि रोग है। आधि की उत्पत्ति तब होती है जब सङ्कल्प होता है कि अमुक सुख मुझे प्राप्त हो पर वह पदार्थ उसे नहीं प्राप्त हुआ तब उसके लिये चिन्ता करके जो दुःख प्राप्त होता है उसका नाम आधि है और जब शरीर में वात, पित्त, कफ आदि का विकार उत्पन्न हो उससे जो दुःख प्राप्त होता है उसका नाम व्याधि है। किन्तु ज्ञानी को व्याधियां नहीं होतीं। हे रामजी! ज्ञान का प्रसङ्ग पीछे पड़ जाता है। इस कारण मैंने योग की कला को तुमसे विस्तार पूर्वक नहीं कहा है। योग की जितनी क्रियायें हैं वे सब मुझे ज्ञात हैं पर यह क्रियायें ज्ञानमार्ग को रोकती हैं अतः अब अपने प्रसङ्ग पर आओ। हे रामजी! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और क्षीण यह चार प्रकार की वासनायें होती हैं उनमें सुषुप्ति वासना स्थावर योनि को, स्वप्न वासना त्रिपति योनि को और जाग्रति वासना मनुष्य और देवतादिकों को होती है। किन्तु क्षीण वासना ज्ञानी की है। कारण कि यह वास-

नाओं की मत्यना को नष्टकर चुका है और उसके लिये संसार कुछ नहीं है। इससे तुम भी वासनाओं का त्याग करो। क्योंकि वासना ही संसार रूप वृक्षका बीज है जैसे सूर्यके उदय होने पर रात्रि का अंधकार दूर हो जाता है वैसे ही ज्ञानरूपी सूर्य के होने पर संसाररूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है अन्यथा मन से उत्पन्न होने वाले आधि व्याधि रोग बड़े दुःख दाई हैं। रामजी ने कहा—भगवन्! आधि रोग तो मनसे होता है और व्याधि तो शरीर का रोग है फिर यह मनसे कैसे होता है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी व्याधि दो प्रकार की होती है, एक लघु और दूसरी दीर्घ। शारीरिक दुःख लघु है जो स्नान और जप से शान्ति हो जाती है। किन्तु दीर्घ व्याधि जन्म-मरणका रोग है और यह दीर्घ रोग मनके शांत हुए बिना निवृत्त नहीं होता। इससे यह दोनों ही मनसे उत्पन्न होते हैं। रामजीने फिर पूछा कि—हे भगवन्! व्याधिकी उत्पत्ति मनसे कैसे होती है वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! चित्त के अशांत होने से दोनों व्याधियां उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें उदान और अपान वायुका संचालन हर समय होता रहता है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उसको पृथक्करने मिलीहुई कुण्डलिनी शक्ति उदान वायुमे ऊर्ध्वमुख और अपानवायुसे अधः को जाती है तब आपसमें विरोध होने के कारण दोनों वायु संघर्षण करके क्षोभवान होजाती हैं। उस क्षोभसे अग्नि उठकर हृदयरूपी कमलमें स्थित होती है। तब वह प्राणी के उस भोजन को जो वह बाहर की अग्नि से पकाकर खा चुका है उसको वह हृदय कमल में स्थित अग्नि फिर पकाती है, तब उससे जो रस बनता है उसको सब नाड़ियां अपने२ भागमें ले जाती हैं। वीर्य बनाने वाली वीर्यको और रक्तबनाली रक्तको बनाकर रखती है किंतु जब राग और द्वेषसे चित्त और कुण्डलिनी शक्ति क्षोभ को प्राप्त होती है तब नाड़ियां अपने-अपने स्थानों को त्याग देती हैं जिससे भोजन किया हुआ पदार्थ पकने नहीं पाता और उस कच्चे रस से रोग उठ खड़े होते हैं। इस प्रकार जब इन्द्रियों का राजा मन क्षोभमान होता है और उसे शान्ति नहीं प्राप्त होती तब रोग उत्पन्न

होते हैं। पर जब मन शान्त होता है तब नाड़ियाँ अपने २ स्थानों में स्थित होकर कोई रोग नहीं उत्पन्न होने देतीं। इससे हे रामजी! आधि-व्याधि रोग तब होते हैं जब मनुष्य का चित्त वासनायुक्त होता है। वासना रहित चित्त शान्त होता है और उसमें कोई रोग नहीं उत्पन्न होता है। अतः तुम वासना रहित पदमें स्थित होवो। इतनी कथा सुनकर रामजी ने कहा—हे भगवन्! उधर आपने यह कहा था कि मन्त्रों के जाप से भी रोग निवृत होते हैं सो यह कैसे? वशिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो! जब प्रथमावस्था में मनुष्य को श्रद्धा उत्पन्न होती है तब वह दान आदिक पुण्य क्रियाओं को करके सन्त सङ्गति प्राप्त करता है और उनसे य, र, ल, व, आदिक अक्षरों को प्राप्त कर कि जिनसे ही जाप मन्त्र बनते हैं उनका जाप करते हैं जिससे कि व्याधि रोग निवृत्त हो जाता है। परन्तु योगीश्वरों का यह क्रम नहीं है। उनका क्रम अणु और स्थूल है। योगी प्राण और अपान वायु को कुण्डलिनी शक्ति में स्थित कर अपने वश में करने का अभ्यास करते हैं। इस प्रकार के अभ्यास द्वारा जब वह वायु को स्थित करके कुण्डलिनी और सुषुमणा में प्रवेश करता है तब वह ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है। जब अभ्यासी वहाँ एक मुहूर्त तक स्थित होने लग जाता है तब वह आकाश में आये हुये सिद्धों को देखता है। रामजी ने पूछा कि—हे भगवन्! ब्रह्मरन्ध्र में जीव कला के स्थित होने पर कैसे दर्शन होता है क्योंकि दर्शन तो नेत्रों से होता है और वहां तो नेत्रादिक इन्द्रियां कोई नहीं रहतीं फिर नेत्रों के बिना दर्शन कैसे होता है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! वह दर्शन दिव्यदृष्टि से होता है चर्मदृष्टि से नहीं। उदाहरण यह कि जैसे स्वप्न में बिना चर्मनेत्र के ही सब पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वैसे ही आकाश में सिद्धों का दर्शन होता है। हां स्वप्नावस्था और इस अवस्था के देखने में यह अन्तर अवश्य होता है कि स्वप्न के पदार्थ जाग्रत अवस्था में नहीं भासते और न उनसे कुछ अर्थ ही

सिद्ध होता है। पर सिद्धोंके समागमकी अवस्था जाग्रतमें भी स्थित रहती है। जब रेचक प्राणका अभ्यास किया जाता है और जब मुखके बाहर जहाँ बारह अंगुल पर अपानका स्थान है जब वहाँ प्राण देरतक ठहरता है तब दिशा और नगरोंके स्थानोंका दर्शन होता है। इस पर रामजी ने पूछा कि-हे मुनीश्वर! आपने कहा है कि सूक्ष्म रन्ध्रसे वायु निकल जाती है तो कैसे? वायु स्थूल रूप है फिर कैसे निकल जाती है? वशिष्ठ जीने उत्तर दिया कि-हे रामजी! जैसे आरे से कटी हुई दो लकड़ियोंको घिसा जाय तो उसमें से अग्निका प्रगट होना स्वाभाविक है वैसेही उदरमें जो मांसमय कमल है और उसके बीचमें जो हृदय कमल है उसमें सूर्य और चन्द्रमा दोनों का वास है। उसमें चन्द्रमा की गति अधः को है और सूर्य की उर्द्ध को है। इन दोनों के ही मध्य में कुण्डलिनी रहती है। उसका रूप अत्यन्त उज्वल है और उसमें सांय-सांय शब्द निकला करता है। जैसे लाठी से हिलाने पर सर्पिणी शब्द करती है वैसेही उस कुण्डलिनी से प्रणव शब्द उठता है। हे रामजी! इस प्रकार की जो स्पन्द सर्पिणी कुण्डलिनी शक्ति आकाश और पृथ्वीरूप दो कमलों के मध्यमें स्थित है वह अनुभवरूप और सूर्य के समान अत्यन्त प्रकाश करनेवाली, सबका अधिष्ठान, आदि शक्ति और हृदयरूपी कमलकी भ्रमरी है वह सदा हृदय कमलमें विराजमान रहती है और स्वभावतः उसमें से कोमल और मृदु वायु निकला करती है। एक प्राण और दूसरा अपान यह उस वायु के दो रूप हैं। इन्हीं दोनों के संघर्षण से जैसे बाँसों के घिसने से अग्नि प्रकट होती है वैसे ही उससे अग्नि प्रकट होकर भीतर सब ओरसे प्रकाश होता है। वह प्रकाश ज्ञानरूप है और उसी तेज से योगी की वृत्ति तेजवान होजाती है। फिर तो चाहे कोई पदार्थ लक्ष योजन की दूरी पर क्यों न हो योगी को उसका ज्ञान होजाता है। जैसे बड़वाग्नि समुद्र में रहती है और जलको ही दग्ध करती है वैसे ही हृदयरूपी तालमें इसका धाम है और यह शीतलतारूप जलको पचाती रहती

है। अपान वायुका नाम चन्द्रमा है और प्राणवायु का नाम सूर्य है। इन दोनों की उत्पत्ति हृदय कमल से है। यही शीतल और उष्णरूप चन्द्रमा और सूर्यके नामसे शरीरमें स्थित हैं। इन्हीं दोनों से जगत्की उत्पत्ति हुई है और विद्या, अविद्या रूप जगत् इन्हीं दोनोंसे युक्त है। इसी को बुद्धिमान जन निर्मल भावसे ही सत्, चित्त, प्रकाश, विद्या, उत्तरायण काल, सूर्य, अग्नि आदिक नामोंसे पुकारते हैं और असत्, जड़, अविद्या, तम, और दक्षिणायन आदिक चन्द्रमारूपसे मलिन भावको पुकारते हैं। इसपर रामजीने कहा—हे महाज्ञानिन्! प्राणवायु जो सूर्यरूप है उससे शीतलरूप चन्द्रमा अपान रूपसे कैसे उत्पन्न होता है और उस अपान सूर्यकी उत्पत्ति कैसे होती है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह दोनों ही परस्पर कार्य-कारणरूप हैं। जिस प्रकार बीजसे अंकुर और अंकुर से बीज होता है और जैसे धूपसे छाया और छाया से धूप होती है वैसे ही यह सूर्य और चन्द्रमा भी परस्पर कार्य और कारण से होते हैं और जब कभी यह दोनों ही एक स्थान में आ जाते हैं तो धूप और छाया दोनों हो जाती है। यह कार्य और कारण भी दो प्रकार का होता है। एक का परिणाम सत्य रूप होता है और दूसरे का विनाश रूप। जो कार्य और कारण के भावमें इन्द्रियों से प्रत्यक्ष पाया जाय उसका नाम सत्यरूप परिणाम है और जो न पाया जाय जैसे दिन में रात्रि नहीं पाई जाती और रात्रि में दिन नहीं पाया जाता वैसे ही इन्द्रियों से जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वह विनाश रूप परिणाम है। इन दोनों में वैसा ही अन्तर है जैसा प्रत्यक्ष प्रमाण में और अभाव प्रमाण में अन्तर होता है। देखो, युक्तिवादी कहते हैं कि अपने संवित में कर्तव्य नहीं बनता पर वास्तव में उनका यह कहना ठीक नहीं, वह अपने अनुभव को नहीं जानते और उन्हें उसकी ठीक युक्ति नहीं मालूम है। यदि युक्ति मालूम हो तो अभाव प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रकट होता है। शीतलता का तो यही प्रमाण है कि उसमें उष्णता न हो और रात्रि का प्रमाण यह कि दिन का अभाव हो।

बस यही तो अभावका प्रमाण है। अग्निसे धुआं निकलकर मेघ होता है इससे सतरूप प्रमाणसे चन्द्रमाका कारण अग्नि होता है जब अग्निक नाश होकर उसमें शीतल भाव आता है तब उसका नाम विनाशप्रमाण होता है और वही अग्नि चन्द्रमाका कारण होता है। इस प्रकार अग्नि के नाश होनेपर चन्द्रमाकी उत्पत्ति होती है और इसीको विनाश परिणाम कहते हैं। इस नियम से जो निर्मल रूप प्रकाश है उसीका नाम सूर्य है और जो जड़ात्मक तम रूप है वही चन्द्रमा का शरीर है। उस सूर्यरूप चेतन आत्माका दर्शन होनेपर संसारके तमरूपी दुःख नाश होजाते हैं। परन्तु जब तक वह चन्द्रमा रूप देहको देख रहा है तब तक चेतनरूप सूर्यका दर्शन नहीं होसकता। कहनेका आशय यह है कि परस्पर दोनोंका विरोध है, पर इस संसार के दर्शनका कारण दोनों ही हैं। एक से दूसरेकी उपलब्धि होती है आत्माकी उपलब्धि दोनों को साथ लेकर ही हो सकती है। न तो अन्धकार के विना प्रकाश मिलता है और न प्रकाश के विना अन्धकार मिलता है। इस प्रकार जब दोनों को साथ लेकर चले और फुरने से रहित होजावे तब अचैत्य, चिन्मात्र अथवा निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। अतः हे रामजी! तुम जगत को अग्नि और सोम दोनों ही जानो। जो अधिक होता है उसी की विजय होती है। प्राण उष्ण सूर्यरूप है और अपान शीतल चन्द्रमा रूप है और यह दोनों ही प्रकाश और छायारूप सुख का मार्ग है। जब बाहर से शीतल रूप अपान आकर भीतर उष्णरूप प्राणमें स्थित होता है और जब पुनः वह उष्णरूप प्राण नासिका से द्वादश अंगुल पर्यन्त जहां अपानरूपी चन्द्रमा का मंडल है वहां स्थित है और पुनः वही अपान प्राणरूप होकर उदय होता है। जब उसी प्राण का अपानरूप ने एकके बाद दूसरा उदय होता है तब जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ जाता है वैसे ही एक दूसरे का प्रतिबिम्ब पड़ कर षोडश कला चन्द्रमा को सूर्य ग्रस लेता है और स्वयं मध्यभाव में स्थित हो जाता है। इस प्रकार जब अपान प्राण के स्थान में आ

स्थित होता है और पुनः प्राणरूप होकर उदय नहीं होता। तब वह शान्तिरूप भाव में स्थित हो जाता है। हे रामजी! यह योग की पूरी कला मैंने तुम्हें बतला दी। जो इसके भीतरी और बाहरी भेद को जानता है वह जन्म से रहित होकर परमबोध को प्राप्त होता है। अब एक शब्द में यह जान लो कि उत्तरायणमार्ग योगियों का है। जिससे वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं और दक्षिणायन मार्ग कर्म कांडियों का है कि जिससे वे फिर संसार भागी होते हैं। पर इसके मध्य में जो स्थित होते हैं वह परमपद को प्राप्त होते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सतहत्तरवा सर्ग समाप्त ॥७७॥

अठहत्तरवाँ सर्ग

चिन्तामणि दृष्टान्त वर्णन

इतनी कथा कहकर वशिष्ठजी ने कहा कि—हे रामजी! मैंने योग कला की सम्पूर्ण कलायें तुमसे वर्णन कीं, वह इसलिये कि तुममें आत्म ब्रह्म की एकता हो और तुम निर्वाणपद में स्थित होकर जीवन मरण से मुक्त हो जाओ। वह ब्रह्म सत् चित्त आनन्द स्वभाव मात्र है। जो सदैव एकत्व भाव रखता है ऐसे ज्ञानियों के भाव ओजपूर्ण होते हैं। इस प्रकार जब चुड़ाला रानी योग और ज्ञान में पूर्ण सफल हुई तब उसे सर्व शक्ति से संयुक्त, अणिमा आदिक अष्ट सिद्धियां प्राप्त हुईं। हे रामजी! अब मैं एक और कथा तुमको सुनाता हूँ सो, ध्यान पूर्वक सुनो। एक समय जब राजा और रानी सोये हुये थे तब रानी चुड़ाला राजा को सोते ही छोड़ स्वयं आकाश के कई स्थानों में विचरण करने चली गई। तब पहले अति चंचल काली का वेष बना देवलोक में चली गई फिर मध्य दिशा, देवलोक, दैत्यों, राक्षसों, विद्याधरों और सिद्धों के लोक में होकर सूर्यलोक, चन्द्रलोक, मेघ मंडल और इन्द्रलोक में भी गई। वहां का कौतुक देख फिर अधोलोक में आई तत्पश्चात् समुद्र में प्रवेश कर गई और पवनरूप हो नाग लोक की कन्याओं में क्रीड़ा करती हुई

वनों, पर्वतों, भूतों, अप्सराओं और त्रिलोकीमें विचरण करते हुये क्षण भरमें ही राजाके पास आ और भँवरी की भांति सोगई। राजा को यह भी न मालूम हुआ कि रानी कहां गईथी। प्रातःकाल दोनोंने स्नान कर वेदोक्त कर्म किये। बाद रानीने प्रवाह कर्म किये। पुनः रानीने मधुर शब्दोंमें शनैः शनैः राजाको तत्वोपदेश भी किया और पण्डितों से भी कहाकि आप लोग भी राजाको ऐसाही उपदेश करें कि यह संसार स्वप्न की भांति भ्रमोत्पादक और बड़ेर आपत्तियों तथा दुःखोंका कोष है और इसकी एकमात्र औषधि आत्मज्ञान है। अन्यथा यह किसी अन्य औषधि से शान्त होनेवाला नहीं है। निदान रानी और पण्डितोंके शिक्षा देनेपर भी राजाको वह ज्ञान प्राप्त न हुआ और राजाने उस उत्तम पदमें जो स्वयं केवल चित्तरूप, प्रत्येक और आत्मा है विश्रान्त न हुआ। तब रामजी ने वशिष्ठजी से कहा कि–हे मुनीश्वर ! रानी तो सर्वशक्ति सम्पन्न,योग कला में निपुण और महाज्ञानी थी और राजा भी मूर्ख न था, किन्तु रानी का वह उपदेश राजा ने क्यों नहीं ग्रहण किया? उसे तो रानी भी अति प्रेमसे उपदेश देती थी, किन्तु क्या कारण था कि राजा उस निर्वाण पद में स्थित नहीं हुआ? इस पर वशिष्ठजी ने कहा कि–हे रामजी! जब तक स्वम् विचार न करे और उसमें दृढ़ अभ्यास न करे तब तक यदि ब्रह्मा भी आकर उपदेश करें तो उसका कुछ प्रभाव नहीं हो सकता। आत्मा कोई ऐसी साधारण वस्तु नहीं है जो इन्द्रियाँ उसे झट जान लें, वह आत्मा स्वयं ही पूर्ण ज्ञानरूप है। वह सबका अधिष्ठान रूप और स्वभाव मात्र देखने वाला है। उसे मन और इन्द्रियां नहीं देख सकतीं फिर रामजी ने पूछा कि—हे मुनीश्वर! यदि स्वयं ही सबको ऐसा ज्ञान होजाता है तो गुरु और शास्त्रकी क्या आवश्यकता? इस पर वशिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! और शास्त्र यह जताते हैं कि तू आत्म स्वरूप है किन्तु इदं करके नहीं दिखाते। जो विचारशील हैं उनको स्वयं आत्म-ज्ञान होजाता है, किन्तु मूर्खों को ऐसा ज्ञान नहीं होता। गुरु और शास्त्र आत्मा

का रूप वर्णन करते हैं और लखाते हैं यदि वह ज्ञानी है तो झट आत्मज्ञान हो जाता है और दूसरों को भी ज्ञान दे सकता है। हे रामजी ! आत्मा किसी इन्द्रिय का नाम नहीं है वह तो स्वयं मूल रूप है और इन्द्रियां तो कल्पितरूप हैं, और यदि यह कहो कि तुम भी तो इन्द्रियों ही से उपदेश करते हो, तुमको अपनी सब इन्द्रियों का स्मरण करने से मूल भासित होगा । हे रामजी ! तुमको मैं एक इतिहास बताता हूँ सुनो ? एक बड़ा धनी क्रान्ति था किन्तु बहुत बड़ा कृपण भी था । धन की तृष्णा उसे सदैव बाध्य रखती थी और वह एक कौड़ी भी प्राण से कहीं अधिक ही समझता था, क्योंकि वह दानके नाम से भी विस्मृत ही रहता था । एक समय वह चिन्तामणि के मिलने की लालच से घर से निकल कर पृथ्वी की ओर देखता चला और तीन दिन के कठिन परिश्रम से उसे चिन्तामणि प्राप्त हुई उसे प्रसन्नता पूर्वक लेकर अपने घर आया । इसी प्रकार यदि गुरुजनों और शास्त्रों के आदेश पर परिश्रम किया जाय तो आत्मपद अवश्यमेव मिल जायगा किन्तु बिना गुरुजनों और शास्त्रों के बतलाने पर इस पदका मिलना बहुत ही कठिन है । धन, तप और कर्मों द्वारा आत्मपद कदापि नहीं मिल सकता । हे रामजी ! जब राजा शिखरध्वज रानी चुड़ाला के पास से उठकर स्नान करने गये, तब उनके मनमें ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि यह संसार मिथ्या है,हमने इतने भोग भोगे किन्तु हृदयको शान्ति न प्राप्त हुई और तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रही । इन भोगोंका परिणाम दुःखमय है । जब राजा को यह ज्ञान होगया तो उसने, गऊ, पृथ्वी, सुवर्ण, मन्दिर और अन्य सामग्रियां भी दान कीं और भोग के जितने पदार्थ थे उसने ब्राह्मणों भिक्षुओं और अतिथियों को दान दिया । रानी ने भी मन्त्रियों और और ब्राह्मणों से ऐसा ही उपदेश राजा को देने के लिये कहा कि भोग मिथ्या है, इसमें कुछ सुख नहीं है और आत्म-सुख बड़ा सुख है जिसके प्राप्त होजाने से मनुष्य जीवन—मरण से मुक्त हो जाता है। पंडितों और मंत्रियोंने भी ऐसाही किया। यह शिक्षा राजाको अति मधुर

प्रतीत हुई अस्तु तीर्थ यात्रा को प्रस्थान किया और दान इत्यादि देते तथा देवता, तीर्थों और सिद्धों का दर्शन करते हुए पुनः अपने गृह पर आ गया। रात्रि को रानी के साथ शयन करते समय राजा ने कहा हे अनङ्गे! मुझे यह भोग, दुःखमय और यह राज्य वन की नाईं उजाड़ प्रतीत होता है। इस भोग को भोगते बहुत काल व्यतीत हो गये किन्तु इसमें कुछ सुख नहीं दृष्टि आते हैं, अस्तु मैं वनको जाता हूँ अब तू मुझे न रोकना। तब रानीने कहा-हे राजन्! यह आपकी कौन अवस्था है कि आप वनको जारहे हैं? यही तो राज्य-भोग की अवस्था है फिर आप वन जाने को कह रहे हैं। जब हम लोग वृद्धावस्था को प्राप्त होंगे तभी वन में तप करना शोभाप्रद होगा। अतः हे राजन्! अभी आप राज्य करें। वशिष्ठजी ने रामजी से कहा हे रामजी! रानी के ऐसा कहने पर भी राजा का मन अज्ञानवश वैराग्य ही में रहा और पुनः रानी से कहने लगा-हे रानी! अब मुझे न रोक यह राज्य मुझे फीका लग रहा है अब मैं यहां कदापि नहीं ठहर सकता और वनको जा रहा हूँ। यह कहो कि वन में कौन तुम्हारी टहल करेगा, तो पृथ्वी ही हमारी सेवा करेगी, वन वीथियाँ स्त्रियाँ होंगी, मृगों के बालक पुत्र, आकाश हमारे वस्त्र और फूल के गुच्छे हमारे भूषण होंगे। दूसरी रात्रि को राजा वहाँ से चल दिया और रानी तथा सेना भी राजा के पीछे-पीछे चल पड़ी और वे चलकर कोटके बीच में स्थित होगये। राजा और रानी ने भँवरा और भँवरी की भांति शयन किया। सेना और सहेलियाँ जो थीं वे निद्रा के वश हो शिलावत बन गईं आधी रात्रि व्यतीत होने पर राजा नींद में उठकर सबको सोया हुआ देख हाथमें खड्ग ले,सब लोगों को लांघता हुआ दरवाजे पर आया और कुछ लोगों को जागता और कुछ लोगों को सोता देखकर द्वारपालों से कहा-तुम लोग यहीं बैठे रहो, मैं अकेला ही तीर्थ यात्रा को जाता हूँ। इतना कहकर राजा बड़े वेग से बाहर निकल कर राजलक्ष्मी को नमस्कार कर एक जंगल में गया, जहां

बड़े भयानक जीव थे किन्तु उसे भी सुगमता पूर्वक पार कर दिया। आठ पहर पर्यन्त एक स्थान पर जाकर सन्ध्यादिक कर्म से छुट्टी पा फल, फूल भोजन कर वहां से भी चल दिया और बड़े बड़े सङ्कटों का सामना करते हुए मन्दराचल के जंगल में जाकर स्थित होगया और वहीं एक मढ़ी बनाकर रहने लगा। सदैव नित्य क्रिया करके दोपहर के बाद कुछ भोजन कर पुनः ईश्वर भजन में लीन हो जाता था। इधर तो राजा सदैव ईश्वर की स्तुति किया करता था और उधर रानीने जब आधीरात को देखा तो राजा शैया पर नहीं था। वह सहेलियों से कहने लगी कि बड़े कष्टकी बात है कि राजा न जाने कहां निकल गये। रानी राजा से मिलने की प्रतीक्षा कर अपने योगबल से आकाश में उड़कर अन्तर्धान हो गई और देखा कि राजा चला जारहा है किन्तु रानी नीतिज्ञ भी थी और अपने नीति से विचारा तो उससे और राजा से मिलाप होने में अभी कई साल का अन्तर था और राजा का कषाय परिपक्व नहीं हुआ है अस्तु राजा को नहीं रोकना चाहिये। निदान रानी प्रसन्नता पूर्वक अपने भवन में आई और प्रातःकाल मन्त्रियों से कहने लगी कि तुम लोग अपने-अपने कार्य करते रहो, राजा तीर्थ करने गये हैं। तुम लोगों के लिये उनकी ऐसी आज्ञा है। रानी ने इस प्रकार आठ साल तक राज्य किया और प्रजा को बहुत ही सुख दिया। उधर राजा भी अपने तपोबल से महा दुर्बल होगये थे। रानी ने समझा कि अब राजा का अन्तःकरण स्वच्छ हो गया होगा। रानी उनसे मिलने की आशा से उड़कर इन्द्र के नन्दन बन में गई। वहाँ के स्वच्छ हवा के स्पर्श से राजा से मिलने की इच्छा हुई। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि मैं सत्पद को प्राप्त हुई किन्तु तो भी मेरा मन चलायमान होगया। न मालूम उन अज्ञान जीवों की क्या दशा होती होगी? मनसे रानी कहने लगी कि ऐ दुष्ट मन! तेरा भर्ता आत्मा है। तू मिथ्या पदार्थों की अभिलाषा क्यों करता

है। इन बातों से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि जब तक यह देह है तब तक इसके स्वभाव भी साथ-साथ रहते हैं। वहाँ से चलकर रानी उस स्थान को गई जहाँ निर्जन वन में राजा अपने तपोबल से महा दुर्बल हो समाधि लगाये बैठा था। रानी ने ऐसा विचार कर कि यह मेरे इस रूप से नहीं मिलेंगे क्योंकि वह अपने मनमें विचार करेंगे कि मैं इसी के लिये अपना सारा राज पाट छोड़कर तप करने आया किन्तु तो भी यह अभिमानी मेरा साथ नहीं छोड़ना चाहती है। अतः एक ब्रह्मचारी का वेष बना, त्रिपुण्ड लगा और रुद्राक्ष, कमण्डल और मृगछाला हाथ में लेकर यज्ञोपवीत धारण कर, पृथ्वी के अन्दर से राजा के पास चली गई। राजा ने नमस्कार कर उसके चरणों पर पुष्प चढ़ाये और कहने लगा कि अहोभाग्य है कि आपका दर्शन हुआ। हे देवपुत्र! कहिये किधर पधारे हैं। देवपुत्र ने कहा राजन्! मैंने बड़े बड़े तीर्थों का दर्शन किया किन्तु जैसा इन्द्रजीत तू है और जो भावना तुझ में मिलती है, किसी में नहीं देखी। हे राजन्! तूने आत्मभोग सम्बन्धी कुछ तप किया अथवा नहीं? तब राजा ने वह पुष्पहार जो देव पूजा के निमित्त रक्खा था, देवपुत्र के गले में डालकर पूजा की और कहा कि हे देवपुत्र! तू तपस्वी और शान्तरूप है। किन्तु ऐसा ही कोमल अंग मेरी स्त्री का भी है। किन्तु ऐसा स्पष्ट कहते मुझे भ्रम होता है। अतः तू अपना पूर्ण परिचय मुझे बता कि यहाँ किसलिये पधारा है। देवपुत्र ने कहा राजन्! एक समय नारद मुनि सुमेरु पर्वत पर समाधि लगाये बैठे थे। वहां गङ्गा के प्रवाह और सिद्धों के सिवा और कोई न था। समाधि से उतरते समय नारदजी को आभूषणोंके शब्द सुनाई पड़े इससे मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और देखा कि उर्वशी आ रही है वह अति सुन्दरी अप्सरा अपने वस्त्र उतार गङ्गा में स्नान करने लगी। उसको देखकर नारदजी का मन चलायमान हो गया और उनका वीर्य निकलकर एक बेल के पत्र पर स्थित होगया,

उसका ध्यान टूट गया, इतना सुन राजा शिखरध्वज ने कहा हे देवपुत्र ! ऐसे ब्रह्मज्ञानी नारदजी का वीर्य क्योंकर निकल पड़ा? देवपुत्र ने कहा हे राजन् ! यदि ज्ञानियों को सुख-दुःख हो तो वह सुख-दुःख नहीं माना जाता और न उससे उसको कुछ हर्ष-विषमय होता है और यदि अज्ञानियों को सुख दुःख होता है तो उससे उनको हर्ष विस्मय होता है। हे राजन् ! सुख और दुःख की नाड़ी भिन्न २ होती है। जब सुख की नाड़ी में जीव स्थित होता है तब सुख होता हैं और इसी के विपरीत दुःख भी होता हैं। जब तक इस जीव में अज्ञानता है तब तक इस शरीर को दुःख भी है। राजा ने कहा कि हे देवपुत्र ! जब वीर्य गिरता है तो वह कैसे निवृत्त होता है ? तब देवपुत्र ने कहा—हे राजन् ! जब जीव वासनायुक्त होता है। तब नाड़ी भी क्षोभवान होती है और क्रमशः अपने उचित स्थानों को त्यागने लगती है तब वीर्य का अपने स्वभाव से ही पतन होने लगता है। फिर राजा ने प्रश्न किया कि हे देवपुत्र ! स्वाभाविक किसे कहते हैं। देवपुत्र ने कहा—हे राजन् ! आदि शुद्ध चेतन परमात्मा में जो फुरना हुआ है उस क्षणमात्र शक्ति के उत्थान में प्रपंच बना है और जिस प्रकार यह नीति है कि यह घर है और यह अग्नि है, इसमें उष्णता है और यह जल है इसमें शीतलता है, उसी प्रकार यह भी नीति है कि वीर्य नीचे से ऊपर आता है। पुनः राजा ने यह प्रश्न किया कि हे देवपुत्र ! सुख और दुःख कैसे होता है और इसका अभाव कैसे होता है ? देवपुत्र ने कहा कि हे राजन् ! यह जीव कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होकर रहता है जो चारों अन्तःकरण इन्द्रियां और देह है उनमें अभिमतानुसार सुख दुःख होता है और देहादिक अभिमान से रहित होने को ज्ञान कहते हैं और जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब दुःखका प्रकोप भी नहीं होता है। राजा ने कहा—हे भगवन् ! तुम्हारे वचन सुनकर मेरी काया संतुष्ट नहीं होती है अतः तू मुझे अपनी उत्पत्ति बता कि कैसे हुई है ? देवपुत्र ने कहा—हे राजर्षि ! नारदमुनि

ने उस वीर्य को जिसका वृत्तान्त मैं ऊपर कह आया हूं एक सुवर्ण की मटुकी में रख ऊपर से दूध रखकर मन्त्रों द्वारा उसका पूजन किया और उससे मेरी उत्पत्ति हुई। नारदजी मुझे ब्रह्मा के पास ले गये और उनको नमस्कार कर बैठ गये। मेरे पितामह ब्रह्माजी ने मुझे बड़े प्रेम से गोदी में उठा लिया और मेरा नाम कुम्भज रक्खा मैं नारदजी का पुत्र और ब्रह्माजी का पौत्र हूँ, सरस्वती मेरी माता का और गायत्री मेरी मौसी का नाम है। राजा ने कहा—हे देवपुत्र! तुम मुझे बड़े सर्वज्ञ प्रतीत होते हो। इस पर देवपुत्र ने राजा से कहा कि हे राजन्! मैंने तो आपके कथनानुसार सब कुछ बतला दिया किन्तु अब तू अपना पूर्ण परिचय बता कि तू कौन है? क्या कर्म करता है और यहां पर किस निमित्त आया है? इस पर राजा ने कहा— देवपुत्र! मेरा नाम राजा शिखरध्वज है। मुझे यह संसार दुःखमय और जीवन-मरण से कल्पित प्रतीत हुआ इसलिये मैं अपना राज-पाट छोड़ यहां तप करने आया हूँ। किन्तु यहाँ भी मुझे कुछ शांति नहीं मिली अस्तु आप मेरे शान्ति निवारणार्थ कुछ उपाय बतलाइये। जिससे मुझे शान्ति मिल जाय। तब देवपुत्र ने कहा—हे राजर्षि! तू राज्यरूपी गढ़े को त्याग कर तपरूपी गढ़े में गिरा है यह लाठी मृगछाला और पुष्प इत्यादि जो रक्खे हैं क्या इसी से तुझे शान्ति मिलेगी। सुन मैं तुझे एक छोटा सा उपाख्यान सुनाता हूँ। एक समय मैंने ब्रह्माजी से पूछा कि हे पितामह! कर्म श्रेष्ठ है अथवा ज्ञान? तब पितामहजी ने कहा कि ज्ञान की प्राप्ति से दुःख नहीं होता। किन्तु अज्ञानियों को तो कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि वे पाप कर्मों द्वारा नर्क में वास करते हैं। अस्तु हे राजन्! तप और दान करने से स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती और न कभी कर्म द्वारा शान्ति प्राप्त हो सकती है। हे राजन्! तूने यह क्या कर्म किया कि पहले राज्य का भोग करता था और अब इस निर्जन वन में आकर तप कर रहा है। मूर्खता वश अज्ञानता में फँसा है। जब तक तुझे अपनी क्रिया

का गर्व है कि मैं ऐसा करता हूँ, तब तक इस दुःख से नहीं निवृत्त हो सकता। निर्वासनिक होने ही को मुक्ति कहते हैं। अब तू भी निर्वासनिक होकर अपने असली रूप में आ। देवपुत्र ने कहा कि हे राजर्षि! आत्मस्वरूप को ज्ञेय कहते हैं और ज्ञेय की भावना ही करने वाले को निर्वासनिक कहते हैं और ऐसे आत्मस्वरूप के जानने वाले को स्वच्छ आत्मपद प्राप्त होता है। अस्तु हे राजन्! तू कितना ही यत्न क्यों न करे किन्तु विना आत्मज्ञान के तुझे कभी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इस पर राजा ने कहा—हे देवपुत्र! तुम्हीं मेरे पिता, गुरु और कृतार्थ करने वाले हो। मैंने वासना में फँसकर बड़ा दुःख उठाया। अतः हे भगवन्! तू ऐसा उपाय बता कि मुझे शान्तिपद प्राप्त हो जाये। तब देवपुत्र ने कहा—हे राजन्! तुझे सन्त सेवी बनकर उनसे यह प्रश्न करना चाहिये था कि बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है। मैं क्या हूँ संसार क्या है? संसार की उत्पत्ति कैसे है और इसमें लोग लीन कैसे होते हैं? यह तो ब्रह्मा का प्रश्न है कि निर्वासनिकों को सदैव सुख प्राप्त होता है। तब राजा ने कहा—हे देवपुत्र! तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, मुझे शान्ति प्राप्ति का वह उपाय बताओ कि जिससे मुझे शांति अवश्य मिल जाय। उसपर देवपुत्र ने कहा हे राजन्! तुझे एक उपाख्यान सुनाता हूँ उसे तू ध्यान पूर्वक सुन। एक पण्डित बड़ा विद्वान और सर्व सुख सम्पन्न था। उसे चिन्तामणि के मिलने की आशा सदैव बाधा किया करती थी। एक समय उसे चन्द्रमा की भांति उज्वल और चमकती हुई चिन्तामणि दिखाई दी किन्तु भ्रम वश कि यह चिन्तामणि ही है कि अन्यथा कोई और वस्तु है उसे न उठा सका और यह भी विचार करने लगा कि यदि यह चिन्तामणि होती तो इतनी सुगमता पूर्वक न प्राप्त होती क्योंकि मणिका इतनी सुगमता से प्राप्त होना कोई साधारण बात नहीं है। यदि मणि इतनी सुविधा से मिल जाय तो संसार में कोई दरिद्र न रहे। वह ब्राह्मण इसी संकल्प, विकल्पमें लगा रहा कि इतने में वह मणि छिपगई।

क्योंकि सिद्धों का यदि अनादर किया जाय तो वे शाप देते हैं और जिस वस्तु का आवाहन करे उसका पूजन न करे तो वह भी त्याग देते हैं। पण्डित को चिन्तामणि छिप जाने का बड़ा ही शोक हुआ। निदान वह पुनः मणि के प्राप्त होने का यत्न करने लगा। तत्पश्चात् हँसी करने के लिये कांच की मणि उसके सामने आगई। उस ब्राह्मण ने अपनी मूर्खतावश उसी मणि को उठा लिया और प्रसन्नता-पूर्वक उसको असली मणि समझकर घर ले आया। जैसे मोहवश जीव, असत् और सत् का भेद नहीं जानता उसी प्रकार पण्डित ने भी नकली और असली मणि का भेद न जानकर अपना सारा धन, ऐश्वर्य लुटा घर-बार छोड़कर वन को चल दिया और वहाँ बड़े-बड़े दुःख भोगे। इसलिये हे राजन्! यह विद्यमान जो आत्म-ज्ञान है उसे ग्रहण कर तो तू शान्तपद को प्राप्त होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७८॥

—o❀o—

उन्यासीवां सर्ग

हस्ति आख्यान वर्णन

पुनः देवपुत्र ने राजा को समझाने के लिये कहा कि हे राजन्! मैं तुमको एक और उपाख्यान सुनाता हूं, सो तू ध्यानपूर्वक सुन। मन्दराचल के वन में एक बहुत बड़ा हाथी रहता था। जिसको एक बार अगस्त मुनि ने पकड़ा था। उसके दांत तो इन्द्र के वज्र से भी तीक्ष्ण थे और वह अपने इन्हीं पैंढ़ दांतों से सुमेरु गिरि को बिना परिश्रम ही उठा लिया करता था। एक दिन एक महावत ने एक वृक्ष के ऊपर चढ़कर और धोखे के साथ उस हाथी को जंजीर में बांध लिया। हाथी के बँध जाने पर उसको बहुत दुःख हुआ, किन्तु उसने अपने बल से उस जंजीर का नाश कर डाला। महावत ने हाथी का वह पुरुषार्थ देखा तो मारे भय के वृक्ष से नीचे गिर पड़ा यद्यपि वह हाथी के नीचे गिरा किन्तु तो भी हाथी ने उसमें पूँ तक नहीं किया

और अपनी वीरता के गर्व से उसे मृतक समझकर कि यह तो स्वयं मरा हुआ है छोड़कर चल दिया उसके चले जाने के पश्चात् महावत उठ खड़ा हुआ और पुनः उसकी तलाश में चला। कुछ दूर पर देखा कि हाथी निश्चित सोया पड़ा है। उसने पुनः उसको पकड़ने के लिए नये उपाय का अनुसन्धान किया। वह यह कि जङ्गल के चारों ओर एक खाई खोदी जाय और उस पर तृण बिछा दिया जाय ताकि हाथी यह न समझ जाय कि यहाँ गढ़ा है और जब चलने लगे तो इसमें गिर पड़े। उसकी कूट नीति ने अपनी उचित कला घटित करदी और हाथी पकड़ लिया गया। अस्तु हे राजन! जो अपने भविष्य पर विचार कार्य नहीं करते हैं उनकी यही दशा होती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का उन्यासीवा सर्ग समाप्त ॥७९॥

———o::❀::o———

अस्सीवाँ सर्ग

हस्ती वृतान्त वर्णन

वशिष्ठजी ने रामजी से कहा हे रामजी! देवपुत्र के ऐसे वचन सुनकर राजा ने कहा कि हे देवपुत्र! यह जो दो उपाख्यान तूने कहे हैं वह मैंने नहीं समझे, अस्तु पुनः मुझे समझा दे। देवपुत्र ने कहा—हे राजन्! तू यद्यपि शस्त्रज्ञ और सब अर्थों का ज्ञाता है किंतु तुझे स्वरूपमें स्थिति नहीं है, इसलिये अबमैं जो कहताहूँ उसे हृदयसे ग्रहण कर। अब मैं उस हस्ती और चिन्तामणि का सारा भेद तुमको बतलाता हूं। पहले तूने जो अपना सर्वस्व छोड़ दिया है वह तो चिन्तामणि था क्योंकि जब तक तेरा राज्य और ऐश्वर्य आदिक था तब तक तो तू सुखी था, परन्तु जब तूने उस चिन्तामणि रूपी राजपाट का निरादर किया और कांच की मणिरूपी तप-क्रिया का ग्रहण किया इसलिये तू दरिद्री हो गया और इस दरिद्रता का निवृत होना असम्भव है। देवपुत्र ने कहा कि हे राजन्! यह जो तूने स्त्रियों और कुटुम्ब आदि का त्याग

कर अभिमान बना है यह एक बड़े बादल के सदृश है और जो तू वैराग्य द्वारा कुटुम्ब का अहङ्कार छोड़ दिया है यह पवन के झकोरे की मानिन्द है. परन्तु तुझमें कुछ सूक्ष्म अहङ्कार जो रह गया है उसे वैराग्य के अहङ्काररूपी पवन के झोंके से बढ़कर एक विशाल रूप धारणकर लिया है और जो तूने आत्मज्ञान के बिना ही क्रिया आरम्भकर दिया है इसीलिए उस आत्मरूपी सूर्य को उसे अहङ्कार रूप बादल ने ढक लिया जिससे ज्ञानरूपी चिन्तामणि अज्ञानरूपी कांच की मणि से छिप गया और तुझे अपने आत्मसूर्य का अभिमानरूपी बादल के ढक लेने से ज्ञान भी नहीं हुआ। इसलिये हे राजन्! जब तक तू ज्ञानपूर्वक आत्मा का आवाहन नहीं करेगा तब तक उस आत्मा का प्रकाश तुझमें नहीं होगा। हे राजन् मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि तू मूर्ख नहीं है बल्कि शास्त्रज्ञ और चतुर है किन्तु तौ भी तुझमें आत्मज्ञानकी स्थिति नहीं है यद्यपि तपादिक कर्मों से सिद्ध होता है, परन्तु उससे आत्मा-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मपद का प्राप्त होना तो बहुत ही सुगम है और बड़े आनन्द और सुख से प्राप्त होता है। इसलिये हे राजन्! मैं तुझे यह उपदेश करता हूँ, तू उसे ध्यानपूर्वक सुन तो तेरे दुःख निवृत्त हो जाँय। तूने तपक्रिया से जो फल प्राप्त किया है उससे श्रेष्ठ ज्ञान तुझे बतलाता हूँ जिससे तेरे भय दूर हो जाएँगे। हे राजन्! चिंतामणि का सम्पूर्ण उपाख्यान तुझ से कहा है। अब हाथी का वृत्तान्त जो आश्चर्य रूप है सो भी सुन जिससे तेरे अज्ञान निवृत्त हो जायँगे हे राजन्! तू उस मन्दराचल के हाथी की भांति है और तेरी अज्ञानता वह महावत है जिसने तुझे आशारूपी जञ्जीर में जकड़ा था। हे राजन्! तू इस आशारूपी फाँसी में पकड़कर महा दुखी था। तेरा विवेक उस हाथी का वह दाँत था कि जिससे उसने सुमेरु-पर्वत को उठा लिया था। तूने राजपाट को छोड़कर आशारूपी रस्से को काटा जिससे मारे भय के वह अज्ञानरूपी महावत तेरे चरणों

पर गिर पड़ा किन्तु तूने अपनी मूर्खतावश उसे नहीं मारा बल्कि छोड़कर बन की राह ली। किन्तु फिर भी उस अज्ञानरूपी महावत ने तेरा पीछा नहीं छोड़ा और वहां भी जाकर तेरे चारों ओर खाई खोदी और तू उसमें गिर पड़ा और उस अज्ञानरूपी महावत ने तुझे जञ्जीर से बाँध लिया। हे राजन्! तू आत्म अभियान से क्रिया आरम्भकर इस खाई में गिरा है। किन्तु तू इस खाई में छल और कपट द्वारा गिराया गया है। वह छल क्या है कि तू जो उस अज्ञानरूपी महावत को नहीं मारा और जञ्जीरों के भय से जङ्गल में भागा कि वहाँ कल्याण होगा। सन्तों और शास्त्रों के वचनों को अपनी मूर्खतावश न माना जिससे तू इस गढ़े में गिर पड़ा। जिस प्रकार बलि पाताल में प्रपञ्चों द्वारा बाँधा गया है उसी प्रकार तूने अपने अज्ञानरूपी शत्रुओं का विचार न किया और इस दुःख में पड़कर कष्ट सह रहा है। यद्यपि तूने सब कुछ त्यागा किन्तु तो भी यह न समझा कि मैं अकृतिम हूँ। इस क्रिया का आरम्भ क्यों कर रहा हूँ। हे राजा! तू इन्हीं कारणों से इतने दुःखों को सहा है। हे राजन्! जो पुरुष इन दुःखों से मुक्त हुआ है वह तो मुक्त है किन्तु जो अनात्म अभियान में बँधा हुआ है कि मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो वही दुःख का भागी होता है। विवेक से वैराग्य और वैराग्य से विवेक उत्पन्न होता है। सत्य जानने को विवेक कहते हैं और जब असत पदार्थों पर भावना नहीं जाती तो उसी को वैराग्य कहते हैं। अस्तु! तू इन्हीं वैराग्यरूपी दाँतोंसे आशारूपी जञ्जीरोंको तोड़ डाल। हे राजन्! यह जो मैंने हस्ती का सारा वृत्तान्त कह सुनाया है यदि तू इस पर विचार करे तो मोह से निवृत्त होजायगा। हे राजन् तूने अपनी मूर्खतावश उस अज्ञानरूपी महावत को नहीं मारा जिससे यह सारा दुःख पारहा है। अब तू ऐसे वैराग्य और विवेक में तत्पर होजा और आशा का त्याग करदे तो सब सङ्कट छूट जायेंगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अस्सीवां सर्ग समाप्त ॥८०॥

इक्यासीवाँ सर्ग

शिखरध्वज सर्ग त्याग

इतनी कथा सुनकर देवपुत्र ने कहा-हे राजन्! तूने सर्व ज्ञानियों से श्रेष्ठ साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा और सत्य वादिनी रानी चुड़ाला की बातों का उल्लंघन किया और दूसरी मूर्खता यह की कि सब कुछ छोड़कर पुनः वन को स्वीकार किया इसलिए तुझे शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति तो उसे मिलती है जो सर्वत्यागी है। जब देवपुत्र ने ऐसा कहा तो राजाने कहा हे देवपुत्र! मैंने तो स्त्री, पृथ्वी, मन्दिर, हाथी इत्यादिक और कुटुम्ब सब कुछ त्याग दिया है, आप कैसे कहते हैं कि मैंने नहीं त्याग किया है? देवपुत्र ने कहा-हे राजन्! तूने जो त्याग किया है उसमें तेरा क्या अधिकार था! तूने तो अब भी नहीं त्याग किया है। जो तेरा है उसे त्याग तो तू निर्दुःख पद को प्राप्त होगा। इतना कह कर वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा-तब शूरवीर, जितेन्द्रिय राजा शिखरध्वज ने मनमें विचारा कि यह वन, वृक्ष, फूल, मृगछाला कुटी, कमण्डल, माला और लाठी आदि सामग्रियाँ जो मेरे पास हैं यदि इनका त्याग करूँ तो आशा है कि शान्ति प्राप्त होवे। ऐसा विचार कर राजा ने कहा-हे देवपुत्र! यह उक्त सामग्रियाँ अत्र जो यहां मेरे पास शेष बची हैं यदि इन सबका त्याग करदूं तो क्या सर्वत्यागी हो जाऊँगा? इस पर देव पुत्र ने कहा-हे राजा! इन वस्तुओं पर तेरा क्या अधिकार है कि इनको त्याग कर सर्वत्यागी हो जायगा? कुम्भज ऋषि के इस वचन को सुनकर राजाने वनकी लकड़ियों को इकट्ठा कर उसमें आग लगादी और कहा कि-हे मेरे वनके शृङ्गार! तुमसे मेरा बहुत कुछ उपकार हुआ किन्तु मैं अपनी निर्विघ्नता के हेतु तुझे इस अग्नि कुण्ड में जला देता हूं। ऐसा कह कर राजा ने सारी वस्तुयें अग्नि में डाल कर जलादी और निर्विघ्न होगया।

श्री योगवासिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का इक्यासीवां सर्ग समाप्त ॥८१॥

बयासीवाँ सर्ग

शिखरध्वज-चित्त त्याग वर्णन

राजा शिखरध्वज ने अपनी सारी सामग्री इस प्रकार जला डाला जैसे शिवके गणोंने दक्षके यज्ञोंको स्वाहा कर दिया था। इस अग्नि के तेजसे बन प्रज्वलित हो उठा और उसमें जितने बनचर थे इस उष्णता के प्रकोप से बनको छोड़कर बाहर निकल गये, तब राजा ने बिचारा कि मैंने कुम्भज ऋषि की आज्ञानुसार अपनी सारी सामिग्री जला डाली, अब मुझमें किसी वस्तु का हर्ष-विस्मय भी नहीं है न किसी से ममता ही है इसलिये अब मैं ज्ञानी हो गया, क्यों कि मैंने अपने शुद्ध और निष्कपट विचारों का त्याग कर दिया है। ऐसी कल्पना कर राजा ने देव पुत्र से हाथ जोड़कर कहा कि—अब मैंने सब कुछ का त्याग कर दिया है। केवल आकाश मेरे वस्त्र और पृथ्वी मेरी शय्या रह गई है। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा—कि तू अब भी सर्व त्यागी नहीं हुआ। इस पर राजा ने कहा कि—अब तो मेरे पास यही रक्त माँस की इन्द्रियां रह गई हैं। यदि आज्ञा हो तो इन का भी नाश कर डालूँ। देवपुत्र ने कहा, कि यह शरीर पुण्यवान् है इसके नाश होने से सबका नाश नहीं हो सकता। इस शरीर में क्या दूषण है, यह तो जड़ पदार्थ है, इसमें जो अभिमान भरा है यदि उसका नाश करो तो सब सिद्ध हो जायगा, इस शरीर के प्रेरक ही का नाश करने से सबका नाश हो सकता है। इस पर राजा ने कहा, हे तत्ववेत्ता भगवन्! वह कौन पदार्थ है कि जिसका त्याग करने से, जरा मृत्यु से छुटकारा होजाय? कृपाकर मुझे बतलाइये। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन! जैसे सर्पके अन्दर विष रहताहै और वही उसको दूषित करता है, ऐसे ही शरीर के अन्दर चित्त प्राण और नाना प्रकार की भावनायें जो तुमको दूषित करती हैं उसी के नाश करने का उपाय करो। आत्मा में तो एक और द्वैत

का है नहीं, इस चित्त का ही त्याग करना यथार्थ है। हे राजन्! यह संसार दुःखमय स्थित है और यह सब दुःख एक चित्त ही से उत्पन्न होते हैं इसलिये यदि इस चित्तका नाश कर दिया जाय तो सब दुःखों का नाश स्वयं हो जायगा। हे राजन्! देह, कुटुम्ब और गृहस्थ आदिक जो धर्म हैं सब इसी एक मात्र चित्त की कल्पना है इसलिये इस चित्त का नाशकर तू निस्पृह होकर विचर। धर्म वैराग्य और ऐश्वर्य आदि भी चित्त ही की कल्पना हैं, जब चित्त पुण्य क्रिया में लगता है तो सुख की प्राप्ति होती है और जब पाप क्रिया में लगता है तो उससे दुःख और दरिद्रता प्राप्त होती है। जब इस चित्त का नाश होजायगा तो संसारी सब दुःखों का नाश हो जायगा क्योंकि यह चित्त ही कल्पना है। जब तू ऐसे सर्व त्यागी हो जायगा तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने में देखेगा। हे राजन्! जब चित्त का नाश कर देगा तो तेरे सब राग दोष मिट जायेंगे। मन अहङ्कार और माया आदि भी चित्त ही के पर्यायवाचक हैं। हे राजन्! ऐश्वर्य के त्यागने ही से चित्त नहीं वश होता, बल्कि जब मनुष्य निर्वासनिक होजाय और उसमें चित्त का स्फुरण न रह जाय तो चित्त को वश में कर और अहङ्कार का त्याग करके पुनः सर्व त्यागी हो सकता है और तब उसे सर्वात्मा का पद प्राप्त होगा। हे राजन्! तेरा स्वरूप सब ऐश्वर्य और सुखों का आश्रय और सब दुःखों के नाश करने वाले पद को पाने वाला है, अस्तु तुझे किसी बात की इच्छा नहीं करनी चाहिये। हे राजन्! जब तू किसी बात की इच्छा न करेगा और निर्वासनिक होकर अपने स्वरूप में स्थित रहेगा तो यह समझ जायगा कि मैं ही सर्वात्मा हूँ और भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल मेरे आश्रय हैं। हे राजन्! यह चित्त चेतन भी है और जड़ भी। इसीसे इसको चिद्जड़ ग्रन्थि भी कहते हैं, चिन्मात्र पद में फुरा करते हैं और जब इसका पूर्ण ज्ञान हो जायगा तो तुम स्वयम् वासुदेव का रूप हो जाओगे और जब तू

इस प्रकार निर्वासनिक हो जायगा तो यह संसाररूपी वृक्ष स्वयम् नष्ट ही हो जायगा। इस चित्त के नाश करने में शरीर का भी नाश हो सकता है, अस्तु हे राजन्! तुम ऐसा ही करो कि जिसमें आत्मपद प्राप्त हो जाय।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का बियासीवा सर्ग समाप्त ॥८२॥

———o::❀::o———

तिरासीवाँ सर्ग

शिखरध्वज विश्रान्ति वर्णन

कुम्भजऋषि के चित्तत्याग की शिक्षा सुनकर राजा ने कहा—हे भगवन्! इस चित्त का स्वरूप आकाश की धूल और वृक्षोंके अन्दर की भांति है कि जो सदैव इधर से उधर हुआ करता है। इसको मैं कैसे स्थित करूँ? कुम्भज ऋषिने कहा—हे राजन्! नेत्र के खोलने और मूँदने में तो कुछ यत्न नहीं है। किन्तु यह उपाय ज्ञानियों के लिये महा सुहाग और अज्ञानियों के लिये महा कठिन है। राजा ने कहा—देवपुत्र! चित्तका रोकना यद्यपि कठिन है तो भी बतलाइये? कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! मन की वासना ही चित्त का स्वरूप है। जब वासना नष्ट हो जाती है तब चित्त भी नष्ट हो जाता है। राजा ने कहा—हे भगवन्! यह संसार चित्तरूपी पुष्प की सुगन्ध है और चित्तरूपी कमल की जड़ है और यह चित्तरूपी पवन इस शरीररूपी तृणका उड़ाने वाला है। जरा, मृत्यु, आध्यात्मिक और अधि-भौतिक दुःख चित्तरूपी तिलका तेल है और यह संसार इस चित्तरूपी आकाश का अंधेरा है और यह चित्त हृदयरूपी कमल के भौंरे की भांति है इत्यादि। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! यह चेतन रूपी क्षेत्र स्वच्छ और निर्मल है और अहंभाव उस क्षेत्र का बीज है। जिसे अहङ्कार, मन, जड़ और मिथ्या भी कहते हैं। उस अहङ्कार में जो संवेदन है वही देह और इन्द्रिय है और बुद्धि उसका

निश्चय है। अहङ्कार उस चित्तरूपी वृक्ष का बीज है और सुख-दुःख उस वृक्ष के फल हैं। हे राजन्! एकान्तवासी वन, एक आश्रय का त्यागकर दूसरे की आशा करना और फिर इस प्रकार का गर्व करना कि मैं त्यागी हूँ ऐसा ही है जैसे चित्तरूपी वृक्ष को काटकर उसमें और डाल पात पैदा करे। इस चित्त में सदैव अहंरूपी बीज फुरा करता है और जब इस अहंरूपी बीज का नाश हो जाता है, तब उस वृक्ष का भी नाश हो जाता है। इस पर राजा ने कहा—हे भगवन्! आज तक तो मैंने इस चित्तरूपी वृक्ष के डाल ही काटे हैं, जिससे सदैव दुखी रहा और आप कहते हैं कि अहं ही दुखदाई है इसलिए मुझे अहं की उत्पत्ति बताने की कृपा कीजिये? इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा—शुद्ध चेतन में जो अहं भाव का स्फुरण होता है कि 'मैं हूँ' वही उसका रूप है और वही उसकी उत्पत्ति मिथ्या संवेदन है। जब इस शुद्ध आत्मा में अहं भाव फुरता है तब उसमें संसारी मोह उत्पन्न होता है। इसलिये इस अहं भावको जो दुःख देने वाला है यदि उसका त्याग करो तो शान्ति में स्थित हो जावोगे। पुनः राजा के ऐसा प्रश्न करने पर कि वह कौन वस्तु है जो जलाने योग्य है और वह कौन अग्नि है जिसमें वह जल सकता है—कुम्भज ऋषि ने कहा—हे त्यागवानों में श्रेष्ठ! तू अपने स्वरूप को देखकर विचार कर कि 'मैं क्या हूं' और यह संसार क्या है इसका दृढ़ विचार करना ही अग्नि है और मिथ्या अनात्मा आदि इन्द्रियों में जो अहं भाव है उसे क्षणभंगुर समझकर उस अग्नि में जला दे। ऐसा करने से चिन्मात्र ही शेष बचेगा। हे राजा! तूने मेरे इस उपदेश से क्या सार निकाला है वह मुझे बता? उस पर राजा ने उत्तर दिया कि मैं राज, पृथ्वी, पर्वत, आकाश, दशों दिशा, रुधिर, माँस देह कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहङ्कार से रहित शुद्ध आत्मा हूं, किन्तु हे भगवन्! यह अहंरूपी कलङ्क मुझमें कहाँ से लगा कृपाकर बतलाइये। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा हे राजन्

मैंने जिसका त्याग किया है उसी का त्याग तुम भी करो किन्तु इसका स्फुरण न होने पावे कि मैं सर्वत्यागी हूँ और सदैव शून्य भाव होकर निर्मल आकाश की भांति विचरोगे। इस पर राजा ने कहा कि हे भगवन् ! यह मैं जानता हूँ कि मैं शुद्ध सर्वात्मा हूँ और सब में मेरा प्रकाश है और आपकी कृपा से यह भी जान गया हूँ कि चित्त ही संसार का बीज है और चित्त का बीज अहंकार है, और मेरा स्वरूप शुद्धात्मा है और मुझ में अहं भाव नहीं। हे भगवन् ! यद्यपि आप इस अहं रूप कलङ्कता का नाश करना चाहते हैं किन्तु यह पुनः आ फुरता है मैं राजा शिखरध्वज हूं और सदैव संसारी मोह मुझमें लगा रहता है अस्तु इसके नाश करने का उपाय आप मुझे बतलाइये ? इसपर कुम्भज ऋषिने कहा—हे राजन् ! बिना कारण कोई कार्य नहीं होता और यदि अकारण भासे तो वह भ्रम मात्र और मिथ्या है और जिसका कारण प्रकट हो उसे सत्य समझना। यदि तू अहङ्कार का कारण बतलादे तो पुनः तुझसे एक और प्रश्न करूँगा। इस पर राजा ने कहा-हे भगवन् ! यह शुद्ध आत्मा ही अहङ्कार का कारण है। कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन् ? पहले इस आत्मा के जानने का कारण बता, फिर तुझे इसके दूर होने का उपाय बताऊँगा। हे राजन् ! जिस कार्य का कारण सत् होता है उसका कार्य भी झूठा होता है और जिसका कारण झूठा होता है उसका कार्य भी झूठा होता है जैसे भ्रमदृष्टि वालों को आकाश में दो चन्द्रमा का ज्ञान होता है तो उसका कारण भ्रम हुआ, इसी को संवेदन का कारण भी कहते हैं जो दृष्टि और अदृश्यरूप होकर स्थित है। राजाने कहा—हे देवपुत्र ! जानने का कारण तो देहादिक रूप हैं क्योंकि जाना तभी जाता है जब आगे जानने योग्य कोई वस्तु होती है और जब आगे कोई नहीं है तो उसका जानना कठिन है। कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्। ये देहादिक मिथ्याभ्रम से हुए हैं, इसका कारण कुछ नहीं है। इस पर राजा ने कहा—हे देवपुत्र ! इस देह का कारण तो प्रत्यक्ष ही है क्योंकि यह खाता पीता है और पिता से इसकी उत्पत्ति है,

और प्रत्यक्ष कार्य करता दृष्टि आता है। फिर आप कैसे कहते हैं कि यह अकारण और मिथ्या है? पिता का कारण कौन है? पिता और पुत्र दोनों मिथ्या हैं? कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन तू मुझसे पूछता है कि कौन है? हे राजन्! सुन, पुत्र का कारण पिता और पिता का कारण पितामह है, इसी प्रकार परम्परा से सबका कारण ब्रह्मा है। ब्रह्मा से पहिले काष्ठ पर्यन्त तक सब सृष्टि की रचना है और देह भ्रमित होकर भासता है। जिस प्रकार मृगतृष्णा और सीप में मोती भासता है उसी प्रकार इस आत्मा में देह भासता है और यह संसार भी भ्रमवश भासता है। यदि तू यह कहे कि क्रिया कैसे दृष्टि आती है तो उसका भी कारण बतलाता हूँ सुन, जैसे कोई वन्ध्या के पुत्र को भूषण पहिनाता है तो यह एक दम मिथ्या है क्योंकि वन्ध्या के तो पुत्र होते ही नहीं तो उसे कोई भूषण कैसे पहिनायेगा अथवा जिस प्रकार स्वप्न में भ्रमवश समस्त क्रियायें भासती हैं उसी प्रकार यह संसार तुम्हें भ्रमवश दिखाई देता है। जब यह सब भ्रम दूर हो जायेगा तो केवल शुद्ध आत्मा ही भासेगी। जिस प्रकार तू अपना देह जानता है उसी प्रकार ब्रह्म को भी जानता और अब ऐसा ही कर जिससे तेरा भ्रम नष्ट हो जावेगा। तब राजा ने कहा हे भगवन्! यह मिथ्या है केवल एक आत्मा ही मुझे सत् प्रकट हुआ है। ऋषिने कहा—हे राजन्! अब मैं तुझे ब्रह्मा का कारण बतलाता हूँ उसे भी सुन। ब्रह्मा का कारण ब्रह्म है, वह अद्वैत अविनाशी और सर्वात्मा है। कारण, कार्य और द्वैत असत् है क्योंकि देश काल और वस्तु से इसका अन्त हो जाता है और इसमें परिणाम भी होता है और जो वस्तु परिणामी है वह सब मिथ्या है। किन्तु हे राजन्! आत्मा अद्वैत है वह भोगता और वह कर्म करता है। आत्मा स्वरूप से परिणाम को नहीं प्राप्त होता, वह पूर्ण और अद्वैत है और वह अद्वैत है तो उसमें कारण भी नहीं है। उसमें देश काल

का जब अन्त है और वह केवल चिन्मात्र पद है। हे राजन्! तेरे भ्रम क्रमशः नष्ट होते जाते हैं, इसलिये आशा है कि तू जागृत अवस्था को प्राप्त होजागा। तू अपने चेतन स्वरूप में स्थित होकर देख तो विदित होगा कि ब्रह्मा आदि सब परमात्मा के किञ्चनमात्र हैं और परमात्मा ही सबमें स्थित हुए हैं। किन्तु इसका ज्ञान चैतन्य रूप होने ही से होगा। इस पर राजा ने कहा हे भगवन्! अब मैं जागृत अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ और यह भी जानता हूं कि मैं आत्म-स्वरूप से निर्मल हूं। मुझमें कोई भिन्न नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तिरासीवा सर्ग समाप्त ॥८३॥

चौरासीवाँ सर्ग

राजा शिखरध्वज बोध वर्णन

राजा ने पुनः पूछा कि हे भगवन्! आपने कहा है कि ब्रह्मा का कोई कारण नहीं है! आत्मा तो अनन्त, अच्युत, अव्यक्त और अद्वैत ईश्वर है। उसमें परमाणु भी नहीं है किन्तु ब्रह्मा का कारण परब्रह्म हो सकते हैं। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा हे राजन्! तू ही कह रहा है कि आत्मा अनन्त है तो उसे देश काल और वस्तु का परिच्छेद कैसे हो सकता है? आत्मा तो अद्वैत है उसमें कार्य और कारण नहीं है। कारण, कार्य के पूर्व भी होता है और पीछे भी होता है। परन्तु आत्मा के तो न आदि में कारण है और न अन्त में। जब परिणाम होता है तब कारण भी होता है किन्तु आत्मा तो अच्युत है अपने स्वरूप से कभी नहीं गिरा, और भोक्ता भी अद्वैत से होता है किन्तु आत्मा अद्वैत है। आत्मा से आदि कोई नहीं है इसलिये आत्मा सिद्ध होने से सब सिद्धि हो जाती है और सब कार्य इन्द्रियों ही द्वारा सिद्धि होते हैं किन्तु आत्मा अव्यक्त है उससे किसी का कार्य नहीं हो सकता। जो कार्य होता है उसका कारण होता है किन्तु आत्मा तो स्वयं

सबका आदि है। हे राजन्! तेरा रूप सर्वात्मा और आकाश-वत् निर्मल है। इस पर राजा ने पूछा—हे भगवन्! मैं समझता हूं कि आत्मा अद्वैत है वह न किसी कारण है न कार्य है और न अनुभव रूप है और ऐसा ही मेरा स्वरूप है क्योंकि मैं निर्मल, विद्या-अविद्या के कार्य से रहित, निर्वाण पद और निर्वि-कल्प हूँ, और मुझमें कोई स्फुरण भी नहीं है।

श्री योगवासिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौरासीवां सर्ग समाप्त ॥८०॥

पिचासीवां सर्ग

राजा शिखरध्वज-बोध वर्णन

कुम्भजऋषि का उपदेश ग्रहण कर राजा शिखरध्वज, निर्वि-कल्प और स्फुरण से रहित होकर निर्वाण पद में स्थित हो गया तब ऋषि ने राजा को जगाकर कहा कि तुझ में अब केवल आत्म मात्र रह गया है तुझे उत्थान और समाधि लगाने से क्या प्रयोजन? मैं यह भली प्रकार जानता हूं कि तू अविद्यारूपी डिब्बे से निकलकर परमज्ञान को प्राप्त हुआ है। किन्तु अब तू संसार के रागद्वेष से रहित शान्तरूप और जीवनमुक्त होकर विचर। तुझे कोई दुःख न होगा। ऐसा उपदेश सुनकर राजा शान्तरूप हो गया और पुनः कुम्भजऋषि से यह प्रश्न किया कि, हे भगवन्! आत्मा तो केवल एक है जो शुद्ध और आकाशवत् स्वच्छ है। उसमें द्रष्टा दर्शन और दृश्य त्रिपुटी कहाँ से उपजी? इस पर कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! यह जो स्थावर जगमरूप संसार है वह तो प्रलय पर्यन्त है। जब महाप्रलय होता है तो केवल स्वच्छ आत्मा ही शेष रहता है, न वहां तेज है और न अन्धकार, वह अपने स्वभाव में ही स्थित रहता है। इसी आत्मा से सारा सुख है जो सत् असत् से रहित भी है। बुद्धि जिसे 'इन्द्र' कहती है वही सत् और जिसे न कहे वही असत् है और यह संसार उसी परमात्मा का चमत्कार और ब्रह्म रूप है, जो ब्रह्म से भिन्न है उसे मिथ्या भ्रम ही जानना। हे राजन्!

जब इस आकार मिथ्या है तो तेरी संवेदन भी मिथ्या हुई । आत्मा में कोई अहं भाव का उत्थान नहीं, वह केवल ज्ञान मात्र, सत् और आनन्दरूप, अविद्या तम से रहित प्रकाशवान है । वह प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह न तो इन्द्रियों का विषय है और न मन की चिन्तना है । उसे तो स्वयं सबका अनुभव है । अस्तु हे राजन् ! तू उसी ब्रह्मरूप में स्थित हो । आत्मा तो बड़े से बड़ा, सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है, उसमें आकाश एक अणु की भांति प्रतीत होता है और ब्रह्माण्ड एक तृण के समान है। वह स्वयं पूर्ण है उससे किसी भी विषय की उत्पत्ति नहीं है और नाना प्रकार से स्थित है । यह संसार फुरते भासता है और जब स्फुरण रहित हो जाता है तो केवल शुद्ध आत्मा ही शेष रह जाता है । राजा ने कहा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि संसार स्फुरण मात्र और आत्मा शुद्ध, शान्तिरूप और निर्विकल्प है तो उसमें संवेदन का स्फुरण कहाँ से हुआ ? कुम्भजऋषि ने कहा हे राजन् ! फुरना आत्मा ही का चमत्कार है । जैसे वायु-स्पन्द और निस्पन्द दो शक्तियों का सन्मेलन है और जब ये दोनों शक्तियाँ फुरती हैं तब वायु चलता है और जब दोनों शक्तियाँ बन्द हो जाती हैं तब वायु का वेग भी बन्द हो जाता है । उसी प्रकार जब संवेदन फुरता है तो जगत भासता है और जब फुरना बन्द हो जाता है तो केवल शुद्ध आत्मा ही भासता है । हे राजन् ! आत्मा केवल सत्तामात्र है और यह संसार भी वही सत्तामात्र ही है । यदि सम्यक दृष्टि से देखिये तो आत्मा ही भासता है और जिसको आत्मा का ज्ञान होता है उसे सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि आत्मा अपने आप का नाम है और यदि असम्यक दृष्टि से देखा जाय तो दुःख से सम्पन्न संसार दृष्टि आता है और उनको दुःख ही दुःख प्राप्त होता है । हे राजन् ! अहंता और संवेदन, चित्त और चैत्य भी आत्मा ही के पर्यायवाचक हैं । आत्मा केवल एक रस और अपने आप में स्थित है यह कभी परिणाम को नहीं प्राप्त होता । यह जो संवेदन है, सब आत्मा का चम–

कार है और आत्मा सत् असत् से परे है। जो दृश्य है सब इसका रचा हुआ है। हे राजन्! कारण, कार्य तब होता है जब दृश्य होता है किन्तु आत्मा किसीका विषय नहीं है तो कारण कार्य किसको हो? आत्मा तो विश्वके आदिमें भी है मध्यमें है और अन्तमें भी है। इसके परे जो कुछ भासता है वह सब मिथ्या है। तब राजा ने कहा हे भगवन्! अब मैं भली भांति जान गया कि आत्मा चिन्मात्र, ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों से परे है। देश, काल और इन्द्रियाँ मन ही से जानी जाती हैं किन्तु हे भगवन्! जहाँ इन्द्रियाँ और मन ही नहीं हैं वहाँ देश काल भी नहीं होता है। इस पर कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! यदि तूने यह जान लिया है तो तुझे ज्ञान हो गया है। आत्मा में देश काल कुछ नहीं होता क्योंकि देश और काल इन्द्रियों ही से जाना जाता है यदि इससे रहित कर देखा जाय तो केवल शुद्ध आत्म ही से भासेगा। यदि इन्द्रियों से देखा जाय तो संसार ही दृष्टि आता है। यदि तू मन और इन्द्रियों से रहित होकर देखे तो तुझमें संसार की कोई भावना नहीं रह जायगी। संसार की भावना तभी तक है जब तक मन और इन्द्रियों का संयोग है। इसलिए हे राजन्! तू ब्रह्म से ब्रह्म और जो पूर्ण है उसे देख जिसमें तू भी पूर्ण हो जाय। इस प्रकार जब तू पूर्ण हो जायगा तो चारों ओर आत्मा ही का भान होगा; और उस निर्वाण पद को प्राप्त होगा जहाँ इन्द्रियों का गम नहीं प्रत्युत केवल आकाशरूप है। जिस प्रकार आकाश शून्य है उसी प्रकार तू अपने चेतन स्वभाव से पूर्ण हो जायगा। तत्पश्चात् यदि मन सहित षट इन्द्रियों से रहित होकर देखेगा तो भी और यदि इनके सहित देखेगा तो भी यह चेतन आत्मा ही भासेगा और संसार का अर्थ तेरे निकट से उठ जायगा। केवल आकाशरूप आत्मा ही भासेगा। यह संसार केवल संवेदन मात्र है जो चित्त शब्द का चमत्कार और ब्रह्म रूप होकर स्थित है। जब यह शक्ति अन्तर्मुख होती है तो सदा एक रस आत्मा ही दृष्टि आता है। जब बहिर्मुख होती है तो संसार दृष्टि आता है। जो जैसी

भावना करता है उसको वैसा ही दृष्टि आता है। इसलिए हे राजन् ! जो सदैव एक रस और असंसारी है उसी आत्मा की भावना कर जिससे तुझे आत्मा ही का भास हो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पचासीवां सर्ग समाप्त ॥८५॥

——०::❀::०——

छियासीवां सर्ग

शिखरध्वज बोध वर्णन

कुम्भज ऋषिने कहा—हे राजन् ! यह संसार जो तुझमें भासता है वह आत्मा में नहीं है। शुद्ध आत्मा में जो अहं का उत्थान है वही संसार है। किन्तु अहं का वह चमत्कार न सत् है, न भीतर है, न बाहर है, न शून्य है, न अशून्य है, वह तो अपने आपमें स्थित है। संसार का प्रध्वन्सा भाव भी नहीं होता अर्थात् पहले हो और पीछे नाश हो जाय। आत्मा में संसार का उदय अस्त नहीं होता। वह केवल अपने ही में स्थित है। किन्तु आत्मा को यह भी नहीं कह सकते कि केवल अपने में स्वाभाविक स्थित है, उसमें वाणी की गम नहीं। हे राजन् ! आत्मा तो शुद्ध निर्विकार और प्रमाणों से रहित है तो इसका कार्य कारण कैसे हो सकता है ? कार्य कारण तब होता है जब प्रथम परिणाम और क्षोभ को प्राप्त होता हो। पर आत्मा तो शान्तरूप है। फिर कारण तब होता है जब क्रिया से कार्य उत्पन्न होता है परन्तु आत्मा अक्रिय है। कार्य से कारण का ज्ञान होता है परन्तु आत्मा चिह्न से रहित और प्रमाणों का विषय नहीं। इसलिये आत्मा किसी का कार्य कारण नहीं हुआ। हे राजन् ! इस संसार में सब वस्तुयें होती हैं और उनका नाश भी होता है और पुनः उत्पन्न भी होती हैं परन्तु आत्मा, अजन्मा अविनाशी, आदि और निर्विकार है। इसलिये हे राजन् ! तू भी इस आत्मपन में स्थित होजा तो यह सारा जगत अज्ञान मय प्रतीत होगा

और तुम्हें एक रस आत्मा का ज्ञान हो जायगा । तू शून्य आकाश की भांति निर्मल हो जायगा ।

श्री योगवासिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का छियासीवां सर्ग समाप्त ॥८६॥

सत्तासीवां सर्ग

शिखरध्वज बोध-वर्णन

कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन् ! जो कुछ तुम देखते हो सब चिद्-घन है, उसमें 'मैं' और 'तुम' इत्यादिक जितने शब्द हैं सब केवल प्रमाद से ही होते हैं, अन्यथा आत्मा से इतर कुछ नहीं हैं, जब तुम आत्मा में स्थित होकर देखोगे तब तुम्हें ज्ञात होगा कि इसमें 'अहं त्वं कुछ नहीं । यह 'मैं' 'तुम' आदि की जितनी संज्ञायें हैं सब की कल्पना चित्त ने की है । चित्त से रहित हो जाने पर यह सारी कल्पनायें नष्ट हो जाती हैं । 'सब कुछ ब्रह्म है' यह शब्द वेद का सार है, जब इस शब्द की दृढ़ भावना हो जाय तब चित्त नष्ट हो जायगा और केवल एक रस आत्मा ही दृष्टिगति होगा और तुम उस दुःख रहित पद को प्राप्त होवोगे कि जो सदा मुक्तरूप और सबका आदि रूप है । यह सुनकर शिखरध्वज ने कहा हे भगवन् ! आपने तो चित्तनाश का उपाय बतलाया है उसे मैं यथार्थरूप से न समझ सका । अतः कृपा कर मेरी दृढ़ता के लिये फिर समझाइये कि यह चित्त कैसे नष्ट होगा ? कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन् ! जब यह चित्त कुछ है ही नहीं, तब मैं तुझे क्या क्या समझाऊं ? यदि यह तुम्हें दिखलाता भी है तो उसे आत्मा ही जानो । महा सर्ग के आदि और अन्त तक सारा विकास आत्मा ही से होता है । फिर चित्त के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है । पहले जो कुछ मैंने कहा है वह केवल तुम्हें समझाने के लिये कहा है, अन्यथा चित्त तो कुछ है नहीं, केवल वासनायें ही चित्त को प्रकट करने वाली हैं । पर जब वासना ही न रहे तब चित्त कहाँ ? और संसार कहाँ ? अस्तु चित्त कुछ नहीं है । सारा विश्व आत्मा ही का चमत्कार

है और यह सारी सृष्टि उसी में स्थित है, पर वह निरालम्ब और अपने आपमें स्थित है इस कारण उसमें सृष्टि की कोई भी वास्तविकता नहीं। यही कारण है कि महा प्रलय के समय सारा संसार नष्ट हो जाता है और केवल निराकार और शुद्ध आत्मा ही शेष रहता है। इस प्रकार संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक महा प्रलय नहीं होता। अधिक क्या कहें यदि एक क्षण के लिये भी आत्म साक्षात्कार होजाय तो उसी समय सृष्टि का अन्त होजाता है। इस कारण मैं इस संसार की स्थिति को नहीं मानता। संसार की स्थिति को जो मानता है वह मूर्ख है वेद-शास्त्र भी ऐसा कहते हैं और लोकजन भी ऐसा ही कहते हैं कि यह संसार मिथ्या है। फिर इसमें क्या विश्वास किया जाय, विश्वास करना तो मूर्खता है। पर आत्मा सदा अपने आप स्थित अच्युत और शुद्ध है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सत्तासीवां सर्ग समाप्त ॥८७॥

अट्ठासीवाँ सर्ग

शिखरध्वज बोध वर्णन

कुम्भज ऋषि ने कहा—हे राजन्! यह आत्मा शुद्ध और आकाश से भी निर्मल है पर इससे हमको विकारता जो उत्पन्न हुई है वह अहंरूपी मोह से उत्पन्न हुई है और इस मोह को अविचार भी कहते हैं। जब विचार का ज्ञान होजाता है, तब अहं का भी नाश हो जाता है यह सब विश्व संवेदन में स्थित है। जब संवेदन अन्तर्मुख होता है तब सब विश्व लीन हो जाता है। बन्ध और मुक्ति भी संवेदन ही में है। जब यह बहिर्मुख होता है तो बन्ध और जब अन्तर्मुख होता है तब मोक्ष होता है। जिसने इन्द्रियों से रहित होकर देखा है उसे अपना आप दिखाई दिया और जो मोह संयुक्त देखा है उसे विपर्यय भासता है। चिरकाल के अभ्यास से बुद्धि इनमें फुरती है तो भी चेष्टा होती है और उसमें केवल आत्मा ही का किञ्चन होता है। शब्द

अर्थ की भावना से भावना होती है और जब अभिलाषा निवृत्त हो जाती है तब कोई दुःख नहीं होता। इसीको मुनीश्वरों ने निर्वाणपद बतलाया है। जब निर्वाण पदका ऐसा निश्चय ज्ञात हो जाता है,तब यह जीव शान्तरूपमें स्थित होजाता है। हे राजन्! यह अहं का उत्थान ही बन्धन है और इससे निर्वाण होनेसे मुक्ति होती है। जब तक अहं है तब तक संसार है और जब तक संसार है तब तक अहं का उत्थान है। इसलिये जब तक अहं का भ्रम है तब तक दुःख भी रहता है जब संसार की सत्ता जाती रहेगी तब अहं का फुरना भी नष्ट हो जायगा और केवल शुद्ध आत्मा ही शेष रहेगा और तब उसी का भास होगा। हे राजन्! जिसको सर्व ब्रह्म की बुद्धि होती है उसको संसार की बुद्धि नहीं होती और जिसको संसार की बुद्धि होती है उसको ब्रह्म-बुद्धि का विकास नहीं हो सकता। जैसी जिसकी भावना होती है उसको वैसा ही भासता है। हे राजन्! अब तू ब्रह्म स्वरूप हुआ है जो शुद्ध निर्मल और प्रत्यक्ष है और इसमें न शब्द है न कोई लक्षण है परन्तु इसमें इन्द्रिय विषय है। हे राजन्! ऐसी आत्मा जो केवल अद्वैत और विश्व जिसका चमत्कार है भला इसका कारण कार्य कहाँ से हो सकता है? यद्यपि आत्मा में नाना प्रकार का विश्व संवेदन फुरता है किन्तु वह तो भी आत्मा से विभिन्न नहीं होता। जैसे शिल्पी की कल्पना खम्भे तथा पुतलियाँ बनाने के समय होती है और जब वह कल्पना भङ्ग हो जाती तो केवल खम्भा ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार यह संसार भी कल्पना मात्र है और जब सङ्कल्प अन्तर्मुख होता है तब संसार की सत्ता भी जाती रहती है। जो वस्तु सत् होती है उसका कभी नाश नहीं होता है। किन्तु यह संसार तो संवेदन रूप ही है इसलिये इसका नाश भी हो जाता है। जब चित्त फुरने से रहित हो जायगा तो आत्मा को स्वयम् जानेगा और अशब्द पद को प्राप्त होगा। हे राजन्! सर्व शब्द और सर्व की अभावना ही ब्रह्म है। जब सम्यक

दृष्टि होती है तो शेष आत्मा ही भासता है और संसार ब्रह्म की भावना भी नहीं रह जाती केवल ज्ञेय मात्र ही रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अट्ठासीवां सर्ग समाप्त ॥ ८८ ॥

नवासीवाँ सर्ग

परमार्थोपदेश वर्णन

कुम्भजऋषि बोले-हे राजन्! वह आत्मा कार्य और कारण से परे तथा चेतनमात्र है। उसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। वह ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है। यह सारा संसार उसी आत्मा में स्थित है। पर अज्ञानी उसमें व्यर्थ ही नाना प्रकार की कल्पना करते हैं। किन्तु ज्ञानीजन उसे अजन्मा अविनाशी और निरञ्जन भी जानते हैं। हे राजन्! जब तू उन्हीं ज्ञानियों की भांति इस संसार को देखेगा तब तुझे ज्ञात हो जायगा कि यह सारा संसार चित्तकी कल्पना है और इस चित्तकी उत्पत्ति अज्ञानसे हुई है। स्वरूप में तो चित्त है न अज्ञान और न संसारही है, केवल अद्वैत मात्र चित्त है। इस प्रकार अज्ञान के नष्ट होने पर 'मैं' 'तुम' आदिक चित्त का स्फुरण नष्ट हो जाता है और भ्रमदृष्टि नहीं आती। कुम्भजऋषि के ऐसे वचनों को सुनकर राजा शिखरध्वज ने कहा-हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अज्ञान क्या है और इसका नाश कैसे होता है? कुम्भजऋषि ने कहा-हे राजन्! पदार्थों को ठीक रूप से न जानना ही अज्ञान है। जैसे रस्सी को सर्प जानना और सूर्य की किरणों में जल प्रतीत होना, अज्ञान और भ्रम नहीं तो क्या है? जब इस प्रकार के भ्रम निवृत्त हो जायँ और सब पदार्थों की ठीक २ पहिचान हो जाय तब उसे ज्ञान की अवस्था कहते हैं। हे राजन्! अज्ञान को उत्पन्न करने वाला चित्त है। इस चित्त को चित्त ही नाश कर सकता है। जिस प्रकार वायु ही अग्नि को उत्पन्न करने वाला और वायु ही से अग्नि शान्त होती है उसी प्रकार तू चित्त को चित्त से ही शान्त कर।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का नवासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८९॥

नब्बेवाँ सर्ग

राजा-बोध-वर्णन

वशिष्ठजी कहते हैं कि, हे रामचन्द्रजी ! कुम्भजऋषि के ऐसे तत्वमय उपदेश को सुनकर राजा शिखरध्वज को बड़ी शांति प्राप्ति हुई। उसने एक क्षण के लिये नेत्र बन्द कर लिया। जैसे पाषाण पर कोई मूर्ति खींची हो वैसे ही वह निर्विकल्प हो स्थित रह गया। पश्चात् उठकर ऋषिसे कुछ कहना ही चाहता था कि कुम्भजने कहा—हे राजन् ! अब तेरा अज्ञान नष्ट हो गया और जिस ज्ञेय वस्तु के जानने की आवश्यकता थी वह अब जान चुका यह कह तुम्हें शांति प्राप्त हुई या नहीं ? राजाने कहा—हे भगवन् ! अवश्य, आपकी कृपासे मुझे उत्तमपद प्राप्त हुआ जिससे मेरे समस्त दुःख निवृत्त हो गये और जागृत हो गया। भगवन् ! मैं आत्मा हूँ मुझमें चित्त नहीं और मैं अपने आपमें स्थित हूँ इत्यादि तत्व को अब मैं यथार्थ रूपसे जान गया। इस प्रकार अपने स्वभाव को पाने से अब मुझे कोई इच्छा नहीं और सबसे परे जो पद है उस पदको अब मैं प्राप्त होगया। हे भगवन् ! अब मुझे एक शङ्का यह हो रही है कि जैसा उपदेश आपने किया है ऐसे कई बारके उपदेशों को मैं पहले भी श्रवणकर चुका था पर उस समय ऐसा क्या कारण आया कि मैं सचेष्ट न हो सका और दुःखों ने मुझे नहीं छोड़ा। कुम्भजऋषि ने कहा, हे राजन् ! ज्ञान अधिकारी को प्राप्त होता है अनधिकारी को नहीं। अधिकारी वह है जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो और अन्तःकरण उसका शुद्ध होता है जो वासनाओं से रहित होता है। अतः वासना रहित और शुद्ध अन्तःकरण में ही सन्तों की वाणी प्रवेश करती है जिस प्रकार कोमल कमल की जड़ में बाण शीघ्र ही वेध देता है उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में उपदेश की वाणी शीघ्र ही प्रवेश कर जाती है। हे राजन् ! इस समय तेरा अन्तःकरण शुद्ध था जिससे मेरे उपदेश करने पर उसने ग्रहण कर लिया। हे राजन् जब दर्पण स्वच्छ होता है तब उसमें

प्रतिबिम्ब ठीक २ आजाता है। जैसे उज्वल वस्त्र पर कुसुम्भी रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है वैसेही शुद्ध अंतःकरण पर संतो के वचन शीघ्र ही प्रवेश कर जातेहैं पर जब तक अंतःकरण शुद्ध नहीं होता तब तक चाहे कैसा भी उपदेश क्यों न किया जाय, वह स्थित नहीं हो सकता। जब भोगोंसे वैराग्य होता है और सिवा आत्मपद की इच्छाके कोई अन्य वासना नहीं रहती तब स्वरूपका साक्षात्कार होता है। हे राजन्! इस समय तक तू सब कुछ त्याग चुका था और तेरे समस्त ज्ञानों का नाश होकर कोई उपाधि शेष न रह गई थी। इससे मेरे उपदेश ने तुझ पर अपना प्रभाव डाल दिया। चित्त की एक ऐसी उपाधि है जिसके द्वारा सब दुःख प्राप्त होता है और यदि यह नष्ट हो जाता है तो कोई दुःख नहीं रह जाता। अब तू शांतिपद को प्राप्त हो गया है इसलिये सुखसे विचर। तुझे दुःख, शोक और भय कुछ नहीं हैं। राजा ने पूछा—हे भगवन्! अज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध है और ज्ञानी चित्त से सम्बन्ध नहीं रखते और जो स्वरूप में स्थित है वह बिना जीवनमुक्त क्रिया को कैसे प्राप्त होते हैं? इस पर कुम्भज ऋषिने कहा, हे राजन्! तू सत्य कहता है कि ज्ञानी को चित्त से सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार पत्थर की शिला में अँगुली नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानीको चित्त से सम्बन्ध नहीं होता। हे राजन्! चित्त वासनारूप है और वासना ही से जन्म मरण की उत्पत्ति है। इसलिये उससे ज्ञानी पुरुष सदैव अलग रहते हैं और अज्ञानी उसीमें बँधे रहते हैं। जिसके कारण वे जरा मरण से कभी छुटकारा नहीं पाते। ज्ञानी जो शान्तिरूप में स्थित हैं उनको न बन्ध है न मोक्ष है। बल्कि प्रारब्धानुसार सब भोग भोगता है और एक सर्वात्मा ही में स्थित रहता है। यद्यपि वह इन्द्रियों से कुछ चेष्टा करता है तो भी वह सर्व ब्रह्म ही में लीन रहता है और क्रिया करने में वह तनिक अभिमान नहीं रखता कि 'मैं कहता हूं' और मैं भोगकर रहा हूँ। अज्ञानी यह गर्व करते हैं कि मैं ही सब कुछ करने वाला हूँ और यह संसार सत्य है, वे सदैव इसी सङ्कल्प-विकल्प

में लगे रहते हैं पर, ज्ञानीको यह संसार असत्य प्रतीत होता है और वे अपने को अकर्त्ता, अभोक्ता समझते हैं। जिस वस्तुपर चेष्टा होती है वह अभिलाषा रहित रहती है। जब तक चित्तसे सम्बन्ध रहता है तब तक यह सारा संसार सत्य प्रतीत होता है और सारा कार्य करने वाला अपने ही को जानता है। परन्तु जब चित्त नष्ट हो जाता है तो यह संसार कहाँ और फुरना कहाँ? हे राजन्! अब तूने चित्तको त्याग दिया इसलिये सर्वत्यागी होगया। पहले तूने राज्य का त्याग किया था जिसमें तेरा कुछ वश नहीं, फिर तमका और फिर वनमें अपनी सारी सामग्रीका किन्तु अब तूने वह वस्तु भी त्याग दिया है कि जो त्यागने योग्य 'अहंभाव' था और अब तू सर्व त्यागी हुआ है और शांतपद में स्थित हुआ है। हे राजन्! जैसे क्षीर समुद्र मन्दराचल पर्वत से रहित होकर शांतपद में स्थित हुआ है उसी प्रकार तू भी अज्ञान से रहित होकर शांतपद में स्थित हुआ है। इस प्रकार तूने चित्त का त्याग किया इसलिये तू अद्वैत सर्वात्मा हुआ है। हे राजन्! जो ज्ञानी हैं और पूर्णरूप से चित्त का त्यागकर चुके हैं उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता और तू भी उसी पदको प्राप्त हुआ है, जहाँ स्वर्गादिक सुख भी तुच्छ है। क्योंकि स्वर्ग में भी अतिशय और क्षय होता है। जब पुण्य वाले अपने से ऊँचा किसी को देखते हैं तो चाहते हैं कि हम भी ऐसे ही हो जावें तो उसे अतिशय कहते हैं और क्षय उसे कहते हैं कि ऐसा न हो कि ऐसे सुखों से गिरूँ। स्वर्ग में भी दो प्रकार का दुःख है किन्तु तूने तो पाप, पुण्य दोनों का त्याग किया है और अब सर्वत्यागी हुआ है जो अज्ञानी, पापी जीव हैं उनको स्वर्ग ही भला है। जैसे जब तक सोने का पात्र नहीं मिलता तब तक पीपल का ही पात्र अच्छा होता है, उसी प्रकार स्वर्ग का जो ज्ञानरूपी पात्र है जब तक नहीं प्राप्त होता है तब तक पीपल का पात्र जो स्वर्गादिक है, नरक से कहीं भले हैं। परन्तु वह तुम्हारे जैसे को कुछ नहीं है। हे राजन् आत्मा से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तू वर्णाश्रम में क्या

पड़ा ? जहाँ से इनकी उत्पत्ति है, जहाँ लीन होते हैं और मध्य में जिस अज्ञानवश दिखलाई पड़ते हैं उसी में स्थित हो । हे राजन्! सङ्कल्प विकल्प में मत स्थित हो बल्कि जिसमें ये उत्पन्न और लीन होते हैं उसीमें स्थित हो । हे राजन्! इच्छा प्रकट करने से आत्मपद नहीं प्राप्त होता है, वह तो स्वयं ही प्राप्त होता है । हे राजन्! आत्मा तो तेरा स्वयं है और उसी से जब सिद्धियाँ होती हैं । तपादिक कर्मों को चित्त से क्या कलना कर रहा है । तू अपने आपको देख कि अनुभवरूप है और सर्वदा अपने आपमें स्थित है । जब तू स्वयं अपने आपको देखेगा तब तपादिक कर्मों को छोड़कर शोभा पावेगा । जिस प्रकार बादलके दूर हो जाने पर निर्मल चन्द्रमा शोभा पाता है उसी प्रकार भोग की चपलता को त्यागकर तू भी शोभा पावेगा । जब तू इन्द्रियजित होकर सब पदार्थों को त्यागकर वासना से रहित हो जायगा तब ज्ञान को प्राप्त हो जायगा । जिसने ऐसा त्याग कर दिया है वह विष्णु के तुल्य है और सब राज्य का स्वामी है, जिसने केवल मन जीता है उसकी चेष्टा ज्यों की त्यों बनी रहती है और समाधि में भी वैसा ही रहता है जैसे पवन चलने और ठहरने में तुल्य है वैसे ही ज्ञानी को कहीं खेद नहीं होता । तब राजा ने पूछा—हे भगवन्! ज्ञानी स्पन्द और निस्पन्द में एकसा कैसे रहते हैं कृपाकर बतलाइये ? कुम्भजऋषि ने कहा—हे राजन्! चेतन आकाश, आकाश से भी स्वच्छ है जब उसका साक्षात्कार होता है तो सर्वत्र चेतनमय प्रतीत होता है । जिस प्रकार समुद्र को देखने से तरङ्ग और बुदबुदे जल का ही रूप प्रतीत होते हैं उसी प्रकार चित्त को बिना आत्मा का यथार्थ ज्ञान हुए फुरने में भी आत्मा ही का ज्ञान होता है । जिसको आत्मज्ञान नहीं है उसे यह संसार नाना प्रकार से भासता है । जैसे अज्ञानी को तरङ्ग और बुदबुदे जल से भिन्न प्रतीत होते हैं, जलका ज्ञान हो जाने से तरङ्ग और बुदबुदे सब जल ही में भासते हैं । हे राजन्! उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि वाले को संसार आत्मरूप है और मूर्खों को संसार ही का ज्ञान रहता है । इसलिये तू सम्यकदर्शी बनकर

देख कि यह सारा संसार आत्मरूप ही है और यह कैसे प्राप्त होता है उसकी भी विधि सुन। सम्यक दर्शन सन्त का साथ करने और सत् शास्त्र के विचार से प्राप्त होता है। जब विचार दृढ़ हो जाता है तब स्वरूप का साक्षात्कार होता है और जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तो स्पन्द और निस्पन्द एक भाव हो जाता है। हे राजन्! तेरे घर हे ब्रह्मवेत्ता चुड़ैला थी उसका त्यागकर तूने वन में आ तप को आरम्भ किया इससे बड़ा दुःख पाया। परन्तु अब तू जागा है और तेरा दुःख नष्ट हुआ है और शान्तपद को प्राप्त हुआ है। जैसे अनजाने रस्सी से सर्प का ज्ञान होता है और भली प्रकार जान जाने पर रस्सी प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार जिसने निस्पन्द होकर अपना स्वयं देखा है उसको फुरने में भी आत्मा ही भासता है और जब मनकी चपलता मिट जाती है तब तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है जो वाणी से नहीं कहा जा सकता। हे राजन! तू भी अब उसी पद को प्राप्त हुआ है जो मन और वाणी से रहित तुरीयातीत पद है। वहाँ कोई क्षोभ नहीं केवल शान्तिपद है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का नव्वेवां सर्ग समाप्त ॥९०॥

इक्यानवेवाँ सर्ग

शिखरध्वज स्त्री प्राप्ति वर्णन

कुम्भज ऋषि ने राजा को इस प्रकार उपदेश देकर कहा, हे राजन्! अब मैं अपने स्थान को प्रस्थान करता हूं क्योंकि अब स्वर्ग में ब्रह्मा के समक्ष देवतागण उपस्थित हुए होंगे, यदि वहाँ मुझे मेरे पिता ने न देखा तो वे बहुत ही क्रोध करेंगे। हे राजन्! जो पुरुष कल्याणकारी हैं वे बड़े की प्रसन्नता पर विशेष ध्यान देते हैं। मैंने जो ऐसा उपदेश किया है कि सम्पूर्ण वासना को त्याग कर किसी में बँधकर न रहना वह सब शास्त्रों का सार है। जब तक मैं यहाँ न आऊँ आत्मा स्वरूप में स्थित न रहकर और सर्व त्यागी जीवन चाहे जैसे विचरा करना। जब कुम्भज मुनि जाने के लिये

उठ खड़े हुये तो राजा अर्घ्य और फूल आदि पैरों पर चढ़ाकर पूजा करने के निमित्त उठ खड़े हुए परन्तु वे मारे स्नेहके मूर्तिवत्‌ही रह गये। इतने में कुम्भज ऋषि अन्तर्धान हो गये। राजा मुनि को आगे न देख विचार करने लगा कि देखो ईश्वर की नीति नहीं जानी जाती कि नारद मुनि कहाँ? उसका पुत्र कुम्भज कहाँ? और मैं कहाँ? मालूम होता है कि किसीने मुझे कुम्भऋषि का रूप धारण कर जगाया है। यह बहुत बड़ा ऋषि है कि जिसने मुझे अज्ञानरूपी गर्त से निकाल कर स्वरूप की प्राप्ति दी और मेरे सम्पूर्ण संशय नष्ट कर दिये और मैं अज्ञान निद्रा से जागकर निदु:ख पद में स्थित हुआ। इधर राजा शिखरध्वज सम्पूर्ण इन्द्रियां स्थित कर मुनिवत आत्म स्वरूप में स्थित हुआ और उधर रानी चुड़ाला कुम्भज का वेष त्यागकर अपना मनमोहन रूप बना आकाश को लांघते हुए अपने नगर में पहुँची और स्त्री-समाज में पहुँचकर मंत्रियों को आज्ञा दी कि तुम लोग अपने-अपने स्थान पर स्थित हो जाओ और आप राजस्थान पर विराजकर प्रजा पर शासन करने लगी। निदान ऐसे तीन दिन व्यतीत कर पुनः कुम्भज का वेष बना उस स्थान पर आ विराजी जहाँ राजा ज्ञान में मग्न समाधि लगाये बैठे थे। ऐसा देख वह प्रसन्न हुई और विचार करने लगी कि प्रसन्नता की बात है कि जो राजा स्वरूप में स्थित होकर शान्तिपद का प्राप्त हुआ। रानी ने ऐसा देखकर राजा को जगाने के लिये सिंह की भाति गरजना की जिससे जङ्गल के पशु, पक्षी अपने-अपने स्थान त्यागकर भाग गये किन्तु राजा ज्यों का त्यों पड़ा रहा। पुनः हाथ से हिलाया तो भी वह उसी प्रकार निमग्न ही रहा, और पाषाण की भांति तनिक न हिला। रानी ने विचारा कि राजा कहीं शरीर-त्याग न करे, यदि ऐसा करेगा तो मैं भी यहीं शरीर त्याग दूंगी। रानी ने ऐसा सोचकर कि मुझे इनके साथ ही प्राण त्यागना उचित है उत्सुक हुई किन्तु इसका भविष्य परिणाम विचारने के लिये उसने नेत्रों पर हाथ फेरा और अपने शरीर से

उनके शरीर पर स्पर्श कर देखा तो अभी प्राण मौजूद थे। जब ऐसा ठीक-ठीक ज्ञान कर लिया तो विचार किया कि यह इसी से जीवन मुक्त होकर विचरेगा। रामजी ने वशिष्ठजी से कहा कि हे भगवन्! मुझे एक शंका हो रही है वह कृपा कर आप मुझे बतला दीजिये? वह यह है कि आपने कहा कि कुम्भज ने जब राजा के ऊपर हाथ फेरा तो वह पाषाण की नाईं पड़ा था और पुनः ऐसा कहते हैं कि कुम्भज ने हाथ फेर कर देखा तो उसके प्राण अभी शेष हैं तो ऐसा ज्ञान कुम्भज को कैसे हुआ? वशिष्ठजी ने कहा हे रामजी! जिस शरीर में पुर्यष्टका होती है उसमें एक प्रकार की हरियावलता होती है। हे रामजी! अज्ञान का चित्त रहता है और ज्ञानी का सत्व जो प्रारब्ध के वेग से फुरता है और ब्रह्मरूप के स्फुरण से वह पुनः शरीर पाता है। ज्ञानी को इष्ट और अनिष्ट एकसा है और अज्ञानी तो इष्ट में प्रसन्न और अनिष्ट प्राप्त होने पर अप्रसन्न होते हैं हे रामजी! ज्ञानी जब शरीर त्यागते हैं तब ब्रह्मसमुद्र में स्थित होते हैं और जब तक उन में सत्ता रहती है फुरा करते हैं! अज्ञानी जब शरीर त्यागता है तो उसमें केवल सूक्ष्म संसार ही शेष रहता है जिस प्रकार बीज से वृक्ष फूल और फल समयानुसार निकलते हैं उसी प्रकार राजा का सत्त्व बीजरूपी ब्रह्ममें स्थित रहता था और समय पाकर फुरता था। तब कुम्भज रूप चुड़ालाने विचारा कि इनको भीतर प्रवेश कर जगाऊँ। यदि मैं न जगाऊँ तो नीति से इसको जागना ही है। ऐसा विचारकर उसने अपने शरीर को और चेतनतामें स्थिर होकर स्फुरण द्वारा उसमें प्रवेश किया और उसकी चेतना जो शेष थी उसको फाड़ कर अपना लिया और बड़ा क्षोभ दिया। इस प्रकार जब राजा हिला तो आप निकल आई और अपने अस्तित्व में स्थित हो गई, और सामवेद के मनोहर मंत्रों का गीत गाने लगी। राजाने ऐसा देखा कि कुम्भज मुनि सामवेद का गान कर रहे हैं। उन्हें देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और पूजा कर कहा कि भगवन्! मेरे बड़े भाग्य हैं, आपका

दर्शन कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ । हे भगवन् ! कुलरूपी अचल पर्वत पर यह देहरूपी वृक्ष है अब जो फूला है जिसे आपने पावन किया है। ऐसी किसी की सामर्थ नहीं है जो कि आप जैसों के चित्त में प्रवेश करे । जिस आतमा में सदैव ईश्वर का वास है उस चित्त ने मुझे स्मरण कर अपना दर्शन दिया है यह मेरे बड़े भाग्य की बात है । हे भगवन् आपने मुझे आतमरूपी वचनों से पवित्र किया था और अब चित्त में मेरा स्मरण कर पावन किया है । इस पर कुम्भजऋषि ने कहा--हे राजन् ! मैं भी तेरा दर्शन कर अति प्रसन्न हुआ और तुम जैसी प्रीति मैंने पहले किसी में न देखी । कुम्भजऋषि ने कहा--हे राजन् ! तू मुझे स्वर्ग से भी प्रिय है और तुम्हारे ही लिये मैं स्वर्ग से आया हूँ किन्तु अब स्वर्ग न जाऊँगा तुम्हारा सहवासी बनकर यहीं रहूँगा । राजाने कहा-हे भगवन् ! जिस पर आप जैसे लोगों की कृपा है उसे तो स्वर्ग का सुख भी व्यर्थ ही। यदि आपका मन यहाँ रहना चाहता है तो इस मढ़ीमें विश्रामकर इसे पवित्र करें ऋषिने कहा-हे राजन् ! तू यह बता कि तुझे उचित प्राप्तिमें संतुष्टी हुई या नहीं और तू जीवन मरण से मुक्त होकर आत्मपद को प्राप्त हुआ है या नहीं ? तू मेरे इन प्रश्न का उत्तर उचित रूप में प्रगट कर । इस पर राजा ने कहा-हे भगवन् ! आपकी कृपा से मैं उस उचित पद को प्राप्त हुआ हूँ जहाँ संसार सीमा का हद है । अब आप मुझे उपदेश करने योग्य नहीं क्योंकि अब मैं जीवन मरण से मुक्त होकर विचर रहा हूं । अब मझमें कोई विकार शेष नहीं । अब मुझे ऐसा ज्ञात होने लगा कि मैं सर्वदा तृप्त, अनित्य प्राप्तरूप आत्मा और अपने निर्मल स्वभाव में स्थित सर्वात्मा और निर्विकल्प हूँ । अब मुझमें फुरना कुछ नहीं है और मैं शान्तिरूप हो चिरकाल सुखी हूँ । यह वार्ता कर दोनों वहाँसे उठकर चले तो एकान्त अत्यन्त रमणीक सरोवर पर जो कमलों से भरा हुआ अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहा था । उस पर पहुंचे । पुनः उसमें स्नानकर पूजा पाठ कर वहाँ से भी प्रस्थान कर दिये । पश्चात् वहाँ

से बड़े-बड़े नगरों और वनों में विचरते हुए एक गहन वन में पहुँचे। इस भ्रमण में उनका अधिक काल व्यतीत हुआ और क्रमशः दोनोंही समान आचरण वाले हो गये। अब कुम्भज और राजा की क्रियाओं में कोई भेद न रहा। शुभ अशुभ जो आता वह सब में शुद्ध सत्ता मे स्थित रहते और आत्मा के अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई भी स्फुरण नहीं होता। एक समय रानी को यह इच्छा हुई कि मेरा पति है मैं इसके साथ सम्भोग करूँ। उच्च कुल की स्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वह अपने पतिदेव को प्रसन्न रखें। भोग करने योग्य अभी मेरी अवस्था भी है। राजा का शरीर भी देवता के समान है और यह मंगल प्रद स्थान भी प्राप्त है इससे अच्छा है कि मैं राजा से यह विचार कर अपनी मनोकामना पूर्ण करूं। इसमें एक लाभ और भी है कि इससे राजा की परीक्षा हो जायगी और शरीर का स्वभाव साथ रहता है इसकी भी पूर्ति हो जायगी। यह विचार कर उसने राजा से कहा-राजन् इसी चैत्र शुद्ध पक्ष में एकम तिथि को ब्रह्मा जी ने रचना की थी जिससे इस तिथि पर स्वर्ग मे बड़ा उत्सव होता है और उसमे नारद आदि अनेक मुनिजन एकत्रित होते हैं अतः मैं उस समारोह में सम्मिलित होना चाहता हूं। आप आज्ञा दें तो जाऊं। राजा ने कहा-जाओ, कोई चिन्ता नहीं। तब राजा को इस आदेश के साथ एक पुष्पमञ्जरी देकर चली कि मैं जब तक लौटकर न आऊं तब तक इसी स्थान पर बैठे हुए इन पुष्पों को देखा कीजियेगा। राजा ने भी कुछ पुष्प उसके हाथ से लेकर कहा-अच्छा जाओ। तब कुम्भजरूपी रानी आकाश को उड़ी और जहां तक राजा की दृष्टि पहुँच सकती थी वहाँ तक तो वह उसी (कुम्भज) रूपमें चली गई पर जब उसने जान लिया कि अब राजा मुझे नहीं देख सकता तब उसने अपने गले की माला तोड़कर राजा पर गिराया और अपना वेष परिवर्तित कर चुड़ाला के रूप में होकर आकाश को लांघती हुई अपने अतः पुर में आ पहुँची। वहाँ राजा

तो थे नहीं स्वयं राज्य सिंहासन पर आसीन हो प्रजाका प्रबन्ध किया और जो कार्य बिगड़े थे उनको सुधारकर राजा के पास चली। राजा पुर के बाहर थे। तब उनकी परीक्षा लेने के लिये फिर अपना कुम्भज का वेष बना वह राजा के पास पहुँची। देखा तो राजा वियोग से दुःखी हो बैठे हैं। उनको दुःखी देखकर वह कुछ पूछना ही चाहती थी कि राजा ने कुम्भज को देखकर पूछा भगवन्! आपका आगमन कैसे हुआ? ज्ञात होता है कि आपको मार्ग में बड़ा कष्ट हुआ है जिससे आप कुछ दुःखी प्रतीत होते हैं। पर आप जैसे ज्ञानवानों को दुःख नहीं होना चाहिए। अच्छा, कहिये आपको क्या दुःख है। कुम्भज ने कहा—हे राजन्! यह जो एक मित्र के समान आप पूछ रहे हैं वह परम उचित है। इससे मेरा भी यह कर्तव्य है कि मैं अपने मित्र से कोई दुराव न करूँ। अच्छा तो सुनिये। मैं स्वर्ग सभा से आ रहा हूँ। स्वर्ग सभा में मैं जब तक था तब तक केवल नारदजी के पास बैठा रहा। पर नारदजी का तो यह स्वभाव है कि वह कभी एक स्थान पर नहीं रहते, कुछ ही देर वहाँ बैठकर जब चलने लगे तब मैं भी उठा तो उन्होंने मुझसे कहा कि अब मैं जा रहा हूँ, तुम्हारी भी इच्छा हो वहां जावो। तब मैं आकाशमार्ग से होता हुआ आ रहा था रास्ते में देखा कि भूषण और श्याम वस्त्र धारण किये स्त्री के रूप में दुर्वासाऋषि आ रहे थे। सामना होने पर मैंने उनको दण्डवत् कर कहा कि हे मुनीश्वर! आपने यह स्त्री का सा रूप क्यों धारण कर लिया है? मेरे ऐसा कहने पर क्रोधित होकर दुर्वासाजी ने कहा कि हे ब्रह्मा के पुत्र! तू ऐसा शब्द उच्चारण कर रहा है मुनियों के प्रति ऐसा कथन महान् अनुचित है। इसमें अशुभ क्या है कि जो तू व्यङ्ग बोलता है। अच्छा अब तू भी स्त्री होजा। कारण कि मैं क्षेत्र हूँ और क्षेत्र में जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही उत्पन्न होता है। इससे अब तू स्त्री हो जायगा और रात्रि के समय तेरे सब अङ्ग प्रत्यङ्ग स्त्री के से हो जाँयगे इत्यादि! सो हे राजन्! अब दुर्वासाजी

के शाप से मुझे यह बड़ा भय और दुःख उत्पन्न होगया है कि अब मैं स्त्री के शरीर से आपके समान महान् पुरुषों और देवताओं के मध्यमें कैसे रह सकूँगा। इस बात की मुझे बड़ी लज्जा हो रही है। कुम्भज के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—बस, केवल यही बात है। क्या तुम दुर्वासा के ऐसा कहने ही से दुःखी हो? इसमें क्या दुःख! तुमको शरीर से क्या प्रयोजन। तुम शरीर तो हो नहीं, तुम तो केवल आत्मा हो और आत्मा निर्लेप है। अतः शरीर चाहे जैसा हो इसकी चिन्ता मत करो और अपनी समता में ही स्थित रहो। देखो, ज्ञानी पुरुषों के लिए हेयोपादेय कुछ नहीं रहता, वह अपनी समता में ही स्थित रहते हैं। राजाके इस कथन को कुम्भज ने स्वीकार किया और पुनः स्वयं उसी की व्याख्या कर कहा—राजन् आपका कथन यथार्थ है, जिस स्थान में ज्ञान की प्राप्ति हो उसी चेष्टा में विचरना चाहिये और इन्द्रियों का दमन कर विषयों से मुक्त होना चाहिये। हाँ यह भगवान का नियम है कि जब तक शरीर है तब तक इसका स्वभाव साथ रहेगा, पर ज्ञानी को इसकी चिन्ता न कर स्वभाव को साथ रखते हुए सब कुछ ज्ञान सहित करना चाहिए किन्तु उसमें बन्धनवान् न होवे। भगवान की इस नीति का त्याग करना उचित नहीं। जब तक शरीर है तब तक उसका स्वभाव होता रहेगा। इससे ज्ञानी पुरुष को उचित है कि शरीर और इन्द्रियों से चेष्टा तो करे पर किसी में बन्धनवान् न होवे। इस प्रकार चेष्टा करता हुआ भी जो बन्ध न हो उसे समझना चाहिये कि उसका कर्म ज्ञान सहित है और जो बन्धनवान् हो जाय वह अज्ञान है। आशय यह कि ज्ञान सहित किया हुआ कर्म बन्ध नहीं और अज्ञानयुक्त किया हुआ कर्म बन्धनवान् होता है। शास्त्रोक्त विधियों और प्रमाणों से सब कुछ किया जा सकता है, उसके भोगने में कोई दोष नहीं। यह कहते-कहते सायंकाल का समय हुआ और सूर्य भगवान् अस्त हो गये। तब झट दोनों ने स्नान कर सन्ध्या पूजा किया और पुनः वार्तालाप करने लगे। इतने में कुम्भज का शरीर स्त्रीका होने

लगा। तब राजा ने कहा-देखो, अब तुम्हारे सिर के बाल बढ़ने लगे और अब देखो वस्त्र भी नीचे तक आ गया और यह देखो तुम्हारे दोनों कुच भी स्त्रियों के से हो गये। कुम्भज ने देखा तो सब अंग स्त्रीके समान हो आये थे और अब वह कुम्भजका शरीर छोड़कर चुड़ाला रानी के रूपमें हो गये थे। इस पर राजा ने पूछा-कहो, क्या अब भी तुम वही आत्मतत्व नहीं हो जो पहले थे? चुड़ाला ने कहा-हाँ, मैं तो वही हूँ, केवल मेरा शरीर ही ऐसा हो गया है। राजा ने कहा-तो शरीर से तुमसे क्या प्रयोजन? अब चलो शयन करें। रानी ने पुष्प शैया लगाई और दोनों जाकर एकही शैया पर सो रहे। इस प्रकार रात भर दोनों एक ही शैया पर आत्मतत्व में लीन रहकर चुप चाप पड़े रहे और किसीने किसीसे वार्तालाप तक नहीं की। प्रातःहोने पर दोनों ने उठकर स्नान ध्यान किया और पुनः चुड़ाला कुम्भज होकर राजा के साथ सत्संग करने लगी। इसी भांति प्रतिदिन चुड़ाला रात भर स्त्री रहती और दिन को कुम्भजका शरीर धारण कर लेती। किन्तु उनमें कोई भेद न था। दोनों ही सर्वदा समान सत्ता में स्थित रहते और किसी को हर्षशोक नहीं होता। इस रूप में वहाँ कुछ काल रहकर दोनों यत्रतत्र विचरने लगे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का इक्यानबेवां सर्ग समाप्त ॥९१॥

बानबेवाँ सर्ग

विवाह लीला वर्णन

यह कहकर वशिष्ठजी ने कहा,-हे रामजी! इस प्रकार विचरते हुए दोनों मन्दराचल की कन्दरा में जा पहुँचे। तब वहाँ कुम्भज का रूप चुड़ाला ने राजा की परीक्षा लेने के लिये कहा कि हे राजन्! यह ईश्वरीय नियम है कि स्त्री को पुरुष अवश्य चाहिये सो जब मैं रात्रि में स्त्री हो शयन करने जाता हूँ तब मुझे पति सम्भोग करने की इच्छा होती है, सो इसके लिये मैं आपसे अधिक किसी को नहीं देखती। अतः आप ही मेरे पति हैं

और में ही आपकी स्त्री हूँ। इस कारण मुझे अपनी भार्या जानकर जैसा कुछ स्त्री पुरुष का व्यवहार हो मुझसे किया करें। मेरी युवावस्था है और आप भी स्वरूपवान हैं। ज्ञानी को उचित है कि जो कुछ भी अनिच्छित प्राप्त हो उसे त्याग न करें। मैं जानती हूं कि आपकी इच्छा नहीं है, पर ईश्वरीय नियम को भी आप कैसे भंग कर सकते हैं। इस पर राजा ने कहा—हे साधो! मुझे प्राप्त में न तो कोई सुख है और न अप्राप्त में कोई दुःख है। मेरे लिये तो तीनों ही जगत आकाश रूप भासते हैं। अतः मैं कुछ नहीं कहता, तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो। कुम्भज ने कहा—तब तो ठीक है। आज पूर्णिमा का दिन शुभप्रद है, इससे चलो मन्दराचल पर्वत पर चलकर हम दोनों उस कन्दरा में बैठकर विवाह करलें। राजा ने कहा—चलो। फिर तो दोनों उठे और व्याह की समग्र सामग्री ले गंगा में स्नान कर कन्दरा में जा पहुँचे। पश्चात् सन्ध्या समय आने पर राजा ने कुम्भज को दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाकर सिर पर मुकुट रख दिया। तब कुम्भज ने अपना शरीर त्याग स्त्री का शरीर धारणकर राजा से कहा हे राजन्! अब आप मुझे भूषण पहनाइये। तब राजा ने उसे अनेक प्रकार के भूषणों से सालंकृत कर दिया जिससे अब वह पार्वती के समान सुन्दर हो गई। तब चुड़ाला ने राजा से कहा—हे राजन्! अब मैं आपकी स्त्री हूँ और मेरा नाम मदनिका है। आप मेरे पति हैं। आप मुझे कामदेव से भी सुन्दर भासते हैं। वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! इस प्रकार यद्यपि चुड़ाला ने राजा के चित्त को मोहने के लिए बहुत कुछ कहा—किन्तु राजा को कुछ भी हर्ष न प्राप्त हुआ और विराग से शोकवान भी न हुआ। पश्चात् शास्त्रानुसार विवाह के अन्य जो कार्य शेष रहे दोनों ने मिलकर उसे सम्पूर्ण किया और पाणिग्रहण के समय रानी ने कहा—राजन्! आज मैंने आपको अपनी सम्पूर्ण ज्ञाननिष्ठा संकल्प दी। राजा ने भी ऐसा ही कहकर अपनी ज्ञाननिष्ठा रानी को संकल्प करके दे दिया। इन समग्र कार्यों के समाप्त

होते-होते एक प्रहर रात्रि शेष रही । तब रानी ने पुष्प शैया लगा कर शयन किया और राजा भी उसी पर जाकर सो रहा पुनः एक दूसरे से प्रेमालाप करते २ रात्रि व्यतीत होगई और किसी ने मैथुन न किया । जब प्रातःकाल हुआ तब रानी मदनिका ने फिर कुम्भज का शरीर धारण कर लिया और स्नान कर संध्यादिक कर्म किये। इस प्रकार एक मास तक दोनों मन्दराचल पर्वत में रहे और प्रति दिन रात्रि में दोनों एक शैया पर शयन करें।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का बानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥९२॥

तिराबेनवाँ सर्ग

माया शक्रागमन वर्णन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! इस प्रकार वहाँ एक मास रहकर दोनों चले तो उदयाचल, सुमेरु, और कैलाश आदिक पर्वतों का भ्रमण करते हुये एक गहन बन में जा पहुँचे उस बनमें पहुँच कर रानी ने अपने मनमें यह विचार किया कि मैंने राजा को इतने स्थान दिखलाये किन्तु इसका चित्त कहीं भी लोभायमान न हुआ इससे अब राजा की और भी कुछ परीक्षा लेनी चाहिये । तब उसने अपनी ऐसी माया फैलाई कि इन्द्र, वरुण, कुबेर, ब्रह्मा और शिव तैंतीसो कोटि देवता और धर्मविद्याधर, किन्नर और सिद्ध अप्सरायें आकर वहाँ नृत्य करने लगीं। उस लीला को देखकर राजा ने उठकर इन्द्रकी पूजा की और हाथ जोड़कर पूछा कि–हे देवराज ! इस गहन बनमें आपका किस लिये आगमन हुआ है । इन्द्र ने कहा–हे राजन् ! हम आपकी तपस्या के बल से खिंचकर यहाँ आये हैं और अब आप मेरे साथ स्वर्ग को चलिये । कहिये तो ऐरावत हाथी मँगा दूँ अथवा उच्चैःश्रवा घोड़ा जो समुद्र मन्थन से निकला था आपके लिये मँगा दूँ और आप उस पर चढ़कर स्वर्ग के अपार सुखों को भोगने के लिये मेरे साथ चलिये । अणिमा, महिमा आदिक आठों सिद्धियाँ भी विद्यमान हैं जो इच्छा हो लीजिए और

स्वर्ग में चलिये । इन्द्र के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—हे भगवन् ! कहाँ चलें ? चलना तो वहाँ ठीक है कि जहाँ से आना न पड़े । वहाँ से तो फिर आना ही होगा । स्वर्ग में क्या है ? हमारे लिये जहाँ हम बैठे हैं यही स्वर्ग है । आत्मा के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं । हम इसी स्वर्गरूप आत्मा में स्थित हैं, हमें किसी और स्वर्ग में चलने की आवश्यकता नहीं । हम सदा तृप्त आनन्द रूप हैं । इस पर इन्द्र ने कहा—हे राजन् ! यथा प्राप्त भोगों को न भोगना अन्याय है । तुमको जो प्राप्त हुआ है उसका सेवन क्यों नहीं करते ? अच्छा तुम नहीं चलते हो तो अब हम जाते हैं । तुम्हारा और कुम्भज का कल्याण हो । हे रामजी ! ऐसा कहकर इन्द्र अपने साथ के समग्र देवताओं और गन्धर्वों सहित अन्तर्धान होगये । हे रामजी ! यह इन्द्रादि समग्र देवता चुड़ाला के सङ्कल्प से उठे थे और जब सङ्कल्प लीन हुआ अर्थात् जब परीक्षा में राजा उत्तीर्ण होगया और स्वर्ग के सुखों को भी उसने तुच्छ कह दिया तब वे सभी देवता अन्तर्ध्यान हो गये ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तिरानबेवां सर्ग समाप्त ॥९३॥

——०::※::०——

चौरानवेवां सर्ग

माया पिञ्जर-वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! जब इस चरित्र ने भी राजा को आत्मपद से विचलित न किया तब चुड़ाला को बड़ी प्रसन्नता हुई । पर उसने राजाकी और परीक्षा लेने का विचार किया । एक दिन जब दोनों उस वन में विचर रहे थे तब चुड़ाला ने राजा को क्रोध और खेद उत्पन्न करने के लिए एक नवीन दृश्य उपस्थित किया । वह दृश्य यह था कि जब सन्ध्या समय राजा गङ्गा के किनारे जाकर ध्यान करने लगा तब इधर कुम्भज ने मन में एक देव मन्दिर की रचना कर चारों ओर फुलवाड़ी लगा दी और जैसे देवता की रचना

होती है वैसे ही अपने सङ्कल्प से स्त्री पुरुष का देवता रच कर मन्दिर में बैठ उस पुरुष के साथ विहार करने लगी। इधर सन्ध्याकर जब राजा स्थान को लौटा तब क्या देखता है कि स्थान मन्दिर के रूप में परिणत है और उसमें एक अत्यन्त सुन्दर कामी पुरुष के साथ मदनिका सोई हुई काम चेष्टा कर रही है। यह देखकर राजा ने विचार किया कि चलो, दोनों आनन्द से शयन कर रहे हैं, इनके आनन्द में विघ्न कौन उपस्थित करे। ऐसा विचार कर राजा को न तो कोई खेद हुआ और न कोई क्रोध वह समभाव में स्थित रह मन्दिर से बाहर एक पाषाण की शिला पर आकर बैठ गया और पुनः "अर्द्ध उन्मीलित नयन सुदृष्टी" अर्थात् शाम्भवी मुद्रा लगाकर समाधिस्थ हो रहा। एक घड़ी के पश्चात् मदनिका उस कामी पुरुष को त्यागकर राजा के पास आई और राजा को समाधिस्थ देखकर नग्न हो हाव भाव दिखलाकर उसके समक्ष नाचने लगी। उसके भाव को समझ राजा ने हँसकर कहा—ओहो! मदनिका तुम उस आनन्द को छोड़कर यहाँ कैसे चली आई? तुम तो बड़े आनन्द में थीं, अब वहाँ ही फिर चली जा। मुझे इसका कुछ भी दुःख नहीं है। मैं अब भी हर्ष और शोक से रहित ज्यों का त्यों स्थित हूँ। पर तेरी और उस कामी पुरुष की प्रीति को मैंने देखा है। जगत में परस्पर प्रीति नहीं होती इससे तू उसको और वह तुझे सुख दे, मेरी ऐसी इच्छा है। हे रामजी! राजा के ऐसा कहने पर मदनिका ने नीचे मस्तक कर लिया और हाथ जोड़कर बोली—हे भगवन्! क्षमा कीजिये, मुझसे बड़ी अवज्ञा हुई अब क्रोध शान्तकर मुझ पर कृपा कीजिये। मैंने स्वतन्त्र होकर ऐसा नहीं किया है। बल्कि इसका एक वृत्तान्त है, सो सुनिये। जब आप सन्ध्या करने चले गये थे तब यहाँ एक कामी पुरुष ने आकर मुझे पकड़ लिया। मैं निर्बल थी इस कारण उसने जो चाहा किया मैंने अपने पतिव्रत की रक्षा के लिये उस पर बहुत क्रोध किया और उसका निरादर किया। आपको भी बहुत

पुकारा पर आप बहुत दूर थे इससे न सुन सके। इतने में उस यती ने मुझे पकड़ कर अपनी गोद में बैठा लिया और जो कुछ भावना थी वह किया। इसमें मेरा कोई दोष नहीं। आप क्षमा करें और क्रोध न करें। राजा ने कहा—हे मदनिका! तू बार-बार क्रोध का नाम क्या लेती है? मुझे तनिक भी क्रोध नहीं है। क्रोध किस पर करूँ? सब आत्मा ही तो दृष्टि आता है। फिर भी तेरा यह कर्म साधुओं से निन्दित है। इससे मैंने अब तेरा त्याग किया और अब अकेले सुख से विचरूँगा। तेरी उत्पत्ति दुर्वासा के शाप से हुई है। अतः अब तू उन्हीं के पास चली जा। मेरा गुरु कुम्भज तो मेरे ही पास है। उसे और मुझे कोई राग नहीं। हम दोनों सदा ही निःरागरूप हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का चौरानबेवां सर्ग समाप्त ॥९४॥

——०:::०——

पिचानबेवाँ सर्ग

चुड़ाला प्राकट्य वर्णन

हे रामजी! राजा के इस राग रहित विचार को सुनकर चुड़ाला बहुत प्रसन्न हुई और उसे निश्चय होगया कि अब राजा राग-द्वेष से रहित और शान्तपद में स्थित हुआ है। इस विचार को निश्चय कर लेने पर उसने यह दूसरा विचार किया कि अब मुझे यह मदनिका का शरीर त्याग चुड़ाला रूप धारण करना चाहिए। यह विचार आते ही मदनिका चुड़ाला के रूप में प्रकट हो गई। हे रामजी! उसके इस कौतुक को देखकर राजा को महान् आश्चर्य हुआ। तब यह दृश्य अथवा कौतुक कैसा और क्या है? इस बात को जानने के लिये राजा ने ध्यानावस्थित होकर देखा तो उसे ज्ञान हुआ कि यह तो रानी चुड़ाला है। पर यह कहाँ से आगई? पूछना चाहिये। ऐसा विचार कर राजा ने पूछा—हे देवि! तू कहाँ से आगई? तुझे देखकर मुझे अपनी स्त्री का स्मरण हो आया। बड़ा आश्चर्य

है कि तू उसके रूप में कहाँ से आगई ? चुड़ाला ने कहा—हे प्रभो ! मैं आपकी स्त्री चुड़ाला हूँ और आप मेरे पति हैं । हे राजन् ! कुम्भज से लेकर अब तक की जितनी शरीरें आपने देखी हैं, वह सब मैंने आपको जगाने के लिये धारण की हैं । आप ध्यान में देखें कि यह सब सचित्र किसने किया है । राजा ने ध्यानावस्थित होकर देखा तो सब बात ठीक पाई । फिर तो महान आश्चर्यित हो राजा ने प्रेम-पूर्वक चुड़ाला को कण्ठ से लगा लिया । उस समय उन दोनों को जैसी प्रसन्नता हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता पुनः राजा ने कहा हे देवी ! तुमने मुझ पर जैसी कृपा की है, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता । तुम्हारी स्तुति मैं किस प्रकार करूँ ? यह कहते हुए राजा के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली । पश्चात् धैर्य धारणकर पुनः राजा चुड़ाला से कहने लगा—हे देवी ! अब मुझे ज्ञात हुआ कि तूने मेरे लिये महान् कष्टों को सहन किया है । मेरे लिये बारम्बार आना जाना और नित्य नवीन-नवीन शरीरों का स्वांग रचना और उड़ना इत्यादि क्या कोई साधारण कष्ट था । पर केवल मेरे लिये तूने ये सब यत्न किये । अतएव मैं तुझे बारम्बार धन्यवाद देता हूं । धन्य है हे देवी ! तू मेरे लिये अरुन्धवन्ती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी, पार्वती, और सरस्वती आदि श्रेष्ठ कुल की कन्याओं और पतिव्रताओं में सबसे श्रेष्ठ है । जिस पुरुष को पतिव्रता प्राप्त होती है उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं और और उसे शांति, दया, शक्ति, कोमलता और मैत्री प्राप्त होती है । हे देवी ! अब तेरी कृपासे मुझे ऐसा शांतिपद प्राप्त हुआ है कि जो सहस्रों तप करने से भी नहीं प्राप्त होता । अतः तुझे बारम्बार धन्यवाद है । चुड़ाला ने कहा—हे राजन् ! आप किस लिये इतनी स्तुति करते हैं, मैंने तो अपना कर्तव्य पालन किया है । हे राजन् ! यदि आप राग अर्थात अज्ञान को साथ लेकर बन में न गये होते तो आप को इतना कष्ट न उठाना पड़ता । जैसे कोई कीचड़ त्यागकर गङ्गाजल को अङ्गीकार करे वैसे ही आपने राज्य

को त्यागकर आत्मपद को प्राप्त करना चाहा इसी कारण आपको इतना कष्ट मिला। पर जब मैंने देखा कि आप वनमें चले आये तब इस कीचड़ से मुझे निकलना अभीष्ट हो गया और मैंने इतना यत्न किया। सो यह मेरा कर्त्तव्य था और मैंने उसका पालन किया। रानी के इस विचार को सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और आशीर्वाद दिया कि आज से सब पतिव्रता स्त्रियां ऐसा ही कर्तव्य करें जैसा तूने किया है। पतिव्रता ही ऐसा महान् आत्म-कौतुक कर सकती है। हे देवि! तू धन्य है तूने मेरा उपकार किया। अच्छा, अब तू मेरे अङ्ग मे फिर आकर लग जा तेरे उपकार का चिरऋणी हूं। ऐसा कह कर राजा ने फिर रानी को कंठ लगाया। तब कंठ से पृथक होने पर चुड़ाला ने पूछा कि हे राजन्! अब आप मुझे यह बतलाइये कि आप कहाँ स्थित हैं? अब आपको अपना राज्य दिखलाई पड़ता है या नहीं और आगे के लिये आपकी क्या इच्छा है राजा शिखरध्वज ने कहा कि हे-देवी! जिस स्वरूप को तूने मुझे ज्ञान देकर स्थिर किया है और अब मैं उसी अपने आप शान्तपद में स्थित हूँ। अब मुझे न कोई इच्छा है और न कोई अनिच्छा, इससे अब केवल शांतपद हूँ जिस पद का कोई उत्थान नहीं और जो पद निष्किञ्चन है और जिस पद के आगे ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियां भी शोकयुक्त भासती हैं, अब मैं उसी पद में स्थित वही रूप हूं। क्या अधिक कहूँ। मैं जो था, अब वही हुआ हूँ। हे देवी! तूने ही मुझे संसार समुद्र से पार किया है, इससे तू ही मेरा गुरु है। अब मुझमें 'अहं त्वं' आदिक शब्द कुछ नहीं, मैं शान्तिपद हूँ। मैं न सूक्ष्म हूं, न स्थूल हूँ। अब मुझमें ऐसा तैसा शब्द कोई नहीं है। मैं अद्वैत और चिन्मात्र हूँ। राजा के ऐसा कहने पर चुड़ाला ने कहा-तो अब आपकी क्या इच्छा है? राजा ने कहा-हे देवी! मुझे स्वयं कुछ इच्छा नहीं है। अब जैसा तू कहेगी वैसा ही करूँगा। राजा के वचन सुनकर चुड़ाला ने

प्रसन्न होकर कहा,—हे प्राणपति ! अब आप विष्णु हो गये हैं यह महान् कार्य हुआ कि आपकी इच्छा नष्ट हो गई अतः अब हमारे आपके लिये यह उचित है कि जैसा कुछ प्राकृत आचार हो वैसा करें क्योंकि प्राकृतिक आचार का त्याग करने से गिरने का भय रहता है। यदि अपना प्राकृतिक आचार त्याग देंगे तो किसी और का ग्रहण करना पड़ेगा । इससे अच्छा है कि हम दोनों अपने प्राकृत आचार को ग्रहण कर भोग और मोक्ष दोनों को भोगते हुए विचरण करें। हे रामजी ! ऐसा विचार करते हुए राजा ने दिन व्यतीत किया और सन्ध्या होने पर नैतिक क्रियाओं को कर रात्रि में दोनों ने एक ही शय्या पर शयन किया । प्रेमालाप करते २ रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हो गई।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का पिचानबेवां सर्ग समाप्त ॥९५॥

छियानबेवाँ सर्ग

शिखरध्वज चुड़ालाख्यान समाप्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! प्रातःकाल होने पर राजा और रानी दोनों ने उठकर स्नान किया और रानी चुड़ाला ने मन के सङ्कल्प से रत्नों का एक घड़ा रच कर उसमें गङ्गा आदिक सम्पूर्ण तीर्थों का जल डालकर राजा को स्नान कराया। जब राजा स्नान कर सन्ध्या वन्दन कर चुका तब चुड़ाला ने कहा कि हे राजन् ! अब आप मोह का नाशकर चुके हैं इससे अब चल कर सुख पूर्वक अपना राज्य कीजिये । राजा ने कहा—हे रानी ! यदि तुझे राज्य करने की इच्छा हैं तो मेरा राज्य स्वर्ग और सिद्धलोक में भी है इसलिये स्वर्ग में ही चलकर राज्य सुख भोगो । रानी ने कहा—हे राजान् ! मुझे किसी वस्तु की इच्छा और अनिच्छा नहीं है क्योंकि मुझे तो सब शून्यवत् प्रतीत होता है। अतः मेरे लिये न तो कुछ स्वर्ग है और न तो कुछ नरक है। हे राजन् ! मेरी वृत्ति तो ऐसी अवश्य है किन्तु शरीर धारण करने के कारण नियमानुकूल

चेष्टा का उत्पन्न होना आवश्यक है, इस कारण प्राकृतिक आचार का त्याज्य करना संवरण नहीं हो सकता। अस्तु आप चलें और इष्ट वस्तुओं के तेज को ग्रहण कर राग-द्वेष से रहित हो राज्य-सुख भोगें। राजा ने कहा—अच्छा, हम इसके लिये सन्नद्ध हैं पर राज्य करने के पूर्व राजा को सैन्य संग्रह की आवश्यकता है। क्या तुम ऐसा कर सकती हो? रानी ने कहा, अवश्य। फिर तो उसी समय रानी ने सङ्कल्प द्वारा सेना सहित राजसुख की समग्र सामग्रियाँ रच डालीं, और सबको यथा स्थान स्थित कर दिया। तदुपरान्त राजा सिर पर मुकुट धारण कर हाथी पर सवार हो दो सौ सैनिकों के साथ मन्दराचल पर्वत पर विचरने लगा। उस विचरण में राजा ने अपने प्रत्येक तप के स्थानों को रानी को दिखाया उसी समय राजमन्त्री और नगर की सारी प्रजा राजा के स्वागतार्थ आ उपस्थित हुई। पश्चात् राज-पूजन आदि की समस्त क्रिया हो जाने पर रानी सहित राजा अपने मन्दिर को पहुँचा। आठ दिन तक मिलने के लिये लोकपाल और मण्डलेश्वरों की धूम रही। पश्चात् राजा सुख पूर्वक राज्य करने लगा और रानी सहित समदृष्टि रह जीवन्मुक्त अवस्था से सहस्र वर्ष तक राज्य किया। पश्चात वे दोनों ही विदेह मुक्त हो गये। हे रामजी! तुम भी उसी प्रकार राग-द्वेष रहित हो समस्त भोगों को भोगते हुए विचरो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का छियानवेवां सर्ग समाप्त ॥ ९६ ॥

सत्तानबेवाँ सर्ग

कचोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे राजा! शिखिरध्वज का सम्पूर्ण वृतान्त ने तुमको सुनाया यदि उस पापनाशक वृत्ति का आश्रयकर आचरण करोगे तो निश्चय ही आत्मपद को प्राप्त करोगे। तब उस आत्मपद को प्राप्त कर भोग और मोक्ष को भोगते हुए तुम ऐसे ही निर्बन्ध रहोगे जैसे बृहस्पति का पुत्र कच बोधवान हो चुका है।

कच का नाम सुनकर रामजी ने कहा—हे भगवन् ! बृहस्पति का पुत्र कच कैसे बोधवान हुआ कृपाकर इस वृत्तान्त को मुझे संक्षेप में सुना दीजिये । वशिष्ठजी कहने लगे हे रामजी ! जब बाल्यावस्था व्यतीत कर कच कुछ जानने योग्य हुआ तब एक दिन पिता बृहस्पति के पास जाकर उसने पूछा—कि हे पिताजी इस संसार पिंजर से कैसे निकला जा सकता है क्योंकि यह जितना कुछ संसार है सब आत्मदेहादिक जीवों से मिथ्याभिमान में बँधा हुआ है, जिससे प्रति क्षण 'अहं' 'त्वं' मानता रहता है, सो इस संसार से कैसे मुक्त हो सकता हूँ बृहस्पति ने कहा—हे तात ! इस अनर्थ रूप संसार से मुक्त होने के पूर्व सब कुछ त्याग करने की आवश्यकता है क्योंकि बिना त्याग के मुक्ति नहीं होती इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिये तू सब कुछ त्याग करदे । वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! बृहस्पतिजी के ऐसे वचनों को सुनकर कच ने सब ऐश्वर्यों को त्यागकर बन का मार्ग लिया और बन में जाकर एक कन्दरा में स्थित हो तप करने लगा । पुत्र के चले जाने से ज्ञानी बृहस्पति को हर्ष, शोक कुछ भी न हुआ जब कच को तप करते आठ वर्ष व्यतीत हो गये तब एक दिन बृहस्पिति पुत्र को देखने के लिये कन्दरा पर जा पहुँचे । वहाँ पहुँचकर क्या देखते हैं कि कच समाधिस्थ हो भगवान् के ध्यान में लीन है—बृहस्पति पुत्र के पास चले गये । कुछ देर पश्चात् जागृत हो कच ने देखा कि पिताजी आकर बैठे हैं । तब उसने गुरु के समान पिता का पूजन कर प्रणाम किया और बृहस्पति ने पुत्र को हृदय से लगाकर कुशल पूछा । पश्चात् दुःख पूर्वक गद्गद् वचनों से कच ने पिता से पूछा—कि हे पिताजी ! आपके उपदेशानुसार सर्वस्व त्याग के पश्चात् आज तप करते मुझे आठ वर्ष व्यतीत होगये पर इसका क्या कारण है कि मुझे अब भी शान्ति न प्राप्त हुई । तब बृहस्पति ने कहा—हे पुत्र ! सब कुछ का त्यागकर कि जिससे तुझे शान्ति प्राप्त हो यह कहकर आकाशमार्ग से बृहस्पति चल खड़ा हुआ । बृहस्पति

के चले जाने पर कच ने आसन और मृगछाला सहित उस कन्दरा और वनको भी त्याग दिया और दूसरे वनमें पहुँच कर एक कन्दरा में जा बैठा। जब वहाँ स्थित रह तप करते तीन वर्ष व्यतीत हुआ तब एक दिन उसका पिता बृहस्पति फिर उसे देखने पहुँचा। कच ने फिर पिता का गुरुवत स्वागत किया। पश्चात् कच ने कहा—हे पिताजी! अब तो मैंने सब कुछ त्याग दिया पर क्या कारण है कि मुझे अब भी शान्ति न प्राप्त हुई। अब तो मैंने अपने पास कुछ भी नहीं रक्खा है। अतएव अब कृपाकर मुझे वह उपदेश दीजिये जिससे मेरा कल्याण हो। बृहस्पति ने कहा—हे पुत्र! अब भी तूने सर्वस्व त्याग नहीं किया। क्या तूने चित्त का त्याग किया है? यदि नहीं तो अब चित्त का त्याग कर। वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! ऐसा कहकर बृहस्पति आकाश को चला गया। बृहस्पति के चले जाने पर कच विचारने लगा कि चित्त क्या है। तब पहले उसने वनके पदार्थों को विचार कर देखा कि यह चित्त है। परन्तु उन्हें भिन्न-भिन्न देखकर तत्क्षण उसे ज्ञान हुआ कि यह भी चित्त नहीं है और नेत्र भी चित्त नहीं हैं। तब क्या मेरा यह श्रवण तो चित्त नहीं है। पर श्रवण भी उसे चित्त न ज्ञात हुआ। इस प्रकार उसने अपनी सब इन्द्रियों पर एक बार दृष्टि डाली और उसे सब चित्त से रहित प्रतीत हुईं। तब चित्त क्या है यह जानने के लिये पिता के पास चलना चाहिये ऐसा विचार कर वह दिगम्बर रूप कच आसन से उठकर आकाश को चला और पिता के पास पहुँच कर पूछा कि हे देवगुरु! आप मेरे पिता हैं, आपने चित्त त्याग करने के लिये मुझे उपदेश दिया था सो कृपाकर बतलाइये कि चित्त का रूप क्या है? बृहस्पति ने कहा—हे पुत्र! चित्त का नाम अहङ्कार है और इसकी उत्पत्ति अज्ञान से होती है और आत्मज्ञान से इसका नाश होता है। जैसे जेवरी के अज्ञान से सर्प भासता है और जेवरी के जानने से सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है वैसे ही 'अहं' भाव का त्याग कर तू अपने स्वरूप में स्थित हो। कच

ने कहा—हे पिताजी ! अहं' तो मैं हूँ फिर मैं अपने आपका त्याग कैसे करूँ ? इसका त्याग करना तो अत्यन्त कठिन है। वृहस्पति ने कहा—नहीं इसका त्याग तो अत्यन्त सुगम है । नेत्र के बन्द करने और खोलने में तो कुछ यत्न भी है। पर अहङ्कार को त्यागने में कुछ यत्न नहीं है। क्योंकि इस अहङ्कार की उत्पति प्रमाद से है। आत्मा के प्रमाद से यह उत्पन्न हुआ है । पर आत्मा शुद्ध और आकाश से भी निर्मल है । तुम उसी देश, काल और वस्तु से रहित चिन्मात्र सत्ता में स्थित रहो । उसमें स्थित रहने से तू 'अहंभाव' को न प्राप्त होगा क्योंकि आत्मा सब प्रकार और सब स्थित है उसमें अहङ्कार का वैसे ही लेश नहीं है जैसे समुद्र में रज का लेश नहीं होता उस आत्मा में न एक हैं न दो । वह अपने आप में स्थित है और यह जो कुछ भी आकारवत् दृष्टि आता है वह केवल चित्त का स्फुरण मात्र है । चित्त के नष्ट होने पर तो आत्मा ही शेष रहता है। यदि तुझे अपने दुःख को नष्ट करने की चिन्ता है तो इन सब दृश्यों को छोड़ अपने स्वरूप में स्थित रह । क्योंकि यह सब कुछ आत्मा ही का चमत्कार है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सत्तानबेवां सर्ग समाप्त ॥६७॥

अट्ठानबेवां सर्ग

मिथ्या पुरुषोपाख्यान वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! वृहस्पति के उत्तम उपदेश को सुनकर कच अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो गया और जब तक शरीर रहा तब तक जीवन्मुक्त पद में विचरता रहा । हे राम जी ! जैसे कच जीवन्मुक्त होकर विचरा वैसे ही तुम भी निराश और निरहङ्कार होकर विचरो । तुम्हारा अपना आप शुद्ध और अद्वैत निर्मल पद है । उसमें एक और दो का समावेश नहीं है। अतः तुम उसी पद में स्थित होओ। वह पद दुःख से रहित है और तुम वही अहङ्कार रहित आत्मा हो । इससे तुम में ग्रहण और त्याग

कुछ नहीं है। जब पदार्थ का ही अभाव है तब उसका ग्रहण और त्याग क्या ? ज्ञानी पुरुष अहङ्कार का ग्रहण और त्याग नहीं करते, उनको केवल एक आत्मा ही भासता है, पर अज्ञानी को तो एक आत्मा में ही नाना स्वरूपों का ज्ञान होता है। यही कारण है कि वह दिन रात हर्ष और शोक में डूबता रहता है। किन्तु तुम किस दुःख का नाश करना चाहते हो ? तुम में तो कोई दुःख है ही नहीं। यह जितने भी आकार भासते हैं सब मिथ्या हैं और मूर्ख इसी मिथ्या पदार्थ को सत् मानकर रक्षा में लगे रहते हैं और फिर भी कहते हैं कि मेरा दुःख नाश हो। सो कैसे हो सकता है ? यह सुन कर रामजी ने कहा कि—हे मुनीश्वर ! अब आपके अमृतमय उपदेशों को सुनकर मैं तृप्त हो गया हूँ और अब मेरे तीनों तापों का सर्वथा नाश होगया है। हे भगवन् ! अब आपकी कृपा से मुझे शांतपद की प्राप्ति हुई और मुझमें कोई फुरना नहीं रह गया। परन्तु जिस प्रकार पपीहा स्वाती की बूँद के लिये लालायित ही रहता है, उसी प्रकार मेरा हृदय आपके उपदेशों को सुनकर भी नवीन-नवीन उपदेशों को सुनने की इच्छा किये रहता है। अतः कृपा कर अब मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिये। हे भगवन् ! कृपाकर यह बतलाइये कि सत क्या है और असत क्या है ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! इसको जानने के लिये एक आख्यान सुनो। यह आख्यान बड़ा मनोरञ्जक और प्रसन्न करने वाला है, जिसको सुनकर तुम्हें बड़ी हँसी आवेगी। हे राघव ! आकाश में एक शून्य वन है और उसमें एक मूर्ख बालक जो स्वयं तो मिथ्या है किन्तु सत्य रखने की इच्छा रखता है और कहता है कि मैं इस वन की रक्षा करूँगा, पर वह नहीं जानता कि इसका अधिष्ठान जो सत्य है क्या है ? उसको यह ज्ञान है कि यह मेरा आकाश है और मैं इसकी रक्षा करूँगा, ऐसा जानकर मूर्खता वश वह दुःख पा रहा है। कुछ समय पश्चात् उसने उस वन में एक गृह बनाया और कहा कि मैं इसके द्वारा आकाश

की रक्षा करूँगा। जब वह गृह किसी ओर से टूटता तब उसे फिर बना लेता। कुछ समय पश्चात् वह गृह स्वयं टूट कर गिर पड़ा तब हाय ? मेरा आकाश नष्ट हो गया ऐसा कह कर वह विलाप करने लगा फिर यह विचार कर कि गृह तो टूटकर गिर पड़ता है, अब कुवाँ बनाऊँ क्योंकि कुवाँ टूटकर नहीं गिर सकता, परन्तु कुछ समय पश्चात कुयें की भी वह दशा हुई जो गृह की हुई थी। तब हाय ! मेरा आकाश टूटकर गिर पड़ा, अब मैं क्या करूँ, ऐसे शोकपूर्ण शब्दोंमें चिल्ला-चिल्ला कर विलाप करने लगा । पर उसके साहस का यहीं अन्त न हुआ और उसने आकाश की रक्षा के लिये एक खाई निर्माण की। खाई से उसे निश्चय हो गया कि अब मेरा आकाश कहीं नहीं जा सकता, किन्तु खाई की भी वही दशा हुई कि जो गृह और कुयें की हुई थी। तब वह फिर रुदन करने लगा, पर आकाश रक्षा उसका मुख्य ध्येय था। इस कारण अब उसने एक घड़े की रचना की और घटाकाश की रक्षा करने लगा । काल पाकर वह घट भी टूट गया तब उसने एक कुण्ड और फिर एक ओखली बनाई पर इन दोनों की भी वही दशा हुई जो अन्य रचनाओं की हुई थी और एक समय आते ही यह दोनों भी टूटकर नष्ट होगये। तब हाय ! हाय !! मेरा आकाश नष्ट हो गया। ऐसा कहकर वह दारुण विलाप करने लगा। हे रामजी ! आत्मज्ञान और आकाश की अनभिज्ञता ने उस बालक को दुःख दिया । यदि उसको अपनी और आकाश का यथार्थ बोध होता तो वह इस कष्ट को क्यों प्राप्त होता । यह सुनकर रामजी ने पूछा कि हे मुनिवर ! यह मिथ्या पुरुष कौन था और वह जिस आकाश की रक्षा करता था और वह जिस गृह और कूपादिकों को बनाता था वह क्या था ? कृपाकर यह मुझे स्पष्ट करके कहिये ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! इससे मिथ्या पुरुष 'अहङ्कार' को कहा गया है और वह आकाश जिसकी वह रक्षा करता था वह उसके संवेदन अर्थात शक्ति से फुरा हुआ चिदाकाश है और

आकाश, गृह और घटादि जो कहा है वह शरीर है और उसका अधिष्ठान है आत्मा और उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा उसने मूर्खता से किया है और मेरा स्वरूप क्या है, इसका वह नहीं जानता था। तब उसे दुःख पाना तो अनिवार्य था। क्योंकि स्वयं मिथ्या होकर भी वह आकाश को कल्पकर उसके रखने की इच्छा करता है, भाव यह कि देह से देही के रखने की इच्छा करता है। पर उसे यह ज्ञान नहीं कि देह तो काल से उत्पन्न हुई है फिर देह के नष्ट हो जाने से शोक क्या ? किन्तु वह तो अपने उस वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ कि जिसका नाश कदापि सम्भव नहीं। यदि उसे ऐसा विचार आता तो वह क्लेश नहीं पाता। हे रामजी ! भ्रमोत्पादक वस्तु में अधिष्ठान सत्ता की भावना नहीं होती, क्योंकि वह सबका अपना आप और अविनाशी है। उसमें मूर्खतावश 'अहं' रूप ने संसार और जीवों की कल्पना की है उस अहं के कई नाम हैं। यथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार जीव, माया, प्रकृति और दृश्य। यह सब उसी एक के नाम हैं। पर उस अपने आप आत्मा में इन सबका अत्यन्त अभाव है और यह ऐसे ही उदय होकर ब्राह्मण-क्षत्री आदिक वर्ण और गृहस्थ, वाणप्रस्थ, सन्यास आदि आश्रम और मनुष्य, देवता, दैत्य आदि की व्यर्थ ही कल्पना कर लिये हैं, वास्तव में इनकी कोई उत्पत्ति नहीं है। त्रिकाल में भी इनकी वास्तविकता सम्भव नहीं यह केवल अविचार मात्र ही है जिस प्रकार अज्ञानता वश जेवरी में सर्प का भान होता है और ज्ञान होने से सर्व भ्रम नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वरूप के प्रकार से अहङ्कार का उदय हुआ है। तुम्हारा स्वरूप आत्मा है और वह आत्मा प्रकाशरूप, विद्या, अविद्या से परे निर्मल चेतन मात्र और निर्विकल्प है। उसमें कोई प्रमाण नहीं, वह आत्म तत्व मात्र स्वतः स्थित और अद्वैत रूप है फिर उसमें संसार और अहङ्कार कहाँ ? ज्ञानी को आत्मा से पृथक कुछ नहीं भासता, पर अज्ञानी को संसार का भान होता है वह पदार्थों को सत् और संसार को वास्तव

जानता है, मैं कौन हूँ, मेरा रूप क्या है इसको वह नहीं जानता। यदि इसका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो अहङ्कार नष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर यह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। हे रामजी! यह सारा संसार उस आत्मा का ही चमत्कार है। जिस प्रकार वायु वेग से समुद्र में नाना प्रकार की तरंगें उठती हैं और जिस प्रकार सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषणों का भान होता है किन्तु वह सब एक ही स्वरूप है, अन्य कुछ नहीं उसी प्रकार उस एक आत्मा से भिन्न संसार और कुछ नहीं। समुद्र और सुवर्ण तो तरङ्ग और भूषण का रूप धारण भी करते थे, किन्तु आत्मा तो परिणाम रहित और अच्युत है। संसार उसके संवेदन का एक चमत्कार मात्र है और वह भी आत्म स्वरूप ही है। उसका न जन्म होता है और न मरण वह न किसी काल में पड़ता है और न उसे कोई मार सकता है। कारण कि वह अद्वैत है जब उसमें एक नहीं तब दो कहाँ से हो। उस आत्मा में स्थित होने से दुःख और ताप नष्ट हो जाते हैं। वह शुद्ध और निराकार है, शरीर के नाश होने से उसका नाश नहीं होता है। वह ज्यों का त्यों और जरा-मरण से रहित है। जरा-मरण का सम्बन्ध तो पुर्यष्टका से है। पुर्यष्टका का वास शरीर में होता है जब शरीर से पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक हुआ जान पड़ता है और जब तक पुर्यष्टका संयुक्त रहता है तब तक जीवित जान पड़ता है। इससे वह आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है। तब उसका ग्रहण और उसकी रक्षा कैसे हो सकती है। इसके सम्बन्ध में सूक्ष्म शब्द भी केवल उदाहरण मात्र ही है। यह तो तुम्हें उपदेश देने के लिए मैंने कहा है, अन्यथा आत्मा निर्वाच्य और भावाभावरूप संसार से परे है। हे रामजी! तुम उसी में स्थित होकर अहङ्कार का परित्याग करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का अट्ठानबेवां सर्ग समाप्त ॥९८॥

—०::❀::०—

निन्नानबेवाँ सर्ग

परमार्थयोग महाकर्त्तव्युपदेश वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! यह सारा संसार आत्मा का ही रूप है और उसी निर्विकल्प शुद्ध आत्मा ने चेतन लक्षण वाले मनसे जगत की रचना की है । जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग और सुवर्ण में भूषणों का भान होता है उसी प्रकार आत्मा में मन है जिसको समुद्र में तरङ्ग और सुवर्ण में भूषण का यथार्थ ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञानी है । जिसको रस्सी में सर्प का भान नहीं होता और रस्सी को वह रस्सी ही जानता है अथवा जिसके सुवर्ण ज्ञान के अतिरिक्त भूषण बुद्धि नहीं होती ऐसा पुरुष निर्विकल्प है । इसी प्रकार जिस पुरुष को निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान होता है उस पुरुष को सारा संसार ब्रह्ममय भासता है और उसको संसार की कोई भावना नहीं होती, वही यथार्थ ज्ञानी है । इससे आत्मा से मन भिन्न नहीं । हे रामजो ! जब आदि पर-आत्मा से "मैं" और "तुम" आदिक में मनका फुरना हुआ, तब अपने निर्विकल्प आत्मस्वरूप का उसे प्रमाद हो गया और उस प्रमाद के होने से सारे विश्व की उत्पत्ति हो गई पर उस आत्मस्वरूप में मन भी कदाचित उदय नहीं हुआ किन्तु आत्मा स्वरूप है इस कारण उदय हुये की नाईं भासता है । इसी प्रकार न तो मन सत्य है और न संसार सत्य है पर उसे असत्य भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि इन दोनों की उत्पत्ति तो आत्मा ही से हुई और वह आत्मा ज्यों का त्यों स्वतः स्थित है और वही मन होकर फुरा है । इस कारण वही मन ब्रह्मा है और उसी मन रूपी ब्रह्मा ने अपने मनोबल से इस स्थावर जङ्गम की रचना की है जो न तो सत्य है न असत्य है । हे रामजी ! यह सारा प्रपञ्च मन का रचा हुआ है । उस मनके कई नाम हैं । मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और जीव यह सब उसी के नाम हैं । अतः इस संसार और सब विकारों की जड़ केवल मन है ।

यदि यह मन नष्ट होजाय तो न तो कहीं संसार है और न मन है। मनमें स्वाभाविक फुरना होता है और जब तक यह फुरना होता रहता है तब तक दृश्यों का अन्त नहीं होता। इससे जिस प्रकार हो मन के फुरने को नष्ट करना चाहिये। जब फुरना नष्ट होजायगा तब संसार का भी नाश हो जायगा। किन्तु जब तक स्फूर्ति सहित संसार को देखता रहेगा तब तक यह संसार अवश्य भासेगा और जब फुरने से रहित होकर देखेगा तब किसी भी पदार्थ का भान न होगा और केवल शान्तपद की प्राप्ति होगी। क्योंकि वह शान्तपद सब कल्पनाओं से रहित है। उस पद में अहङ्कार और देह तथा वर्णाश्रम आदि कुछ नहीं है। इन सबकी कल्पना तो माया ने की है। उस पद को जानने के लिये सबसे पृथक होना होगा। जो उस अपने आप पद को जान लेता है उसको कोई दुःख नहीं रहता। हे रामजी! तुम उसी पद के प्राप्त करने की भावना करो। उस पद में न बन्ध है न मोक्ष हैं। वह केवल समान सत्ता और आत्म पद है। जिस पुरुष को ऐसी भावना होगई है उसको सर्व आत्मा ही भासता है। हे रामजी! तुम उसी आत्मा का साक्षात्कार कर स्वयम् ही महाकर्त्ता महा भोक्ता और महा त्यागी बनकर रहो। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा कि—हे भगवन्! महाकर्त्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कौन है? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! एक समय जब सदा शिवजी सुमेरु पर्वत से आ रहे थे तब मार्ग में भृङ्गी ने भी यही प्रश्न शिवसे किया था, तब शिवजी ने उसे रहित करने और शान्ति देने के लिये कहा कि—हे भृङ्गी! जो कुछ शुभ क्रिया आन प्राप्त हो उसको जो पुरुष शङ्का रहित होकर करता है वह पुरुष महाकर्त्ता है और जो पुरुष मौनी, निर्हङ्कारी, निर्मल और मत्सर से रहित है वह पुरुष महाकर्त्ता है। फिर महाकर्त्ता के यह लक्षण हैं कि वह किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और जो पुण्य, पाप क्रिया अनिच्छित आ प्राप्त होती है उसे अभिमान रहित हो करता जाता है वह

सर्वत्र से स्नेह रहित रह सत्यवत् स्थित रहता है। उसे न दुःख में शोक होता और न सुख में हर्ष होता है। वह स्वाभाविक चित्त समता को देखता रहता है। उसके लिये सम विषम कुछ नहीं है। हे पुत्र! अब महाभोक्ता पुरुष के लक्षण सुनो। महाभोक्ता वह है कि जो महान से महान कष्ट प्राप्त होने पर भी उसमें द्वेष नहीं करता और महान सुख प्राप्ति में भी हर्षित नहीं होता। उसे महाभोक्ता कहा जाता है। उसके लिये राज्य प्राप्ति और भिक्षु वृत्ति सुखी और दुखी नहीं बना सकते। वह सर्वदा ही अपने स्वरूप में स्थित रह मान, अहंकार और चिन्ता से रहित रहता है। वह अपने को लेने वाला और शुभ भोक्ता होते हुए भी अपने को कर्तापन और भोक्तापन से पृथक मानता है। वह षटरसों के भोगने से सर्वदा ही समुचित रहता है। जो कुछ बुरा भला आ प्राप्त होता है उसको वह दुःख रहित होकर भोगता है और शुभ अशुभ, भाव, अभाव, सुख, दुःखरूपी क्रिया से कदाचित चलायमान नहीं होता। ऐसे महा भोक्ता पुरुष को न तो मृत्यु का भय रहता है और न जीने की आस्था रहती है। उसके लिये जैसा ही उदय है वैसा ही अस्त है। हे भृङ्गी! ऐसे ही पुरुष महाभोक्ता कहलाते हैं। महात्यागी पुरुष वह हैं कि जिनके लिये न तो कुछ शरीर है न इन्द्रियां हैं। वह अहंकार सत्ता को त्यागकर सर्वदा साक्षीभूत अपने आप में स्थित रहते हैं। हे भृङ्गी! ऐसी वृत्ति को धारण करने वाला महात्यागी सब चेष्टाओं को करता हुआ भी रागद्वेष से रहित रहता है। हे रामजी! तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। अतः जिस प्रकार हाथ में खप्पर लिये बाघाम्बरधारी सदा शिव का उपदेश सुनकर भृङ्गीगण दुःख रहित हो विचरे थे, उसी प्रकार तुम भी दुःख रहित होकर विचरो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का निन्यानवेंवाँ सर्ग समाप्त ॥९९॥

—०※०—

ज्ञाननिष्ठा ...

सौवां सर्ग

कलानिषेध-सन्त लक्षण वर्णन

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने कहा कि–हे मुनीश्वर! उधर उपशम प्रकरण में आत्मा–सम्बन्धी उपदेश देते समय जब आपने कहा था कि आत्मा शुद्ध और अनन्त है तब मैंने आप से पूछा था कि जब आत्मा अनन्त और शुद्ध है तो इसमें कलना कहां से उत्पन्न हुई, तब आपने यह कहकर कि तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्त काल में देंगे, आपने इस प्रश्न को स्थगित कर दिया था। अब वह सिद्धान्तकाल आ गया है, कृपाकर अब वह मुझे समझाइये। हे भगवन्! आपके अमृतरूपी उपदेशों को सुनकर मेरा हृदय तृप्त नहीं होता है, सो कृपाकर अब मेरे हृदय में जो संशय रूपी धूलि उठ गई है उसे अपने वचनरूपी क्रीड़ा से शान्त कीजिये। हे भगवन्! विना गुरू के उपदेश दिये केवल अपने विचार से यह शोभा नहीं देता। वशिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! जो शान्तिवान और क्षमावान इन्द्रियजीत पुरुष हैं वह मन के संकल्पों को जीत लेते हैं इससे वह सिद्धान्त के पात्र हैं। परन्तु जो रागद्वेष सहित क्रिया में स्थित हैं और जो इन्द्रिय सुख में ही रत रहते हैं उनको 'अहं असि ब्रह्म' सिद्धान्त का ऐसा वाक्य केवल श्रवण मात्र ही स्थित होता है और वह अधोगति को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो पुरुष साधनकाल समाप्त करके पवित्र और क्षमावान् हो गये हैं उन्हें तो 'अहंब्रह्म' आदि सिद्धान्त का केवल इतना ही शब्द शीघ्र आत्मपद की प्राप्ति करा देता है। इसी प्रकार तुम्हारे सदृश जो पुरुष साधनकाल समाप्त करके क्षमावान और पवित्र होगये हैं उनके लिये स्वरूप की प्राप्ति सुगम है पर जिसका अन्तःकरण मलीन है उसको वह पद प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इन्द्रियगामी पुरुषको आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा शास्त्र का कथन है। परन्तु तुम्हारे सदृश जिनका हृदय पवित्र है उनको ज्ञान की भी प्राप्ति होती है और वह

इस सिद्धान्त को पाकर शोभायमान होते हैं। हे रामजी ! अब शास्त्रों का जैसा सिद्धान्त है और उनके दृष्टान्त को मैं जैसा जानता हूँ उन सब सिद्धान्तों का सार तुम्हारे हित के लिये कहता हूँ ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! जिसने अभ्यास में एक क्षण के लिये भी आत्मा का साक्षात्कार किया है वह फिर गर्भ में नहीं आता और वह सत् असत् में भी कुछ भेद नहीं रखता, उसका भेद केवल संवेदन में ही रहता है। जैसे जाग्रत और स्वप्न के सूर्य का प्रकाश एक समान रहता है और दोनों ही अर्थाकार रहते हैं किन्तु जाग्रत सूर्य को सत्य और स्वप्न सूर्य को असत्य जानता है पर वस्तुतः दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं केवल दोनों के संवेदन में ही भेद होता है, वैसे ही स्वरूप में सत्, असत् एक समान है और वह केवल शान्तरूप आत्मा ही है और उसमें शब्द अर्थ कुछ नहीं। शब्द अर्थ तो केवल संवेदन है और इन दोनों की उत्पत्ति केवल फुरने से ही होती है। फुरना नष्ट हो तो केवल आत्मा ही शेष रहता है जो शुद्ध विद्या, अविद्या के कार्य से रहित और जिसका स्पर्श नहीं हो सकता। हे रामजी ! यह विद्या अविद्या की दो शक्तियां ही जो एक आवरण और दूसरी विक्षेप नाम से कही जाती हैं आत्मा को नहीं जानने देतीं और उलटा ज्ञान देती हैं, पर वह आत्मा सदा ज्ञानरूप और निर्मल है, उसको आवरण कुछ नहीं। वह आत्मा अद्वैत, शुद्ध और केवल ज्ञान मात्र है। उस चिन्मात्र में जिसको लेशमात्र भी अहंकार का उत्थान नहीं होता उसे कल्पना की शक्ति कैसे उठा सकती है ? वह तो केवल निर्वाण पद है जिसमें एक और द्वैत नहीं कहा जा सकता, वह केवल अपने आपमें स्थित है। यह सुनकर रामजी ने पूछा कि—हे भगवन् ! जब ब्रह्म ही है तब मन, बुद्धि आदिक यह कौन हैं ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! यथार्थ में केवल शास्त्र व्यवहार के लिये ही इन शब्दों की कल्पना की गई है अन्यथा यह मन, बुद्धि आदिक कुछ वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है और वह ब्रह्म ही

आत्मा है उससे भिन्न कुछ नहीं, वह सबका अधिष्ठान, अविनाशी और देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से रहित है इसी से उसका नाम ब्रह्म है। हे रामजी! ऐसे अपने आप आत्मा में तुम स्थित होवो। यह जितना कुछ जगत देखने में आता है सब उस चिदाकाश का ही रूप है। हे रामजी! इस संसार की उत्पत्ति अहंभाव से होती है इससे संसार का बीज अहंकार है और अहंकार भ्रम से सिद्ध हुआ है इस कारण अहंकार की कोई वास्तविकता नहीं, यह केवल स्वरूप के भ्रम में उदय हुआ है, तब जो वस्तु कुछ नहीं और केवल भ्रम से उत्पन्न हुई है उसके त्यागने में यत्न क्या? उसको तो सहज ही त्याग सकते हो। हे रामजी! तुममें अहंकार की वास्तविकता नहीं, तुम शान्तरूप और चेतनमात्र हो। तुमको अहं का होना उपाधि है। हे रामजी! तुम्हीं से सुमेरु पर्वत आदिक जगत की रचना हुई है सो क्या है वह भी संवेदनरूप है। चेतन के आश्रय से फुरकर चित्त-रूपी पुरुष ने ही विश्व की कल्पना की है सो आत्मा से भिन्न कैसे हो सकता है? अतः समस्त आपदाओं की उत्पत्ति अहंकार से ही होती है। जब अहंकार नष्ट हो तब दुःख भी नष्ट हो जायें। जिस प्रकार बादलों से ढका हुआ सूर्य प्रकाश नहीं देता उसी प्रकार अहंकार से आच्छादित आत्मा प्रकाश नहीं देता। हे रामजी! माया से मिलकर अपने आपको कुछ मान लेना-इसी का नाम अहंकार है। जब यह अहंकार नष्ट होता है तब आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश होकर ज्ञानरूपी कमल प्रफुल्लित हो जाता है और फिर महान् आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण दुःखों की निवृत्ति के लिये अहंकार को ही नष्ट करना चाहिये। भला ऐसी क्या वस्तु है जो यत्न करने से सिद्ध न हो? तब यत्न करने से अहंकार क्यों नहीं नष्ट होगा? इसको नष्ट करने की सरल युक्ति यह है कि बारम्बार ब्रह्मविद्या, सतशास्त्र और सन्तों का सङ्ग किया जाय। इस प्रकार पारस्परिक चर्चा करने से यह (अहंकार) अवश्य नष्ट हो जाता है। उस सतसङ्ग में विचारणीय

विषय यह होता है कि आत्मा क्या है और मैं कौन हूँ ? इन्द्रियां क्या हैं, गुण क्या है और संसार क्या है इत्यादि। ऐसा विचार करने के पश्चात् तुम्हें ज्ञात होगा कि मैं इनका साक्षीभूत हूँ और मुझ में अहंकार नहीं है? बस इस प्रकार के यत्न से तुम्हारा अहंकार अवश्य नष्ट हो जायगा। मैं भी आशीर्वाद देता हूं कि तुम सुखी हो जावो। इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि-हे भगवन्! यदि आपका अहंकार नष्ट होगया है तो आप यह उपदेश कैसे करते हैं और यदि आपमें अहंकार नहीं है तो आप में यह सर्व शास्त्रों का सिद्धान्त और ब्रह्म-विद्या की उत्पत्ति कैसे हो रही है जिससे आप धाराप्रवाह उपदेश करते चले जा रहे हैं? हे भगवन्! आपका यह सिद्धान्त है कि इच्छा से अहंकार सिद्ध होता है और स्मरण से चित्त की सिद्धि होती है फिर चित्त चैत्य से सिद्ध होता है तब संकल्प की उत्पत्ति होती है और संकल्पसे ही मनकी सिद्धि होती है। इस प्रकार आपके भी चारों अन्तःकरण सिद्ध हो रहे हैं। तब यह कैसे मान लें कि सब चेष्टायें भी होती रहें और अहंकार भी नष्ट हो जावे? इस पर वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! आत्मस्वरूप में अहंकार आदिक अन्तःकरण और इन्द्रियां तथा शास्त्रोपदेश आदि सब कल्पित हैं, वास्तविकता कुछ नहीं। आत्मा केवल आत्मतत्व मात्र है। संवेदन ने उठकर ही उसमें अहंकार आदिक दृश्यों का स्फुरण किया है और वह भी इसलिये कि जिसमें यह अपनी सत्ता से वंचित हो जावे और विपर्यय बुद्धि उठकर भय और शोक से भ्रमित रहे। पर ऐसी वृत्ति से निवृत्ति पाने के लिये ही शास्त्रों की रचना हुई है। शास्त्रों का उपदेश आत्मा को जना देता है और जब आत्मा को जान लेता है तब रस्सी में सर्प का भ्रम नष्ट होने के समानही परिछिन्न भावसे अहंकार नष्ट होजाता है। जैसे अंजन के लगाने से नेत्र निर्मल होजाते हैं वैसे ही गुरु और शास्त्रों के उपदेशरूपी अंजन से ज्ञानरूपी मल नष्ट हो जाता है। हे रामजी! तुम्हारा कथन सत्य है कि उपदेश करने से चारों अन्तः

करण सिद्ध होते हैं पर तुम्हें यह जानना चाहिये कि ज्ञानी में इन चारों की सत्यता नहीं होती। जिस प्रकार भुना हुआ बीज आकार सहित दिखलाई अवश्य पड़ता है, पर उसमें उगने की शक्ति नहीं रहती उसी प्रकार चारों अन्तःकरणों के विद्यमान रहते हुए भी ज्ञानी उससे [अहंकारसे] रहित रहता है। हे रामजी! ज्ञानरूपी वर्षा से आत्मरूपी जल चढ़ने पर चित्तरूपी मृग नहीं दौड़ता। हे रामजी! अहंकार तो अविचार से सिद्ध होता है और विचार करने से नष्ट हो जाता है। पश्चात् आत्मा ही शेष रहता है। इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि—हे भगवन्! अहंकार—नष्ट पुरुष के क्या लक्षण हैं? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि अहंकार नष्ट पुरुष अज्ञानरूपी सांसारिक गढ़े में पदार्थ भावना से नहीं गिरता। उसमें क्षमा, शान्ति आदिक गुण स्वभावतः ही आ प्राप्त होते हैं। वह सर्वदा क्रोधहीन रहता है और उसके हृदय में विषमता की भिन्न भावनायें कदापि नहीं उठतीं। वह सर्वदा केवल समानसत्ता में स्थित रह अभिमान रहित इन्द्रियों की चेष्टा करता है। उसे न कभी अभिमान की चेष्टा होती है और न वह कभी मनसे लोभ करता है। उसके मनमें कोई कामना नहीं रहती। वह ज्ञान रूपी सूर्य में अपनी समग्र कामनाओं को नष्ट कर चुका होता है और सर्वदा शान्तरूप आत्मा में स्थित रहता है उसकी भोग भावनायें नष्ट हुई रहती हैं, जिससे वह फिर कभी दुखी नहीं होता। उसको संसार के भावाभाव पदार्थ दुखी नहीं कर सकते और उसका संसार भ्रम निवृत्त हो जाता है। हे रामजी! यह ज्ञान है इसे केवल समझना चाहिये, इसमें कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। सन्तजनों के पास जाकर प्रश्न करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, जगत क्या है, परमात्मा क्या है. भोग क्या है और परमपद पाने के लिये मैं इससे किस प्रकार मुक्त हो सकता हूँ इत्यादि? इस पर ज्ञानी पुरुष जो उपदेश दें उसके अभ्यास से ही आत्मपद की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का सौवा सर्ग समाप्त ॥१००॥

एकसौ एकवाँ सर्ग

इक्ष्वाकु प्रत्युक्तोपदेश वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! तुम्हारे सूर्यवंश कुल में महाराज मनुके पुत्र तुम्हारे पुरुषा महाराज इक्ष्वाकु बड़े प्रतापी राजा हो चुके हैं। उनका ऐसा प्रचण्ड तेज था कि उनको देखकर शत्रु थर थर कांपते थे। साधु, मित्र और प्रजा के वह अत्यन्त प्यारे थे। उनको देखकर सब प्रसन्न होते और शान्ति प्राप्त करते थे। वह पाप रूपी वृक्षों को काटने वाले और मित्रों के सुखदायक थे। लक्ष्मी के समान वह सुन्दर और यश से पूर्ण थे। मैं चाहता हूँ कि तुम भी उन्हींके समान धर्मात्मा और तेजवान होवो। हे रामजी! उन्होंने बहुत दिन तक राज्य किया था। एक समय उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि संसार में जरा-मरण आदिक बड़े क्षोभ हैं, इसके तरने का क्या उपाय है? ऐसा वह विचार रहे थे कि उसी समय ब्रह्मलोक से शम्भुमुनि का आगमन हुआ। तब इक्ष्वाकु ने यथा विधि मुनि का पूजन कर पूछा कि हे मुने! मुझे संसार फुरकर बड़ा दुःख दे रहा है। इससे कृपाकर आप कोई युक्ति बतलाइये कि जिससे मुझे शान्ति प्राप्त होवे। हे भगवन्! कृपाकर आप यह बतलाइए कि इस संसार की उत्पत्ति कहाँ से हुई है और अदृश्यों का स्वरूप क्या है और यह कैसे निवृत्त होगा? संसार में यह जरा, मरण दो दुःख महान् कष्ट प्रद हैं, मैं इनसे कैसे छुटकारा पाऊँगा। आप संसार के सब व्यवहारों को जानने वाले और संशयकर्ता हैं। आपके वचनों से मुझे अवश्य शान्ति प्राप्त होगी, अतः कृपाकर मुझे इसका उपदेश कीजिये। राजा के ऐसे कथन को सुनकर शम्भुमुनि ने प्रसन्न होकर कहा—हे साधो! मैंने संसार में बहुत भ्रमण किया, पर ऐसा एक भी जिज्ञासु नहीं मिला। तुमको धन्य है कि तुम्हारी बुद्धिको ऐसा विवेक उत्पन्न हुआ है। हे राजन्! जितना कुछ जगत तू देख रहा है, सब असत् है। जैसे जेवरीमें सर्प, मरुस्थल में जल और सीपोंमें रूपा आकाश

में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासता है वैसे ही यह जगत भ्रम से भास रहा है अस्तु यह जगत असत्‌रूप और भ्रम है। आत्मा क्या है? इसका उत्तर यह है कि उसके निकट मन सहित षटेन्द्रियों की गम नहीं और वह शून्य भी नहीं है ऐसा जो सत् और अविनाशी है, वह आत्मा कहलाता है। यह आत्मा निर्मल, परब्रह्म सब ओर से पूर्ण और अनन्त है, उसी में जगत कल्पित है। वही चिन्मात्र सत्ता सब पदार्थों में व्याप्त है। उस आत्मा में जीवादिकों का ऐसे ही आभास हो रहा है जैसे समुद्र में कोई तरङ्ग और कोई बुदबुदे और चक्रादिकों का आभास होता है। पहले फुरने रूपमें होते हैं पीछे कारण कार्यरूप होते हैं जिससे चित्त शक्ति स्वसंकल्प से भूतादिक शरीर रचकर उसमें स्वरूप का प्रमाद कर लेती है और आत्मा अभिमान करने लगता है। अतएव नाना प्रकार के आरम्भ को प्राप्त हो बिना कारण ही ब्रह्म शक्ति फुरने से कारण भावको प्राप्त हो बन्ध और मोक्ष भासता है पर वास्तव में उसमें न तो बन्ध है और न मोक्ष है। निरामय ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। उसमें एक और अनेक कुछ नहीं। अस्तु, बन्ध और मोक्ष की कल्पना को त्याग कर तुम अपने स्वभाव में स्थित रहो। स्वभाव ही तुम्हारा अपने आप शुद्ध आत्मा है उसमें सुख दुःख की कोई कल्पना नहीं। सुख दुःख की कल्पना मूढ़ करते हैं, ज्ञानी नहीं। ज्ञानियों को मन, चित्त सुख, दुःख सब आकाशरूप होते हैं। फिर उनके लिये जरा, मरण क्या है? वह जरा, मरण को नहीं प्राप्त होते, देखने में तो वह सब कार्य करते हैं पर हृदयसे वह अकर्तारूप हैं, उनको क्रिया स्पर्श नहीं करती। शारीरिक व्यवहारमें सदा निर्मलभाव रहते हैं। क्योंकि वह आत्मरूप हैं और आत्मा सदा स्थितरूप है। पर वह भ्रम से चंचल भासता है। हे राजन्! शरीर के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता यद्यपि आत्मा में मन, इन्द्रियां और देह सभी दृष्ट आते हैं तथापि वह स्पर्श नहीं करते। वह आत्मा सर्वथा अचलरूप है किन्तु अज्ञान से चल-

रूप भासता है। पर यह कहा जाय कि शरीर का विचार उसे लेश-मात्र भी स्पर्श करता हो, सो नहीं। जैसे प्रतिबिम्ब का विकार आदर्श को स्पर्श नहीं कर सकता वैसे ही शरीर का विकार आत्मा को नहीं स्पर्श करता। जैसे सुवर्ण को अग्नि में डालने पर सुवर्ण जलकर नष्ट नहीं होता वैसे ही शरीर के नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। क्योंकि वह नित्य शुद्ध, अवाक् और अचिन्त्यरूप है। वह देखने में तो नहीं आता, पर चेतनवृत्ति से दिखलाई पड़ता है। यह चेतनवृत्ति निर्मल बुद्धि है। निर्मल बुद्धि में आत्मा अवश्य दिखलाई पड़ता है। जब तक बुद्धि निर्मल नहीं होती तब तक शास्त्र और गुरु भी आत्माका साक्षात्कार नहीं करा सकते अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। यदि बुद्धि निर्मल हो जाय और वह सत्पथ का पथिक हो जाय तो वह स्वयं ही अपने आपसे दिखलाई पड़ने लगता है। बुद्धि निर्मल तब होती है जब हृदय से संसार की सत्यता नष्ट हो जाती है और आत्मा का अभ्यास होता है इससे भावाभावरूप शरीरादिक जितने भी पदार्थ हैं सब असत् और भ्रममात्र हैं। इस कारण उनकी आस्था त्याग करदो और नित आत्मा शीतल चित्त में स्थित रहो। हे राजन्! आपही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। कारण कि आत्मा में अन्य किसी को स्थान नहीं और आत्मा में आत्मा ही का भाव है, द्वैत का नहीं। जो अनात्मधर्म विषयक दृश्य पदार्थों से चित्त को खींचकर अपने आपमें स्थिर करता है, वह तो अपना आपही मित्र है किन्तु जो ऐसा न करके अनात्मधर्म में पदार्थों की ओर चित्त लगाता है वह अपना आप ही शत्रु है। हे राजन्! आत्मा न तो उदय होता है और न अस्त होता है वह सदा एक रस अविनाशी पुरुष ज्यों का त्यों स्थित रहता है। उसी में 'अहं' भावना करके संसार भासमान होता है। आत्मा में अहं बुद्धि का होना ही संसार का कारण है। अहं बुद्धि ही समस्त दुःखों का भाजन है जितनी भी आपदायें हैं सब अनात्म बुद्धि के ही कारण प्राप्त होती

हैं। हे राजन्! जीव और आत्मा में कोई भेद नहीं है। भेद है तो केवल इसी कारण कि जीव ने दृश्यों में जाकर अहंकार करके अनात्मभाव धारण कर लिया है। अन्यथा यह चिन्मात्र और जीव दोनों ही एक रूप हैं। यदि यह ठीक-ठीक समझ में आ जाय तो ऐसी बुद्धि मुक्ति को प्रदान करती है। यद्यपि वह अनिन्दित आत्मा सब में व्याप्त है पर शुद्ध बुद्धि में ही भासता है। जैसे तरङ्ग में भी जल ही व्याप रहा है वैसे ही दृश्यकलना से अविनाशी आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा होने पर भी जैसे सुवर्ण में आभूषण का अभाव है वैसे ही आत्मा में जगत का अभाव है। क्योंकि वह अद्वैत है। फिर उसमें दूसरी वस्तु का संचार कहाँसे होगा। जैसे नदियाँ और समुद्र नाम मात्र को भिन्न भिन्न हैं अन्यथा सब जल एकही सदृश हैं वैसे ही चिदाकाश में विश्व नाम मात्र को है। पर इसके जितने भी पदार्थ आकारवत् भासते हैं उन सबको काल भक्षण कर लेता है और इस प्रकार अमित पदार्थ समूहों को भक्षण करके भी वह तृप्त नहीं होता। तब ऐसे पदार्थों की क्या अभिलाषा? इतना ही नहीं कोटि–कोटि सृष्टियां उत्पन्न हुईं और सबको कालने भक्षण कर लिया। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जो जालसे मुक्त होवे। इस कारण तुझे ऐसे पदार्थ की भावना करनी चाहिये जो काल से भी अतीत हो और काल को भी भक्षण कर लेवे। वह भावना कैसे करोगे, सुनो। जैसे अगस्त्यमुनि ने समुद्र को पान किया था वैसे ही आत्मा रूपी अगस्त्य काल रूपी समुद्र को भक्षण करेगा। हे राजन्! जन्म मरण आदिक विकार तो भ्रम और आत्मा के प्रमाद से भासते हैं। जब आत्मा को निश्चय पूर्वक जान लोगे तब कोई विकार न भासेगा, क्योंकि इनकी रचना तो अज्ञान से हुई है। आत्मा में जन्म मरण आदिक विकारों का भान तो तभी तक होता है जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता और जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तब जन्म मरण आदिक विकार नष्ट हो जाते हैं हे राजन्! यदि तू चाहता है कि मेरे दुःख

निवृत्त हो जावें तो जो विकार रहित आत्मा तेरा स्वरूप है, उसकी भावना कर। उसको कहीं खोजना नहीं है वह तेरा अपना स्वरूप और सर्वदा अनुभवरूप ही है और वह तूही है। इस प्रकार कोई भी वस्तु तुझसे भिन्न नहीं है। तू अपने आपको ज्यों का त्यों जान। मैं मरूँगा, मैं निर्धन हूँ, मैं दास हूँ, इत्यादि शब्दों को कहकर जो तू अपने को दुखी जानता है उसका एक मात्र केवल यही कारण है कि तू अपनी आत्मा को नहीं जानता। जब आत्मा को जान लेगा तब आनन्दरूप होजायगा वह आत्मा तुझसे विछुड़ कर उतना ही दूर है जितना कि पुत्रवती स्त्री का बालक स्वप्न में दूर हो जाता है और वह हाय-हाय करके रोती है और जब जागती है तब बालक को अपनी गोद में पाकर आनन्द को प्राप्त होती है। इसी प्रकार तेरा आत्मा अपना आप है और वह सर्वदा अनुभवरूप है, उसके प्रमाद से ही तू अपने को दुःखी जानता है। ज्यों ही यह तेरा प्रमाद एवं अज्ञान निद्रा नष्ट होगी त्योंही तू जागृत होकर अपने आपको जानेगा और सदा के लिये तेरे दुःख को नष्ट हो जावेंगे। शरीर और इन्द्रियादिक दृश्यों में मिलकर अपने को यह जानना कि 'मैंहूँ' यही अज्ञाननिद्रा है। इससे रहित आनन्दपद है। हे राजन्! तेरे दुःख की निवृत्ति के लिये मैं एक युक्ति तुझे सुनाता हूं, ध्यान देकर सुन। यदि तू इसे सुनकर इस पर आचरण करेगा तो निश्चय ही दुःखों से मुक्त हो जायगा। सारी उपाधियों की जड़ संकल्प है। दूसरी एक वस्तु 'अहं' अर्थात् जो अभिलाषा सहित तुझसे फुरना हो रहा है तू इसका त्याग कर। ज्यों ही इसका त्याग होगा त्योंही तेरे समस्त दुःख लोप हो जायेंगे। हे राजन्! आत्मारूपी मन वासनारूपी तृण से ढकी हुई है, जब वासनारूपी तृण को दूर करोगे तब आत्मारूपी मणि प्रकट हो जायगी। वह आत्मारूपी मणि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से भी परे है। जब तुम उसको प्राप्त करोगे तब स्वयं ही जानोगे कि मैं मुक्त होगया। इस प्रकार तुम्हारा स्वरूप जो केवल आत्मरूप है

तुम उसी पद में स्थित होवो। यह अजन्मा और नित्य है। वह चेतनमात्र सबका अपना आप है। उसके प्रमाद से ही समस्त दुःख उत्पन्न हुए हैं। उस अपने आपमें आत्मादिक की संज्ञा भी कुछ नहीं। यह संज्ञायें तो जिज्ञासु को समझाने के लिये शास्त्रों ने कल्पित की हैं, अन्यथा वह ऐसा निर्वाच्यपद है कि उसमें वाणी की गम नहीं, पर वह इन्हीं से जाना जाता है, कारण कि मन और वाणी में आत्म-सत्ता है और उसीसे आत्मादिक संज्ञायें सिद्ध होती हैं। हे राजन्! ऐसे अपने आपके स्वरूप में स्थित हो जाने से जरा-मरणादिक दुःख नष्ट हो जावेंगे और तब तेरे लिये स्पन्द और निस्पन्द दोनों ही एक समान भासेंगे, तब समाधिकाल और चेष्टाकाल दोनों ही तेरे लिये एक तुल्य होगा। आशय यह कि न समाधि में शांति का भाव होगा और न चेष्टा में दुःख होगा, दोनों में एक रस रहेगा। हे राजन्! लेना देना और यज्ञ दान आदिक क्रियायें जो कुछ प्रकृत आचार हैं उनको मर्यादा और शास्त्र की विधि सहित कर, परन्तु अपना निश्चय आत्मस्वरूप में वैसे ही रख जैसे नट अनेक स्वागों को पूर्ण चेष्टा सहित धारण करता हुआ भी अपने नटत्व में ही निश्चय रखता है। अतएव अहंकार और संकल्प से रहित रहकर तुम भी सब चेष्टाओं को करते हुए अपने स्वरूप में स्थित हो रहो। ऐसी निर्वि-कल्प अवस्था को प्राप्त कर जब एक बार भी अपने स्वरूप को देख लोगे तब उत्थानकाल में भी तुमको आत्मा ही भासेगा और तब तेरे लिये सारा संसार भी आत्मरूप ही भासित होगा, पर जब तक तू आत्मा से अविज्ञ है तब तक जगत ही दृष्टि आवेगा और उससे अहर्निश दुःख प्राप्त होता रहेगा, इस कारण तू अन्तर्मुख हो संकल्पों को त्यागकर परम निर्वाण और अच्युत पद में स्थित होजा।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ एकवां सर्ग समाप्त ॥१०१॥

—०❀०—

एकसौ दोवाँ सर्ग

मनु इक्ष्वाकु आख्यान वर्णन

इतनी कथा कहकर शम्भु मुनि ने राजा इक्ष्वाकु से कहा—हे राजन्! इस संकल्प में महान शक्ति विद्यमान रहती है और वह अपने आप से ही बँधा है और अपने आप से ही मुक्त है। जब संकल्प सहित दृश्य की भावना करता है तब आवागमन (जन्म-मरण) को प्राप्त होकर दुःखी होता है और जब संकल्प को अंतमुर्ख करता है तब मुक्त होता है। इस कारण हे राजन्! तू संकल्प को त्यागकर जो आत्मा सब का अपना आप है उसकी भावना कर कि जिससे तू सुख को प्राप्त हो। हे राजन् तू शरीर नहीं है, आत्मा और चिद्रूप है। आश्चर्य है कि इस माया ने समस्त संसार को मोहित कर लिया है और यह भी महान आश्चर्य है कि जीव उस आत्मा को सर्वदा अनुभवरूप और अंग प्रत्यंग व्यापक नहीं जानते। पर आत्मा सर्वदा अनुभवरूप ही है, तू उसमें स्थित रह उसी की भावना कर। संसार में जितने भी पदार्थ भासते हैं सब आत्मयुक्त हैं जैसे जलमें तरंग भिन्न कोई वस्तु नहीं, वैसे ही संसार आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा में भिन्नता एवं भेद केवल इतना ही है कि जितना तप्त लोष्टमें लोष्ट सत्ता नहीं होती वरन् अग्निसत्ताकी ही विशेषता होती है, उतना ही चेतन की सत्ता जगतरूप होकर स्थित हुई है, परन्तु आत्मा में प्रकाश और तम दोनों ही नहीं हैं। वह केवल चेतन-मात्र और गुणतीत होता है। उसमें न कोई गुण है और न कोई माया है। वह केवल शान्तरूप आत्मा है। वह सत, असत्, देश, काल और वस्तु से सर्वदा परे है। उसी की प्राप्ति, तप से नहीं होती, वह केवल शास्त्रों और गुरु के वचनों और केवल अपने आपसे ही पाया जाता है। पर 'यह है' ऐसा कहकर शास्त्र उसे नहीं दिखलाते। द्रष्टा पुरुष अपने आपमें ही उसे जानता है। आशय यह कि संकल्पोंसे रहित

हो अन्तर्मुख होने पर आत्मा ही आत्मा को देखता है। पर इसके विपरीत बहिर्मुख होने पर जब संकल्पों की दृढ़ता होती है तब वह उसकी भावना से दुःखदायी होता है। ऐसा पुरुष असम्यकदर्शी कहा जाता है। पर जो सम्यकदर्शी है उसको जगत दिखलाई पड़ता है तो भी वह दुःखी नहीं होता। क्योंकि वह आत्मभावना में रत रहता है, इसी कारण सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिये तू आत्मा की सी भावना कर वह आत्मा सर्वदा आनन्दरूप अद्वैत और निर्विकल्प है। उस अद्वैत के जान लेने पर सारे विकार नष्ट हो जाते हैं।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ दोवां सर्ग समाप्त ॥१०२॥

—०❀०—

एकसौ तीनवां सर्ग

परमनिर्वाण वर्णन

शम्भुमुनि ने कहा—हे राजन्! संसार और आत्मा में कोई विभिन्नता नहीं है। संसार आत्मा का ही स्वरूप है और आत्मा ही संसार रूप है। तेरा अपना आप स्वरूप भी आत्मा है और तू निर्गुण एवं सबसे पृथक है। रज, तम और सत् यह तीनों गुण तुझमें वैसे ही लेपायमान नहीं हैं जैसे अद्वैतरूप आकाश में धूप, धुवां और बादलों का स्पर्श नाममात्र को भी नहीं रहता। ज्ञानीजनों का यही स्वभाव है कि लोकदृष्टि में तो वह सबमें दीखते हैं पर वास्तव में उनके अपने आपमें कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। वह अपनी सब वासनाओं तो नष्ट किये रहते हैं। केवल शारीरिक सम्बन्ध बने रहने के कारण ही राजस तामस और सात्विक गुणों के कार्य देखने मात्रमें दुःख-सुख देने वाले होते हैं। पर वास्तव में वे उसको स्पर्श नहीं करते। वे सर्वदा समान सत्ता में ही स्थित रहते हैं और उनको कोई रंग स्पर्श नहीं कर पाता। उन आत्म धर्मी जीवों में स्पन्दता नहीं होती। वे सर्वदा स्पन्द होते हैं और इससे वे आत्मरूप हैं। स्पन्दता एवं चित्त का फुरना ही तो संसार का कारण

है। चित्त के अस्फुर होने से तो संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इस कारण हे राजन्! चाहे जिस प्रकार हो, वासना वृत्ति को त्यागकर चित्त को स्थित करो। क्योंकि वासना ही मल है। वासना का त्याग होने पर निश्चय है कि तुम अपने आप स्वच्छ रूप को देख सकोगे। बिना इसको त्याग किये आत्मदेव का दर्शन दुर्लभ है। वह आत्मा वाणी का विषय नहीं। वह केवल आत्मत्व मात्र अपने आपमें ही स्थित और सर्वदा उदयरूप है। सारा विश्व उस आत्मा का ही चमत्कार है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य यह जो त्रिपुटी है आत्मा उससे भी रहित है। उसके प्रमादसे ही त्रिपुटी भासने लगी है। चित्तको स्थिर करके देखो कि आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है। सारा संसार फुरने से ही भासता है। फुरना नष्ट हो तो संसार भी नष्ट हो जाता है। उस फुरने की निवृत्ति के लिये सात भूमिकायें हैं। [चित्त को ठहराने के स्थान का नाम है भूमिका] पहली भूमिका में जिज्ञासु होता है और सतसङ्गति करके सतशास्त्रों को देखना चाहता है। दूसरी भूमिका में वह जब सन्त और शास्त्रों का उपदेश श्रवण कर बुद्धि तीव्र कर लेता है तब विचारता है कि मैं कौन हूं और यह संसार क्या है। इससे वह तीसरी भूमिका में जा पहुँचता है कि मैं आत्मा हूँ, यह संसार मिथ्या है—ऐसी भावना को वह बारम्बार दृढ़ करता है। इस प्रकार की दृढ़ता से उसे आत्म-साक्षात्कार होता है और सब सारी वासनायें नष्ट हो जाती हैं और उसके लिये संसार स्वप्नवत् हो जाता है ऐसा अवलोकन चौथी भूमिका है। पश्चात् जब अवलोकन के आनन्द को प्राप्त होता है अर्थात् उस अवलोकन में जो आनन्द प्रकट होता है। उसे पांचवीं भूमिका कहते हैं। छठी भूमिका तुरायापद है। जिस पद में दृढ़ हो उसे तुरीया कहते हैं। तुरीया के पश्चात् निर्वाण एक पद है जो सातवीं भूमिका कही जाती है। जीवन्मुक्ति को भी इस परम निर्वाण पद की गम नहीं रहती। इसे तुरीयातीत पद कहते हैं परन्तु उस परमपद का वर्णन वाणी का विषय

संसार में कुछ भी करने कराने वाला नहीं हूँ। ऐसे निश्चय से तू किसी में रागद्वेष न कर। रागद्वेष त्याग देने से तू निरहङ्कारी हो जायगा और तुझे आत्मा से भिन्न कुछ न फुरेगा। फिर तो चाहे तू व्यवहारी रह, चाहे गृहस्थ, चाहे सन्यासी, देहधारी, त्यागी, विपक्षी और चाहे ज्ञानी ही क्यों न हो जाय, तुझे कोई दुःख न होगा और तू ज्यों का त्यों स्थित रहेगा। क्योंकि फुरना ही संसार और न फुरना ही संसाराभाव है। इससे परे आत्मा सदा एक रस और यह सारा विश्व आत्मा का ही चमत्कार है। उस आत्मा में जन्म मरण कुछ नहीं। जन्म मरण आदिक विकार तो आत्मा के अज्ञान से भासते हैं। आत्मज्ञान होने से यह सारी विषमतायें नष्ट हो जाती हैं। संवेदन से ही आकाश का भाव होता है। अहङ्कार और वासना के सम्बन्ध को संवेदन कहते हैं। पर उस चिन्मात्र में अहंभाव मिथ्या है। हे राजन्! दृश्यों का अन्त तक नहीं होता जब तक संवेदन दृश्यों की ओर फुरता रहता है। पर जब वही संवेदन अधिष्ठानरूप आत्मा की ओर आता है तब शुद्ध आत्मा अपना भाव होकर भासता है। संवेदन में भी आत्मा का आभास है और उसी आभास के आश्रय से विश्व कल्पित है पर फुरने अफुरने दोनों ही में आत्मा ज्यों का त्यों है। भेद केवल इतना ही है कि फुरने में विषमता भासती है और अफुरने में ज्यों का त्यों भासमान होता है। हे राजन्! विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है, सब आत्म स्वरूप ही है। इस कारण यदि तुझे इच्छा है कि मेरे सब दुःख नष्ट हो जायें तो अहङ्कार को त्याग कर केवल अपने सत्ता-समान-स्वरूप में स्थित हो। "मैं ही सब कुछ हूँ, मुझे जो कुछ दिखलाई और सुनाई पड़ रहा है वह सब ब्रह्म है" ऐसी भावना वारम्वार करने और ऐसे विचारों का कवच धारण करने पर यदि तुझ पर अनेकों शस्त्रों की भी वर्षा हो तो भी तुझे रञ्चमात्र दुःख न होगा और तू सर्वदा सुखी रहेगा। यह कहकर वाल्मीकिजी ने कहा कि जब इस प्रकार मनु और इक्ष्वाकु का सम्वाद वशिष्ठजी

ने रामजी को सुना दिया तब सूर्य अस्त होने लगे और सायंकाल हुआ जान समस्त सभा सहित वशिष्ठजी स्नान करने को चल दिये। पश्चात् दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही सभा में आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ चौथा सर्ग समाप्त ॥१०४॥

एकसौ पाँचवां सर्ग

परमार्थ उपदेश वर्णन

शम्भुमुनि ने कहा—हे राजन्! जो वस्तु सत्य होती है, उसका कारण भी सत्य होता है। पर जो स्वयं ही सत्य नहीं है तो उसका कारण कैसे सत्य हो सकता है? जिस संवेदन के आभास से विश्व उत्पन्न होता है वह आभास असत्य है, इस कारण विश्व भी असत्य है। इस प्रकार जब विश्व ही असत्य है तब भय और शोक किसका? आत्मा में सुख, दुःख, जन्म और मरण कुछ नहीं। वह जैसा का तैसा ही स्थित है। उसी के संवेदन से इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। इस कारण 'मैं हूँ—यह है' तू ऐसे असत्य संवेदन का सर्वथा ही त्याग कर दे। इस निश्चय से अहङ्कार नष्ट हो जाता है और आत्मा ही शेष रहता है। आत्मा के अज्ञान से ही अहङ्कार उत्पन्न हुआ है। ज्ञान होते ही उसका नष्ट होना स्वाभाविक है। जो वस्तु भ्रम से सिद्ध हो रही है किन्तु वास्तव में वह सत्य दिखलाई पड़ती है उसको सत्य प्रमाणित करने के लिए बारम्बार उस पर विचार करो, यदि ऐसा सतत् विचार करने पर भी वह टिकाऊ रहे तो जानना चाहिये कि यह सत्य है और यही आत्मा है। इसके विपरीत जो विचार दृष्टि से नष्ट हो जावे वह मिथ्या है। विचार करने से अहङ्कार नष्ट हो जाता है, इस कारण यह मिथ्या और तुच्छ है। इसको सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता। पर आत्मा तो सबका साक्षी और ज्यों का त्यों है। जो जीव और इन्द्रियों की क्रिया को अपने में मानता है और जो अपने ही से परम पद की कल्पना करता है और यहाँ तक कि जो अपने को भिन्न जानता है और पदार्थों को भी अपने से

भिन्न मानता है वह भी विचार करने से आत्मा के निकट पहुँचकर मिथ्या हो जाता है। अस्तु, आत्मा सर्वव्यापी और अहङ्कार तथा इन्द्रियों का भी साक्षी है। इस कारण हे राजन्! तू सत् वस्तु की भावना करके सम्यकदर्शी बन जा। सम्यकदर्शी बन जाने से तुझे कोई दुःख न होगा। दुःख तो असम्यकदर्शी को होता है। सम्यकदर्शी को सुख और दुःख दोनों ही समान हैं। हे राजन्! दृश्य पदार्थ तभी तक सुख देते हैं तब तक उनका सम्भोग रहता है, वियोग होने पर वही पदार्थ दुःख देते हैं। इस कारण तू दृश्य पदार्थों में तटस्थ रह। तटस्थ अर्थात् न तो उन्हें सुखदायी जान न और दुखदायी। क्योंकि सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। पर तेरा स्वरूप सब परे है, तू उसीमें स्थित रह। उसमें स्थित होने के लिये अहङ्कार का त्याग मुख्य है। अहङ्कार-त्याग से तू जन्म मरण के पाश बन्धन से सर्वथा ही मुक्त हो जायेगा और तब समझेगा कि मैं आत्मा, ब्रह्म और चिन्मात्र हूँ। तब निश्चय है कि तू रागद्वेष से रहित और शान्तरूप हो जायेगा। हे राजन्! मेरा यह कथन सत्य है अथवा असत्य इसको जानने के लिये अब तू विचार कर। विचार करने में यदि संसार की सत्यता प्रमाणित हो तो संसार की भावना कर और यदि संसार असत्य प्रमाणित हो और आत्मा सत्य हो तो आत्मा की भावना कर, तेरे लिये दोनों मार्ग खुले हैं। पर तू सम्यकदर्शी है ऐसी मुझे आशा है। इस कारण तू सत् को सत् और असत् को असत् ही जान। इसके विपरीत असम्यकदर्शिता है और इसी से अज्ञानी दुःख पाता है। अज्ञानी तो शरीर को आत्मा जानता है और शरीर के नष्ट होने से वह आत्मा को भी नष्ट हुआ समझता है और इससे वह दुखी होता है पर हे राजन् तू शरीर और इन्द्रियों के अभिमान से रहित है। ऐसा समझकर जब तू इन्द्रियों से अभिमान रहित चेष्टा करेगा तब तुझे शुभ अशुभ क्रियायें न बाँध सकेंगी। पर यदि तू अभिमान सहित कर्म करेगा तो शुभ अशुभ फल का

भोक्ता होगा और अनेक जन्म धारण करने पड़ेंगे। परन्तु तत्ववेत्ता और ज्ञानी पुरुष अपने को शरीर और इन्द्रियों के गुण से रहित जानते हैं, इससे उनके सञ्चित और क्रियमाण दोनों ही कर्म नष्ट होजाते हैं। सञ्चित कर्म वृक्ष के समान हैं और क्रियमाण फल फूल के समान है। ज्ञानाग्नि से यह दोनों ही दग्ध हो जाते हैं। कर्म ही जन्म का बीज है। जब बीज दग्ध हो जायगा तब उससे वृक्ष कैसे उत्पन्न होगा। भुने हुए बीज में अंकुर-शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार तू निरहङ्कारी बन यथानुकूल कर्मों को कर। ऐसा करने से जैसे कमल जलमें स्थित रहता है और उसे जलका स्पर्श नहीं होता वैसे ही तुझे पाप पुण्य स्पर्श न कर सकेंगे। पर अज्ञानी तो अपने अभिमानवश क्रिया न करने पर भी अपने को कर्त्ता मानता है। इससे वह कभी आवागमन की पाशता से मुक्त नहीं हो सकता। वह इतना मूढ़ होता है कि चाहे शरीर और इन्द्रिय युक्त कर्म न भी करे तौ भी वह अपने को कर्त्ता मानता है। पर जो शरीर और इन्द्रियों से कर्म करता हुआ भी अभिमान रहित है वह अकर्त्ता है और वही मोक्ष का भागी है। इस कारण तुम अज्ञानरूप वासनासे रहित होकर विचरो। इस प्रकार के आचरण से तुमको आत्मा की प्राप्ति होगी और सबका उदयरूप एवं सबका प्रकाशक अपने आपको जानोगे। तब तुमको जन्म मरण और बन्ध मोक्षका विकार न रहेगा। तब तुमको ज्यों का त्यों केवल आत्मा का भाव होगा। पर हे राजन! यह ज्ञानकला बिना अभ्यास के नहीं उत्पन्न होगी और उत्पन्न होने पर भी यदि उसका अभ्यास न करोगे तो वह नष्ट हो जायेगी। पर यदि एक बार भी ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तो ऐसा प्रतीत होगा कि मेरा न तो जन्म है और न मेरा मरण है। मैं निरङ्कार और निष्किञ्चनरूप हूं। मैं सबका प्रकाशक और अजर अमर हूँ। तब ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर जीवको मोह कदापि नहीं उत्पन्न होता। इसी को पुरुष-प्रयत्न भी कहते हैं। इस प्रकार आत्म-भावना उत्पन्न होने से जीव संसार-सागर से पार हो जाता है। परन्तु जिसको

संसार की भावना होती है वह संसारी है और वही जन्म-मरण के दुःख को प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का एकसौ पांचवां सर्ग समाप्त ॥१०५॥

एकसौ छठवाँ सर्ग

समाधान–वर्णन

हे राजन्! महान् आश्चर्य है कि चिन्मात्र में आत्मा में मायावश अनेक प्रकार से शरीर इन्द्रियाँ और दृश्य का भान हुआ है। सो इन दृश्यों के कारण अज्ञान है। इस अज्ञान से ही आत्मा दृश्यरूप भास रहा है। यदि उसका ज्ञान हो जाय तो निश्चय ही यह दृश्य लीन होजाँय। यह मैं हूँ, यह मेरे हैं ऐसे सङ्कल्पों का फुरना मिथ्या है। हे राजन्! सर्व प्रथम कारणरूप से एक जीव उत्पन्न हुआ और उस आदि जीवसे अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई। मनुष्य, गन्धर्व, विद्याधर और राक्षस आदि यह सब उसी एक आदि जीवसे उत्पन्न हुए। जैसे अग्नि की एक चिनगारी से अनेकों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही एक जीवसे अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई है। जैसा-जैसा सङ्कल्प हुआ, वैसा-वैसा रूप होता गया। अस्तु सङ्कल्प ही सब बन्धनों का मूल कारण है। परन्तु सङ्कल्प मिथ्या है इस कारण इससे जो कुछ उत्पन्न हुआ वह सब मिथ्या है। पर आत्मा सत् है इस कारण तू उस सत् आत्मा की भावना कर। वह आत्मा चिन्तामणि के समान है। उसमें भावना के अनुसार ही सिद्धि होती है। यदि तू आत्मा की भावना करेगा तो समग्र विश्व को अपने भीतर देखेगा। हे राजन्! बाहर भी जो कुछ दिखलाई पड़ता है सब आत्मा ही के आश्रित है। शास्त्र और शास्त्र-दृष्टि भी आत्मा ही के आश्रय रहती है। पर बाहर यह समस्त दृश्य फुरने से ही सत्य हैं। फुरना नष्ट होने से यह सब नष्ट होजाते हैं। तब शास्त्र और शास्त्र दृष्टि का भी लोप हो जाता है पर यह अवस्था तब आती है जब जीव निरहङ्कारी हो जाता है। निरहङ्कारी होने पर तो वह सर्व शास्त्रों

का ज्ञाता अर्थात सर्व शास्त्रों पर दृष्टि रखने वाला और सर्वात्मा हो जाता है। जैनियों का वह जैन है और काल वालों के मत से वही काल है। इसके विपरीत शरीराभिमानी मूर्ख है। इस अभिमान एवं स्वरूप के अज्ञान से ही उसे अर्ध उर्ध्व लोकों में गमनागमन करना पड़ता है। इसी से वह आकाशरूपी बन्धन में बँधा हुआ कभी पशु, कभी पक्षी कभी स्थावर जङ्गम योनियों में भटकता हुआ दुःख पाता रहता है। पर शुद्ध चेष्टायुक्त सम्यकदर्शी आकाशवत सदा निर्मल रहता है और उसे कभी कोई दुःख नहीं होता। वह अपने ही को ब्रह्मा, विष्णू और महेश जानता है और उसके लिये समस्त विश्व आत्म स्वरूप ही भासता है। वह आत्मपद को प्राप्त रहता है और उसको कोई दुःख नहीं रहता। उसके आगे समस्त सुख करबद्ध प्रस्तुत रहते हैं। हे राजन्! यह सब निरहङ्कारी की महिमा है। इस कारण तू भी निरहङ्कारी बन। ऐसा होने से तुझे ज्ञात होगा कि सब कुछ मैं ही हूँ। हे राजन्! जन्म और मरण का दुःख तो तभी तक होता है जब तक आत्मबोध की प्राप्ति नहीं होती। आत्मबोध प्राप्त होने पर तो कोई दुःख नहीं रहता। यद्यपि जन्म मरण के दोनों ही दुःख बड़े हैं, पर ज्ञानी के लिये तो इन्द्र के बज्र के समान दुःख भी स्पर्श नहीं कर सकता। कारण कि ज्ञान के प्राप्त होने पर मन बुद्धि अहङ्कार सबका नाश होजाता है और शान्त पदकी प्राप्ति होजाती है। शान्ति तब प्राप्ति होती है जब प्रकृति से वियोग होता है। जब तक प्रकृति से वियोग न होकर संयोग बना रहता है जब तक जीव संसारी बना रहता है और जिस कारण दुःख पाता रहता है। इस कारण तू अहङ्कार से रहित हो। तब जो चेष्टा करेगा वह आत्मपद होगा। वह आत्मपद न जड़ है, न चेतन है, न शून्य है, न अशून्य है, न आत्मा है, न एक है और न दो है। वह न केवल है, न अकेवल है और न आत्मा है न अनात्मा, यह जित[illegible] नाम हैं सब प्र[illegible]योग से हैं। इन सब नामों में प्रतियोगता से द्वैतता है। पर आत्मा अद्वैत

है। उसमें वाणी की गम नहीं। वह अवाच्य पद है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह सब नाम संज्ञायें तो उपदेश करने के लिये रची गयी हैं। पर वास्तव में वह आत्मा अनिर्वाच्य पद है। इस कारण तू सब संकल्पों को त्यागकर आत्मा की भावना कर। आत्म भावना करने से तुझे केवल आत्मा ही प्रकाशमान होगा। क्योंकि उससे कोई अङ्ग और कुछ भिन्न नहीं हैं। पर यह अवस्था बिना निरहङ्कार हुए प्राप्त नहीं होगा। इस कारण तू अहङ्कार का परित्याग कर। अहङ्कार का त्याग करने पर तो तुझे वह पद प्राप्त हो जायगा कि जिस पद को न तो शास्त्र प्राप्त होते हैं और न शास्त्रों के अर्थ। वहाँ सब इन्द्रियों के रस लीन हो जाते हैं और समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है और मोक्ष पदकी प्राप्ति होती है। हे राजन्! मोक्ष भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे किसी देशमें जाकर प्राप्त किया जाये अथवा ऐसा भी नहीं है कि वह किसी कालमें हैं कि जब वह काल आवेगा तब प्राप्त होगा। फिर मोक्ष कोई ऐसा भी पदार्थ नहीं है कि वह ग्रहण किया जा सके अपितु केवल अहंकार के त्याग का ही नाम मोक्ष है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ छठवां सर्ग समाप्त ॥ १०६ ॥

एकसौ आठवां सर्ग

मनु इक्ष्वाकु सम्वाद समाप्ति वर्णन

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! ऐसा कहकर शम्भुमुनि ने राजा इक्ष्वाकु से कहा,-हे राजन्! तू आत्मारामी बन। आत्मारामी बनने से तेरी व्याकुलता नष्ट हो जायगी और तू चन्द्रमा के समान शीतल हो जायगा। ऐसी अवस्था में तू किसी फल की कांक्षा न कर और जैसा कुछ प्रकृत आचार हो उसी में विचर। अनिच्छित जो कुछ भोजन वस्त्र आ जावे उसी में सन्तुष्ट रह। जहाँ नींद लगे वहीं सो जा और रागद्वेष न कर। ऐसा आचरण तुझे शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ से भी आगे बढ़ा देगा और तब तू परम रस पाकर मतवाला हो जायगा। तब तुझे संसार की कुछ इच्छा

न रहेगी। हे राजन! ऐसा ज्ञानी चाहे काशी में शरीर त्याग करे अथवा चाण्डाल के गृह में, उसके लिए सब स्थान में मुक्ति प्राप्त है कारण कि वह सर्वदा आत्मस्वरूप में स्थित रहता है और वह शरीर को अब नहीं त्याग रहा है अपितु ज्ञान उदय होने के समय ही वह शरीर को त्याग चुका है। उसकी स्थूलता ज्ञान उदय होते समय नष्ट हो चुकी है। वह सदा शुक्तरूप रहता है। वह न किसी की स्तुत्ति करता है और न किसी की निन्दा। उसके चित्तकी कलना मिट गई रहती है। देखने में तो वह रोता भी है और हँसता भी है समय-समय पर उसने रागद्वेष भी दिखलाई पड़ता है। पर केवल देखने मात्रको ही हैं, हृदय से वह राग-द्वेष रहित है। उसका अन्तःकरण निर्मल है। अज्ञानी भले ही कहें कि उसे क्रिया का बन्धन है, पर वास्तवमें वह बन्धन रहित है। वह सर्वदा नमस्कार करने और पूछने योग्य है। वह सबका आश्रयभूत है। उसकी दृष्टिमात्र से जैसा आनन्द प्राप्त होता है वैसा जप, तप, दान और यज्ञादिक कर्मोंसे भी प्राप्त होना दुर्लभ है। उसका आनन्द उस चरमसीमा को प्राप्त होता है कि जिसे कथन करने के लिये वाणीको सामर्थ्य नहीं है। जिसे सन्त की दृष्टि प्राप्त होती है उसे न तो कोई दुःख दे सकता है और न वह किसीको दुःखी करता है। उसे न तो किसी का भय रहता है और न वह किसी को पाकर हर्ष करता है। उसके लिये सिद्धियों का सुख भी अल्प प्रतीत होता है और वास्तव में यही ठीक है। क्योंकि यदि योग से उड़ने की सिद्धि प्राप्त होगई तो उस क्या लाभ, उड़नेवाले तो कितने ही हैं जो आकाशमार्ग को लांघ जाते हैं, इससे आत्मज्ञान तो नहीं प्राप्त हुआ और आमत्ज्ञान के बिना शान्ति सम्भव नहीं है। जन्म-मरण से मुक्त होजाय यही आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर कोई दुःख नहीं होता। दुःख तो अज्ञान से भासते हैं। अज्ञान से मुक्त होने पर सर्वदा आनन्द ही आनन्द है। इस कारण

हे राजन् ! तू आत्मा की भावना कर । ऐसा उपदेश देकर मनुजी चुप होगये ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ सातवां सर्ग समाप्त ॥१०७॥

एकसौ आठवाँ सर्ग

बोदा-निर्वाचन

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी ! मनुजी के चुप हो जाने पर राजाने उनका यथाविधि भलीभांति पूजन किया । तदुपरान्त मुनिजी उड़कर आकाश मार्ग से होते हुए ब्रह्मलोक को चले गये और राजा इक्ष्वाकु राज्य सूत्रको हाथमें लेकर राज्य करने लगे । हे रामजी ! इस मनु-इक्ष्वाकु समागम का इतिहास कहने का मेरा यह अभिप्राय था कि जिस प्रकार तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकु ने जीवन्मुक्त रहकर राज्य किया उसी प्रकार तुम भी जीवन्मुक्त दृष्टि का आश्रय करके विचरो। इस पर रामजी ने कहा कि हे भगवन् ! सबसे विशेष और अपूर्व अतिशय क्या है-अब कृपाकर मुझे इस विषय को ठीक ठीक समझाइये । वशिष्ठजी कहने लगे-हे रामजी ! अतिशय पद महान् श्रेष्ठ है । इसको रागद्वेष से रहित और शान्तपद में स्थित हुआ ज्ञानी ही प्राप्त करता है । अतिशय पद आत्मज्ञान है और इस आत्मज्ञान को पाने वाला ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता और वह ज्ञान एक ही है । इससे उसको प्राप्त करने का अधिकार भी केवल ज्ञानी को ही है । हे रामजी ! जो दूसरा नहीं पाता वह अपूर्व अतिशय है । पुनः अपूर्व अतिशय को प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष प्रकृति का आचरण और मानुषिक चेष्टायें भी करता चला जाता है, परन्तु उसका भाव आत्मा की ओर रहता है । रामजी ने पूछा-जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार अज्ञानी के समान चेष्टा करता है, उसको हम तत्व-वेत्ता कैसे कहें । वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, सुनिए । उसके दो लक्षण हैं । एक स्वसंवेद, दूसरा परसंवेद । स्वसंवेदी वह है जो अपने को जानते हुए भी न जाने । परन्तु संवेदी वह है कि जिसको दूसरे भी जानें

तथा जो तप, दान, यज्ञ और ब्रत इत्यादि भी करे और दुःख, सुख में जो स्थिर बना रहे। यही लक्षण साधुजन के भी हैं। वे महाकर्त्ता महाभोक्ता, महात्यागी होते हैं। क्षमा, दया आदि करते हैं, वे सिद्धके समान हैं। आकाश में उड़ जाना, छिप जाना अणिमा आदिक सिद्धियें स्वभावतः उन्हें प्राप्त हुआ करती हैं, जो ज्ञानियों को नहीं प्राप्त होती। ज्ञानी तो स्वसम्वेदी के समान हैं। उनके निकट सिद्धि विभूति कोई वस्तु नहीं। पुण्य पापादिमें जो परसम्वेदी बँधा हुआ जान पड़ता है सो प्रकृतिक है, उसका उससे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह तो माया वा धर्म है। जो स्वसम्वेदी के समान है ऐसा ज्ञानी आत्मा में स्थित रहता हुआ, अपने में सन्तुष्ट है वह बोद्धा है। उसके लिये हर्ष, शोक कुछ नहीं। जन्म, मरण भी वह नहीं मानता। काम, क्रोध लोभ आदि भी उसके बाधक नहीं। इन्द्रियों के भी जितने विषय हैं, वह भी उसको विघ्न नहीं पहुंचाते। कारण कि वह तो निर्वाच्य पद को प्राप्त किये होता है जो बोद्धा है उसका चित्त विषयों की ओर से स्वभावतः विरक्त रहता है और वह इन्द्रियजित हो जाता है। वह भोगों से तृप्त रहता है, उसे भोगों की इच्छा नहीं होती।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण- का एकसौ आठवां सर्ग समाप्त ॥१०८॥

एकसौ नवाँ सर्ग

कर्माकर्म-विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जीव कोटिवालों के लिये मायाजाल से निवृत्त होना अति कठिन है। जो जीव इसमें सद्‌बुद्धि भी रखता है, वह भी पक्षी के समान जाल में बँधा ही रहता है उसका जीवत्वाभिमान नष्ट नहीं होता। मेरा शब्द तुम्हारे लिये वैसे ही प्रिय है जैसे मेघ का शब्द मयूर को, अस्तु मेरा उपदेश ध्यानपूर्वक सुनो। रघुकुल के जितने भी आचार्य हुये वे सदैव ही राजाओं का संशय निवृत्त करते चले आये हैं। मेरे भी अब तक जितने शिष्य हुये, सब मेरे ही उपदेश से जाग गये। इस

कारण मैं अपना सब तप ध्यान इत्यादि छोड़कर तुम्हें जगाने की चेष्टा कर रहा हूँ। हे राघव ! शुद्ध आत्मा में अहं का जो बोध है मिथ्या है। इसका साक्षी जो बोध है वही सत्य है। वह बोध कभी नष्ट होने वाला नहीं। जितनी वस्तुयें स्फुरित होती हैं वह असत्य नहीं और जो असत्य हैं वह सत्य भी नहीं हो सकतीं। जिसकी सत्ता है उसका अभाव अनिवार्य है। पर जो है नहीं, उसका होना भी दुष्कर है। ब्रह्म तो असत् नहीं, सत् है। इस कारण उसकी भावना करना तुम्हारा धर्म है। क्योंकि जो ब्रह्म की भावना करता हैं, वह भी साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होजाता है। जैसे घी में घी, दूध और जल में जल मिलने से एकाकार हो जाता है, इसी प्रकार जीवकोटि का प्राणी उस चिदानन्द ब्रह्म की उपासना से वह जीवत्वाभिमान को छोड़कर तदाकार ब्रह्म हो जाता है। जिसको जीवत्व का अभिमान है वह कालचक्र के आधीन होकर दुःखी रहता है, वह मानो विष पान कर रहा है। इस कारण हे राघव ! तुम विषपान न करो, अमृत का पान करो और आत्मभावना से अमर हो जावो। सङ्कल्पजन्य जितनी वस्तुयें हैं, वे सब चलायमान और परिवर्तनशील होती हैं। वे भ्रममूलक हैं। जैसे मृगतृष्णा का जल और सीप में मोती और आकाश में अन्य चन्द्रमा का दिखलाई पड़ना भ्रान्ति है, वैसे ही जीव को इन्द्रियों का सुख जो अहङ्कार से अनुभूत करता है वह मिथ्या है। इस कारण तुम दृश्यमात्र को त्याग दो और अपने रूप की भावना करो। जब अपने रूप की भावना करोगे तो तुम्हें मोह नहीं व्यापेगा। मानों तुम पारस के स्पर्श से तांवे से सुवर्ण बन गये। आत्मपद तो मोह को उत्पन्न ही नहीं होने देता। यह मेरा, तेरा भाव नष्ट होकर अद्वैत हो जाता है। इस पर रामजी ने प्रश्न किया-हे मुने मच्छर इत्यादि जो प्रस्वेदज हैं तथा देवता और मनुष्य आदि भी, यह सब कर्मों ही से उत्पन्न होते हैं या बिना कर्म किये भी। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि अखण्ड परमात्मा से जो जीव

सृष्टि हुई है वह चार भागों में विभक्त है। १-कर्मों से उत्पन्न होने वाली २–कर्मके बिना उत्पन्न होनेवाली ३–आगे उत्पन्न होने वाली ४–वर्तमान में उत्पन्न होने वाली। यह चार सृष्टियां हैं। इसपर रामजीने कहा कि हे भगवान्! मुझे इन चारों सृष्टियोंका स्पष्ट अर्थ समझाइये। वशिष्ठजी बोले–हे रामजी! अखंड परमात्मा से सब सृष्टि हुई है। वह चिदाकाश में स्थित रहता है, जैसे अग्नि उष्णतामें रहती है। वह अनादि अनन्त और अविनाशी है। उसमें स्वभावतः फुरना विद्यमान रहता है। जैसे वायु में स्पन्दन, फूलों में सुगन्ध इत्यादि! उस फुरना से शब्द हुआ, जिससे आकाश की सृष्टि हुई। स्पर्श हुआ तो वायु की रचना हुई इसी प्रकार पञ्चतन्मात्रायें इत्यादि उत्पन्न होकर जीव शरीर की रचना कर सकीं। इस सृष्टि का सङ्कल्प पहिले पहल उस अखण्ड परमात्मा ही में हुआ। कहा भी है कि 'सङ्कल्पप्रभावा जातिः' अर्थात् यह जितना भी विश्व ब्रह्माण्ड व जाति-प्रपञ्च-दृश्य है यह सब उसी अखंड परमात्मा के सङ्कल्प का परिणाम फल है। इस जीवदेह के पश्चात् फिर विदेह है। जैसे जल बर्फ बनकर सूर्य के ताप से फिर जल बन जाता है ऐसे ही वह अखण्ड परमात्मा सङ्कल्प से जीव बनकर फिर विदेह हो जाता है। हे रामजी! जीव सृष्टि से पुनः आधिभौतिक की रचना हुई जो स्वरूपाभिमान से बनती है जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि कर्मभेद से बने। यह तेरी कर्मजन्म सृष्टि हुई। इसी प्रकार अकर्म जन्यसृष्टि भी उस अखण्ड परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है कि जिसकी जीवकोटि से भिन्न ईश्वरकोटि की संज्ञा है। उस ईश्वर के सङ्कल्प से पुनः जीव कोटिवाले उत्पन्न हुये। वह पुनः जैसा-जैसा सङ्कल्प किये, वैसा २ शरीर धारण करते गये, जिससे यह अनन्त विश्व ब्रह्माण्ड-दृश्य हुआ और इस समय भी अनन्त–जाति–प्रपञ्च–दृश्य है। यह सम्पूर्ण ही आदि और अकारण है। पीछे कारण और कर्म के आधीन हुये अब जो जीव स्वरूप में स्थित होता है उसकी पुण्य संज्ञा हो जाती है और जो स्वरूप को विस्मृत कर देता है और

अधिभूत में स्थित हो जाता है उसकी धन संज्ञा हो जाती है। पुरुष संज्ञा प्राप्तकर धन संज्ञा प्राप्त करना सरल है, परन्तु धन संज्ञाके पश्चात् पुण्य संज्ञा का प्राप्त करना दुष्कर है, विरला ही कोई भाग्यवान धन संज्ञाके पश्चात् पुण्य संज्ञा प्राप्त करता है। जैसे पर्वत परसे पत्थरका गिरना सरल है, परन्तु पर्वत पर पत्थर का चढ़ना दुष्कर है इसी प्रकार जो धन में बँधे हैं उनका पुण्यवान होना दुष्कर है । हे रामजी ! उस अखंड परमात्मा से अन्तवाहक और आधिभौतिक दो सृष्टि हुई हैं। अन्तवाहक की ईश्वर संज्ञा और आधिभौतिक की जीव संज्ञा है। जीव प्रकृति (माया) के आधीन है जीव जैसा कर्म करते हैं वैसा-वैसा शरीर धारण करते हैं। इनमें जो ज्ञानी हैं, योद्धा हैं वे ही धन से पुण्य पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं और वही अजन्मा, अजर और अमर बन जाते हैं। अब भी जो अखंड परमात्मा की चिनगारी से छिटक रहेहैं वे कर्मजन्य नहीं। परन्तु जब स्वरूपाभिमान को छोड़ते हैं तब सङ्कल्प से नाना शरीर की रचना करते हैं अस्तु हे रामजी ! यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुआ है। हे राघव ! खाना, पीना इत्यादि जितने भी प्रकृति के कार्य हैं उनका कर्त्ता तुम अपने को न समझो । अज्ञान से उनमें अहं भाव आता है जो दुःखका कारण बनता है । इसलिये प्रकृति के कार्यों में तुम अहङ्कार मत करो। अच्छा आगे सुनो, मैं बन्धन और मोक्ष का लक्षण बताता हूँ—सम्पूर्ण पदार्थों को इन्द्रियाँ ही ग्रहण करतीहैं। जो पदार्थ इष्ट है उसमें राग और जो अनिष्टहै उनमें द्वेष होता है। इसी रागद्वेष का नाम बन्धन है और जब यह रागद्वेष निवृत होकर समता या अद्वैत भाव उत्पन्न हो जाताहै तब मुक्ति मिल जाती है क्योंकि उस समय कोई भी पदार्थ कष्टदायक नहीं होते । रागद्वेष का कारण मन है। मन में ही फुरणा होने से सांसारिक पदार्थों की याचना और अभिलाषा होतीहै। इसलिये तुम जड़ का सुधार करो। उसके सुधार से ही रागद्वेष इत्यादि नष्ट हो सकते हैं । इसलिये तुम सांसारिक

पदार्थों की याचना और सङ्कल्प छोड़कर अपने स्वरूप का चिन्तन करो। हे राघव! तृण से अखंड ब्रह्म पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं यह सब रागद्वेष उत्पन्न करते हैं जिससे बन्धन होता है। इस कारण इनसे मन को हटा अपने में उसे स्थित करो। जैसे धोबी साबुन द्वारा वस्त्र का मैल दूर करता है ऐसे ही मन को स्वरूप में स्थिर कर उसके सङ्कल्प विकल्प आदि मलको दूर करो। जैसे दुष्ट पुरुष धनकी चाहना से अपने सम्बन्धियों के नाश की चेष्टा करता है वैसे ही मन आत्म-पद में स्थित होकर सङ्कल्प के नाश की चेष्टा करता है और सङ्कल्प के नष्ट हो जाने पर सारे दुःख नष्ट होकर अखंड शान्ति प्राप्त होती है इस दुष्ट मन का जब तक नाश नहीं तब तक सुख भी नहीं। यह ऐसा दुष्ट है कि जिससे पैदा होता है उसी के नाश की चेष्टा करता है। जैसे आग बाँस से उत्पन्न होकर बाँसको ही जलाती है वैसे ही यह उस अखंड परमात्मासे उपजकर उसीको नष्ठ करने में उद्यत हो जाता है। यह उस राजकर्मचारी के समान है कि जो राजा की सत्ता पाकर उसे मारकर स्वयं गद्दीपर बैठना चाहता है, वैसे ही यह मन भी आत्मा की सत्ता पाकर स्वयम् कर्त्ता भोक्ता बन बैठा है। इस कारण तुम हृदय से इस मनके नाश की चेष्टा करो। मन से ही मन का नाश हो सकता है। जैसे लोहा तपकर लोहे से कटता है। यह जितने भी जड़ चेतन पदार्थ हैं वे सब प्रथम कर्म के बिना ही उत्पन्न हुए। जब स्वरूप भ्रष्ट हो जाते हैं तभी कर्म से शरीर धारण करते हैं। स्वरूप-भ्रष्ट होने से ही अहङ्कार होता है और अहङ्कार ही बीज है कि जिससे वृक्ष व शाखायें उत्पन्न होती हैं, फल फूल लगते हैं। इस अहङ्कार बीज के नष्ट हो जाने से तो वह अखंड आत्मपद प्राप्त होता है कि जो अच्युत और निरवलम्ब है, परन्तु अवलम्बकी नाईं दृष्टिगोचर होता है। निराकार है, पर मन को साकार भासता है। निराभास है पर मन को आभास युक्त दिखलाई पड़ता है, पर उसका रूप केवल चिन्मात्र है। बस, तुम उस चिन्मात्र अखंड भगवान् की ही भावना करो

जिसमें कि तुम्हारा यह जगत-प्रपञ्च मिट जावे और तुम आत्मपद पर स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ नवां सर्ग समाप्त ॥ १०६ ॥

एकसौ दसवाँ सर्ग

तुरीयापद विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा-हे राघव ! तुम्हें जीवात्मा का एक ही रूप दिखाई पड़ता है। पर इसके दो रूप और हैं एक का नाम चिदानन्द ब्रह्म है और दूसरे का नाम अन्तवाहक पुण्य है। पहिला प्रमाद रहित स्वयं आकाश रूप है तो दूसरा प्रमाद-युक्त-पद स्थित उस अद्धं प्रकृति देवी से उत्पन्न हुआ है। जब आत्मपद को भूल जाता है तो वह तीसरा आधिभौतिक पंचतत्व निर्मल हो जाता है और अपने आपको वैसा ही समझने भी लगता है इस प्रकार-जीवनमात्र के तीन स्वरूप हैं। इस तीसरे में आकर ही वह अखण्ड परमात्मा जीव संज्ञा पाता है और दुःखी और परतन्त्र हो जाता है। यह तीन शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण नाम से भी विख्यात हैं कारण की छाया स्थूल और सूक्ष्म है जो सत्य और वास्तव नहीं। सत्य तो कारण ही है। हे राघव ! तुम उसीमें स्थित होकर कल्याणपद को प्राप्त हो सकते हो। रामजी ने पूछा-हे भगवन् आपने जो यह तीन रूप बतलाया है इसमें कौन नश्वर है और कौन अनश्वर है ? वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी ! यह जो दो रूप हैं, हाथ पाँव युक्त देह और दूसरा पुण्य नाम अन्तवाहक यह दोनों ही उपजते और नष्ट होते हैं, परन्तु तीसरा जो कारण रूप है वह नश्वर है, क्योंकि वह चिन्मात्र, निर्विकल्प, परम रूप कहा जाता है। जाग्रत आदिक उससे ही निकलते और उसी में लीन होते हैं पर वह कारण सदा तुरीयापद में ही स्थित रहता है। रामजी ने पूछा-हे भगवन् ! मैं जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति का लक्षण तो जानता हूँ पर तुरीयावस्था या तुरीयातीत अवस्था को नहीं जानता कृपाकर उसे भी बतलाइये।

नहीं । प्रथम तीन भूमिकायें जाग्रत अवस्था हैं । इस अवस्था में संसार की सत्ता दूर नहीं होती और जिज्ञासु श्रवण मनन और निदिध्यासन ही करता रह जाता है । चौथी भूमिका में संसार की सत्ता नष्ट हो जाती है और वह अवस्था स्वप्नवत् है । पाँचवीं भूमिका का नाम सुषुप्ति है इस अवस्था में पहुँचकर प्राणी आनन्दघन में स्थित होता है । छठी भूमिका का नाम तुरीयापद है जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का साक्षी है । उसमें केवल ब्रह्म ही प्रकाशता है और निर्वाणता प्राप्त होती है जिससे चित्त नष्ट हो जाता है । ऐसे तुरीयापद में जीवन्मुक्त पुरुष विचरते हैं । सातवीं भूमिका तुरीयातीतपद है और वही परम निर्वाणपद भी है । तुरीयापद में वृत्तियाँ ब्रह्माकार हो जाती हैं । पश्चात् वह अवस्था भी लीन हो जाती है और जहाँ वाणी की गम नहीं वहाँ पहुँचकर चित्त नष्ट हो जाता है और तब अहं भाव भी शेष नहीं रहता । हे राजन् ! ऐसा परम शान्त और निर्वाणपद तेरा स्वरूप है और समस्त विश्व भी वही रूप है । उससे कुछ भिन्न नहीं है । वह सर्वदा एक रह रहता है । उसीने चित्त के फुरने से सारे विश्व की कल्पना की है, जिससे विकार युक्त भास रहा है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का एकसौ तीसरा सर्ग समाप्त ॥१०३॥

एकसौ चौथा सर्ग

मोक्ष-स्वरूप वर्णन

हे राजन् ! उस सर्व चिदाकाश सत्ता में न अर्ध है न उर्ध्व है, न तम है, न प्रकाश है । वह आदि अन्त और मध्य से रहित ज्यों का त्यों स्थित है और भविष्य में भी वही स्थित रहेगा । वह चिन्मात्र परम सार है और वही सबकी सत्ता है । जगत की उत्पत्ति के लिए उसने आपही चिन्तन किया है । इससे विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है । तब शोक और मोह किसका ? जैसे तागे में बँधी हुई काष्ठ की पुतली अनिच्छित चेष्टा करती हैं वैसे ही नीतिरूपी तागे में बँधकर एवं अभिमान रहित हो विचारकर यह निश्चय रख कि

संसार में कुछ भी करने कराने वाला नहीं हूँ। ऐसे निश्चय से तू किसी में रागद्वेष न कर। रागद्वेष त्याग देने से तू निरहङ्कारी हो जायगा और तुझे आत्मा से भिन्न कुछ न फुरेगा। फिर तो चाहे तू व्यवहारी रह, चाहे गृहस्थ, चाहे सन्यासी, देहधारी, त्यागी, विपक्षी और चाहे ज्ञानी ही क्यों न हो जाय, तुझे कोई दुःख न होगा और तू ज्यों का त्यों स्थित रहेगा। क्योंकि फुरना ही संसार और न फुरना ही संसाराभाव है। इससे परे आत्मा सदा एक रस और यह सारा विश्व आत्मा का ही चमत्कार है। उस आत्मा में जन्म मरण कुछ नहीं। जन्म मरण आदिक विकार तो आत्मा के अज्ञान से भासते हैं। आत्मज्ञान होने से यह सारी विषमतायें नष्ट हो जाती हैं। संवेदन से ही आकाश का भाव होता है। अहङ्कार और वासना के सम्बन्ध को संवेदन कहते हैं। पर उस चिन्मात्र में अहंभाव मिथ्य है। हे राजन्! दृश्यों का अन्त तक नहीं होता जब तक संवेदन दृश्यों की ओर फुरता रहता है। पर जब वही संवेदन अधिष्ठानरूप आत्मा की ओर आता है तब शुद्ध आत्मा अपना भाव होकर भासता है। संवेदन में भी आत्मा का आभास है और उसी आभास के आश्रय से विश्व कल्पित है पर फुरने अफुरने दोनों ही में आत्मा ज्यों का त्यों है। भेद केवल इतना ही है कि फुरने में विषमता भासती है और अफुरने में ज्यों का त्यों भासमान होता है। हे राजन्! विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है, सब आत्म स्वरूप ही है। इस कारण यदि तुझे इच्छा है कि मेरे सब दुःख नष्ट हो जायें तो अहङ्कार को त्याग कर केवल अपने सत्ता-समान-स्वरूप में स्थित हो। "मैं ही सब कुछ हूँ, मुझे जो कुछ दिखलाई और सुनाई पड़ रहा है वह सब ब्रह्म है" ऐसी भावना वारम्बार करने और ऐसे विचारों का कवच धारण करने पर यदि तुझ पर अनेकों शस्त्रों की भी वर्षा हो तो भी तुझे रञ्चमात्र दुःख न होगा और तू सर्वदा सुखी रहेगा। यह कहकर वाल्मीकिजी ने कहा कि जब इस प्रकार मनु और इक्ष्वाकु का सम्वाद वशिष्ठजी

ने रामजी को सुना दिया तब सूर्य अस्त होने लगे और सायंकाल हुआ जान समस्त सभा सहित वशिष्ठजी स्नान करने को चल दिये। पश्चात् दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही सभा में आ विराजे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का एकसौ चौथा सर्ग समाप्त ॥१०४॥

एकसौ पाँचवां सर्ग

परमार्थ उपदेश वर्णन

शम्भुमुनि ने कहा—हे राजन् ! जो वस्तु सत्य होती है, उसका कारण भी सत्य होता है। पर जो स्वयं ही सत्य नहीं है तो उसका कारण कैसे सत्य हो सकता है ? जिस संवेदन के आभास से विश्व उत्पन्न होता है वह आभास असत्य है, इस कारण विश्व भी असत्य है। इस प्रकार जब विश्व ही असत्य है तब भय और शोक किसका ? आत्मा में सुख, दुःख, जन्म और मरण कुछ नहीं। वह जैसा का तैसा ही स्थित है। उसी के संवेदन से इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। इस कारण 'मैं हूँ–यह है' तू ऐसे असत्य संवेदन का सर्वथा ही त्याग कर दे। इस निश्चय से अहङ्कार नष्ट हो जाता है और आत्मा ही शेष रहता है। आत्मा के अज्ञान से ही अहङ्कार उत्पन्न हुआ है। ज्ञान होते ही उसका नष्ट होना स्वाभाविक है। जो वस्तु भ्रम से सिद्ध हो रही है किन्तु वास्तव में वह सत्य दिखलाई पड़ती है उसको सत्य प्रमाणित करने के लिए बारम्बार उस पर विचार करो, यदि ऐसा सतत् विचार करने पर भी वह टिकाऊ रहे तो जानना चाहिये कि यह सत्य है और यही आत्मा है। इसके विपरीत जो विचार दृष्टि से नष्ट हो जावे वह मिथ्या है। विचार करने से अहङ्कार नष्ट हो जाता है, इस कारण यह मिथ्या और तुच्छ है। इसको सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता। पर आत्मा तो सबका साक्षी और ज्यों का त्यों है। जो जीव और इन्द्रियों की क्रिया को अपने में मानता है और जो अपने ही से परम पद की कल्पना करता है और यहाँ तक कि जो अपने को भिन्न जानता है औ[illegible] पद [illegible] अपने मे

भिन्न मानता है वह भी विचार करने से आत्मा के निकट पहुँचकर मिथ्या हो जाता है। अस्तु, आत्मा सर्वव्यापी और अहङ्कार तथा इन्द्रियों का भी साक्षी है। इस कारण हे राजन्! तू सत् वस्तु की भावना करके सम्यकदर्शी बन जा। सम्यकदर्शी बन जाने से तुझे कोई दुःख न होगा। दुःख तो असम्यकदर्शी को होता है। सम्यकदर्शी को सुख और दुःख दोनों ही समान हैं। हे राजन्! दृश्य पदार्थ तभी तक सुख देते हैं तब तक उनका सम्भोग रहता है, वियोग होने पर वही पदार्थ दुःख देते हैं। इस कारण तू दृश्य पदार्थों में तटस्थ रह। तटस्थ अर्थात् न तो उन्हें सुखदायी जान न और दुखदायी। क्योंकि सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। पर तेरा स्वरूप सब परे है, तू उसीमें स्थित रह। उसमें स्थित होने के लिये अहङ्कार का त्याग मुख्य है। अहङ्कार-त्याग से तू जन्म मरण के पाश बन्धन से सर्वथा ही मुक्त हो जायेगा और तब समझेगा कि मैं आत्मा, ब्रह्म और चिन्मात्र हूँ। तब निश्चय है कि तू रागद्वेष से रहित और शान्तरूप हो जायेगा। हे राजन्! मेरा यह कथन सत्य है अथवा असत्य इसको जानने के लिये अब तू विचार कर। विचार करने में यदि संसार की सत्यता प्रमाणित हो तो संसार की भावना कर और यदि संसार असत्य प्रमाणित हो और आत्मा सत्य हो तो आत्मा की भावना कर, तेरे लिये दोनों मार्ग खुले हैं। पर तू सम्यकदर्शी है ऐसी मुझे आशा है। इस कारण तू सत् को सत् और असत् को असत् ही जान। इसके विपरीत असम्यकदर्शिता है और इसी से अज्ञानी दुःख पाता है। अज्ञानी तो शरीर को आत्मा जानता है और शरीर के नष्ट होने से वह आत्मा को भी नष्ट हुआ समझता है और इससे वह दुखी होता है पर हे राजन् तू शरीर और इन्द्रियों के अभिमान से रहित है। ऐसा समझकर जब तू इन्द्रियों से अभिमान रहित चेष्टा करेगा तब तुझे शुभ अशुभ क्रियायें न बाँध सकेंगी। पर यदि तू अभिमान सहित कर्म करेगा तो शुभ अशुभ फल का

भोक्ता होगा और अनेक जन्म धारण करने पड़ेंगे। परन्तु तत्ववेत्ता और ज्ञानी पुरुष अपने को शरीर और इन्द्रियों के गुण से रहित जानते हैं, इससे उनके सञ्चित और क्रियमाण दोनों ही कर्म नष्ट होजाते हैं। सञ्चित कर्म वृक्ष के समान हैं और क्रियमाण फल फूल के समान हैं। ज्ञानाग्नि से यह दोनों ही दग्ध हो जाते हैं। कर्म ही जन्म का बीज है। जब बीज दग्ध हो जायगा तब उससे वृक्ष कैसे उत्पन्न होगा। भुने हुए बीज में अंकुर-शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार तू निरहङ्कारी बन यथानुकूल कर्मों को कर। ऐसा करने से जैसे कमल जलमें स्थित रहता है और उसे जलका स्पर्श नहीं होता वैसे ही तुझे पाप पुण्य स्पर्श न कर सकेंगे। पर अज्ञानी तो अपने अभिमानवश क्रिया न करने पर भी अपने को कर्त्ता मानता है। इससे वह कभी आवागमन की पाशता से मुक्त नहीं हो सकता। वह इतना मूढ़ होता है कि चाहे शरीर और इन्द्रिय युक्त कर्म न भी करे तौ भी वह अपने को कर्त्ता मानता है। पर जो शरीर और इन्द्रियों से कर्म करता हुआ भी अभिमान रहित है वह अकर्त्ता है और वही मोक्ष का भागी है। इस कारण तुम अज्ञानरूप वासनासे रहित होकर विचरो। इस प्रकार के आचरण से तुमको आत्मा की प्राप्ति होगी और सबका उदयरूप एवं सबका प्रकाशक अपने आपको जानोगे। तब तुमको जन्म मरण और बन्ध मोक्षका विकार न रहेगा। तब तुमको ज्यों का त्यों केवल आत्मा का भाव होगा। पर हे राजन! यह ज्ञानकला बिना अभ्यास के नहीं उत्पन्न होगी और उत्पन्न होने पर भी यदि उसका अभ्यास न करोगे तो वह नष्ट हो जायेगी। पर यदि एक बार भी ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तो ऐसा प्रतीत होगा कि मेरा न तो जन्म है और न मेरा मरण है। मैं निरङ्कार और निष्किञ्चनरूप हूं। मैं सबका प्रकाशक और अजर अमर हूँ। तब ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर जीवको मोह कदापि नहीं उत्पन्न होता। इसी को पुरुष-प्रयत्न भी कहते हैं। इस प्रकार आत्म-भावना उत्पन्न होने से जीव संसार-सागर से पार हो जाता है। परन्तु जिसको

संसार की भावना होती है वह संसारी है और वही जन्म-मरण के दुःख को प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ पाँचवां सर्ग समाप्त ॥१०५॥

एकसौ छठवाँ सर्ग

समाधान-वर्णन

हे राजन्! महान् आश्चर्य है कि चिन्मात्र में आत्मा में मायावश अनेक प्रकार से शरीर इन्द्रियाँ और दृश्य का भान हुआ है। सो इन दृश्यों के कारण अज्ञान है। इस अज्ञान से ही आत्मा दृश्यरूप भास रहा है। यदि उसका ज्ञान हो जाय तो निश्चय ही यह दृश्य लीन होजाँय। यह मैं हूँ, यह मेरे हैं ऐसे सङ्कल्पों का फुरना मिथ्या है। हे राजन्! सर्व प्रथम कारणरूप से एक जीव उत्पन्न हुआ और उस आदि जीवसे अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई। मनुष्य, गन्धर्व, विद्याधर और राक्षस आदि यह सब उसी एक आदि जीवसे उत्पन्न हुए। जैसे अग्नि की एक चिनगारी से अनेकों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही एक जीवसे अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई है। जैसा-जैसा सङ्कल्प हुआ, वैसा-वैसा रूप होता गया। अस्तु सङ्कल्प ही सब बन्धनों का मूल कारण है। परन्तु सङ्कल्प मिथ्या है इस कारण इससे जो कुछ उत्पन्न हुआ वह सब मिथ्या है। पर आत्मा सत् है इस कारण तू उस सत् आत्मा की भावना कर। वह आत्मा चिन्ता मणि के समान है। उसमें भावना के अनुसार ही सिद्धि होती है। यदि तू आत्मा की भावना करेगा तो समग्र विश्व को अपने भीतर देखेगा। हे राजन्! बाहर भी जो कुछ दिखलाई पड़ता है सब आत्मा ही के आश्रित है। शास्त्र और शास्त्र-दृष्टि भी आत्मा ही के आश्रय रहती है। पर बाहर यह समस्त दृश्य फुरने से ही सत्य हैं। फुरना नष्ट होने से यह सब नष्ट होजाते हैं। तब शास्त्र और शास्त्र दृष्टि का भी लोप हो जाता है पर यह अवस्था तब आती है जब जीव निरहङ्कारी हो जाता है। निरहङ्कारी होने पर तो वह सर्व शास्त्रों

का ज्ञाता अर्थात सर्व शास्त्रों पर दृष्टि रखने वाला और सर्वात्मा हो जाता है। जैनियों का वह जैन है और काल वालों के मत से वही काल है। इसके विपरीत शरीराभिमानी मूर्ख है। इस अभिमान एवं स्वरूप के अज्ञान से ही उसे अर्ध उर्ध्व लोकों में गमनागमन करना पड़ता है। इसी से वह आकाशरूपी बन्धन में बँधा हुआ कभी पशु, कभी पक्षी कभी स्थावर जङ्गम योनियों में भटकता हुआ दुःख पाता रहता है। पर शुद्ध चेष्टायुक्त सम्यक्दर्शी आकाशवत सदा निर्मल रहता है और उसे कभी कोई दुःख नहीं होता। वह अपने ही को ब्रह्मा, विष्णू और महेश जानता है और उसके लिये समस्त विश्व आत्म स्वरूप ही भासता है। वह आत्मपद को प्राप्त रहता है और उसको कोई दुःख नहीं रहता। उसके आगे समस्त सुख करबद्ध प्रस्तुत रहते हैं। हे राजन्! यह सब निरहङ्कारी की महिमा है। इस कारण तू भी निरहङ्कारी बन। ऐसा होने से तुझे ज्ञात होगा कि सब कुछ मैं ही हूँ। हे राजन्! जन्म और मरण का दुःख तो तभी तक होता है जब तक आत्मबोध की प्राप्ति नहीं होती। आत्मबोध प्राप्त होने पर तो कोई दुःख नहीं रहता। यद्यपि जन्म मरण के दोनों ही दुःख बड़े हैं, पर ज्ञानी के लिये तो इन्द्र के बज्र के समान दुःख भी स्पर्श नहीं कर सकता। कारण कि ज्ञान के प्राप्त होनेपर मन बुद्धि अहङ्कार सबका नाश होजाता है और शान्त पदकी प्राप्ति होजाती है। शान्ति तब प्राप्ति होती है जब प्रकृति से वियोग होता है। जब तक प्रकृति से वियोग न होकर संयोग बना रहता है जब तक जीव संसारी बना रहता है और जिस कारण दुःख पाता रहता है। इस कारण तू अहङ्कार से रहित हो। तब जो चेष्टा करेगा वह आत्मपद होगा। वह आत्मपद न जड़ है, न चेतन है, न शून्य है, न अशून्य है, न आत्मा है, न एक है और न दो है। वह न केवल है, न अकेवल है और न आत्मा है न अनात्मा, यह जितने भी नाम हैं सब प्रतियोग से हैं। इन सब नामों में प्रतियोगता से द्वैतता है। पर आत्मा अद्वैत

है। उसमें वाणी की गम नहीं। वह अवाच्य पद है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह सब नाम संज्ञायें तो उपदेश करने के लिये रची गयी हैं। पर वास्तव में वह आत्मा अनिर्वाच्य पद है। इस कारण तू सब संकल्पों को त्यागकर आत्मा की भावना कर। आत्म भावना करने से तुझे केवल आत्मा ही प्रकाशमान होगा। क्योंकि उससे कोई अङ्ग और कुछ भिन्न नहीं हैं। पर यह अवस्था विना निरहङ्कार हुए प्राप्त नहीं होगा। इस कारण तू अहङ्कार का परित्याग कर। अहङ्कार का त्याग करने पर तो तुझे वह पद प्राप्त हो जायगा कि जिस पद को न तो शास्त्र प्राप्त होते हैं और न शास्त्रों के अर्थ। वहाँ सब इन्द्रियों के रस क्षीन हो जाते हैं और समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है और मोक्ष पदकी प्राप्ति होती है। हे राजन्! मोक्ष भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे किसी देशमें जाकर प्राप्त किया जाये अथवा ऐसा भी नहीं है कि वह किसी कालमें हैं कि जब वह काल आवेगा तब प्राप्त होगा। फिर मोक्ष कोई ऐसा भी पदार्थ नहीं है कि वह ग्रहण किया जा सके अपितु केवल अहंकार के त्याग का ही नाम मोक्ष है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ छठवां सर्ग समाप्त ॥ १०६ ॥

एकसौ आठवां सर्ग

मनु इक्ष्वाकु सम्वाद समाप्ति वर्णन

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी! ऐसा कहकर शम्भुमुनि ने राजा इक्ष्वाकु से कहा,-हे राजन्! तू आत्मारामी बन। आत्मारामी बनने से तेरी व्याकुलता नष्ट हो जायगी और तू चन्द्रमा के समान शीतल हो जायगा। ऐसी अवस्था में तू किसी फल की कांक्षा न कर और जैसा कुछ प्रकृत आचार हो उसी में विचर। अनिच्छित जो कुछ भोजन वस्त्र आ जावे उसी में सन्तुष्ट रह। जहाँ नींद लगे वही सो जा और रागद्वेष न कर। ऐसा आचरण तुझे शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ से भी आगे बढ़ा देगा और तब तू परम रस पाकर मतवाला हो जायगा। तब तुझे संसार की कुछ इच्छा

न रहेगी। हे राजन्! ऐसा ज्ञानी चाहे काशी में शरीर त्याग करे अथवा चाण्डाल के गृह में, उसके लिए सब स्थान में मुक्ति प्राप्त है कारण कि वह सर्वदा आत्मस्वरूप में स्थित रहता है और वह शरीर को अब नहीं त्याग रहा है अपितु ज्ञान उदय होने के समय ही वह शरीर को त्याग चुका है। उसकी स्थूलता ज्ञान उदय होते समय नष्ट हो चुकी है। वह सदा शुक्तरूप रहता है। वह न किसी की स्तुति करता है और न किसी की निन्दा। उसके चित्तकी कलना मिट गई रहती है। देखने में तो वह रोता भी है और हँसता भी है समय-समय पर उसने रागद्वेष भी दिखलाई पड़ता है। पर केवल देखने मात्रको ही है, हृदय से वह राग-द्वेष रहित है। उसका अन्तःकरण निर्मल है। अज्ञानी भले ही कहें कि उसे क्रिया का बन्धन है, पर वास्तवमें वह बन्धन रहित है। वह सर्वदा नमस्कार करने और पूछने योग्य है। वह सबका आश्रयभूत है। उसकी दृष्टिमात्र से जैसा आनन्द प्राप्त होता है वैसा जप, तप, दान और यज्ञादिक कर्मोंसे भी प्राप्त होना दुर्लभ है। उसका आनन्द उस चरमसीमा को प्राप्त होता है कि जिसे कथन करने के लिये वाणीको सामर्थ्य नहीं है। जिसे सन्त की दृष्टि प्राप्त होती है उसे न तो कोई दुःख दे सकता है और न वह किसीको दुःखी करता है। उसे न तो किसी का भय रहता है और न वह किसी को पाकर हर्ष करता है। उसके लिये सिद्धियों का सुख भी अल्प प्रतीत होता है और वास्तव में यही ठीक है। क्योंकि यदि योग से उड़ने की सिद्धि प्राप्त होगई तो उस क्या लाभ, उड़नेवाले तो कितने ही हैं जो आकाशमार्ग को लांघ जाते हैं, इससे आत्म-ज्ञान तो नहीं प्राप्त हुआ और आमत्ज्ञान के बिना शान्ति सम्भव नहीं है। जन्म-मरण से मुक्त होजाय यही आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर कोई दुःख नहीं होता। दुःख तो अज्ञान से भासते हैं। अज्ञान से मुक्त होने पर सर्वदा आनन्द ही आनन्द है। इस कारण

हे राजन् ! तू आत्मा की भावना कर । ऐसा उपदेश देकर मनुजी चुप होगये ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ सातवां सर्ग समाप्त ॥१०७॥

एकसौ आठवाँ सर्ग

वोदा-निर्वाचन

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी ! मनुजी के चुप हो जाने पर राजाने उनका यथाविधि भलीभांति पूजन किया । तदुपरान्त मुनिजी उड़कर आकाश मार्ग से होते हुए ब्रह्मलोक को चले गये और राजा इक्ष्वाकु राज्य सूत्रको हाथमें लेकर राज्य करने लगे । हे रामजी ! इस मनु-इक्ष्वाकु समागम का इतिहास कहने का मेरा यह अभिप्राय था कि जिस प्रकार तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकु ने जीवन्मुक्त रहकर राज्य किया उसी प्रकार तुम भी जीवन्मुक्त दृष्टि का आश्रय करके विचरो। इस पर रामजी ने कहा कि हे भगवन् ! सबसे विशेष और अपूर्व अतिशय क्या है—अब कृपाकर मुझे इस विषय को ठीक ठीक समझाइये । वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! अतिशय पद महान् श्रेष्ठ है । इसको रागद्वेष से रहित और शान्तपद में स्थित हुआ ज्ञानी ही प्राप्त करता है । अतिशय पद आत्मज्ञान है और इस आत्मज्ञान को पाने वाला ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता और वह ज्ञान एक ही है । इससे उसको प्राप्त करने का अधिकार भी केवल ज्ञानी को ही है । हे रामजी ! जो दूसरा नहीं पाता वह अपूर्व अतिशय है । पुनः अपूर्व अतिशय को प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष प्रकृति का आचरण और मानुषिक चेष्टायें भी करता चला जाता है, परन्तु उसका भाव आत्मा की ओर रहता है । रामजी ने पूछा—जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार अज्ञानी के समान चेष्टा करता है, उसको हम तत्ववेत्ता कैसे कहें । वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, सुनिए । उसके दो लक्षण हैं । एक स्वसंवेद, दूसरा परसंवेद । स्वसंवेदी वह है जो अपने को जानते हुए भी न जाने । परन्तु संवेदी वह है कि जिसको दूसरे भी जानें

तथा जो तप, दान, यज्ञ और ब्रत इत्यादि भी करे और दुःख, सुख में जो स्थिर बना रहे। यही लक्षण साधुजन के भी हैं। वे महाकर्त्ता महाभोक्ता, महात्यागी होते हैं। क्षमा, दया आदि करते हैं, वे सिद्ध के समान हैं। आकाश में उड़ जाना, छिप जाना अणिमा आदिक सिद्धियें स्वभावतः उन्हें प्राप्त हुआ करती हैं, जो ज्ञानियों को नहीं प्राप्त होती। ज्ञानी तो स्वसम्वेदी के समान हैं। उनके निकट सिद्धि विभूति कोई वस्तु नहीं। पुण्य पापादि में जो परसम्वेदी बँधा हुआ जान पड़ता है सो प्रकृतिक है, उसका उससे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह तो माया वा धर्म है। जो स्वसम्वेदी के समान है ऐसा ज्ञानी आत्मा में स्थित रहता हुआ, अपने में सन्तुष्ट है वह बोद्धा है। उसके लिये हर्ष, शोक कुछ नहीं। जन्म, मरण भी वह नहीं मानता। काम, क्रोध लोभ आदि भी उसके बाधक नहीं। इन्द्रियों के भी जितने विषय हैं, वह भी उसको विघ्न नहीं पहुंचाते। कारण कि वह तो निर्वाण्य पद को प्राप्त किये होता है जो बोद्धा है उसका चित्त विषयों की ओर से स्वभावतः विरक्त रहता है और वह इन्द्रियजित हो जाता है। वह भोगों से तृप्त रहता है, उसे भोगों की इच्छा नहीं होती।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण- का एकसौ आठवां सर्ग समाप्त ॥१०८॥

एकसौ नवाँ सर्ग

कर्माकर्म-विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जीव कोटिवालों के लिये मायाजाल से निवृत्त होना अति कठिन है। जो जीव इसमें सद्बुद्धि भी रखता है, वह भी पक्षी के समान जाल में बँधा ही रहता है उसका जीवत्वाभिमान नष्ट नहीं होता। मेरा शब्द तुम्हारे लिये वैसे ही प्रिय है जैसे मेघ का शब्द मयूर को, अस्तु मेरा उपदेश ध्यानपूर्वक सुनो। रघुकुल के जितने भी आचार्य हुये वे सदैव ही राजाओं का संशय निवृत्त करते चले आये हैं। मेरे भी अब तक जितने शिष्य हुये, सब मेरे ही उपदेश से जाग गये। इस

कारण में अपना सब तप ध्यान इत्यादि छोड़कर तुम्हें जगाने की चेष्टा कर रहा हूँ। हे राघव! शुद्ध आत्मा में अहं का जो बोध है मिथ्या है। इसका साक्षी जो बोध है वही सत्य है। वह बोध कभी नष्ट होने वाला नहीं। जितनी वस्तुयें स्फुरित होती हैं वह असत्य नहीं और जो असत्य हैं वह सत्य भी नहीं हो सकतीं। जिसकी सत्ता है उसका अभाव अनिवार्य है। पर जो है नहीं, उसका होना भी दुष्कर है। ब्रह्म तो असत् नहीं, सत् है। इस कारण उसकी भावना करना तुम्हारा धर्म है। क्योंकि जो ब्रह्म की भावना करता हैं, वह भी साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होजाता है। जैसे घी में घी, दूध और जल में जल मिलने से एकाकार हो जाता है, इसी प्रकार जीवकोटि का प्राणी उस चिदानन्द ब्रह्म की उपासना से वह जीवत्वाभिमान को छोड़कर तदाकार ब्रह्म हो जाता है। जिसको जीवत्व का अभिमान है वह कालचक्र के आधीन होकर दुःखी रहता है, वह मानो विष पान कर रहा है। इस कारण हे राघव! तुम विषपान न करो, अमृत का पान करो और आत्मभावना से अमर हो जावो। सङ्कल्पजन्य जितनी वस्तुयें हैं, वे सब चलायमान और परिवर्तनशील होती हैं। वे भ्रममूलक हैं। जैसे मृगतृष्णा का जल और सीप में मोती और आकाश में अन्य चन्द्रमा का दिखलाई पड़ना भ्रान्ति है, वैसे ही जीव को इन्द्रियों का सुख जो अहङ्कार से अनुभूत करता है वह मिथ्या है। इस कारण तुम दृश्यमात्र को त्याग दो और अपने रूप की भावना करो। जब अपने रूप की भावना करोगे तो तुम्हें मोह नहीं व्यापेगा। मानों तुम पारस के स्पर्श से तांबे से सुवर्ण बन गये। आत्मपद तो मोह को उत्पन्न ही नहीं होने देता। यह मेरा, तेरा भाव नष्ट होकर अद्वैत हो जाता है। इस पर रामजी ने प्रश्न किया-हे मुने मच्छर इत्यादि जो प्रस्वेदज हैं तथा देवता और मनुष्य आदि भी, यह सब कर्मों ही से उत्पन्न होते हैं या बिना कर्म किये भी। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया कि अखण्ड परमात्मा से जो जीव

सृष्टि हुई है वह चार भागों में विभक्त है। १-कर्मों से उत्पन्न होने वाली २-कर्मके बिना उत्पन्न होनेवाली ३-आगे उत्पन्न होने वाली ४-वर्तमान में उत्पन्न होने वाली। यह चार सृष्टियां हैं। इसपर रामजीने कहा कि हे भगवान्! मुझे इन चारों सृष्टियोंका स्पष्ट अर्थ समझाइये। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! अखंड परमात्मा से सब सृष्टि हुईहै। वह चिदाकाश में स्थित रहता है, जैसे अग्नि उष्णतामें रहती है। वह अनादि अनन्त और अविनाशी है। उसमें स्वभावतः फुरना विद्यमान रहता है। जैसे वायु में स्पन्दन, फूलों में सुगन्ध इत्यादि! उस फुरना से शब्द हुआ, जिससे आकाश की सृष्टि हुई। स्पर्श हुआ तो वायु की रचना हुई इसी प्रकार पञ्चतन्मात्रायें इत्यादि उत्पन्न होकर जीव शरीर की रचना कर सकीं। इस सृष्टि का सङ्कल्प पहिले पहल उस अखण्ड परमात्मा ही में हुआ। कहा भी है कि 'सङ्कल्पप्रभावा जातिः' अर्थात् यह जितना भी विश्व ब्रह्माण्ड व जाति-प्रपञ्च-दृश्य है यह सब उसी अखंड परमात्मा के सङ्कल्प का परिणाम फल है। इस जीवदेह के पश्चात् फिर विदेह है। जैसे जल बर्फ बनकर सूर्य के ताप से फिर जल बन जाता है ऐसे ही वह अखण्ड परमात्मा सङ्कल्प से जीव बनकर फिर विदेह हो जाता है। हे रामजी! जीव सृष्टि से पुनः आधिभौतिक की रचना हुई जो स्वरूपाभिमान से बनती है जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि कर्मभेद से बने। यह तेरी कर्मजन्म सृष्टि हुई। इसी प्रकार अकर्म जन्यसृष्टि भी उस अखण्ड परमात्मा से ही उत्पन्न हुईहै कि जिसकी जीवकोटि से भिन्न ईश्वरकोटि की संज्ञा है। उस ईश्वर के सङ्कल्प से पुनः जीव कोटिवाले उत्पन्न हुये। वह पुनः जैसा-जैसा सङ्कल्प किये, वैसा २ शरीर धारण करते गये, जिससे यह अनन्त विश्व ब्रह्माण्ड-दृश्य हुआ और इस समय भी अनन्त-जाति-प्रपञ्च-दृश्य है। यह सम्पूर्ण ही आदि और अकारण है। पीछे कारण और कर्म के आधीन हुये अब जो जीव स्वरूप में स्थित होता है उसकी पुण्य संज्ञा हो जाती है और जो स्वरूप को विस्मृत कर देता है और

अधिमूत में स्थित हो जाता है उसकी धन संज्ञा हो जाती है। पुरुष संज्ञा प्राप्तकर धन संज्ञा प्राप्त करना सरल है, परन्तु धन संज्ञाके पश्चात् पुण्य संज्ञा का प्राप्त करना दुष्कर है, विरला ही कोई भाग्यवान धन संज्ञाके पश्चात् पुण्य संज्ञा प्राप्त करता है। जैसे पर्वत परसे पत्थरका गिरना सरल है, परन्तु पर्वत पर पत्थर का चढ़ना दुष्कर है इसी प्रकार जो धन में बँधे हैं उनका पुण्यवान होना दुष्कर है। हे रामजी ! उस अखंड परमात्मा से अन्तवाहक और आधिभौतिक दो सृष्टि हुई हैं। अन्तवाहक की ईश्वर संज्ञा और आधिभौतिक की जीव संज्ञा है। जीव प्रकृति (माया) के आधीन है जीव जैसा कर्म करते हैं वैसा-वैसा शरीर धारण करते हैं। इनमें जो ज्ञानी हैं, योद्धा हैं वे ही धन से पुण्य पद प्राप्त करने में समर्थ होते हैं और वही अजन्मा, अजर और अमर बन जाते हैं। अब भी जो अखंड परमात्मा की चिनगारी से छिटक रहेहैं वे कर्मजन्य नहीं। परन्तु जब स्वरूपाभिमान को छोड़ते हैं तब सङ्कल्प से नाना शरीर की रचना करते हैं अस्तु हे रामजी ! यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुआ है। हे राघव ! खाना, पीना इत्यादि जितने भी प्रकृति के कार्य हैं उनका कर्त्ता तुम अपने को न समझो। अज्ञान से उनमें अहं भाव आता है जो दुःखका कारण बनता है। इसलिये प्रकृति के कार्यों में तुम अहङ्कार मत करो। अच्छा आगे सुनो, मैं बन्धन और मोक्ष का लक्षण बताता हूँ—सम्पूर्ण पदार्थों को इन्द्रियाँ ही ग्रहण करतीहैं। जो पदार्थ इष्ट है उसमें राग और जो अनिष्टहै उनमें द्वेष होता है। इसी रागद्वेष का नाम बन्धन है और जब यह रागद्वेष निवृत होकर समता या अद्वैत भाव उत्पन्न हो जाताहै तब मुक्ति मिल जाती है क्योंकि उस समय कोई भी पदार्थ कष्टदायक नहीं होते। रागद्वेष का कारण मन है। मन में ही फुरणा होने से सांसारिक पदार्थों की याचना और अभिलाषा होतीहै। इसलिये तुम जड़ का सुधार करो। उसके सुधार से ही रागद्वेष इत्यादि नष्ट हो सकते हैं। इसलिये तुम सांसारिक

पदार्थों की याचना और सङ्कल्प छोड़कर अपने स्वरूप का चिन्तन करो। हे राघव! तृण से अखंड ब्रह्म पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं यह सब रागद्वेष उत्पन्न करते हैं जिससे बन्धन होता है। इस कारण इनसे मन को हटा अपने में उसे स्थित करो। जैसे धोबी साबुन द्वारा वस्त्र का मैल दूर करता है ऐसे ही मन को स्वरूप में स्थिर कर उसके सङ्कल्प विकल्प आदि मलको दूर करो। जैसे दुष्ट पुरुष धनकी चाहना से अपने सम्बन्धियों के नाश की चेष्टा करता है वैसे ही मन आत्मपद में स्थित होकर सङ्कल्प के नाश की चेष्टा करता है और सङ्कल्प के नष्ट हो जाने पर सारे दुःख नष्ट होकर अखंड शान्ति प्राप्त होती है इस दुष्ट मन का जब तक नाश नहीं तब तक सुख भी नहीं। यह ऐसा दुष्ट है कि जिससे पैदा होता है उसी के नाश की चेष्टा करता है। जैसे आग बाँस से उत्पन्न होकर बाँसको ही जलाती है वैसे ही यह उस अखंड परमात्मासे उपजकर उसीको नष्ट करने में उद्यत हो जाता है। यह उस राजकर्मचारी के समान है कि जो राजा की सत्ता पाकर उसे मारकर स्वयं गद्दीपर बैठना चाहता है, वैसे ही यह मन भी आत्मा की सत्ता पाकर स्वयम् कर्त्ता भोक्ता बन बैठा है। इस कारण तुम हृदय से इस मनके नाश की चेष्टा करो। मन से ही मन का नाश हो सकता है। जैसे लोहा तपकर लोहे से कटता है। यह जितने भी जड़ चेतन पदार्थ हैं वे सब प्रथम कर्म के बिना ही उत्पन्न हुए। जब स्वरूप भ्रष्ट हो जाते हैं तभी कर्म से शरीर धारण करते हैं। स्वरूपभ्रष्ट होने से ही अहङ्कार होता है और अहङ्कार ही बीज है कि जिससे वृक्ष व शाखायें उत्पन्न होती हैं, फल फूल लगते हैं। इस अहङ्कार बीज के नष्ट हो जाने से तो वह अखंड आत्मपद प्राप्त होता है कि जो अच्युत और निरवलम्ब है, परन्तु अवलम्बकी नाईं दृष्टिगोचर होता है। निराकार है, पर मन को साकार भासता है। निराभास है पर मन को आभास युक्त दिखलाई पड़ता है, पर उसका रूप केवल चिन्मात्र है। बस, तुम उस चिन्मात्र अखंड भगवान् की ही भावना करो

जिसमें कि तुम्हारा यह जगत-प्रपञ्च मिट जावे और तुम आत्मपद पर स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ नवां सर्ग समाप्त ॥ १०९ ॥

एकसौ दसवाँ सर्ग

तुरीयापद विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा-हे राघव ! तुम्हें जीवात्मा का एक ही रूप दिखाई पड़ता है। पर इसके दो रूप और हैं एक का नाम चिदानन्द ब्रह्म है और दूसरे का नाम अन्तवाहक पुण्य है। पहिला प्रमाद रहित स्वयं आकाश रूप है तो दूसरा प्रमाद-युक्त-पद स्थित उस अर्द्ध प्रकृति देवी से उत्पन्न हुआ है। जब आत्मपद को भूल जाता है तो वह तीसरा आधिभौतिक पंचतत्व निर्मल हो जाता है और अपने आपको वैसा ही समझने भी लगता है इस प्रकार-जीवनमात्र के तीन स्वरूप है। इस तीसरे में आकर ही वह अखण्ड परमात्मा जीव संज्ञा पाता है और दुःखी और परतन्त्र हो जाता है। यह तीन शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण नाम से भी विख्यात हैं कारण की छाया स्थूल और सूक्ष्म है जो सत्य और वास्तव नहीं। सत्य तो कारण ही है। हे राघव ! तुम उसीमें स्थित होकर कल्याणपद को प्राप्त हो सकते हो। रामजी ने पूछा-हे भगवन् आपने जो यह तीन रूप बतलाया है इसमें कौन नश्वर है और कौन अनश्वर है ? वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी ! यह जो दो रूप हैं, हाथ पाँव युक्त देह और दूसरा पुण्य नाम अन्तवाहक यह दोनों ही उपजते और नष्ट होते है, परन्तु तीसरा जो कारण रूप है वह नश्वर है, क्योंकि वह चिन्मात्र, निर्विकल्प, परम रूप कहा जाता है। जाग्रत आदिक उससे ही निकलते और उसी में लीन होते हैं पर वह कारण सदा तुरीयापद में ही स्थित रहता है। रामजी ने पूछा-हे भगवन् ! मैं जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति का लक्षण तो जानता हूँ पर तुरीयावस्था या तुरीयातीत अवस्था को नहीं जानता कृपाकर उसे भी बतलाइये।

वशिष्ठजी ने कहा—तुरीयापद वह है कि जहाँ जीवात्मा पहुँचकर अपने होने न होने या जन्म मरण के भाव को भूल जाता है। शान्त और निर्मल हो जाता है वह तुरीयापाद जाग्रत नहीं, क्योंकि वहां संकल्प विकल्प, रागद्वेष इत्यादि नहीं, स्वप्न भी नहीं। कारण कि यहां रस्सी में सर्पवत भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती। सुषुप्ति भी नहीं क्योंकि वहां जड़ता नहीं है। वहाँ तो चेतनता विश्व-प्रपंच से उदासीनता और अखण्ड शुद्धता का निवास है। इसलिये वह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति है। जीवन्मुक्त ही उस पद पर स्थित होता है। वह जीवन्मुक्त सदा शान्तरूप और इन तीन अवस्थाओं का साक्षीरूप बना रहता है। इसके परे तुरीयातीत पद है कि जहां वाणी की गम नहीं है। जीवन्मुक्त जब विदेह हो जाता है तब उस पदको प्राप्त करता है। जिस जीवात्मा में जब तक रागद्वेष है तब तक वह तुरीयापद को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिये तुम रागद्वेष से रहित होकर जगत-प्रपंच को स्वप्नवत मिथ्या देखते हुए उस सत्पथ पर स्थित हो जावो और साक्षीरूप बने रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण का एकसौ दसवा सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग

तुरीयापद बोधक—काष्ठमुनि का वृत्तान्त

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! तुम न कर्त्ता हो न कर्म ही हो और न कारण हो। तुम तो कार्य हो। इसलिये भोगों से उदासीन रहते हुए उन्हें भोगिये। इस विषयको स्पष्ट करने के लिये मैं एक काष्ठमौन मुनिकी कथा सुनाता हूँ। एक वधिक मृग का शिकार करते हुए काष्ठमुनि के आश्रम पर पहुँचा और उसने पूछा—हे मुनि क्या आपने इधर कोई मृग देखा है। मुनिने उत्तर दिया, मेरे में अहंकार के नष्ट होजाने से अद्वैत भाव आ गया है। यह जो तुम पूछ रहे हो वह इन्द्रियों का विषय है, मेरा नहीं। मुझे जाग्रत स्वप्न व सुषुप्ति भी नहीं भासती। मैं तो सदा एक रस तुरीयापद में स्थित हूँ। निराभिमान हूँ। इन्द्रियों के विषयों

का अभिमान मुझमें नष्ट होगया है। देह रहते हुए भी देह का भान मुझे नहीं होता। उसकी क्रिया स्वभावतः होती चली आ रही है। मेरी उस तरफ चेष्टा नहीं है। मैं तो केवल एक शान्तरूप तुरीयापद पर स्थित हूँ कि जहां ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सिद्ध और ज्ञानी स्थित हैं, जिसे ब्रह्मपद, आत्मपद और चिदानन्द पद भी कहा जाता है। इसके बाद तुरीयातीत में स्थित विदेहमुक्त की अवस्था है। जीवनमुक्त भी जहां देह को त्यागकर पहुँच जाता है। हे व्याधे! अब तुम अभिमान व द्वैत बुद्धि को त्यागकर इस तुरीयापद को प्राप्त करो कि जिसमें पहुँच जाने से आत्मा का कल्याण होवे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण का एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥।११॥

एकसौ बारहवां सर्ग

विद्या-अविद्या विवेचन

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! यह जो अनन्त विश्व-प्रपञ्च तुम्हें दिखलाई पड़ रहा है, यह सचमुच ही आकाश रूप है। क्योंकि इन सबका लय आकाश में हो जाता है। वह आकाश आत्मरूप या ब्रह्मरूप है। जैसे मेघ में बिजली चमक पड़ती है वैसे ही आकाश ब्रह्म या आत्मा यह सारा विश्वप्रपंच चमक रहा है। वास्तव में यह मिथ्या है। रामजी ने पूछा—ब्रह्म से यह सारा विश्व प्रपंच कैसे सम्भव है और मिथ्या कैसे है? क्योंकि मेघ से जैसे बिजली की सत्ता है वैसे ही इस विश्व की भी सत्ता होनी चाहिये। वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! यह तुम्हारा प्रश्न बिलकुल लड़कपन का है। क्योंकि बालक भी कहता है कि बिजली क्षणभंगुर है। इसी प्रकार यह सारा विश्व-प्रपंच भी क्षणभंगुर है। इसलिये सत्य नहीं अर्थात् इसकी सत्ता सदैव स्थिर रहने वाली है। रामजी ने फिर पूछा कि आपने जो यह कहा था कि यह दृश्य मात्र चित्त के स्पन्द या फुरना से उत्पन्न हुआ है, वह कैसे, सो मुझे स्पष्ट समझाइये? वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! जब तक तुम्हें स्वरूप दृष्टि नहीं प्राप्त होगी अथवा

जब तक तुम अपने स्वरूप ब्रह्म या आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन सर्वत्र नहीं करोगे तब तक तुम्हारा भ्रम नहीं मिटेगा और यह विश्व सत्य ही भासता रहेगा। इसलिये तुम मेरा उपदेश ग्रहण करो और स्वरूप द्रष्टा बनो। अन्यथा पशु-पक्षी व वृक्षादि की योनियों में ही भ्रमते रहोगे। अग्नि में जैसे उष्णता और वायु में जैसे स्पन्दता रहती है जो गुप्त रहते हुए भी कारण वश प्रगट हो जाया करती है, ऐसे ही आत्मा से विश्व-प्रपंच उत्पन्न हुआ है। इस कारण चित्त की फुरना है। बस, तुम चित्त को ब्रह्ममें लीन करदो तो फुरना मिट जायगी और तुम्हें एक ब्रह्म ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा। शास्त्रकारों ने इस पर नाना प्रकार का शास्त्रार्थ उठाया है पर यह शास्त्रार्थ का विषय नहीं है। वह तो विद्या-अविद्या से रहित है। वह अनिर्वाच्य है। न तो विद्वान ही वहां पहुँच सकता है और न मूढ़ ही पहुँच सकता है। उस निर्विकार, निर्विकल्प, अद्वैत, चिद्घन अखण्ड ब्रह्म को केवल स्वरूप द्रष्टा ही देख सकता है। इसलिये हे राघव! द्वैत को त्यागकर स्वरूप को पहचानने का पुरुषार्थ करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ बारहवां सर्ग समाप्त ॥११२॥

—o::❀::o—

एकसौ तेरहवाँ सर्ग

जीव कोटि का दमन, आत्म कोटि की प्राप्ति

इसके पश्चात् रामचन्द्रजी ने वशिष्ठजी से प्रश्न किया--हे भगवन्! अब कृपाकर मुझे यह समझाइए कि देह और इन्द्रिय आदिक समूहों में सारभूत क्या है? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया--हे राघव! जिनका तुम नाम लेते हो यह मिथ्या हैं पर इनमें जो चेतना है बस वही एक मात्र सत्य है। यह सब भी भ्रम व अल्पज्ञता से भिन्न भासते हैं। पर वास्तव में यह भी चेतनरूप हैं। उस भ्रम व अल्पज्ञता का कारण चित्त है। वह चित्त इस विश्व ब्रह्माण्डरूपी मरुस्थल में मृग के समान पिपासाकुल हो भटकता फिरता है और इच्छा तृप्त न होने से दुःख पाता रहता है।

यह चित्त मूर्ख बालक के समान, परछाईं में बैताल की तरह देह इन्द्रादि में भावना का भय करता रहता है। इसलिये इस मूल चित्त का सुधार कर अभय पद प्राप्त करो यद्यपि यह चित्त आत्मा की सत्ता को लेकर उसी प्रकार चेष्टा करता है जैसे लोहा चुम्बक की सत्ता पाकर। पर वह आत्मा निर्विकार है, इस कारण उसकी ही भावना करो कि जिससे इस चित्त में आये हुए विकार मिट जायें। तुमने जो देह इन्द्रियादिक में सारभूत पदार्थका प्रश्न किया था उसे सुनो। संसार में प्रथम सार वस्तु देह है। देह में सार वस्तु इन्द्रियां हैं। इन्द्रियों में प्राण है, प्राणों में मन है और मनमें बुद्धि है। बुद्धि में अहङ्कार है और अहंकार में जीव है। जीव में चिदावली है। चिदावली अर्थात् वह चेतना जो वासना युक्त हो। चिदावली में शुद्ध चेतन है जहाँ चित्त नहीं केवल चिन्मात्र निर्मल ब्रह्म ही का निवास है। बस, वहां ही पहुँचकर जीव स्थिर हो जाता है। वहां यह सारी विश्व-कलना का मूलोच्छेदन हो जाता है। जीव को इसका दृढ़ भास है वह संसार के दृढ़ संकल्प से उत्पन्न हुआ है। जैसे शुक्र, लवण और इन्द्र के पुत्र इत्यादि को हुआ था। यह जो अद्वैत आत्मा है इसमें यह सारी विश्वकलना अज्ञान सी मालूम पड़ती है। यह अज्ञान अहं-कार से उत्पन्न हुआ है। तुम अहंकार को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो जावो। वहां किसी शत्रु की पहुँच नहीं। वहां काम, क्रोध, लोभ और अभिमानादिक विकार नहीं। किसी प्रकार की फुरना भी नहीं है। वह तो केवल शांतरूप है। इस कारण तुम देह से लेकर चिदावली पर्यन्त जो कुछ आत्माभिमान कर बैठे हो उसको त्यागकर वास्तव स्वरूप में स्थित हो जावो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त॥ ११३॥

—०※०—

एकसौ चौदहवां सर्ग

सार प्रबोध वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा–हे राघव जैसे बीज से वृक्ष फल फूल उत्पन्न हो गये वे सब बीज भिन्न नहीं बल्कि बीजरूप ही हैं, केवल बीज का परिवर्तन है, ऐसे ही यह सारा विश्व आत्मा से उत्पन्न हुआ है। इसलिए ये भी आत्मारूप या चेतन रूप हुए। इनमें तुम चेतन की भावना करो। अर्थात् इन्हें जड़ न समझकर चेतन ही मानो तो सर्वदा तुम्हें चेतन ही चेतन दृष्टिगोचर होगा। यदि तुम इनमें चेतन की भावना न कर सको तो ऐसी भावना करो कि देहेन्द्रियादि जड़ है और मैं इनसे भिन्न चेतन ब्रह्म हूँ। देह रहित शान्तरूप और निर्विकार हूं। देह मैं इसलिए नहीं कि इसका प्रेरक इन्द्रियां हैं। इन्द्रियों में भी मैं नहीं क्योंकि इनका प्रेरक प्राण है। प्राण भी मैं नहीं क्योंकि इनका प्रेरक छल है। मन भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक बुद्धि है। बुद्धि भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक अहङ्कार है। अहंकार भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक जीव है। जीव भी नहीं क्योंकि इसका प्रेरक चिदावली है। चिदावली में भी मैं नहीं हूँ क्योंकि इसका प्रेरक ईश्वर है। ईश्वर भी मैं नहीं हूँ क्योंकि इसका प्रेरक चिन्मात्र है। इसका प्रेरक कोई नहीं इसलिये मैं चिन्मात्र हूँ। इसलिये तुम अपने अद्वितीय निर्विकल्प चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हो जावो।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण–प्रकरण का एकसौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥११४॥

एकसौ पन्द्रहवां सर्ग

जीवन-ब्रह्म-विवेचन

वाल्मीकिजी ने शिष्यसे कहा-हे शिष्य! वशिष्ठजी का यह आत्म-बीज का वचनामृत पानकर रामजी इतने प्रसन्न हुए और जाग उठे कि जैसे सूर्य से कमल खिल जाता है। रामजी ने कहा हे भगवन्! मेरी सारी जड़ता, ममता, अहंकार और भ्रान्ति नष्ट होगई। तीनों

ताप भी नष्ट होगये और मैं शान्तरूप व प्रबुद्ध होगया। मेरी बुद्धि राग द्वेष से रहित हो शरदऋतु के निर्मल आकाश की तरह स्वच्छ व शान्त होगई और मैं वैसा ही आनन्द पा रहा हूं जैसा कि धूप में चलकर आने वाला छाया में विश्राम कर सुख पाता है। पर एक संशय मुझे यह होरहा है कि जब सब ब्रह्ममय ही है तो विधि निषेध आदेश और कर्तव्याकर्तव्य फिर कैसे होसकेगा? वशिष्ठजीने समझाया हे राघव! यह सारा विश्व अहङ्कार से आत्मा में फुरा है। एक विद्या रूप दूसरा अविद्यारूप। विद्यारूप ईश्वर है और अविद्या रूप जीव है। यह जीवेश्वर विद्या अविद्या का दोष आत्मामें नहीं है। वे ही आत्मपद को प्राप्त करते हैं जो आधिभौतिक का संकल्प नहीं करते और जो ऐसा करते हैं वे प्रमाद युक्त हो दुःख पाते हैं। सम्यक् दर्शन का नाम विद्या और असम्यक् दर्शन को अविद्या कहते हैं। विद्या भी दो प्रकार की है। एक ईश्वरवाद दूसरी अनीश्वरवाद। ईश्वरवादी वे हैं जो सदैव तुरीया पद में स्थित रहते हैं और अनीश्वरवादी वे हैं जो जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिको सत्शास्त्रावलोकन और सत्सङ्गति द्वारा त्यागकर तुरीयापद को प्राप्त करते हैं। ईश्वरवादी भी दो प्रकार के होते हैं। एक जो सांसारिक वासना रखते हुए ईश्वर परायण होते हैं। दूसरे जो सांसारिक वासना न रखते हुये ईश्वरपरायण होते हैं। अनीश्वरवादी भी दो प्रकार के हैं। एक वे कि जो शास्त्र और गुरु के उपदेश से ईश्वर की सत्ता में भ्रान्ति को मेटकर आत्मपद को प्राप्त होते हैं और दूसरे वे हैं कि जो बहुत भटकने के बाद आस्तिक भावना आनेपर आत्मपदको प्राप्त होते हैं। ऐसे ही लोकों के निमित्त शास्त्र का विधिनिषेध और उपदेश होता है। व शुभ कर्म कर तथा अशुभ कर्म को त्याग अन्तःकरण को शुद्ध कर आत्मपद को प्राप्त करते हैं। अशुभकर्मियों को निमित्त ही शास्त्रों ने दण्ड का विधान किया है तथा अशुभ कर्म का निषेध किया है और शुभ कर्म का उपदेश करता है। हे राघव! जो स्वरूपद्रष्टा हैं उनके लिये उपदेश नहीं। उपदेश

तो भ्रम में पड़े हुए लोगों के लिये है। भ्रान्ति दूर होने पर फिर मोह नहीं होता। जिसका चित्त वासना में फँसा हुआ है उसका संसार से मुक्त होना दुष्कर है। हे राघव! ऐसे चित्त को तुम स्थिर करके ही तीनों तापों से निवृत्ति पा सकते हो। वह पुरुष जिसको आत्म साक्षात्कार हुआ है और अहंकार मिट गया है उसके लिये बन्धन नहीं, क्योंकि उसको अपने में कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। हे राघव! शुभ कर्म करने वाला ज्ञानी स्वर्ग को प्राप्त करता है तो अशुभ कर्म करने वाला नरक को जाता है। इस स्वर्ग नरक की वासना भी अनात्माभिमान से होती है। इस कारण इसे भी त्यागकर तुम आत्मपद प्राप्त करो। इस अहंभाव का नाम ही चित्त है। इससे ही विश्वप्रपंच की उत्पत्ति हुई है। शुद्ध चेतना से भिन्न जो चिदावलीरूपी समुद्र है उससे ही जीवरूपी तरंग अहंकार से उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही अहंकाररूपी समुद्र में बुद्धिरूपी तरंग उठते हैं। बुद्धिरूपी समुद्र में चित्तरूपी तरंग उठते हैं। चित्तरूपी समुद्र में संकल्परूपी तरंग उठते हैं। संकल्परूपी समुद्र से जगतरूपी तरङ्ग की उत्पत्ति हुई है। जगतरूपी समुद्र से यह देहरूपी तरङ्ग उठा हुआ है। और इसी देह के संयोग से इस सम्पूर्ण दृश्य का ज्ञान होता है। इस कारण हे राघव! तुम संकल्प विकल्प को त्यागकर सर्वदा एक रस, अद्वैत, शुद्ध, परमब्रह्म में स्थित हो जावो कि जिसमें तुम्हारी भ्रान्ति व अशान्ति नष्ट हो जाय और बीजरूप आत्मा से जो नाना वृक्ष, फल, फूल, इत्यादि की कल्पना हुई है वह पुनः बीजरूप आत्मा में परिवर्तित होजाय। नामरूप आत्मा में जो नाना नामरूप तुम्हें भासता है उस द्वैत को त्यागकर तुम केवल शुद्ध द्वैत में स्थित हो जाओ और इस संसार की वासना को मृगतृष्णा के समान मिथ्या समझ त्यागकर स्वरूप द्रष्टा बन जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ पन्द्रहवां सर्ग समाप्त ॥११५॥

—०*०—

एकसौ सोलहवाँ सर्ग

त्रिविधताप-निवृत्ति वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा—हे रघुपुङ्गव ! तुम सर्व परिग्रहों का त्याग कर आस्तिक भावना करो परिग्रहों के त्याग से ही चित्त निर्मल हो शान्त हो सकेगा । काष्ठवत् मौन होकर बाहरी अभिमान को त्याग अन्तर्मुख बन जाओ, तभी यह समस्त दृश्य तुम्हें न भासेगा । जब तुम एक आत्मा ही में रमोगे। उस अवस्थाको प्राप्तकर तुम बाहरी एकभी शब्द न सुन सकोगे। तब तुम्हें दुर्गन्धि सुगन्धि भी न मालूम पड़ेगी । स्पर्श भी न अनुभव कर सकोगे । सांसारिक पदार्थों में आसक्ति न रहेगी । यन्त्र की शक्ति से जैसे पुतली क्रिया युक्त हो जाती है ऐसे ही प्राण की स्वाभाविक चेष्टा से तुममें स्वाभाविक क्रिया होगी पर उनमें तुम्हारी आसक्ति और अभिमान न रहेगा। जो इस सम्पूर्ण दृश्य में आसक्त नहीं हुआ वह सृष्टि का यदि संहार भी करे तो बन्धन में नहीं पड़ता क्योंकि उसमें पूर्णता है अभिलाषा नहीं। हे राघव ! तुम जाग्रत के समान समाधि में सदा स्थित रहो। समाधि भी स्वरूप दर्शन की रहे । बोद्धा वही है जिसमें अद्वैत भाव आ जाय और सदा एक रस बना रहे। उसको बोद्धा ही पहिचान सकता है। जैसे सर्प की खोज सर्प ही करता है। परन्तु जो मूर्ख है उसके चित्त में नाना संकल्प विकल्प के उठने से यह जगत रूपी नाना दृश्य भासता है। यह भास केवल अभिमान से ही उत्पन्न होता है। इस कारण इस अभिमान को त्याग कर तुम निर्भ्रान्त शान्तपद को प्राप्त करो। अन्यथा चित्त की अशान्ति से बाहर भागते फिरोगे। हे राघव! इन्द्रियां तो अपने-अपने विषय का ग्रहण स्वभावतः ही करती हैं। तुम उनकी भासना में फँस बंधन में क्यों पड़ते हो । सभी पदार्थ अपने-अपने संकल्प में आत्मा के आश्रित हो स्थित हैं । जैसे आकाश में मानो आकाश स्थित हो वैसे ही तुम अपने आप में स्थित हो जाओ । एक

एक जीव की सृष्टि अलग २ है। परन्तु स्वरूप से सब एक हैं। संकल्प की भिन्नता से उनमें अनैक्य व भिन्नता आई हुई है। दूसरे की सृष्टि का संकल्प कर दूसरे का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान भी भिन्न है। जैसे कि तरङ्ग भिन्न होते हैं पर जल में भिन्नता नहीं वैसे ही आत्मा में भिन्नता न रहते हुए भी उससे उत्पन्न विश्व-प्रपञ्च में भिन्नता प्रकट हुई है। तुम इस संकल्प विकल्प से उत्पन्न हुई भिन्नता को त्यागकर उस अद्वैत आत्मा में स्थित हो जाओ। ज्ञानी पुरुष सर्व संकल्प में एकता ही देखता है। संकल्प की एकता से जैसी-जैसी भावना करता है वैसी २ सम्यक् बुद्धि प्राप्त कर लेता है। हे राघव! इच्छा चित्त का धर्म है। जो इच्छा के पीछे पीछे चलता है उसे उसका ही चित्त मानो। वही दैत्य होकर अपना आहार बनाता है और जन्म, मरण के चक्कर में डालता है। वृक्षको अग्नि लग जाय तो जैसे फल नहीं उत्पन्न होते वैसे ही जो जीव भोग में आसक्त हुआ है वह पुरुषार्थ हीन हो शुद्ध बुद्धिरूपी फल नहीं प्राप्त कर सकता है। इस कारण चित्त से विषय भोगकी तृष्णा त्याग दो कि जिससे यह दुष्ट चित्त शुद्ध और निर्मल हो निर्वाणामृत को पान कर सके और ब्रह्म शक्ति से शोभायमान हो जाये।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ सोलहवां सर्ग समाप्त ॥११६॥

एकसौ सत्रहवां सर्ग

सुखदायी योग वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह सारा विश्व आत्मा का ही चमत्कार है और वही सर्व में चिन्मात्र स्वरूप से बास कर रहा है। हे रामजी! मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम उसी चिन्मात्र स्वरूप को प्राप्त होरहो कि जो तुम्हारा अपना आप है। उसी के द्वारा तुम्हारे समस्त दुःख नष्ट होजावेंगे। हे रामजी! तुम उसी निर्वाण शान्त आत्मा में स्थित हो जाओ, यथा लाभ में ही सन्तुष्ट रहो और सत्य होते हुए भी असत्य की नाईं स्थित हो रहो। रागद्वेष

की आवरण तुम पर कदापि न चढ़े। हे रामजी! यह सारा जगत उस एक में ही स्थित है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस एक में भी कुछ स्थित नहीं है। आदि अन्त से रहित एक चिदाकाश ही अपने आप में स्थित है। वही उत्पन्न होकर लय हो जाता है, वही शरीरादिक के नाश होने पर भी अखण्ड रूप है और वही अपने आपमें स्थित जगत का चमत्कार रूप है। हे रामजी! ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, धाता, ध्यान, ध्येय और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सब कुछ वही है। वही सर्वदा एक रस रहता है और कभी क्षोभ को नहीं प्राप्त होता। वह आत्मपद है और वही सर्वदा ज्यों का त्यों स्थित है। उसके प्रमाद से ही जीव दुःख पाते हैं। जब आत्मा में प्रमाद होता है तब देह और इन्द्रियां भासने लगती हैं। परन्तु जैसे बालू में तेल नहीं निकलता, आकाश में बन नहीं होता वैसे ही आत्मा में देह और इन्द्रियां नहीं होतीं। हे रामजी! यह समस्त जीव आत्मस्वरूप ही हैं, इनको देह और इन्द्रियों का सम्बन्ध कुछ नहीं है। इनको जो क्रिया में अभिमान होता है इसी से ये बन्धायमान होते हैं। परन्तु वास्तव में चित्त, देह और इन्द्रियां कुछ भिन्न वस्तु नहीं हैं, सब आत्मस्वरूप ही हैं, तब किसका त्याग करोगे? मन और इन्द्रियों की कोई सत्ता नहीं है, सब भ्रान्ति से ही भासती हैं। जैसे पर्वत के उज्वल मेघ में वस्त्र बुद्धि व्यर्थ है वैसे ही देहादिक इन्द्रियों में अहं बुद्धि निष्फल है। हे रामजी! यह सब कुछ अखण्ड आत्मतत्व ही है, इसमें द्वैत कुछ नहीं है। जब तुम ऐसी धारणा कर लोगे तब निरंजन स्वरूप हो जाओगे। हे रामजी! यह समस्त देह मन के स्फुरण से ही स्थित है और जीव का वास परमात्मा में ही होता है। हे रामजी! फुरने ने ही दृश्य को उत्पन्न किया है अन्यथा आत्मा में द्वैत कुछ नहीं है। वह अखण्ड, आत्मतत्व सर्व से परे और निरंजन रूप है। हे रामजी! तुम विचार दृश्यों को त्याग दो तभी निज स्वरूपों में स्थित हो सकोगे। बस, इसी धारणा से तुम्हारा जीवन

यात्रा सुखमय व्यतीत होवेगी। जो कुछ नीति से प्राप्त हो उसको अभिमान रहित करते चलो। जब अहंभाव नहीं रहेगा तब स्पन्द युक्त रहो या निस्पन्द, समाधि में स्थित रहो अथवा राज्य करो तुमको सब कुछ समान ही भासेगा। अहंकार एवं अभिलाषाओं के नष्ट हो जाने पर फुरना अफुरना तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता, और तब एक अद्वैतसत्ता ही का भान होता है। जैसे समदर्शी पुरुषों को तरंग और समान जल में कुछ भेद नहीं जान पड़ता वैसे ही तुमको सब कुछ एक रूप ही भासेगा। इस प्रकार की दृष्टि कर लेने से चाहे तुम जीवनमुक्त पद में रहो या विदेह पद में रहो अथवा समाधि में ही क्यों न लगे रहो सब एक समान ही भासित होवेगा। हे रामजी! अभिलाषायें ही जीवको बन्धन में डाल रही हैं। जब अभिलाषायें मिट जांयगी तब तुम चाहे कर्म करो या न करो—कुछ भी बन्धन नहीं है। इस प्रकार जब प्रत्येक दशाओं में आत्मा अक्रिय रूप ही है तब उसमें द्वैत कहां से आया?

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण का एकसौ सत्रहवां सर्ग समाप्त ॥११७॥

एकसौ अट्ठारहवां सर्ग

नैराश्य योगोपदेश वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी बोले—हे मुनीश्वर! एक शंका और है, कृपाकर आप इसे भी निवृत्त कीजिये। हे भगवन्! कोई कहता है कि वीर्य से अंकुर उत्पन्न होता है और कोई कहता है कि अंकुर से ही बीज की उत्पत्ति होती है। कोई कहता है कि जो कुछ करता है दैव ही करता है और कोई कहते हैं कि नहीं, कर्म सब कुछ करता है कोई दैव को प्रधान मानता है और कोई कर्म को मानता है। कोई कहते हैं कि जब देह भासता है तभी कर्म होते हैं और कोई कहता है कि कर्म से ही देह होता है कोई पुरुष प्रयत्न को मानता है और कोई कहता है कि ईश्वर परमात्मा ही सबका कर्त्ता धर्त्ता है। तब उन सब सिद्धान्तों में मैं क्या ठीक मानूँ। यह

जैसा कुछ होवे आप वैसा ही ठीक-ठीक बतलावें। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! इन सबको मैं अलग-अलग तो क्या हूँ—कर्म से लेकर दैव और घटपर्यन्त यह जा कुछ भी क्रिया कर्म और द्रव्य हैं सब विकल्प जाल का भ्रान्तिमात्र ही है। जो कुछ है सब आत्मा का ही स्वरूप है और वही अपने आपमें स्थित है, द्वैत तो कुछ हुआ ही नहीं। संवेदन से ही सब कुछ भासता है। संवेदन न होवे तो कहीं कुछ नहीं भासता। जैसे शीत और श्वेत दोनों ही बरफ के पर्यायवाची शब्द हैं ऐसे ही पुरुष प्रयत्न आदिक सब कुछ उस आत्मा के ही पर्यायवाची शब्द हैं। दैव ही पुरुष है और पुरुष ही दैव है। कर्म ही देह है, देह ही कर्म है। बीज ही अंकुर है और अंकुर ही बीज है। इनमें भेदबुद्धि रखना मूर्खता है। हे रामजी! ऐसे मूर्खों का वीर्य संवेदन है। जब संवेदन एवं फुरना होता है तभी कर्म, देह और दैव आदिक सब कुछ सिद्ध होते हैं। स्फुरण नहीं रहता तो कुछ नहीं भासता। इसलिये इस फुरने को ही ज्ञानाग्नि से ऐसा भस्म करो कि जिसमें इसकी शाखा प्रशाखायें सभी कुछ भस्म हो जावें। हे रामजी! 'यह मैं हूँ' जो ऐसा संवेदन फुरता है वही संसार का बीज है। जब इस अहंभाव को ज्ञानरूपी अग्नि से जलाओगे तब द्वैत कुछ न भासेगी। अस्तु! यह जितना कुछ प्रपञ्च भास रहा है उसका वीर्य संवेदन ही है और उस संवेदन का वीर्य शुद्ध सवितत्व-मात्र है। हे रामजी! आदि शक्ति में जो कम्प हुआ उसी का नाम दैव है। उसीने आगे जो कर्म किया तो वही पुरुष प्रयत्न कहा गया तब वह कर्म कि जो आदि दैव में फुरा है उसका क्या रूप है। उसने जो प्राकृत कर्म किया उसी का नाम दैव पड़ा। परन्तु इन सबका वीर्य संवेदन ही है। अन्यथा वह स्वतः चिन्मात्र पद एक ही था। जब उसमें विकारयुक्त उत्थान हुआ तब यह सारा प्रपञ्च भासने लगा। यदि उत्थानों का अभाव हो जावे तो प्रपञ्चों का भी पता न लगेगा। जीव का कुछ बनना ही समस्त आपदाओं का मूलमन्त्र

है। जब सुई वस्त्र में चलती है तभी उसके पीछे तागा चलता है। यदि सुई वस्त्र में न प्रवेश करे तो तागा ही क्यों जावेगा इसी प्रकार जब जहाँ अहङ्कार प्रवेश करता है तब वहाँ पर ही आपदा का प्रवेश होता है। अहंकार नहीं होता तो सारा विश्व आनन्द रूप ही हो जाता है। इससे हे रामजी! तुम अहंकार को ही त्यागो। यह समस्त विश्व भ्रान्ति से ही भास रहा है यथार्थ में कुछ हुआ नहीं, सब कुछ आत्मस्वरूप ही है। हे रामजी! यह सारा विश्व वासनामय है, वासनायें न रहें तो परम कल्याण हो जावे। वही युक्ति श्रेष्ठ है कि जिससे वासनाओं का अन्त होवे। यदि कोई वासना न रहे तो चेष्टा जन्म मरण का कारण नहीं बन सकती। तब ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की ही चेष्टायें समान प्रतीत होती हैं किन्तु ज्ञानी का संकल्प दीर्घ होता है, फिर जन्म नहीं देता और अज्ञानी का संकल्प उस कच्चे वीर्य के समान है कि जो जन्म तो देता है किन्तु फिर मृतक हो जाता है। अतः सब कुछ अपने आप में ही स्थित है, भ्रमवश भिन्न भिन्न भासता है। स्वरूप से देखा जाय तो द्वैत की कोई उत्पत्ति नहीं हुई, द्वैत का भासना मिथ्या है। जब वासनाओं का त्याग कर देवे तब अपने आपमें स्थित होता है। हे रामजी! वासनायें जिस प्रकार निर्मूल होवें तुम वैसा ही यत्न करो, तभी कल्याण होवेगा। हे रामजी! जब इस प्रकार पुरुष प्रयत्न करके तुम अहंकार रहित होवोगे तब आपही आप वासनाओं का क्षय हो जावेगा। वासनाओं के अन्त के लिये पुरुष प्रयत्न के सिवा दूसरा कुछ उपाय नहीं है। पुरुषार्थ करके तुम इसी एक देवकी आराधना में लग जाओ। यही कर्म दैव सब कुछ है। बस, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ है। एक ही पुरुष ने इतने स्वांगों को धारण कर रखा है। अस्तु! तुम समस्त ईषणाओं को त्यागकर स्वरूप मात्र में स्थित हो रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण का एकसौ अट्ठारहवां सर्ग समाप्त ॥ १८॥

—::*::—

एकसौ उन्नीसवां सर्ग

भावना प्रतिपादन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस संसार समुद्र का प्रवाह बड़ा ही गम्भीर अनन्त है। बिना सहारे इसका कोई पार नहीं पा सकता। सो इसको तरनेके लिये ज्ञानही सहायक है और उसीसे यह अगाध सागर पार किया जासकता है। जब ज्ञानसे बुद्धि निर्मल होजाती है तब हृदय में शीतलता उत्पन्न होती है और फिर उस पूर्ण चैतन्य के आगे दूसरा कुछ भान नहीं होता इससे तुम भी नित्य अन्तर्मुख और वीतराग निर्वासनिक हो रहो। वह पद चिन्मात्र निर्मल और शान्तरूप है। जब उस पद में पहुँचोगे तब तुम्हें नीति के अनुसार यथोचित चेष्टा करनी होगी। हर्ष के स्थान में हर्ष और शोक के स्थान में शोक करना होगा किन्तु हृदय में आकाश के समान स्वच्छ ही बने रहोगे। किसी से कुछ भी स्पर्श न करना होगा। जब इष्ट की प्राप्ति हो तो उसे स्पर्श तो अवश्य करो किन्तु हृदय में तृष्णा न करो और जब युद्ध प्राप्त हो तो उसमें शूरमा के समान लग जाओ और युद्ध करो। जो दीन हो उस पर दया करो। राज्य मिले तो राज्य करो और कष्ट मिले तो कष्ट भोगो परन्तु ये समस्त चेष्टायें अज्ञानी के ही समान करो। हृदय में समता भाव रखो और आत्मा में कुछ भी स्फुरण न होने दो। राग द्वेष में सर्वदा ही निर्मल बने रहो। हे रामजी! जब तुम ऐसा निश्चय कर लोगे तब तुमको कुछ भी खेद न प्राप्त होगा। तुम्हें शस्त्र नहीं काट सकते। अग्नि नहीं जला सकता, जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता। तुम अजर, अमर, केवल और सबका अपना आप स्वरूप हो। हे रामजी! कष्ट तब होता है जब कोई विलक्षण वस्तु होती है। अग्नि तब जलाती है जब कोई विलक्षणता होती है। वस्तुतः ऐसा तो होता नहीं कि अग्नि को अग्नि जलावे और

जल को जल गलावे। परन्तु तुम तो ऐसे नहीं हो। तुम तो संवित रूप हो। अस्तु तुम उसी संवितरूप आलय में स्थित हो जाओ कि जिसमें स्थित होने से राग-द्वेष रूपी धुन्ध कभी नहीं उठता। वही सबका अधिष्ठान रूप है। उसको ग्रहण कर लिया तो जानो सबको ग्रहण कर लिया। हे रामजी! यह जो कुछ प्रपञ्च तुम देख रहे हो, सब आत्मस्वरूप ही है। तुम उसी की भावना करो कि जिससे जाग्रत में सुषुप्ति और सुषुप्ति में जाग्रत बने रह सको। संसार की सत्ता जाग्रत है और उससे सुषुप्ति हो रहना अर्थात् फुरने से रहित हो रहना तुरीया पद है कि जिसमें स्थित हो जाने पर गुणावगुण नहीं रहते और जो सर्वथा ही निर्मल और शान्तरूप हैं। उसमें एक और दो की कोई कलना नहीं रहती।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥११९॥

एकसौ बीसवां सर्ग

पुनः भावना प्रतिपादन

वाल्मीकिजी बोले—हे भरद्वाज! जब वशिष्ठजी ने ऐसे कहा तब रामजी ने पूछा—हे भगवन्! यह जो शान्तिरूप तुरीया पद है उसमें स्थित होने को आप कहते हैं तो आप तुरीया ही में तो स्थित हैं तो क्या आपको यह नहीं फुरता कि मैं वशिष्ठ हूँ, मेरा यह स्वरूप है। क्या आपको अहं में प्रतीति नहीं होती? हे भगवन्! आप चुप क्यों हैं। भला ऐसी कौनसी बात है कि जो आपको न ज्ञात हो। आप तो ब्रह्मवेत्ता और साक्षात् विश्व के भी गुरु हो। तब क्या इसलिये तो चुप नहीं हो कि मुझे इसका उत्तर सुनने के अयोग्य समझते हैं। हे भरद्वाज! जब रामजी ने ऐसे प्रश्न किया, तब वशिष्ठजी ने एक घड़ी के पश्चात् उत्तर दिया—हे रामजी! असमर्थता के कारण मैं चुप नहीं हूं, वरन् चुप तो इसलिये हूँ कि तुम्हारे प्रश्न का उत्तर चुप ही है। हे रामजी! प्रश्नकर्त्ता जैसा होता है, उसके अनुसार ही वैसा उत्तर दिया जाता है। अज्ञानी को भी अज्ञानी के

समान और ज्ञानवान को उसके समान ही उत्तर देने का नियम है। पहले तो तुम अज्ञानी थे इससे मैं तुम्हें सविकल्प उत्तर देता था परन्तु अब तुम ज्ञानवान होगये हो, इससे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मौन ही है। पहले तुम सविकल्प शब्द के अधिकारी थे। परन्तु अब तो मैंने तुम्हें निर्विकल्प का उपदेश दिया है, फिर चुप न रहूँ तो क्या कहूँ? हे रामजी! शब्द चार प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म, परमार्थ, अल्प और दीर्घ इन चारों में ही तीन प्रकार के कलंक लगे रहते हैं। एक संशय, दूसरा प्रतियोग और तीसरा भेद। जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु लगे रहते हैं, वैसे ही शब्द में कलंक लगे रहते हैं। किन्तु जो शब्द मन और वाणी से परे है उनमें कलंक कैसे लग सकता है? हे रामजी! जब जो पद काष्ठ के समान ही मौन है, जिसमें इन्द्रियाँ और मन का कुछ भी स्फुरण नहीं होता ऐसे पद को मैं वाणी से क्या कहूँ? (जो बोला जाता है) किन्तु तुम्हारा प्रश्न तो ऐसा नहीं है। इससे तुम्हारा प्रश्न सुनकर मौन हो जाना ही मैंने युक्तियुक्त समझा है। रामजी बोले—हे भगवन्! आप कहते हैं कि बोलना प्रतियोगी से और सविकल्प होता है तो ब्रह्म में जो दोष है उसका निषेध करके ही आप कहें, मैं प्रतियोगी को नहीं विचारता। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! मैं, तम और यह सारा जगत चिदाकाशस्वरूप, चैत्य रहित, चिन्मात्र, शान्तरूप, सम और सर्व कलाओं से परे आत्मतत्व मात्र है। इस चिदाकाश में अहं त्वं कुछ भी नहीं है। यह सर्व अहं संवेदन से रहित शुद्ध चिदाकाश स्वरूप ही है। परन्तु इसमें जो अपने को कुछ मानकर फुरती है इससे एक अहंकार के कई अहंकार हो जाते हैं। फिर तो यही अहंकार गले में फांसी के समान पड़ जाता है और आत्महनन कर देता है। जब इससे मुक्त होवे तब आत्मपद प्राप्त होता है। हे रामजी! जब मृतक हो जावे और अपने अहंकार का कोई भी अभिमान न फुरे तब जानो कि संसार सागर से पार होगये। किन्तु जब तक द्वैत से मिला हुआ है तब तक आवा-

गमन के बन्धन में पड़ा ही रहता है और कदापि भी मुक्त नहीं होता। जैसे जन्मान्ध को चित्र की पुतली नहीं दिखलाई पड़ती वैसे ही अहंकारी को मुक्तिपद नहीं प्राप्त होता। जब अहन्ता का अभाव होवे तब कल्याण होता है। जीव की चैतन्यता ही उसके बन्धन का कारण होती है। जब सङ्कल्प रहित होकर जड़ के समान हो जावे तब कल्याण होता है। किन्तु चैतन्योमुखत्व का होना तो पशु के समान हो जाता है। पशु का शरीर पाकर जब वह चैत्य से रहित, शुद्ध, चैतन्य प्रत्येक आत्मा में स्थित होता है तब मनुष्य का जन्म सुफल होता है तब मनुष्य योनि में जन्म पाकर भी यदि जानने योग्य वस्तु को न जाना तो फिर किस जन्म में जानेगा। हे रामजी! यह संसार तो चित्त के स्फुरण से ही उत्पन्न हुआ है। जब यह संसरने से रहित होवे तब इसको अपना आप केवली भाव ज्ञात होवे। ज्ञानी की दृष्टि में तो अब भी कुछ नहीं हुआ केवल आत्मस्वरूप ही भासता है। उसके लिये फुरना अफुरना दोनों ही समान हैं। उसके निकट तो अन्तःकरण चतुष्टय भी आत्मस्वरूप ही है और वह अज्ञानी को भिन्न २ ही भासता है। यही कारण है कि उसके निकट चित्त आदिक सब कुछ जड़ और मिथ्या ही हैं। वह आ.मस्वरूप में स्थित होने के कारण सब कुछ को आत्मस्वरूप ही देखता है और वह आत्मा सर्वदा ही देशकाल और वस्तु के विभाग से रहित है क्योंकि वह ज्ञानी है, इससे उसे सब कुछ आत्मा ही भासता है। वह लोक, धन और पुत्र आदिक में जो कुछ भी चेष्टा करता है सबमें ईषणा रहित रहता है और उसे केवल आत्मा का ही अनुभव होता है। वह उसी में स्थित रहता है और सबको अच्छा ही जानता है। हे रामजी! वह जिस पद को प्राप्त रहता है उसे वर्णन करने लिए मेरी वाणी में सामर्थ्य नहीं है। वह सर्वथा ही एक अनिर्वाच्य पद में स्थित रहता है। हे रामजी! 'अहं ब्रह्म अस्मि' ऐसा कहने वाले को मैं ज्ञानी नहीं कहता। जो इस पद तक पहुँचता है उसे अभी शास्त्र श्रवण करना

ही होगा क्योंकि उसे अभी ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है । जैसे कोई यह कहे कि मेरे हाथ में दीपक है पर मुझे दिखलाई नहीं पड़ता है, अन्धकार ही दीखता है तो जानिये कि इसके हाथ में दीपक ही नहीं है। इसी प्रकार यह जगत तब तक भासता ही है कि जब तक ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ। ज्ञान उत्पन्न हो जावे तो यह जगत सर्वथा ही निर्वाण हो जाता है। हे रामजी! अब भी निर्वाणता ही है। तब भला किससे किसको कौन उपदेश करे? उस एक-रस-शून्य आत्मा में कुछ भी भेद नहीं है। जो भेद है उसको ज्ञानी ही जानते हैं। उसमें वाणी की गम नहीं। उसमें जो यह अनन्त संवेदन का स्फुरण होता है उसी से संसार उठ खड़ा होता है और जैसे संवेदन ही उसके उठाने का कारण होता है। वैसे ही संवेदन ही इसे लीन भी कर देता है। जैसे वायु से ही अग्नि प्रज्वलित होता है और वायु ही उसे लीन कर देता है वैसे ही जब संवेदन बहिर्मुख होकर फुरता है तब संसार भासने लगता है और जब अन्तर्मुख होता है तब जगत लीन हो जाता है। अस्तु फुरने का ही नाम संसार है । जैसे आकाश में नीलता भ्रम से ही भासती है वैसे ही आत्मा जगत भ्रम से ही भासित होता है, वास्तव में उसमें कुछ बना नहीं है । हे रामजी! तुम उसी में स्थिर रहो । उसमें स्थित हो जावोगे तब तुम्हारे अभावों का नाश हो जायगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ बीसवां सर्ग समाप्त ॥१२०॥

——०❀०——
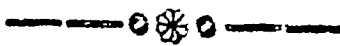
एकसौ इक्कीसवाँ सर्ग

परम हंस योगोपदेश

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब पुरुष अहङ्कार से रहित होता है तभी आत्मपद को पाता है । यद्यपि यह सर्वात्मा है तथापि अविद्या ने उस पर आवरण कर दिया है। जैसे सूर्यमण्डल को बादल ढाँप लेता है वैसे ही अविद्या आत्मा को ढाँप लेती है । तब मूर्ख

उस अविद्या में पड़कर उन्मत्त हो समान चेष्टा करते हैं किन्तु जिनको अहङ्कार नहीं है जो ज्ञानी हैं उनको दुःख का लेश नहीं होता। जैसे कागज पर लिखी हुई सेना दिखलाई तो पड़ती है किन्तु वह शान्तरूप है वैसे ही जब ज्ञानीजन देखने में तो भले ही क्षोभवान जान पड़ें किन्तु वे सर्वदा ही क्षोभरहित और निर्वाण रूप हैं, उनको वासना कोई नहीं होती। जैसे जल में आवर्त देखने में तो क्षोभवान दृष्टि आते हैं किन्तु जलसे भिन्न नहीं हैं। जैसे धुयें के बादल आकाश में हाथी, घोड़ा और पर्वत रूप में जान पड़ते हैं परन्तु वैसे हैं नहीं, अपने में अहङ्कार होने से ही जान पड़ते हैं और विकार रहित दृष्टि से देखे तो सब कुछ शान्तरूप हो जाता है वैसे ही अहङ्कार रहित आत्मपद को पाकर ज्ञानीजन शोभा को पाते हैं। हे रामजी! अहन्ता ही इस पुरुष को आवरण किये है, अहन्ता नष्ट हो जाती है तो स्वरूप की शान्ति होती है। अस्तु संसार के पदार्थों की भावना त्यागने ही योग्य है क्यों कि वास्तव में यह है नहीं। जैसे आकाश में धूम मेघ नाना प्रकार का रूप होकर भासता है किन्तु वास्तव में वह कुछ है नहीं, वैसे ही वह जगत भी कुछ है नहीं अनहोता ही होते के समान भास रहा है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। हे रामजी! बन्ध तभी तक है कि जब तक संसार की वासना है वासनायें नष्ट हो जायें तो आत्म पद की प्राप्ति होती है। ज्ञानी को कोई वासना नहीं होती, इसलिये वह शान्तरूप है। उसे शब्दों का राग-द्वेष कुछ नहीं फुरता। वह सर्वथा ही एक मात्र निर्वाण पद को प्राप्त रहता है। उसमें सत् असत् शब्द कोई नहीं, यह केवल ब्रह्म स्वरूप मात्र है। उसके सम्बन्ध में ब्रह्म भी तो क्या कहा जाय वह केवल आत्मतत्व मात्र और अद्वैत है वह चैतन्य आकाश एवं वही विश्वरूप है। भावनाओं के वश होने से ही चैतन्य होकर भासता है। अस्तु! भावना वश यह जगत नाना प्रकार के रूप में जान पड़ता है। किन्तु, यदि इसी को ब्रह्म भावना से देखो तो ब्रह्म ही भासता है। जैसे विष

में अमृत की भावना हो तो वह अमृत ही भासता है वैसे ही यदि जगत को विचार पूर्वक देखिये तो यह ब्रह्म रूप ही भासेगा और इसी को यदि अविचार से देखिये तो जगद्रूप होकर ही भासता है किन्तु विचार तो तब होता है कि जब अहङ्कार नष्ट होता है। हे रामजी! अहङ्कार की उत्पत्ति आकाश से हुई है और वह आकाश शून्यता आत्म प्रमाद से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार जगत की उत्पत्ति का कारण अहङ्कार मिथ्या है। हे रामजी! यदि तुम विचार करके देखो तो यह शरीर आदिक कहीं दिखलाई नहीं पड़ते। इसने अहं-भाव में ही समस्त भ्रमों को उत्पन्न किया है। विचार पूर्वक देखा जाय तो यह मृग तृष्णा के जलवत् ही है। अस्तु जब इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है तब इसको त्यागने में क्या श्रम है? इसका निर्णय भी क्या किया जाय? जैसे बन्ध्याके पुत्र को वाणी से विचार किया जाय कि यह सत्य कहता है अथवा असत्य कहता है तो वह कल्पना मिथ्या है क्योंकि बन्ध्या को पुत्र होता ही नहीं तो उसका विचार ही क्या किया जाय? ऐसे ही यह जगत का प्रपञ्च है ही नहीं तब इसका निर्णय ही क्या करें? अतः मैं जैसा कहता हूँ, तुम जब वैसा ही हो रहोगे तब आत्मपद की प्राप्ति होवेगी। इस कारण तुम यह भावना करो कि 'न मैं हूँ, न यह जगत है' इस प्रकार जब अहङ्कार ही न रहेगा तब कलना कहाँ से होगी। कलना का होना ही तो अनर्थ है! हे रामजी! जब ऐसा विचार उत्पन्न करोगे तब भोगों की वासना क्षय हो जावेगी और जब वासना न रहेगी तब शुद्ध चिन्मात्र आत्म सत्ता ही रहेगी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥१२१॥

——o::❀::o——
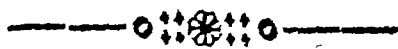
एकसौ बाईसवां सर्ग
निर्वात्र योगोपदेश वर्णन

हे रामजी ! अहंता के उत्थान ने ही स्वरूप पर आवरण कर रखा है। अहन्ता न रहे तो स्वरूप ही की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि संसार का बीज अहन्ता ही है। तब जब कि अहन्ता ही मिथ्या है तो उसके कर्म कैसे सत्य होंगे। जो प्रपञ्च मिथ्या होता है उसके पदार्थ भी असत्य ही होते हैं। जैसे स्वप्न में द्वैत कलना होती है सो असत्य ही है वैसे ही जगत्-द्वैत भी असत्य ही है। हे रामजी ! यह सारा जगत भीतर ही भासता है और बाहर जो दिखलाई पड़ रहा है वह आत्मा के प्रमाद से ही बाहर भासता है। तब यही कि जो भीतरी सृष्टि बाहर भासती है वही स्वप्न सृष्टि कही जाती है। अतः यह सारा जगत चिद्रूप ही है, भिन्न कुछ नहीं बना। चैतन्यसत्ता आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म और स्वच्छ है। उस जगत को चित्त ने ही चेता है। परन्तु यह हुआ कहीं नहीं। न किसी का नाश होता है, न कोई उत्पन्न होता है, न कहीं जन्म है, न कहीं मरण है, सब कुछ ब्रह्म ही है। जगत की नष्टता से कुछ नष्ट नहीं होता। स्वप्न के पहाड़ और सङ्कल्प के नगर नष्ट जावें तो क्या नष्ट हुआ, कुछ नहीं—वैसे ही इस जगत के नष्ट होने से कुछ नष्ट नहीं होता। जैसे अन्धकार के पदार्थ प्रकाश से नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही यह जगत अविचार से भासता है और विचार करने से नष्ट हो जाता है। इसका कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है। अतः इन रूप, मन और इन्द्रियों की चिन्तना करना ही श्रेय है। हे रामजी ! यह संसार ऐसा ही है कि जैसे समुद्र में भँवर होती हैं। अतः इसमें प्रीति करना अज्ञानता है। हे रामजी ! कितने ही ऐसे हैं कि जो बाहर से देखने में तो शान्तरूप जान पड़ते हैं परन्तु वे हृदय से क्षुभित ही रहते हैं और कितने ऐसे हैं कि जो हृदय से तो शीतल रहते हैं परन्तु बाहर से नाना प्रकार की चेष्टायें करते रहते हैं परन्तु

जो इन दोनों मे ही परे हैं, वे मोक्ष के भागी होते हैं । उनका भीतर बाहर समान होता है । जिसने आत्मा को ज्यों का त्यों जाना है, वह भय और शोक से सर्वथा ही रहित है और वे केवल अपने स्वच्छ रूप आत्मा में ही स्थित रहते हैं । हे रामजी ! भय तो तब होता है कि जब दूसरा भासता है । परन्तु जब द्वैत कोई नहीं और सर्व का ही अभाव हो जाता है तब भय किसका ? तब तो सब कुछ शान्तरूप ही है । सम्यकदर्शी को जगत का दुःख नहीं होता किन्तु असम्यकदर्शी को तो यह जगत सर्प के समान भयभीत करता है और वह उससे भय पाता है । ऐसे ही जिसको आत्म-साक्षात्कार हो गया है उसको जगत की कोई कल्पना नहीं होती और केवल चिदानन्द रूप ही भासता है । किन्तु जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं है वह जगत को द्वैतरूप समझता है और इसी से वह नाना प्रकार के रागद्वेष का कष्ट उठाता है । परन्तु जगत की कोई सत्ता नहीं है । अपने अनुभव में ही जगत की कल्पना उदय हुई है और वही अज्ञान से द्वैतरूप होकर भासती है । अस्तु जगत का कोई कारण नहीं, यह बिना कारण ही उत्पन्न हुआ है । विचार करके देखा जाय तो सभी प्रकार के द्वैतभ्रम नष्ट हो जाते हैं । आत्मा शुद्ध और अद्वैत है । उसमें जो अहङ्कार का स्फुरण हुआ है वही दुःख का कारण है । स्वरूप में प्रमाद न होवे तो संसार उत्पन्न न होवे । स्वरूप के विस्मरण से ही अहङ्कार की लता बढ़ती है और फिर नाना प्रकार के आकारों को पकड़कर वासना दृढ़ हो जाती है । फिर तो प्राणी जिस दृश्य की भावना करता है वह वैसे ही समुद्र तरङ्ग में चक्र के समान फिरता है किन्तु ज्ञानी को वासना कोई नहीं रहती और उसे आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है । हे रामजी ! जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब अहङ्कार उत्पन्न होकर दृश्य भासने लगता है और जैसे नेत्र के खोलने पर दृश्य को ग्रहण करता है वैसे ही जब नेत्र को बन्द कर लेता है तब

दृश्य स्वरूपों का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार जब अहन्ता का उदय होता है तभी दृश्य होते हैं और जब अहन्ता नहीं होती तब संसार का अभाव हो जाता है। हे रामजी! अहङ्कार का उत्पन्न होना ही अहङ्कार है और यही बन्ध है। अहङ्कार न रहे तो मोक्ष हो जाता है। हे रामजी! यह देह और इन्द्रियाँ आदिक सब मृगतृष्णा के जलवत् ही हैं। इनमें अहङ्कार करना मूर्खता है। इसीसे अज्ञानी जन अहन्ता को त्यागकर आत्मपद में स्थित रहते हैं। उन्हें संसार के इष्टानिष्ट कष्ट नहीं देते और उनका हृदय आकाश के समान निर्मल और स्वच्छ होता है। उसके मनमें रूप, दृष्टि और इन्द्रियों का स्फुरण नहीं होता। जैसे वन्ध्या के पुत्र का नृत्य असम्भव है वैसे ही ज्ञानी के मन से रूप, अवलोक और नमस्कार आदिक सब कुछ नष्ट हो जाते हैं। उसको सब कुछ भ्रम ही भासता है और द्वैत की भावना नहीं रहती। किन्तु अज्ञानियों के हृदय में अहन्तावश संसार का बीज दृढ़ रहता है और इसी कारण उस जीव की बुद्धि नष्ट-विनष्ट हुई रहती है फिर तो वह अनेक दुःखों को पाता हुआ संसार सागर में डूबता उतराता रहता है। जब सन्तों का साथ करता है और जैसा सन्त बतलाते हैं वैसा आचरण करता है तब अहन्तारूपी दुःख नष्ट होता है। हे रामजी! सन्तों के वचनों का उल्लंघन करना मानों मुक्तिफल को नाश करना है। अतः हे रामजी! तुम सन्तों की शरण में जाओ, वही उस अहन्ता को दूर करेंगे और यह अपने ही आधीन है तब भला इसका चिन्तन करने में क्या कष्ट है? सत्सङ्गति द्वारा आत्मपद बड़ी सुगमता से प्राप्त हो जाता है। ज्ञानियों की सेवा से जब बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तब अहन्ता रूपी विषय की बेलि को नष्ट होते देर नहीं लगती। उस अवधि में यह विचार करना चाहिये कि 'मैं क्या हूँ और यह जगत क्या है।' जब इस प्रकार से सन्त और शास्त्रों के निर्णय से सत्य प्रतीत होता है तब असत्य का सर्वथा ही नाश हो जाता है। अतः आत्मा को

सत्य जानकर तुम उसी की भावना करो और इस जगत को असत्य जानकर मृगतृष्णा के जलवत ही इसकी भावना को त्याग दो । अन्यथा जैसे मृगतृष्णा का जल कष्टदायक होता है वैसे ही यह जगत महान् कष्ट देने वाला है । हे रामजी सबका अधिष्ठान आत्मतत्व ही है। वह आत्मतत्व शुद्ध, रूप, परम शान्त और परमानन्द पद है । उसको पाकर फिर दुःख नहीं होता । अन्यथा यह भोग तो बन्धन के ही कारण हैं, इनसे कभी शान्ति नहीं मिलती । सन्तोष का साथ ही कल्याण का देने वाला है। हे रामजी ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ यह बिलकुल सत्य है । आत्मपद में पहुँचकर ही मैं तुम्हें ऐसा बोल रहा हूँ । जब अहङ्कार नष्ट होता है तभी शान्ति मिलती है अतः अहं-कार का ही नाश करो । जब अहङ्कार नष्ट हो जाता है तब चैत्य की भावना मिट जाती है और तब वह ज्ञान सूर्य प्रकट होता है । कि जिससे विषयों से वैराग्य उत्पन्न होकर स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का एकसौ बाईसवा सर्ग समाप्त ॥१२२॥

❀ यहाँ निर्वाण-प्रकरण का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ ❀

—०::❀::०—

* श्रीगणेशायनमः *

श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा

निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध

पहला सर्ग

जिज्ञासु की पहली दूसरी भूमिका वर्णन

इतनी कथा कहकर वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! अब मैं तुम्हारे हित के लिए ज्ञान की उस सप्त-भूमिका को वर्णन करूँगा कि जिसे सुनकर तुम परम शान्तात्मा हो जाओगे। ध्यान देकर सुनो। हे रामजी ! जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जिज्ञासु के लिये सात भूमिकाओं का निर्माण किया गया है। यदि जिज्ञासु उनका ठीक-ठीक आचरण और पालन करता है तो वह सफल मनोरथ होकर आत्मपद को प्राप्त करता है। उसमें सबसे पहली भूमिका को बतलाता हूँ। देखो, जब बालक माता के गर्भ में रहता है तब उसको सुषुप्ति अवस्था प्राप्त रहती है, परन्तु संस्कार शेष रहता है। जैसे बीज देखने में सुषुप्ति और शून्य रहता है, उसमें अंकुर विद्यमान रहता है, वैसे ही बाल्यावस्था देखने में सुषुप्ति रूप है, पर उसमें संस्कार शेष रहता है। इस प्रकार जब सुषुप्ति रूप बालक अपने शेष संस्कार को लेकर बाहर निकलता है तब कुछ ही काल व्यतीत होता है कि उसकी यह सुषुप्ति अवस्था नष्ट हो जाती है और चेतनता आ जाती है। तब वह जानने लगता है कि "यह मैं हूँ, यह मेरे माता-पिता हैं।" तब उसके कुल वाले उसे सिखाने लगते हैं कि यह कड़ुआ है, यह मीठा है, यह करने से पाप होता है, इससे पुण्य होता है, यह करने से स्वर्ग मिलता है, यह करने से नर्क मिलता है, इस प्रकार यज्ञ किया जाता है, इस प्रकार जप होता और इस प्रकार

दान किया जाता है इत्यादि, हे रामजी ! जब इस प्रकार के उपदेशों को पाकर वह बड़ा होता और अपने कुल मर्यादा के उपदेश तथा शास्त्र के भय से धर्माचरण करता हुआ पाप मार्ग से विमुख होता है तब उसे धर्मात्मा कहा जाता है। वे धर्मात्मा भी दो प्रकार के होते हैं एक का लक्ष्य प्रवृत्ति मार्ग की ओर होता है और दूसरे का निवृत्ति की ओर होता है। प्रवृत्ति वाले पुण्य कर्मों को करके स्वर्ग को प्राप्त करना उत्तम समझते हैं। उनको मोक्ष की इच्छा नहीं होती। वे स्वर्ग के फल को ही भोगना चाहते हैं। इस कारण वे संसार में जन्म ले तृणवत् भ्रमते रहते हैं और शीघ्र मुक्ति नहीं पाते। कहीं चिरकाल में उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है किन्तु जो दूसरे निवृति वाले हैं उनको आरम्भ से ही विषय भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वे कहते हैं कि संसार मिथ्या है, किस उपाय से मैं इससे मुक्त होकर उस पद को प्राप्त करूँगा कि जो शम, शान्त और अक्षय रूप है। फिर तो वह उसी क्रम से चलकर अपने अभीष्ट पद को प्राप्त कर लेता है। परन्तु इसी में एक पशुधर्मा मनुष्य भी होते हैं। इनको किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वे अपनी इच्छा से स्वतन्त्र होकर संसार में विचरते हैं और शास्त्रों के अर्थ को भूल कर भी नहीं जानना चाहते। सर्वदा अशुभ को ग्रहण करते और विचार से रहित रहते हैं। इस कारण हम उनका कोई स्थान नहीं रखते। मानव-संसार में केवल प्रवृति और निवृत वालों को ही स्थान दिया जाता है। तब जिसको शास्त्र शुभ कहता है, उसको ग्रहण कर अशुभ का त्याग करना और कामना युक्त फल के लिये यज्ञादिक शुभ कर्मों को करते हुये स्वर्ग, धन और पुत्रादिक की प्राप्ति के लिये ऐसी अनेक चेष्टायें करना प्रवृत्ति मार्ग है और निवृत्ति मार्ग वह है कि जो निष्काम भावसे शुभ कर्मों को करके अन्तःकरण शुद्ध किया जाये ऐसा वैराग्यवान पुरुष कहाता है कि मुझे कर्मों और फलोंसे तोक्या प्रयोजन मैं केवल आत्मपद को ही प्राप्त करना चाहता हूँ। वह प्रतिक्षण संसार से

मुक्त होने का ही विचार किया करता है। वह कहता है कि संसार मिथ्या है मुझे भोग नहीं चाहिये भोग सर्पवत हैं, आदि-आदि। इस प्रकार यह भोग की निन्दा करता है और संसार से उपराम होता है वह सर्वदा ही शुभाशुभ का विचार करता हुआ अपनी वाणी को मर्यादामें स्थिर रखता है, सत्सङ्ग करता है और इस प्रकार बारम्बार सत्शास्त्रों द्वारा ब्रह्मविद्याका विचार करते हुए अपनी बुद्धिको बढ़ाता रहता है। वह तीर्थ देवस्थानों में जाता तथा वैसे शुभ स्थानोंको पूजता और अपने शरीरसे सन्तोंकी सेवा करता हुआ सर्वसे मयत्रीभाय रखता हुआ सत्य और दयाभावको लेकर संसारमें विचरण करता है। वह विचार कर ऐसी वाणी बोलता है कि जिससे प्रत्येक को प्रसन्नता होवे। वह शास्त्रों से विपरीत एक शब्द भी नहीं बोलता। वह अज्ञानीका साथ नहीं करता। उसे स्वर्ग आदिक सुखोंकी इच्छा नहीं होती। वह केवल आत्मोपासक बन सत्सङ्ग और सच्छास्त्र में मन लगाकर उसकी धुन में मस्त रहता और षित्त को किसी दूसरी ओर नहीं जाने देता। जैसे कृपण और दरिद्र अपने धनकी चिन्ता किया करता है उसी प्रकार वह सर्वदा ही आत्मा की चिन्ता किया करता है।

हे रामजी! दूसरी भूमिका यह है कि जो पुरुष (जिज्ञासु) उपर्युक्त पहली भूमिका को लाँघ चुका है वह सर्वदा ही अपने बोध को बढ़ाने के लिये तीर्थों में स्नान, दान करता हुआ सत्सङ्ग और सच्छास्त्रों का विचार किया करता है। उसका खाना, पीना, देना, लेना जो कुछ भी होता है, सर्व विचार युक्त होता है। वह सर्वदा शुद्ध मार्ग में विचरता हुआ निष्क्रोध भाव से शुभाचरणों को करता है। और वह एक-एक करके इन्द्रिय जन्य विषयों को नष्ट कर डालता है और सर्व से उदासीन रह दुर्जनों की सङ्गति का बल पूर्वक त्याग कर देता है। वह सारी इच्छाओं का दमन करके केवल दया नाम्नी इच्छा को अपनाता हुआ सब पर दया करता हुआ सन्तोषवान बना रहता है। इसके पास ग्रहण और त्याज्यगुण स्वभावतः ही नहीं रहते और वह लोभ, मोह तथा दम्भादिक दोनों से सर्वथा ही पृथक रहता है।

हे रामजी ! जब इस प्रकार जिज्ञासु दूसरी भूमिका को प्राप्तकर तीसरी भूमिकामें पहुँचता है तब इसके लिये यह आवश्यक होजाता है और तब वह ऐसी चेष्टा करता है कि संसार में सर्वथा ही सङ्ग रह सन्तों की सेवा को ही अपना मुख्य धर्म बना लेता है। वह भोगों को सर्वथा ही त्याग देता है। उसका हृदय सर्वदा ही शुभ गुणों से भरपूर रहता है और वह फूलोंकी शय्या को सुखदायी न जानकर वन और कन्दरा के बास को ही उत्तम समझता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वह अपने वैराग्य को बढ़ाता हुआ तालाब, बावलियों और नदियों में स्नान करता हुआ पाषाण शिला पर शयन करता है। फिर धारणा ध्यान से चित्त को स्थिर करके आत्म चिन्तन करता हुआ भोगों से सर्वदा ही विरक्त हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पहला सर्ग समाप्त ॥१॥

दूसरा सर्ग

तीसरी, चौथी भूमिका वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! ज्ञान बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। ब्रह्म विद्या के विचार बिना ज्ञान दुर्लभ है। जब बारम्बार उसके अर्थ की भावना की जाये और सर्वदा पुण्यशील क्रियाओं पर ध्यान दिया जाये, तभी ज्ञान प्राप्त होता है। जो जिज्ञासु प्रतिक्षण अपना लक्ष्य इस ओर बनाये रखते हैं उन्हीं को इसका शुभ दर्शन होता है। ऐसे जिज्ञासु सर्वदा ही असङ्ग रहते हैं। उनके निकट यदि बिना इच्छा किये नाना प्रकारकी सुगंध और अप्सरायें भी आजावें तो भी वे उनका निरादर कर देते हैं और स्त्री को देखते हैं तो उसे माता के समान जानते हैं। इनके लिये पराया धन मिट्टी के समान है। वे प्राणी मात्र पर दया करते हैं और परोपकार करना ही उनका ध्येय होता है। वे किसी को दुःख नहीं देते इस प्रकार वे सर्वदा ही पुण्यशील रह सत्शास्त्रों के अर्थ का अभ्यास

करते हुये सर्वदा ही असङ्ग बने रहते हैं। रामजी ने पूछा-हे भगवान। यहाँ असङ्ग से क्या अर्थ है वशिष्ठजी ने उत्तर दिया, हे रामजी! असङ्ग दो प्रकार का होता है। समान और विशेष। समान असङ्ग यह कि मैं कुछ नहीं करता। मेरा देना लेना जो कुछ है, सब भगवान का है! उन्हीं की आज्ञा से मैं देता लेता हूँ। मेरे अधीन कुछ नहीं। हे रामजी! वह जो कुछ शुभ क्रिया एवं यज्ञादिक कर्म करता है सब ईश्वरार्पण करता और उसमें अपना अभिमान कुछ न करके यही कहता है कि सब भगवान की ही आज्ञा से हो रहा है। वह इन्द्रियों के भोगों को आपदा रूप जानता हुआ सबसे पृथक रहता है और इस प्रकार की सभी सम्पदाओं को आपदा रूप जानकर संयोग वियोग से पृथक रहता है वह पराई स्त्री को विष की लता के समान जानकर उसे दूर से ही त्याग देता है। वह जानता है कि सुख दु:ख जो कुछ है सब ईश्वर के हाथ में है, अपने में कुछ नहीं है। न मैं कर्त्ता हूँ, न भोक्ता। सब ईश्वर की सत्ता से हो रहा है। इस प्रकार वह निरभिमान होकर समस्त पुण्यक्रियायों को करता हुआ सर्व से पृथक रहता है। उसकी एक-एक वाणी में मानों अमृत भरा रहता है।

दूसरा जो विशेष असङ्ग वाला है उसका लक्षण यह कि यह सर्वदा ही चित्त से रहित चैतन्य सत्ता में स्थित रहता है। उसके हृदयमें पदार्थों की रञ्चमात्र भी इच्छा नहीं उठती। वह समस्त चेष्टाओं को करता हुआ भी सर्व से वैसा ही पृथक, ऊँचा और निर्लेप रहता है कि जैसे जल से कमल पत्र निर्लेप अथवा कमल पुष्प जल में रहता हुआ भी ऊँचा ही उठा रहता है। उसे कोई इच्छा नहीं रहती। चाहे कुछ हो या न हो, वह सर्व कलनाओं से पृथक रहकर संसार को नष्ट समझता है। उसके हृदय में आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का स्फुरण नहीं होता। वह किसी भी कार्य में हानि, लाभ न समझता हुआ सबसे असंग रह संसार में नहीं डूबता और इस प्रकार इष्ट अनिष्ट

जितनेभी पदार्थ हैं उनके सुख दुःखकी वेदनासे वह कभी सुखी और दुखी न हो सर्वदा मौन रूप बना रहता है। वह लक्ष्मी को पाषाणवत समझता है। हे रामजी! यह तीसरी भूमिका प्राप्त होने पर बड़े बड़े विघ्न आ स्थित होते हैं। तब अज्ञानरूपी कीचड़ से एक कमल ऐसा निकलता है कि जो आत्मरूपी जलपर तैरता हुआ कुकर्मरूपी काँटों को उत्पन्न कर देता है। फिर तो उस आत्मरूपी जलमें तृष्णारूपी मछलियाँ चारों ओर घूमती हैं। अज्ञानरूपी रात्रिसे ब्रह्मकमलका मुख तब तक बन्द रहता है कि जब तक विचाररूपी सूर्यका आवागमन नहीं होता। विचाररूपी सूर्य आवे तब वह कमल खिलकर शोभा पाता है। उसका बीज संसार की अभावना है और उसकीसुगन्ध सन्तोषहै। वह हृदय के बीच लगता है और असङ्ग ही उसका फल है। सत्सङ्गतिको प्राप्तकर सत्शास्त्रों को विचार करता है तब अमृत अर्थात् मोक्षपद को पाता है। हा, बड़े दुःख का विषय हैकि ऐसे सुन्दर पदको विस्मरणकर जीव दुखी होते हैं। रामजी! तीसरी भूमिका में पहुँचना मानों ज्ञानके निकट पहुंचना है। इस भूमिकामें पहुँचकर विचार वान अपनी बुद्धिको बढ़ाते हैं। उस आस्थामें शास्त्रोंकी युक्तियांही उसकी रक्षा करती हैं अन्यथा इस भूमिका वाले को बारम्बार असङ्गता प्राप्तहोकर उसका पतन करने पर प्रस्तुत रहती है। किन्तु जैसे किसान अपनी खेती की रक्षा करता हुआ उसे बढ़ाता है,वैसे ही वह जिज्ञासु विचाररूपीजलसे बुद्धि को बढ़ाता हुआ चतुर्थ भूमिका की ओर अग्रसर होता है। चौथी भूमिका में भी उसे बड़े २ शत्रुओं का सामना करना पड़ता है उस समय अहङ्कार और मोहादिक शत्रु प्रबल हो जाते हैं। किन्तु यह भूमिका परम ज्ञान की है, इस कारण जिज्ञासु बल पूर्वक उसकी रक्षा करता है! जिसके बड़े पुण्य कर्म उदय होते हैं उसे ही यह भूमिका प्राप्त होती है। किसी को अकस्मात भी आजाती है। जैसे कोई नदी के तट पर बैठा हो और अकस्मात नदी के वेग से उसके मध्यमें जा पड़े, वैसे ही किसी को यह अवस्था प्राप्त होजाती है।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

जगत वासना वर्णन

वशिष्ठजी के कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आपके इस भूमिका वर्णन को सुनकर मुझे यह शङ्का हो गई है कि जो पुरुष भूमिका से रहित है अर्थात् जो सब कुछ में प्रकृत की ही प्रधानता को मानते हैं और शास्त्रानुकूल आचरण नहीं करते ऐसे पशुधर्मा मनुष्यों को कभी ज्ञान उत्पन्न होगा या नहीं अथवा जिनको एक दो, तीन भूमिका प्राप्त हो गई हैं और आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ है और उन्हें स्वर्ग की भी इच्छा नहीं है तो शरीर छूटने पर वे किस गति को प्राप्त होते हैं? कृपाकर यह मुझे समझा देवें। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! विषयी पुरुषों को तो ज्ञान प्राप्त होता ही नहीं। वे अपनी वासनाओं के पीछे व्यग्र रहते हुए सर्वदा ही घटीयन्त्रकी नाईं कभी नीचे कभी ऊपर आते जाते दुःख पाते ही रहते हैं। जब ऐसे ही कभी सत्सङ्ग और शास्त्र श्रवण मिल जाता है, तब उनको थोड़ा बहुत वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और तभी उनकी बुद्धि निवृत्ति मार्ग की ओर लगकर भूमिकाओं द्वारा ज्ञान का दर्शन करा देती है और तभी चिरकाल में कोई ऐसा सुयोग पाकर वह मुक्त होते हैं। परन्तु यह अवसर उन्हें कदाचित और अकस्मात ही मिलता है। परन्तु जो एक अथवा दो भूमिकाको प्राप्त कर शरीर छोड़कर चलता है, वह फिर जन्म लेकर पिछले संस्कारों द्वारा ज्ञान को प्राप्त कर उत्तरोत्तर बढ़ता है। फिर तो जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होकर क्रम पूर्वक वह बढ़ता है, वैसे ही उसके अभ्यास का संस्कार बढ़ता जाता है और वह ज्ञान को प्राप्त होता है। हे राम जी! यह तो प्रसिद्ध नीति है कि वासनानुसार ही जीवों की उत्पत्ति होती है। जिसकी जैसी वासना होती है, वह उसके अनुसार ही उत्पन्न होता और वैसा ही शरीर धारण करता है। फिर इसमें शङ्का ही क्या है। देखो, जब शरीर छूटता है तब एक घड़ी तक मूर्छा

रहती है और फिर शरीर में चेतना उत्पन्न हो जाती है, तब वह अपनी वासना के अनुसार शरीरादि को देखता है और यह जानता है कि यह मेरा शरीर है, यहाँ मैं उत्पन्न हुआ था और यह सब कुछ मेरा था इत्यादि। पश्चात् शरीर छूट जाता है और वे देखते हैं कि यमराज के दूत मुझे लिये जा रहे हैं, यह यमलोक है, यह मेरे पुत्रों ने पिण्ड-दानादि किया है तथा यहाँ धर्मराज बैठे हैं आदि-आदि। तब कुछ ही क्षण में वे धर्मराज के सन्मुख जाते हैं और देखते हैं कि उनके पहुँचते ही पाप और पुण्य दोनों ही शरीर धारण कर वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। तब धर्मराज उनसे पूछता है कि बोलो, इसने क्या कर्म किये हैं। तब प्राणी यदि पुण्य किये होता है तो उसको स्वर्ग में देकर फिर नीचे गिरा देते हैं और यदि पापी होता है तो उसे नरकमें डाल देते हैं। इस प्रकार जीवों को स्वर्ग, नर्क मिलता है और उसी क्रम से वह कभी सर्प, तोता, तीतर, मच्छ, बगला, गर्दभ और वेलि वृक्ष योनियों को प्राप्त होता है और जानता है कि यह मैं हूँ, यह मेरे माता पिता हैं, इत्यादि। इस प्रकार वह निकृष्ट योनियों में भ्रमता हुआ कभी सुयोग से मनुष्य जन्म भी पा जाता है और जानता है कि यह मेरा कुल है, अभी मैं बालक हूँ, अब मैं युवा हुआ, अब मैं वृद्ध हो गया हूँ इत्यादि। फिर जब काल पाकर वह मरता है तब कर्मानुसार फिर सर्प, तोता, वानर, मच्छ, कच्छ और पशु, पक्षी तथा देवता आदिका शरीर धारण करता है। इस प्रकार वह अपने प्रमाद वश कभी अद्ध कभी उद्ध को जाता हुआ अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। हे रामजी! यह जो कुछ विस्तार तुम से कहा है, वह कुछ बना नहीं है, केवल अद्वैत आत्मा ही है और वही चित्तके संयोग से इतना भ्रम देखता है, अन्यथा आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, चित्त का संयोग ही इतना भ्रम दिखलाता है। इस कारण तुम चित्तको त्याग शुद्ध और आनन्दरूप आत्मा में ही स्थित रहो। प्रवृत्ति वालों का यही क्रम है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

निवृत्ति–उपदेश

हे रामजी ! अब निवृत्ति वालों का क्रम सुनो । जो भूमिका को प्राप्त हो चुके हैं किन्तु आत्मपद का दर्शन नहीं हुआ है उनके भी पाप भस्म हो जाते हैं और वे शरीर छोड़ने पर वासना के अनुसार अपने साथ शरीर देखते हुए फिर ऐसे परलोक को देखते हैं कि जहाँ स्वर्ग के सभी सुख उनको विद्यमान रहते हैं। वहाँ पहुँचकर वे विमानारूढ़ हो अ क सुन्दर और सुगन्धित स्थानों में विचरते हुए लोकपालों को दे ते हैं । व ाँ उन्हें पाँचों इन्द्रियों के ऐसे रमणीय विषय प्राप्त होते हैं कि जिनके अनुसार वे नाना प्रकार के देवोपम सुख को भोगकर फिर संसार में उत्पन्न हो भूमिका क्रम को प्राप्त होते हैं फिर जैसी २ भावना दृढ़ होती है, वैसा ही वैसा भासता है। वासना के अनुसार ही वह परलोक भ्रम का सुख दुःख देखता है। इसी प्रकार वह अपने संकल्प वश जगत और परलोक में भटकता हुआ जब फिर संसार में आता है तब आत्मा की ओर आने पर उसका संसार भ्रम नष्ट हो जाता है। किन्तु संसार में पुनः आकर भी जब तक वह आत्मा की ओर नहीं आता तब तक निज सङ्कल्प से संसार को ही देखता है। प्रत्येक जीवों के प्रति अपनी २ सृष्टि भासती है। देव, दानव, पृथ्वी और स्वर्ग सभी सङ्कल्प से रचे हुए हैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सारा संसार सब मनोमात्र और सङ्कल्प से रचा हुआ है। इससे यह सब कुछ मिथ्याडम्बर मात्र है। इसके आना, जाना, अहं त्वं की कोई कल्पना नहीं, यह सारी सृष्टि स्वप्न सृष्टि और मनोराज के राज्य समान ही भासित होती है। केवल सत्तामात्र स्वतः अपने आपमें स्थित है और वही सब कुछ है। यह सारा विश्व आत्मा का ही स्वरूप है। हे रामजी ! इस सृष्टि के और परलोक के भी जितने चमत्कार हैं, सब आत्मा से ही भासित

होते हुए आत्मस्वरूप ही हैं। ईख में मधुरता, मिर्च में तीक्ष्णता और देखना, सुनना स्पर्श करना तथा सुगन्ध लेना आदि जो कुछ सारा विश्व है सब आत्मा ही विद्यमान है। इससे तुम सारे विश्व को आत्मरूप ही जानकर उसी में स्थित हो रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौथा सर्ग समाप्त ॥४॥

—०::❀::०—

पांचवां सर्ग

विश्व आकाश की एकता वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार यह सारी सृष्टि सङ्कल्प मात्र और आकाश रूप है। आकाश और स्वर्ग में कोई भेद नहीं है। जैसे वायु और स्पन्दन में कुछ भेद नहीं, वैसे ही आकाश और स्वर्ग में कुछ अन्तर नहीं है। इसी प्रकार सृष्टि की समस्त वस्तुओं में एक दूसरे से कुछ भी भिन्नता नहीं है और वास्तव में विश्व का सारा चमत्कार आत्मा से ही चमत्कृत है, इससे सब कुछ आत्मस्वरूप ही जानो। तब जब कि सब आत्मरूप ही है, किसी में रागद्वेष क्या करना? आत्मा से भिन्न कुछ नहीं हुआ। समस्त संवेदन आत्मा का ही रूप है। जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है। दृष्टि दोष से नानात्व भास रहा है। धूलि के कण पृथक-पृथक होते हैं, पर सब एक ही धूलि है और जब वर्षा से सब एक समान हो जाती है और जैसे नदी में नदी पड़कर एक ही हो जाती है वैसे ही एक के सङ्कल्प एक से मिलते भी हैं और नहीं भी मिलते। जैसे सूर्य, दीपक, और मणि का प्रकाश देखने में तो भिन्न २ जान पड़ता है, पर सब एक ही समान है, वैसे ही कितनी ही सृष्टि एक ही भासती है और भिन्न २ कई एकत्र होती देखने में भिन्न जान पड़ती है। इनके फुरने में एवं उत्पन्न होने की संख्या तो क्या कहूं। यह सब अधिष्ठान में कोई कोटि उत्पन्न और लीन होती हैं पर अधिष्ठान ज्यों का त्यों है उसमें कुछ भी भिन्नता नहीं है। ब्रह्म और आत्मा आदि भी

कुछ नहीं। यह सर्वदा ही शब्द अर्थ की भावना मात्र भासित होते हैं। भावना न हो तो शब्द अर्थ कुछ भी न भासेगा और केवल शुद्ध चैतन्य सत्ता ही शेष रहेगा। संसार का सर्वथा ही अभाव है। जैसे वायु चलने पर ही जानी जाती है और गन्ध भी वायु के चलने पर ही जाना जाता है और जब वायु नहीं चलता तब नहीं जान पड़ता, वैसे ही फुरना निवृत्त होने पर संसार और संसार का अर्थ दोनों ही नहीं जान पड़ता। हे रामजी! आकाश, पृथ्वी, जल और अग्नि आदि सर्व पदार्थ आत्मा ही है। यदि यह न प्रतीत हो तो यह जानो कि सब कुछ मिथ्या है और सबका जो साक्षीभूत आत्मा है वही ब्रह्म अपने आपमें स्थित है और वही सब कुछ है उसमें भिन्न कुछ नहीं, उसी ब्रह्म में अंश से अनेक पदार्थ स्थित हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो आत्मा से भिन्न हो। सत्य असत्य सब आत्मा ही है। सत्य असत्य दोनों को स्फुरण आत्मा में समान ही है। जैसे स्वप्न में सत्य, असत्य दोनों ही दृश्य दिखलाई पड़ते हैं और जैसे इन्द्रियजन्य विषयों को तो सत्य समझते हैं और आकाश में फूल लगे है तथा शीशे के सींग होती है। इसको असत्य समझते हैं, वैसे ही सत्य असत्य सब कुछ आत्मा का ही किंचन है और उसी में विद्यमान है तथा सब कुछ उसी के अनुभव से फुरता हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आत्मा से भिन्न हो। परन्तु किसी भी पदार्थ की सत्यता आत्मासे नहीं है और सब कुछ उस एक फुरने में ही स्थित है सत्यासत्य जो कुछ है, सब फुरना ही है। इससे हे रामजी! तुम सत्या-सत्य से रहित हो। इससे उस सर्व गुणों से परे परमात्मा में ही शीघ्र स्थित हो जावो कि जो आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पांचवां सर्ग समाप्त ॥५॥

—:❀:—

छठवाँ सर्ग

विश्वविजयी होने की युक्ति

हे रामजी ! यह सारा बिश्व जो तुम्हें भिन्न-भिन्न भासता है, कोई भी सत् नहीं है । सब कुछ स्वप्न के समान मिथ्या है । यदि परमार्थ दृष्टि से देखिये तो सब कुछ आत्मा ही है । जैसे स्वप्न की सेना और नाना प्रकार के दृश्यों युक्त युद्ध आदि में शस्त्र चलते जान पड़ते हैं पर आत्मा में इनकी रूप रेखा और शब्द अर्थ कुछ नहीं, वह जगत से रहित किन्तु जगदाकार ही भासता है, वैसे ही यह "मैं-तुम" जो कुछ भास रहा है सब मिथ्या और भ्रम युक्त है । सबका अधिष्ठान ही सत्य है और उसी में सब कल्पित हैं। अनुभव दृष्टि से देखने पर सब कुछ आत्म-स्वरूप ही है। इस प्रकार यह सारा विश्व भ्रम के कारण ही फुर रहा है—अन्यथा इसकी वास्तविकता नहीं है । यह सत् असत् से परे शुद्ध अधिष्ठान ही सब कुछ है। उसी चिन्मात्र में 'अहं' की भावना होने से, अज्ञान के कारण समस्त दृश्य भासित होते हैं। ज्ञान से देखा जाय तो दृश्य मिथ्या और सङ्कल्प रूप हैं । अधिष्ठान ही सत्य है और वही अज्ञान के वश होकर सर्वोत्पादक हो रहा है। पर विचार करने से उसमें दृश्यों का वैसा ही अभाव हो जाता है, जैसे सीपी के जानने से रूपे का भ्रम नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार आत्म-विचार से विश्व बुद्धि नष्ट हो जाती है और ज्यों का त्यों आत्मरूप का भान होने लगता है । हे रामजी ! विचार में बड़ी शक्ति है । विचार करने से ही सर्व की यथार्थता का बोध होता है । अविचार मे कुछ नहीं होता। जिस फुरने को हम बारंबार मिथ्या कह रहे हैं यदि तुम विचार पूर्वक वैसा स्फुरण करो तो उस में भी तुम्हें आत्मरूप का ही बोध होवेगा और उस प्रकार अर्थात् स्फुरण करते २ वह समय भी आ जायगा कि जब तुम्हें यह विश्वचक्र भासेगा और सारे दृश्य-भ्रम नाश हो जावेंगे । क्योंकि जो वस्तु सङ्कल्प से उत्पन्न होती हैं, वह निःसङ्कल्प से नष्ट हो जाती है।

उसी नियम से यह सारा विश्व जो संकल्प से उदय हुआ है निःसंकल्प से लय हो जावेगा।

इतना सुनकर रामजी बोले--हे भगवान् ! उधर जो कह आये हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्रादिक, जितने भी उत्पत्ति और संहारकर्त्ता हैं और यह जो सारा विश्व है सब भ्रममात्र है भला इसके जानने से क्या लाभ, यह तो प्रत्यक्ष भी दुःख जनक जान पड़ता है। कृपाकर इस पर भी कुछ प्रकाश डालिये। वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! यह भी तुम्हारा एक दृष्टिदोष है। देखो, मैं कितनी बार कह चुका हूँ कि असम्यक दृष्टि के भावमें ही विश्व की यथार्थता है, सम्यक दृष्टिमें तो अधिष्ठान ही जैसा का तैसा ज्ञात होता है जैसे एक अन्धकार के कारण ही जेवरी में सर्प हो जाता है और भय देता है, प्रकाश से नहीं, वैसे ही जब जिसको आत्मज्ञान होजाता है, तब उसको दृश्य आत्मरूप होजाते हैं। अतः अज्ञानी को ही विश्व का भान होता है, ज्ञानी को नहीं। हे रामजी ! प्राणी अपने संकल्प से ही बन्धन में आजाता है। संकल्प ही उसे संहारी बनाये रहता है। अन्यथा वह सर्व समर्थ है। चाहे तो ब्रह्म रहे और चाहे तो दृश्यों की ओर फुरकर संसारी हो जावे। अस्तु, तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो। संसारी होनेकी इच्छा हो तो संसारी बन जाओ और ब्रह्म होने की इच्छा हो तो ब्रह्म बनकर रहो। यदि मुझसे पूछते हो तो मैं यही कहूँगा कि समस्त दृश्यों में अहङ्कार को त्यागकर आत्मा में स्थितहो जाओ। सारा विश्व भ्रम मात्र है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। सङ्कल्प से सङ्कल्प का काटना ही सच्चा पुरुषार्थ है। ये दृश्य न तो पूर्व में थे और न अब हैं। सब कुछ ब्रह्म ही था और ब्रह्म ही है। इससे बहिर्मुख वृत्तिको त्याग कर अन्तर्मुख होजाओ फिर तो तुम्हें ब्रह्मही ब्रह्म भासेगा और दृश्य की सारी कल्पनायें नष्ट हो जावेंगी। सत् वस्तु का अभाव नहीं होता और न असत् का भाव होता है। असत् वस्तु तभी तक भासती है, जब तक उसका यथार्थ बोध नहीं होता। सम्यक विचार एवं बोध होजाने से वह अवश्य ही नष्ट हो

जाती है। जैसे अविद्या के पदार्थ विद्या से नष्ट होजाते हैं, वैसे ही स्वरूप-ज्ञान से संसार नष्ट होजाता है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है। फिर तुम्हें ज्ञान और मोक्ष से भी क्या प्रयोजन, तुम तो स्वयं ही सर्वात्मा हो तुम्हारी चैतन्य वृत्ति और अहंकार ने ही इतना सब जाल रच रखा है। यदि ये दोनों न रहें तो निश्चय ही तुम ज्ञान और मुक्ति दोनों से ही परे चेतन ब्रह्म जो अपना आप है उसमें स्थित होकर जड़ के समान हो जाओगे। हे रामजी! यही ऐसी युक्ति है कि जिससे तुम उस पद को पा सकते हो। अन्यथा आकाश, पाताल में कहीं भी चले जाओ पृथ्वी के दशों दिशाओं में भी क्यों न पर्यटन करो, सुख नहीं प्राप्त होगा और आत्मा का दर्शन भी न होवेगा। अहंकार आत्म-दर्शन का एक बड़ा शत्रु है। अहंकार रहते उस देवका दर्शन नहीं हो पाता। पर हां; यदि तुम अहङ्कार रहित हो जाओगे तो निश्चय ही उसका दर्शन होवेगा और तब तुम्हारे लिये सारा विश्व आत्मस्वरूप ही भासित होगा।

श्री योगवाशिष्ठ-भाषा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छटवां सर्ग समाप्त ॥६॥

सातवाँ सर्ग

जगत-प्रमाण वर्णन

हे रामजी! इस तुच्छ जगत की तो चर्चा ही क्या है, उधर जो युक्ति मैं तुम्हें बतला गया हूँ, उससे विश्व विजयी तो क्या सृष्टि विजयी से भी बढ़कर जो होना चाहिये वह हो सकते हो। फिर इस तुच्छ सङ्कल्पमय संसार को क्या देखते हो और उस महान् पद के सम्बन्ध में संसारी बनकर मुझ से और क्या सुनना चाहते हो। इस जगत की नश्वरता को कहां तक वर्णन करें। यह तो अपनी अज्ञान निद्रा से ही भासित होता है। यदि वास्तव में जागकर देखा जाय तो इसका कहीं भी पता नहीं चलता। तब भला जो इतना निर्बल, इतना अस्तित्वहीन है, उसका तरना

क्या कठिन है। कमल के बंद होने में कुछ यत्न नहीं होता। सूर्य अस्त हुआ नहीं कि उसका मुख बन्द होजाता है। उसी प्रकार तुम्हारी वृत्तियाँ बन्द हुई नहीं कि यह बिना यत्न ही लय होजावेगा। हमारी स्थूल दृष्टि ने ही इसे इतना प्रबल, इतना विशाल और इतना कठोर बना रखा है। हम भूत प्राणी आकारयुक्त हैं, इसीसे इसको आकार युक्त देखते हैं। पर नहीं हमें यह जानना चाहिये कि इसमें निराकार का ही वास है हमारा फुरना अफुरना सब कुछ उसीसे होता है। ज्ञानीजन ऐसा ही जानते हैं। उनके निकट फुरना अफुरना सब एक समान है। पर अज्ञानी को द्वैत ही भासता है। जहाँ देखो, उसे द्वैत का स्फुरण होता है। पर यह ठीक नहीं है। आत्मा में जगत का सर्वथा ही अभाव है। जैसे मरुभूमि में जल की कल्पना व्यर्थ है, वैसे ही आत्मा में जगत की कल्पना करनी मूर्खता है। भला उस महान् सत्ता के आगे यह स्थावर-जङ्गम सहित जगत क्या वस्तु है। केवल देखने में ही ये पहाड़, नदियाँ, वन और देश, काल आदिक ऐसे अर्थाकार विशाल प्रतीत होते हैं किन्तु इन सबको मिला-कर यदि एक ओर रखकर आत्मा से समता की जाये तो भी उस महान् सत्ताके समान यह सारा जञ्जाल रत्ती मात्र भी पूरा नहीं पड़ता। यही क्या, देव दानव सहित सारा त्रैलोक्य भी उसकी समता में नहीं आ सकते। कारण कि उनकी कोई वास्तविकता नहीं, केवल भ्रममात्र ही हैं। हा, कितने खेद का विषय है कि मूर्खोंको इसका कुछ भी विचार नहीं होता और वे व्यर्थ ही संसार को रमणीय जान इसके भोगों में फँसकर अपनी उन अमूल्य श्वासों से कि जिनसे ही उनका सर्वस्व रक्षित रहता है, उसे लुहारकी भट्टीके समान ही गवाँ देते हैं। हे रामजी! यह अपने आधीन है तो भी मूर्ख नहीं समझते। पर यह निश्चित सिद्धान्त है कि मन से ही सब कुछ होता है। जैसा मनने ख्याल किया, वैसा ही आगे आजाता है। सत्य, असत्य दोनों ही मन से फुरता है। पर आत्मा में इन दोनों का ही अभाव है। न सत् है,

न असत् है, यह संसार मिथ्या ही आ फुरा है। मन के फुरने से क्या नहीं होजाता। पहाड़पुर में भिक्षुक भीख माँगते हैं, बालुका से तेल निकल रहा है, ब्रह्माण्ड उड़ रहे हैं, मृतकों का युद्ध हो रहा है। मृग गाते हैं, बन नाच रहे हैं, यह सब मन की कल्पना से दिखलाई पड़ता है। इसमें इतना शीघ्र संवेग भरा हुआ है कि जिसके कारण मनुष्य इसके सङ्कल्प को सत्य मान लेता है। यह इतना अज्ञानी है कि सत्य को असत्य और असत्य को भी सत्य स्वीकार कर लेता है। जब जैसा संवेग हुआ, वही सत्य होजाता है। इसका न कोई नियम है, न सिद्धान्त। स्वप्न से मिथ्या और जाग्रत को सत्य कहना, इसीका धर्म है, पर मुख्य सिद्धान्त कहता है कि जाग्रत और स्वप्न दोनों ही मनोराज हैं। आत्मा में किसी की सत्यता नहीं है। यह जितने आकार दृष्टि गोचर होरहे हैं वे सब मिथ्या ही हैं। न तुम हो, न मैं हूं और न यह जगत है। परमार्थ सत्ता में इन सबका कुछ भी स्थान नहीं, वह केवल अपने आप स्वयं ही स्थित है। जैसे बालक मिट्टी की सेना बनाकर उसके भिन्न-भिन्न नाम कल्पता है और कहता है कि यह राजा है, यह मंत्री है, यह घोड़ा है, यह हाथी है, वैसेही मनरूपी बालक नाना प्रकार की संज्ञा कल्पता है पर आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। तब हे रामजी! तुम्हें किसका भय है? तुम निर्भीक रहो। तुम्हारा स्वरूप सर्वथा ही शुद्ध और अविद्या के कार्य-कारण से रहित है। यह संसार तुम्हारा स्फुरण मात्र है। आत्मा न सत्य है, न असत्य, न जड़ है, न चैतन्य न प्रकाश है, न तम, न शून्य है, न अशून्य। शास्त्रकारों ने जो जड़ और चेतन का विभाग किया है वह केवल जीव को जगाने के निमित्त कहा है। पर आत्मा में ऐसी कोई संज्ञा नहीं है। वह केवल आत्म-तत्व मात्र है। इसी कारण हे रामजी! तुम दृश्य की सारी कल्पनाओं को त्यागकर उस आत्मतत्व में स्थित हो जाओ। ब्रह्मा से लेकर स्थावर जङ्गम पर्यन्त यह जितने भी दृश्य दिखलाई पड़ते हैं, सब कल्पना

युक्त हैं। तब भला इनका क्या विश्वास किया जाय। भावाभाव सब कुछ तो कुरना ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सातवां सर्ग समाप्त ॥७॥

——०::❀::०——

आठवाँ सर्ग

बृहस्पति-बलि संवाद

वशिष्ठजी ने कहा हे राघव ! तुम्हारे प्रश्नोत्तर निमित्त मैंने बृहस्पति और बलि का आख्यान कहा। तुम सतको सत् और असत् को असत् समझने के लिये अपने संस्कारों को शुद्ध करो। परन्तु जब तक चित्त में संसार की वासना है तब तक संस्कार शुद्ध नहीं हो सकते। इस लिये चित्तसे विश्वकी वासना का मूलोच्छेदन करदो। हे राघव ! पुनः मैं बृहस्पति-बलि-संवाद कहता हूँ सुनो। बृहस्पति ने कहा—हे राजन् ! जैसे पृथ्वी पर बीज बोया जाता है और फिर उससे वृक्ष, फल, फूल व शाखा-प्रशाखायें निकलती हैं, पर आकाश में नहीं बोया जा सकता है, ऐसे ही चित्त रूपी पृथ्वी पर जीव जैसी जैसी भावना करता है तैसी तैसी देह धर कर कर्म-फल भोगा करता है। पर बोधरूप आकाश में भावना या संस्कार रूप बीज बोया नहीं जा सकता। इसलिये तुम संस्कार शुद्धि के लिये आत्मबोध के जिज्ञासू बनो। हे राघव ! जैसे मोर के अण्डे में ऐसी शक्ति होती है कि नाना रङ्ग उससे प्रकट होते हैं वैसे ही चित्त में जैसे जैसे संस्कार होते हैं वैसे वैसे नाम रूप आकार प्रकार इत्यादि रङ्ग समय समय पर प्रकट होते रहते हैं। बलि ने पूछा—हे भगवन् ! आपने कहा कि जीव जीवित होगा और मृतक जैसी-जैसी भावना करता है तैसा तैसा शरीर धरता है। यदि मरते वक्त पिंडादिक में भावना न हो तो पुनः शरीर कैसे धारण करेगा ? बृहस्पतिने कहा हे राजन् ! शरीर रहे या न रहे। वासना ही शरीर धारण कर फल भोग प्राप्त करती रहती है। और चित्त भी अनुभव करता रहता है।

वलि ने कहा—हे भगवन् ! मैंने निश्चय किया कि भावना के अनुसार ही जीव शरीर धरता है। यदि निश्किञ्चित की भावना हो तो निश्किञ्चित ही हो जायगा और संसार में रहते हुये भी पत्थर वत् ही मुक्त होजायगा। वृहस्पति ने कहा—हे राजन् ! निश्किंचित की भावना से जीव संसार में जड़वत् होजाता है। संस्कार व भावनायें नष्ट हो जाती हैं। त्रिगुणा उसे नहीं सताते। और वह निस्सन्देह मुक्त हो जाता है। इस लिये हे राजन् ! तुम वासनाओं का त्याग करो क्योंकि वासनायें जब तक बनी रहेंगी तब तक चित्त में संसार की भावना बनी ही रहेगी। निश्किंचिन भाव नहीं उत्पन्न होगा ? इसलिये तुम वासनाओं का त्याग कर ज्ञान मुक्ति और अभ्यास क्रम से निश्किंचन भाव धारण करो। तभी शान्त पदको प्राप्त कर सकोगे। हे राघव ! सुर पुर में सुर गुरू वृहस्पति ने असुर नामक वलि को यह ज्ञानोपदेश किया था और मैंने तुम्हें सुनाया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण—उत्तरार्द्ध का आठवा सर्ग समाप्त ॥८॥

——०::*::०——

नवां सर्ग

चित्ताभाव—प्रतिपादन

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! जैसे मोर के अण्डे में रस होता है जो समय पर विस्तार पा जाता है। वैसे ही चित्त में वासना होती है, जो समय पर इस विस्तृत संसार की उत्पत्ति करती है। जब तक चित्त है तब तक बासनायें उत्पन्न हुआ करेंगी और संसार के नाना दृश्य-भ्रम में जीवको फँसाये रहेंगी। हे राघव ! जैसे आकाश में नीलता भासती है, जल में श्यामता दृष्ट होती है, ऐसे ही चित्त में संसार भासता है। चित्त का नाश ज्ञान की सात भूमिकाओं द्वारा हो जाता है। सात भूमिकाओं में तीन का क्रम उपदेश में कर चुका अब चारका उपदेश आगे करूँगा। पहिली भूमिका महापुरुषों की है। तीसरी तक चित्त नष्ट होजाता है। पुनः

इसमें रागद्वेष नहीं रहते मान मोह और आसक्ति नहीं रहती है। ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे अंधकार नहीं रहता ऐसे ही चित्त शुद्धि होनै पर संसार नहीं भासता और मुक्तपद प्राप्त हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का नवां सर्ग समाप्त ॥९॥

दसवां सर्ग

पाँचवी भूमिका वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा हे राघव ! मैं पूर्व तुम्हें तीन भूमिकायें शुभेच्छा, शुभ विचार व जाग्रत योग को बतला चुका हूँ। अब चौथी भूमिका स्वप्नयोग को बताता हूँ सुनो ! इस भूमिका में किसी को सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है और अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह अनादि अनन्त व अखंड परमात्मा में स्थित हो जाता है। समदर्शिता प्राप्त हो जाती है। भेद सब मिट जाता है। अभेद वा अद्वैत तब जागृत हो जाता है सारी इन्द्रियें स्वप्नवत् व्यवहार करने लगती हैं। क्योंकि योगी जागता हुआ भी स्वप्नावित हुआ करेगा। सूर्य चन्द्र का गर्म व ठण्डा प्रकाश उसमें आ जाता है। उसका सङ्कल्प विकल्प नष्ट हो जाता है। रागद्वेष रहित हो जाता है। न तो वह फिर वस्तु से राग तथा अनिष्ट से द्वेष करता है। स्वप्नयोग से सारा दृश्य स्वप्न हो जाता है। और स्वप्नवत् क्षण-भंगुर मालूम होने लगता है। रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीया व तुरीयातीत का लक्षण स्वप्नरूप से समझाइये। वशिष्ठजी ने कहा हे राघव ! जब तक चित्तमें पदार्थ की सत्यता भासती रहे तब तक जाग्रत है। जब पदार्थ की सत्यता मिट जाय तब स्वप्न है। और जब दोनों ही भाव अभाव मिट जावै तब सुषुप्ति है। और जब तीनों का लय होकर ज्ञान से शान्ति पद प्राप्त होवे तब तुरीया है। हे राघव ! जीव संसार को अज्ञान से वर्षा काल के मेघ के समान सत्य देखता है पर चतुर्थ भूमिका में जाकर शरदकाल

के मेघ के सदृश संसार को देखता है। और पञ्चम भूमिका में मेघ सहित आकाश की तरह संसार को देखता है। पर उसका चित्त निर्मल होजाता है। उसे इष्टानिष्ट में राग-द्वेष नहीं होता है। वह अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं को स्वाभाविक समझने लगता है। जैसे कमल स्वप्नवत् ही सूर्य को देखकर खिलता व रात्रि में बन्द हो जाता है, ऐसे ही वह मोह ममता व अहङ्कार सहित हो स्वाभाविक चेष्टायें करने लगता है। हे राघव! उसे संसार के भिन्न पदार्थों में भेद बुद्धि नहीं रहती है वह समान दृष्टि से उन्हें एक ब्रह्म देखता है। उसकी अहन्ता नष्ट होजाती है। जैसे तिलसे तेल और फूल से सुगन्ध की उत्पत्ति होती है ऐसे ही अहं से संसार उत्पन्न हुआ है। हे राघव! जिसकी अहंता नष्ट होगई है वह सब कुछ करता हुआ भी जड़वत् स्थिर रहता है। वह बाहर भीतर एक समान आकाशवत् बना रहता है। आकाश में परिणाम व स्पर्श नहीं। ये तो बीजमें होते हैं क्योंकि बीज से अंकुर फूटते हैं अंकुर में वृक्ष और वृक्ष में फल फूल व शाखायें उत्पन्न होती हैं। पर आकाश ज्यों का त्यों बना रहता है। हे राघव! वह जागता हुआ भी सुषुप्तिके समान रहता है। संसार विद्यमान व वर्तमान न रहते हुए भी उसे सोया हुआ प्रतीत होता है। उसके अन्दर विकार मालूम होते हुए भी उसके हृदयमें उनका भाव नहीं रहता है, वह एक अद्वैत स्वरूप में स्थित व शान्त रूप हो जाता है। इसलिये अहन्ता को त्यागकर संसार में जागते हुए भी सुषुप्तिके समान बने रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का दसवा सर्ग समाप्त ॥१०॥

ग्यारहवाँ सर्ग

छठी भूमिका वर्णन

वशिष्ठजी ने कहा हे राघव! मैंने पाँच भूमिकाओं का उपदेश तुम्हें दिया। अब छठवीं भूमिका का लक्षण सुनो। जो इस भूमिका में प्राप्त होता है, वह सब सांसारिक व्यवहारों को करता उदार्थ अप्रिय समान बना रहता है। वह कर्मों के

बन्धन में नहीं फँसता है । जैसे आकाश में सम्पूर्ण पदार्थ विद्यमान हैं पर आकाश किसी पदार्थ से स्पर्श नहीं रखता है, ऐसा ही वह भी सब सांसारिक काम को करता हुआ भी उनसे स्पर्श नहीं रखता है । हृदय में शून्य रहता है । इसलिये कर्मों का बन्धन भी उसे नहीं क्योंकि बन्धन अहन्ता से होता है, सो उसमें नष्ट होगया है । जैसे स्वप्न में खाना पीना लेना देना चलना फिरना इत्यादि सर्व कर्म होते हैं । पर वह वास्तविक नहीं, जाग्रत में नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही वह सब कर्म परमार्थ भाव से करता है, स्वार्थ भाव से नहीं । उसको अपना कुछ लक्ष्य नहीं वह पूर्णखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म योग से पूर्ण हो जाता है । अपने लिये कुछ करना नहीं रह जाता है । उसे कोई भी पदार्थ आत्मा से भिन्न नहीं भासता है । और पदार्थों के नाम रूप सभी रङ्ग आकार प्रकार मृग तृष्णा के जलवत ही मिथ्या मालूम पड़ता है । मेरा तेरा इत्यादि चिदंग्रथि उसकी नष्ट हो जाती है । और वह हर एक क्रिया को ईश्वरार्पित व स्वाभाविक समझता है । क्षीर समुद्र से निवृत सा हुये मन्दराचल पर्वत की नाईं वह शान्त भाव से स्थिर हो जाता है । सूर्यके समान वह ज्ञान से प्रकाशित होता है । अज्ञान चक्रमें फिरता फिरता एक २ कर स्थिर हो शान्त होजाता है । पवन रहित दीपक के समान वह विश्व-कलना सहित शान्तरूप भी वही रहता है । जैसे आकाश घटके भीतर और बाहर एक रस पूर्ण बना रहता है ऐसे ही वह आत्मरूप हो सम्पूर्ण विश्व के भीतर व बाहर पूर्ण होजाता है । जलके अन्दर घड़ा भीतर बाहर से जैसे जल पूर्ण रहता है तैसे ही वह पुरुष अपने आप में भीतर व बाहर से पूर्ण होजाता है । फांसी से छुटकारा पाने वाले के समान वह संसार निवृत्त हो अखण्ड आनन्द को प्राप्त होता है । तीन प्रकार के जो क्लेश हैं वे भी उसे नहीं सताते । बहुत चलने से थका हुआ पुरुष के समान वह ज्ञान शैया पर विश्राम पाता है । वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान पूर्ण आनन्दामृत का पान करता है । अज्ञान धूम्र

से रहित ज्ञानाग्नि के समान प्रकाशित होता है। अपने ज्ञान रूपी पर्वत पर स्थित हो संसार को अज्ञान से जलता हुआ देखता है। संसार में जागृत होकर चेष्टा करते हुए भी हृदय में स्वप्नवत् शून्यसा बना रहता है। वाणी इस अवस्था का वर्णन नहीं कर सकती पर कुछ लोग इसे ही ब्रह्मानन्द कहते हैं, कोई चेतन पद, कोई आत्मपद कोई साक्षी पद, कोई काल पद, कोई ईश्वर पद, और कोई प्रकृति पद इसे ही कहते हैं इत्यादि। किन्तु इस पदको सन्तजन ही जानते हैं। इस छठवीं भूमिका में प्राप्त होकर योगी, भीतर बाहर से प्रकाशितमणि के समान होजाता है। संसार में सोया हुआ तथा स्वरूप जागृत के समान हो जाता है और उसका जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है। वह अहङ्काररूपी घटाकाश से रहित हो महाकाश के समान एक रस शान्त हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का ग्यारहवां सर्ग समाप्त ॥११॥

बारहवाँ सर्ग

सातवीं-भूमिका

हे रामजी! सातवीं भूमिका में प्राप्त होकर योगी भूत-ज्ञान से भी रहित हो जाता है। उसको अपना भी ज्ञान नहीं रहता। वह देह रहते हुए भी विदेह के समान आचरण करता है। क्योंकि उसका देहाभास नष्ट हो जाता है और अपने एक आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। जैसे कि आकाश अपनी शून्यता में स्थित हो। वह बालक के समान खान पान, लेन देन इत्यादि चेष्टायें स्वभावतः करने लगता है। काठ की पुतली जैसे तागे से बँधी हुई चेष्टा करती हैं ऐसे वह प्रारब्ध वेग से बँधा हुआ चेष्टा करता है, पर उसकी कुछ इच्छा नहीं रहती। हे राघव! इस भूमिका में प्राप्त योगी को दूसरे नहीं समझ सकते। इसको वही समझ सकता है जो इस पद पर स्थित हो। वह जीवन्मुक्त तुरीयापद स्थित रहता है। पर इस तुरीयातीत पद सातवीं भूमिका में आकर योगी विदेह-

मुक्त* हो जाता है। हे राघव ! यह पद अनिर्वाच्य शुद्ध, निर्मल, अद्वैत, चेतनरूप, कालरहित अच्युत कहा जाता है। वस्त्र पर लिखी हुई मूर्ति के समान योगी 'अहं ब्रह्म' से भी रहित हो शान्त, स्थिर हो पूर्ण हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बारहवां सर्ग समाप्त ॥१२॥

तेरहवाँ सर्ग

संसरना भाव प्रतिपादन

वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी ! मैंने जो तुम्हें सात भूमिकाओं का उपदेश किया उसमें प्रथम भूमिका शुभेच्छा से ज्ञान की प्राप्ति होती है और दूसरी शुभ विचार से स्वरूप ज्ञान होता है। तीसरी भूमिका तक सांसारिक कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है। यदि इस अवस्था में योगी का शरीर छूट जाये तो वह पुनः जन्म लेकर आगे के लिए ज्ञान प्राप्त करता है और चतुर्थ भूमिका में यदि शरीर छूट जाये तो वह जन्म मरण से रहित हो जाता है उसे देवगति प्राप्त होती है। क्योंकि उसकी इच्छा भुने हुए बीज के समान रहती है जिससे वृक्ष फल फूल और शाखायें नहीं उत्पन्न हो सकतीं यदि सतपद है, वह संसार को स्वप्नवत् देखता है। पाँचवीं भूमिका सुषुप्ति के समान है, छठवीं साक्षीरूप तुरीयापद है और सातवीं अनिर्वाच्य तुरीयापद है। हे राघव ! यह सब जो मैंने वर्णन किया इसका एक मात्र प्रयोजन यह है कि तुम इच्छा और वासना को त्याग करो। यह संसार इच्छा और वासना के रहते हुए अज्ञान से भासता है और ज्ञान से लीन हो जाता है। हे राघव ! यह संसार आधिव्याधि रूप दो तरङ्गों वाली नदी के समान है जिसमें राग-द्वेष रूपी छोटे २ मच्छ और तृष्णारूपी बड़े मच्छ तैरते रहते हैं। जीवगण इस नदी में उत्पन्न होकर दुःख पाते रहते हैं। जैसे जल नीचे को

*विदेह मुक्त का यह अभिप्राय नहीं कि योगी देह रहित हो जाये, बल्कि देह रहते हुए भी उस का देहाभास नष्ट हो जाता है और जीवन्मुक्त की बढ़ी हुई अवस्था का ही नाम विदेहमुक्त है।

बहता है तैसे ही संसार मृत्यु के मुख में बहता है। उसी में जीव तृष्णा से फँसे हैं। उससे निकलने के लिये वैराग्य और अभ्यास रूपी हाथी के दो दाँत ही समर्थ होते हैं। हे राघव ! इस संसार-क्षेत्र में तृष्णारूपी सर्पिणी विषयरूपी फुफकार से विचाररूपी बेलिको जलाती रहती है जिससे जीवरूपी-किसान दुःख पाता रहता है। इसलिये तुम वैराग्यरूपी अग्नि से उन मूल तृष्णारूपी सर्पिणी को जला दो। तृष्णा रहते हुये सन्तों के वचन हृदय में ऐसे ही नहीं घुसते जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता। तृष्णा के पर्य्यायवाचक इतने नाम हैं—तृष्णा, अभिलाषा. इच्छा, फुरना और संसरना इत्यादि। इच्छा रूपी मेघ ज्ञान रूपी सूर्य को ढँक देता है। विचार रूपी पवन के चलने पर ही मेघाच्छादन नष्ट हो जाता है। इसलिये तुम ज्ञान-सूर्य को साक्षात् करने के लिये इच्छा और वासना का त्याग करो। यह जीव इच्छा रूपी तागे से बँधा हुआ आकाश का एक पक्षी है। इसलिये यह दीन हीन और लाचार हो उड़ने में असमर्थ रहता है। इस इच्छा का नाश संसार के विषयों से वैराग्य और आत्मा के अभ्यास से होता है। हे राघव ! इच्छा और वासना ये दो महामत्त हस्थी के पुत्र के समान हैं कि जिसके जीत लेने पर सम्पूर्ण विश्व की विजय हो जाती है।

रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! आपने जो हस्ती का उदाहरण दिया वह हस्ती कौन है, कहाँ रहती है ? उसके दाँत और पुत्र कौन हैं ? वह कैसे मरती और उत्पन्न होती है ?

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी ! इच्छा रूपी हथिनी है जो शरीररूपी वनके मनरूपी गुफा में रहती है और इन्द्रिय रूपी उसके बालक हैं। सङ्कल्प विकल्प रूपी उसके दाँत हैं, संसरना रूपी नदी है उसमें राग-द्वेष रूपी मच्छ रहते हैं। और जिसके सुकृत-दुष्कृत रूपी दो किनारे हैं और जिसमें कर्म रूपी लहरें लहराती हैं और जिसमें चिन्तारूपी ग्राह तैरता रहता है, जीवरूपी तृण जिसमें भटकता फिरता है और जिसमें तृष्णा रूपी अंकुर फुरना रूपी जल देने से

बढ़ जाता है। उसके बढ़ाव को स्वरूपाभ्यास से रोकदो। हे राघव! यह तृष्णा रूपी बड़ा मच्छ धीरज रूपी माँस का भक्षण करता रहता है। उसे वैराग्य रूपी कँडी और अभ्यास रूपी दाँतों से नष्ट करो। इच्छा और निरेच्छा ही बन्धन और मुक्ति है। इस प्रकार स्वरूपार्थ की भावना करने से आत्मपद प्राप्त होगा, वासनायें नष्ट हो जांयगी, शरीर से स्वाभाविक चेष्टा होगी और तब तुम्हारी विजय होगी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तेरहवां सर्ग समाप्त ॥१३॥

चौदहवां सर्ग

जीवेच्छा चिकित्सा

रामजी ने पूछा,—हे भगवन्! आपने बतलाया कि स्वरूपार्थ की भावना करने से वासना ही नष्ट होती है और जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, परन्तु चिरकाल की वासना शीघ्र कैसे नष्ट हो सकती है, और जब वासना ही नष्ट हो जायगी तो शरीर कैसे रहेगा। क्रिया कैसे होगी? वशिष्ठजी ने उत्तर दिया हे रघुपुङ्गव राम! मेरे वचन कानों के भूषण और धनयुक्त हैं जिसके सुनने मात्रसे दरिद्रता नष्ट हो जाती है, पर तुम्हारी दरिद्रता अभी नष्ट नहीं हुई, संशय के प्रश्न पर प्रश्न करते चले जाते हो। हे राघव! मैंने तुम्हें तीन शरीरों का उपदेश किया है और यह समझाया है कि इस जड़ शरीरसे दूसरा और तीसरा शरीर भिन्न है, वह तम से परे सूर्यरूप है। उसके ज्ञानसे फिर अभिलाषायें कहाँ? उसके जाने पर फिर अपूर्णता पाकर कमी नहीं रहती। तुम उस ज्ञान से आदित्यरूप हो तमरूप देह का विनाश कर डालोगे। जब तुम अपने को प्रकाशरूप देखोगे तो तुम्हारा यह तमरूप सासांरिक पञ्चभौतिक न भासेगा, परन्तु शरीरकी स्वाभाविक चेष्टा होती ही रहेगी। तब तो तुम अर्ध निद्रावालों की तरह ही चेष्टा करते रहोगे और जैसे बालक उन्मत्त के समान अपनी सर्व चेष्टाओं को करते हुए भी अभिमान नहीं रखता वैसे ही तुम इच्छा शक्ति प्राप्तकर सुख की चाहना कहो और दुःख का विच्छेदन करदो। अपने

इच्छा बल से प्रारब्ध पर विजय प्राप्त करके हृदय से संसार की सत्यता का लोप कर दो। जैसे कोई पुरुष किसी देशको जा रहा है वहां तक पहुँचने में जो समय लगेगा इच्छा बलसे थोड़े समय में पहुँच जायगा और थकावट भी नष्ट हो जायेगी, परन्तु वह सब कुछ शरीर से ही साध्य है। हे रामजी! जीव की स्वाभाविक इच्छा ही दुःखदायक है इसलिये स्वाभाविक इच्छा का नाश करो। उसी के नाश से तो ज्ञानवान उस तुरीया पदको प्राप्त करता है कि जो आत्मपद से भिन्न और मायाकी रचना है, वहाँ ही अहङ्कार उत्पन्न होता है और उसीसे असत् संसार का मिथ्या ज्ञान होता है। इसलिये तुम * जीव-कोटिकी मानुषिक इच्छा का त्याग करो तभी परम कल्याण व शान्तपद को प्राप्त कर सकोगे। जो निरीच्छित है, उसी को अद्वैत आनन्दरूप आत्मा का दर्शन होता है। मूर्खजन आत्मरूपी चिन्तामणि को त्यागकर अहंकाररूपी क्रोध को ग्रहण करते हैं। मन्त्रप्रेरित हो जैसे पुतली चेष्टा करती है, परन्तु उसे कुछ अपने करने का अभिमान नहीं, ऐसे ही प्रारब्ध-प्रेरित हो तुम पुतली की नाईं कर्म करते जावो, पर उसका अभिमान त्याग दो। तुम्हारा पुरुषार्थ यही होना चाहिये कि तृष्णा का नाश हो, कर्म फल की इच्छा न हो और स्वयं भी कर्म करने की इच्छा न हो क्योंकि कर्म का कराने वाला ईश्वर व प्रकृति है। जो योगी सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी उसका कर्ता ईश्वर और प्रकृति को समझता है, उसमें अहङ्कार नहीं होता। वह बन्धन में नहीं फँसता उसे पुण्य पाप नहीं होते। यदि तुम अपने स्वरूप में विश्व को नहीं देखते तो तुम्हें विश्व के पदार्थ विद्यमान रहते हुए भी नहीं दिखलाई पड़ेंगे। तुम जो कुछ भी देख रहे हो, यह तुम्हारा अनुभव है, रस्सी में सर्पका अनुभव करके तुम स्वयं मिथ्या भय को प्राप्त करते हो। इसलिये तुम मिथ्या भय मत करो और सम्पूर्ण क्रियायें करते

* जीव कोटि की इच्छा-जो जीव को बन्धन में फँसाने वाली है तुम उसका त्याग कर सकते हो, नकि ईश्वरीय इच्छा का। जो तुमसे नाना कर्म व चेष्टायें करा रही है वह ईश्वरीय इच्छा है और तुम उसका त्याग नहीं कर सकते। यदि उस इच्छा बल को तुम प्राप्त करलो तो तुम स्वयं बन्धन से मुक्त हो ईश्वर पद पर स्थित हो जावोगे।

हुए भी स्वाभाविक चेष्टा करो। शरत्काल की बेलि सूख जाने पर भी उसका आकार दिखलाई पड़ता है। ऐसे ही चित्त राग-द्वेष रहित होने पर भी दिखलाई पड़ा है। परन्तु वह यदि अहङ्कार रहित हो, शिवपद पर स्थित रहे तो उसे मेरा तेरा त्याग का भेद नष्ट होकर अद्वैत आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिये तुम अपनी इच्छा का अभिमान त्यागकर स्वाभाविक इच्छा बल को प्राप्त करो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौदहवां सर्ग समाप्त ॥१४॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

कर्म-बीज का नाश कैसे हो?

वशिष्ठजी ने कहा—हे राघव! जैसे बालक मिट्टी के खिलौने बनाकर हाथी घोड़ा राजा प्रजा इत्यादि नामों की कल्पना करता है, परन्तु वास्तव में सब मिट्टी ही है, ऐसे ही अद्वैत आत्मा से नाना नाम रूप की कल्पना हुई है पर वे सब उस अद्वैत आत्मा से भिन्न नहीं। भेद बुद्धि से ही यह मैं हूँ, यह वह है, यह मेरा है, वह उसका है इत्यादि अहङ्कार उत्पन्न हुए हैं। इसलिये हे राघव! इस अहङ्कार का त्याग करो। रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आपने कहा कि अहं मम की फुरना मिथ्या है इसका त्याग करो और तुम संसार से असङ्ग रहो। परन्तु असङ्ग भाव निष्कर्म या सुकर्म भी कैसे प्राप्त होता है, उसे स्पष्ट समझाइये। वशिष्ठजी ने कहा—तुम जो कुछ सुकर्म निष्कर्म के बारे में जानते हो उसे बतलाओ। कर्म क्या है? कैसे होता है? इसका नाश कैसे होता है? और नाश से लाभ क्या है? तुम जो कुछ इस सम्बन्ध में सुने व समझे हो उसे बतलाओ। रामजी ने कहा-मैंने जो समझा है वह मैं आप से कहता हूँ। जैसे वृक्ष का नाश फल फूल व शाखाओं के काटने से नहीं होता है; उसका मूल काटना चाहिये तब उसका नाश हो सकता है, इसी प्रकार इस संसार रूपी बन में वृक्षरूपी शरीर मिला है। इसका बीज कर्म है। हाथ पैर पत्ते है। रुधिर श्वास और वासना ही रस है। सुख

दुख फूल हैं। जो जाग्रत कर्म और वासना रूपी बसन्त ऋतु को पाकर प्रफुल्लित होता है, उसी को जब पापरूपी शरत्काल प्राप्त होता है तब वह सूख जाता है। ऐसा यह शरीररूपी वृक्ष है। तरुणाई अवस्था उसकी कली है जो क्षण-क्षण में सौन्दर्य को प्रदान करती है। जरा रूपी फूल इसको हँसते हैं और राग-द्वेष रूपी बन्दर प्रतिक्षण क्षोभते रहते हैं। यह वासना रूपी रससे बढ़कर जाग्रतरूपी वसन्त से क्या शोभायमान हो जाता है। पुत्र कलत्र आदिक तृण और घास हैं और इन्द्रियों के गढ़रूपी मुख हैं जिनसे यह शरीर चेष्टा करता है। इसकी पांचों ज्ञानेन्द्रियां पञ्च-स्तम्भ हैं जिस पर इच्छा रूपी वेली चढ़कर अपने २ को चाहती है। इन पाँचों स्तम्भों में सब से बड़ा स्तम्भ मन है जो सबको धारण किये रहता है और पञ्च प्राण इसके रस हैं जो प्रत्यक्षरूप से सबको ग्रहण करता है। जीव इन सब का बीज है, जो चैतन्योमुखत्व होने से चेतन कहा जाता है। जीव का बीज ब्रह्म है और ब्रह्म का बीज कोई नहीं। हे भगवान्! जब तक इस शरीर का चित्त से सम्बन्ध रहता है तभी तक संसार में जन्म-मरण होता है और जब चित्त से रहित होता है, तब वह सत्ता ब्रह्म, शिवतत्व और शान्त कथा अनन्त रूप कहा जाता है। अहंकार उत्थान होना ही इस कर्म रूपी बीज का कारण है। जब तक यह बीज नष्ट होवे तब तक आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती। इस बीज के इच्छा, तृष्णा, अज्ञान चित्त और ग्रहण त्याग की बुद्धि आदि कई संज्ञा हैं। किसको ग्रहण करें, किसको त्यागें? हे रामजी! अज्ञान के रहते इच्छाओं का नाश नहीं होता और अज्ञानी को भासता है कि यह इच्छा है, यह कर्म है। पर ज्ञानी को सब ब्रह्म ही भासता है और वह सुखी रहता है। किन्तु अज्ञानी को कर्म में भी कर्म भासता है, इसलिये वही बन्धनमें पड़ा रहता है। हे रामजी! क्रियाओं का त्याग नहीं होता। इन्द्रियाँ कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। इससे क्रियाओं का त्याग नहीं कहा जाता, वल्कि कर्म से कर्म बुद्धि को जानना ही त्याग है। जीवके लिये सबसे बड़ी उपाधि अहङ्कार है। अहङ्कार रहित

होकर कर्म करना, न करने के ही समान है। ऐसा जो निरहङ्कारी है, वह सब कुछ करते हुए भी मानों कुछ नहीं करता है। परन्तु जो अहंकार पूर्वक मौन होकर बैठ जाये और कहे कि मैं कुछ नहीं करता तो यह ठीक नहीं, बैठने से क्या होता है, वह बैठे २ ही सब कर्म करता हैं। अस्तु अहं का त्याग ही सर्व त्याग है, क्रिया के त्याग का नाम सर्व त्याग नहीं अहङ्कार को त्याग देवे तो शान्ति प्राप्त हो जावे। इसी का दूसरा नाम पुरुषप्रयत्न भी है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पन्द्रहवा सर्ग समाप्त ॥१५॥

सोलहवाँ सर्ग

विद्याधर वैराग्य वर्णन

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! शान्ति तो उसी को मिली है कि जिसके हृदय से मैं और मेरे का अभिमान हट गया है। परन्तु उसके हृदय से अभिमान नहीं गया और यह समझता है कि यह गृह मेरा है यह मेरा शरीर है यह मेरे बान्धव हैं आदि-आदि, तो उसको शान्ति नहीं मिलती, और जब तक शान्ति नहीं तब तक सुख कहाँ ? बिना शान्ति के सुख दुर्लभ है। हे रामजी ! पहले आप हुआ, तब जग हुआ। जब आप ही नहीं प्रकट हुआ तब जग कहाँ से उत्पन्न होगा, और यह उत्पन्न होना ही अनर्थ का कारण हुआ है। हे रामजी ! वही सर्वत्यागी है कि जिसने अहङ्कार का त्याग कर दिया है, और जिस अहं को नहीं त्यागा, जानो उसने कुछ नहीं त्याग किया। क्रिया का त्याग त्याग नहीं कहलाता। सबसे पहिले अहङ्कार को ही त्याग करना चाहिये। अहङ्कार के नष्ट हुए बिना तो क्रिया फिर भी उत्पन्न हो सकती हैं। इससे अहङ्कार को त्याग करना ही सर्व श्रेष्ठ हैं। तभी तुम सर्व त्यागी हो सकोगे। अहङ्कार त्याग देने पर संसार स्वप्न में भी न भासेगा। अहङ्कार ही संसार का बीज है। इसी से स्थावर जङ्गम जगत भासता हैं। अहङ्कार नष्ट हो जाये तो जगत भ्रम नष्ट हो जाता

है इससे अहंकार के नष्ट करने की ही भावना करो। देखो, जब कभी तुम्हें अहं का भाव उत्पन्न हो तब उसी क्षण यह निश्चय करलो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' बस, अहङ्कार का अन्त हो गया। फिर तुम्हारे पास आत्मपद ही शेष रहेगा। हे रामजी! यह अहंकार ही सब अनर्थों का मूल कारण है। देखो, जब यह शरीर शस्त्रों के प्रहार और कठिन से कठिन दुःखों को भी सहन कर लेता है तब इसको इस अहं के त्यागने में क्या कठिनाई होगी, कुछ नहीं। अतः इसे ही समूल नाश करने की चेष्टा करो। क्योंकि यही बीज है। जो इसको नष्ट कर देता है, उसके हृदय में संसार की सत्ता फिर नहीं उठती। यद्यपि वह गृहस्थ हो तौ भी उसको यह प्रपञ्च शून्य वन के ही समान भासित होता है। परन्तु यदि वह अहङ्कार सहित है और बन में जा बैठे तौ भी जानो कि वह जन समूह में ही बैठा है कारण कि उसका अज्ञान तो नष्ट नहीं हुआ है। हे रामजी! जिसने इन्द्रियों सहित अपने मन को वश नहीं किया है उसे मेरी कथा सुनने का कोई भी अधिकार नहीं है। वह निरा पशु है, और जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय पाली हो वह सच्चा पुरुष है किन्तु जो क्रोध, लोभ, मोह से सम्पन्न है वह पशु है। वह महा अन्धकूप को प्राप्त होता है। किन्तु जो पुरुष ज्ञानी है उसमें यदि कर्म की इच्छा भी प्रकट होती है तो भी वह उसकी अनिच्छा ही जानो उसका वह कर्म अकर्म के ही समान है। क्योंकि जैसे भूना हुआ बीज फिर नहीं उगता पर उसका आकार भासता है वैसे ही देखने में तो ज्ञानी चेष्टावान भले ही प्रतीत हो किन्तु उसके हृदय में कर्मों का स्पर्श लेशमात्र भी नहीं होता। यद्यपि प्रारब्ध बड़ा ही कठिन है और वह ज्ञानी के मिटाये भी नहीं मिटता तौ भी वह इस सिद्धान्त को जानते हुए भी कर्म करता है और निर्लेप रहता है। उसे प्रारब्ध के अंश की तनिक भी चिन्ता नहीं होती और वह जानता है कि ये कर्म शरीर के हैं, आत्मा के नहीं। वह बारम्बार शुभ कर्मों को करके प्रारब्ध वेग को उतारता जाता है। फिर तो इस प्रकार के उतारने से वह आवागमन

से मुक्त हो जाता है और उसे अहंकार का पद-प्रहार नहीं सहना पड़ता। इससे अहंकार को ही नष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिये। अहङ्कार नष्ट हो जाने से वह निर्वाण पदको प्राप्त हो जाता है कि जिसमें पहुँचकर निर्वाण भी निर्वाण होजाता है। हे रामजी! जैसे वर्षा-काल में ही बादल होते हैं, शरत्काल में नहीं उसी प्रकार जब तक अज्ञानरूपी वर्षाकाल है तभी तक अहङ्काररूपी वर्षा है और जब विचाररूपी शरत्काल आवेगा तब अहङ्काररूपी बादलों का समूल नाश हो जावेगा और तब आत्मरूपी आकाश निर्मल भासित होगा। हे रामजी! अहङ्कार रूपी मैल से ही यह जीव ढाँपा हुआ है, और आत्मा नहीं भासता। अहंकाररूपी आवरण हट जावे तो आत्मा ज्यों का त्यों भासित होगा। तब उसे यह जो कुछ है सब आत्मा ही जान पड़ेगा। तब वह पाषाण शिला के समान हो जाता है, कारण कि उसका अहंकार नष्ट हुआ रहता है। किन्तु जिसने क्रिया का त्याग कर दिया है और उसीमें वह अपने को सुखी देखता है, वह महा मूर्ख है। क्योंकि क्रिया को त्याग देने से दुःखों का नाश नहीं होता अपितु दुःख और भी बढ़ जाते हैं। परन्तु आत्मवान होना भी कोई साधारण चर्या नहीं है—जब सम्पूर्ण संसार की क्रिया के बीजरूप अहंकार को नष्ट कर देवे जब उस अक्रिय आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। जैसे तांबा अपना ताम्रभाव त्यागकर सुवर्ण हो जाता है, वैसे ही जीव अपना जीवत्व भाव त्याग देता है और तब आत्मा हो जाता है। जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशता है वैसे ही अहङ्काररूपी वायु से रहित जीव अपने स्वभाव में होकर आनन्द पद को प्राप्त होता है। तब वह सबका अपना आप होजाता है तब वह समस्त देश, काल और वस्तु को एक अपने आप में ही देखता है। पर जब तक अहङ्कार का नाश नहीं हुआ तब तक मेरे ये वचन हृदय में स्थित न होंगे। उसके लिये ब्रह्म का पाना वैसे ही कठिन और असम्भव है जैसे बालू से तेल निकालना असम्भव है। क्योंकि जब तक हृदय में अहंकार विद्यमान रहता है तब तक उसको

उपदेश नहीं लगता। जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता वैसे ही जिसको अहंकार का स्फुरण होता है उसके हृदय में मेरे वचन नहीं लगते किन्तु जो शुद्ध हृदय वाला है उसको मेरे थोड़े वचन भी बहुत लग जाते हैं। हे रामजी! इस पर एक प्राचीन इतिहास है, सुनो। मैं एक समय में हिमालय पर्वत पर गया तो वहाँ भुशुण्डि से समागम हुआ। तब मैंने भुशुण्डि से पूछा कि हे भुशुण्डिजी! भला ऐसा भी कोई पुरुष है कि जिसको आयुर्बल तो बहुत लम्बी हो परन्तु वह ज्ञान से शून्य होवे? यदि ऐसे पुरुषको तुमने देखा होतो मुझे बतलाओ। इस पर भुशुण्डि ने कहा—हाँ, भगवन्! एक विद्याधर की बहुत बड़ी आयु थी और उसने विद्याध्ययन भी खूब किया था। उसने भोग भी बहुत भोगे थे और वैसा ही वह सत्कर्मी भी था। उसने सम्पूर्ण चार युग तक अपना जप तप और नियम आदि व्रतों का पालन किया था। कितने ही काल तक वह भोगोंसे प्रेम रखकर और उसमें संलग्न रहकर पुनः वैराग्यवान हुआ था। किन्तु समय आया कि वह सर्व से विरागी होकर लोकालोक पर्वतों पर जो विचरा तो सोचने लगा कि यह संसार असार रूप है और मैं किस प्रकार इससे छुटकारा पाऊँगा। क्योंकि यह तो बारम्बार के जन्म और मरण का स्थान है और इसमें कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है, फिर मैं इसमें किसका आश्रय करूँ। ऐसा विचार कर वह दुखी आत्मा पुरुष सुमेरु पर्वत पर मेरे पास आया। दण्डवत् किया। तब मैंने उसका बहुत कुछ सत्कार करके बैठाया और कुशल समाचार पूछा। तब उसने हाथ जोड़कर मुझसे कहा—हे भगवन्! इतने अधिक काल तक मैंने विषयों का भोग किया किन्तु मुझे शान्ति न प्राप्त हुई। सो, शान्ति कैसे प्राप्त होगी। आप मुझ पर कृपा कर वह उपाय बतलाइये। मैंने बहुत २ सुख भोगे, बहुत २ कष्ट उठाया। कितने ही स्थानों में रहा और कितने ही प्रकार से चित्त को शान्त करना चाहा परन्तु यह चित्त शान्त न हुआ और इस प्रकार मुझे कभी शान्ति न प्राप्ति हुई। मैंने कितने ही तप किये, दान किये, यज्ञ किये। व्रत भी कितने ही कर

डाले। मैंने हजारों वर्ष तक तोऐसे२ सुन्दर रूप देखे कि जिसकी सुन्दरता कही नहीं जाती किन्तु मेरे ये नेत्र तब भी तृप्त नहीं हुये। इस प्रकार इस रसनासे भी मैंने कितने ही स्वाद लिये पर यह शान्त न हुई, और तृष्णा बढ़ती ही गई। कानोंसे कितने ही प्रकार के शब्द और राग-रागिनी सुने त्वचा से भी कितने ही स्पर्श किये पर तब भी शान्ति न हुई। जिधर ही जाता हूँ उधर ही दुःख होता है। विषयों को सुख रूप जानकर जितनाही उन्हें ग्रहण करता हूं उतना ही बड़े दुःखोंको प्राप्त होता हूँ। कुछ भी करता हूँ, इन्द्रियाँ शान्त नहीं होतीं। जैसे अग्निको ज्यों-ज्यों घृत मिलता है वह त्यों-त्यों और भी बढ़ती है वैसे ही भोगों को पाकर तृष्णा और भी बढ़ती जाती और हृदय को जलाती जाती है। अतः अब मेरे विचार में तो यही आता है कि जो भागों के लिये यत्न करता है और यह सोचता है कि मैं इनसे सुखी होऊँगा, वह महान् मूर्ख है,उसको धिक्कार है और वह भोगों से जो ऐसी आशा करता है तो उसकी वह आशा वैसे ही मूर्खतापूर्ण है कि जैसे कोई समुद्र में तरङ्गों का आश्रय करे। क्योंकि मेरे विचार से ये भोग तो तभी तक सुख रूप भासते हैं कि जब तक इन्द्रियों और बिषयों का संयोग है। जब विषयों का वियोग होता है, तब ये इन्द्रियाँ महा दुःख को प्राप्त होती हैं क्योंकि हृदय में तृष्णा तो बनी ही रहती है और भोग चले जाते हैं। हे भगवन्! इसी प्रकार का मेरा दुःख है। इन्द्रियां कोमल भले ही हों पर मैं कहूँगा कि ये सुमेरु पर्वत के समान ही कठोर हैं। इनकी कोमलता को ऐसे भले ही कोई कुछ अनुमान करे पर मैं तो यही कहूँगा कि इनकी कोमलता वैसे ही है कि जैसे खड्ग की धार कोमल होती है और सर्पिणी जैसे कोमल तो होती है पर स्पर्श करते ही प्राण ले लेती है। मैंने एक से एक बढ़कर दरिद्र और भिखमङ्गों को देखा है कि जो समस्त दिन तो मांगते ही रहते हैं किन्तु उनका पेट नहीं भरता और कितने ही ऐसे ही महान् सुख सम्पदा वालों को भी देखा है कि जिनकी उपमा मुझसे देते नहीं बनती किन्तु जलकर

दोनों ही भस्म हो जाते हैं और उनकी राख में भेद नहीं होता, दोनों की भस्म समान ही होती है किन्तु दोनों ही अज्ञानी हैं और उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। कारण कि वे अज्ञानी हैं और इन्द्रियोंके बंधन में आकर वे बारम्बार जन्मते और मरते हैं। उन्हें शान्ति कभी नहीं मिलती। इस पर यदि आप यह कहें कि तुमतो सुखी जान पड़ते हो सो हे भगवन्! मेरा यह दुःखरूप ऊपरसे देखने में तो सचमुच कुछ नहीं है पर भीतर ही भीतर ये इन्द्रियाँ मुझे भस्म किये देती हैं। हे भगवन्! मैं ब्रह्माके भी लोकमें रहाहूँ और वहाँ मैंने बहुत बड़े-बड़े भोग और सुख देखे हैं, परन्तु मैं वहाँ भी दुखी ही रहाहूँ। इससे मुझे यह जान पड़ता है कि यह इन्द्रियाँ गुणरूपी वृक्ष के लिये अग्नि के ही समान हैं। इनके भावमें शुभ गुणों का अभाव हो जाता है और विचार, धैर्य, सन्तोष और शान्ति आदिक सभी गुणरूपी वृक्षों का समूल ही विनाश हो जाता है। हा, इन इन्द्रियों ने मुझे बड़ा दुःख दिया है। इसके हाथ पकड़कर मैं वैसे ही मर्दन कर दिया गया हूँ कि जैसे मृग का बच्चा सिंह के हाथ पकड़कर मर्दन कर दिया जाता है। ओह! इनका दमन करना बड़ा ही कठिन है और जिस पुरुष ने इन पर विजय पा ली हो वह निश्चय ही देवताओं से भी पूजने योग्य है। परन्तु जिससे मन सहित षटे-न्द्रियों को अपने वश में नहीं कर लिया वह दीन है, तृण की नाईं तुच्छ है। उसको मेरा बारम्बार धिक्कार है। चाहे कोई कितना भी बड़ा नामधारी महन्त ही क्यों न होवे, यदि उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं तो वह बहुत बड़ा दुर्जन है। हा, इन इन्द्रियों ने मुझे बहुत दुःख दिया है। जैसे उजाड़ में किसी धनी को चोर लूट लेते हों वैसे ही इन इन्द्रियों ने अपना डङ्का बजाकर मुझे लूट लिया है। मैं ही क्या, आज इनसे सारा विश्व मोहित हो रहा है कोई विरला ही ऐसा होगा कि जिस पर इनका प्रहार न पड़ा हो। भला ये कितनी दुष्ट हैं कि प्रत्येक को अपनी ही अपनी पड़ी रहती है और अपना स्वाद किसी एक दूसरे को नहीं देतीं। इससे ये बड़ी ही तुच्छ और

जड़ रूप ही हैं। भला बिजली की चमक तो फिर भी कुछ स्थायी होती है किन्तु इनका उदय और अस्त होना उतना भी स्थिर नहीं रहता। इनको सुख क्षण मात्र दिखाई दिये नहीं कि फिर अस्त हो जाते हैं। इन पर विजय पाना बड़ा ही कठिन है। जिसने इनको जीत लिया मानों समस्त त्रिलोकी उसके वश में आगई। परन्तु जिसने इनको नहीं जीता, मानों वह महादरिद्र है और जन्म जन्मान्तर ही दुःख पाता रहता है। मैंने बहुत २ चेष्टा करके देख लिया है कि ये इन्द्रियाँ न तो तप से वश होती हैं, न यह जप से और न व्रत से, इन पर किसी औषधि का भी प्रयोग नहीं चलता और न इनको वश करने की और कोई युक्ति ही है। यह वश होती हैं तो केवल सत्सङ्ग से। अस्तु! यह जानकर मैं आपकी शरण आया हूँ, कृपाकर मुझे इनकी पाशता और आपदा से बचाइये, मैं डूब रहा हूँ। हे भगवन् आपका बहुत माहात्म्य है, सन्तजन भी आपको शिर नवाते हैं, मैं इस संसार सागर में दीन होकर डूब रहा हूँ, मुझे इससे पार कीजिए।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सोलहवां सर्ग समाप्त ॥१६॥

सत्रहवाँ सर्ग

जगताडम्बरोत्पत्ति

हे रामजी! जब भुशुण्डि से विद्याधर ने ऐसे कहा तब भुशुण्डि उससे बोले—हे विद्याधर! तू धन्य है। निश्चय ही अब तू अपने स्वरूप में जागा है। अतः अब मैं तुझे जो उपदेश करता हूँ उसे सत्य जानकर अङ्गीकार कर और उसमें तनिक भी संशय न करना। आशा है, मेरे इन वचनों से तुम्हारा परम उपकार हो जावेगा। हे अङ्ग! निश्चय ही तुम्हारा अनुभव सत्य है। इन्द्रियों के सुख आगमापायी हैं। इनसे सुख तो कभी मिलता ही नहीं, दुःख ही दुःख प्राप्त होता है। परन्तु इससे परे परम सुख भी और युक्ति करने से प्राप्त भी होता है। सो देखो, इसके लिये यह बहुत सुगम उपाय है कि जो कुछ तुम्हें सुखरूप जान पड़े उसे त्याग दो, तभी

यह परमसुख प्राप्त होगा। हे विद्याधर गन्धर्व! किसी भी पुरुषमें अहङ्कार का होना ही परम दुखों का मूल है। अहंकार नाश होवे तो शान्ति भी प्राप्त हो जावे। संसार का बीज अहङ्कार ही है। और वह संसार मृगतृष्णा के जलवत् है। जब अहङ्कार लय हो जावे तब संसार भी लय हो जावेगा पर इसकी दृष्टि कैसे प्राप्तहोगी? सुनो महाविद्या शास्त्रके सुनने और आत्म विचार करने से ही यह ज्ञान अथवा यह दृष्टि प्राप्त होगी, दूसरी कोई युक्ति नहीं है जब ज्ञानरूपी अग्नि से इसको जलाओगे तभी यह नष्ट होवेगा। यद्यपि यह आगे भी नहीं था और अनहोता ही उदय हुआ है और मनके सङ्कल्प के समान ही स्थित है। तथापि जैसे पत्थर में शिल्पी कल्पना कर लेता है कि इसमें इतनी पुतलियाँ निकलेंगी, वैसे ही मनरूपी शिल्पी ने विश्वरूपी पुतलियों की कल्पना करली है। अतः जब मनका नाश करोगे तब संसार भ्रम मिट जावेगा और इस प्रकार आत्मविचार करने के कारण परम पद अपना आप जो परमात्म-रूप ही है प्रत्यक्ष भासने लगेगा। इससे अहङ्कार को त्यागकर तुम अपने आप में स्थित हो रहो। यह संसार रूपी बीज से ही उत्पन्न हुआ है। विचार करने से अहं त्वं कुछ नहीं हैं। हे गन्धर्व! यही उत्तम ज्ञान है कि अहंता को नाश करो और यह भी देखो कि जो गुरु के वचनों को सुनकर पुरुषार्थ करता है वह परमपद को प्राप्त होता है और उसकी जय होती है। हे विद्याधर! यह संसार रूपी एक आडम्बर है और सुमेरु जैसे पर्वत उसके स्तम्भ है। बन, दिशायें, पहाड़, वृक्ष, वैताल, कन्दरायें और आकाश, पाताल आदिक ब्रह्माण्ड उसके ऊपर स्थित हैं। दिन, रात्रि और समस्त भूत-प्राणी इसके चौपड़खाने हैं जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार सुख दुःख का भागी होता है। ऐसा सारा प्रपञ्च जो क्रिया संयुक्त दिखलाई पड़ता है सो भ्रम पूर्ण है, इससे मिथ्या है। जैसे सङ्कल्प वश स्वप्न-सृष्टि भासती है वैसे ही यह सृष्टि भी भ्रम से ही भासती है और अज्ञान से रची हुई है। तब जैसे अज्ञान से ही इसकी रचना और उत्पत्ति हुई है, वैसे ही

ज्ञान से ही यह नष्ट हो जायगी—यह निर्विवाद सिद्ध है। हे विद्याधर! यह जो त्रिगुणात्मक प्रपञ्च गुणों से रचा हुआ है वह अपने स्वरूप के प्रमाद से ही स्थित हुआ है, आत्मज्ञान होने से शून्य हो जावेगा। तब, जब प्रपञ्च ही शून्य हो जावेगा तब आत्मा और अनात्मा का कहना ही क्या है। फिर तो जो शेष रहेगा वह केवल शुद्ध परम तत्व ही है और तब वही तेरा अपना होगा। बस, तू उसी में स्थित हो रह और अबसे दृश्यों का सर्वथा ही त्याग करदे और यह निश्चय करके जान कि 'न मैं हूँ, न जगत है'। जब तू ऐसा हो जायगा, तब निश्चय ही तेरी विजय है। क्योंकि आत्मपद सबसे उत्तम है और जब तू उसमें स्थित हो जायगा तब फिर कहना ही क्या है तब तो तू सबसे उत्तम बन जायगा और इस प्रकार तेरी जय होगी। अतः तू आत्मपद में स्थित हो जा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सत्रहवा सर्ग समाप्त ॥१७॥

अठारहवाँ सर्ग

चित्त-चमत्कार

भुशुण्डि बोले—हे विद्याधर! जगत का यह सारा प्रपञ्च आत्मा का ही चमत्कार है। वह अपना शुद्ध और चेतन है। वही सर्व का अधिष्ठान और सत्तामात्र तेरा अपना आप है। वह सर्व शब्दों से रहित अहं, त्वं से आत्म तत्व मात्र है किन्तु वही सत्य-स्वरूप होकर असत्य की नाईं स्थित है। परन्तु मुझे इससे क्या, तू इस जड़ और चेतन से अबोधमात्र हो रह। ऐसा हो जाने से तू शान्त और चिद्घन हो जायगा। हे विद्याधर! यह जो जड़ और चेतन है इसके आगे एक और परमार्थ चेतन होता है। सो इस परमार्थ चेतन और उस जड़ चेतन में बहुत कुछ अन्तर होता है और वह उससे अदृश्य भी है उसके भीतर भी है। वही इस जड़ और चेतन का कारण रूप है। उत्पत्ति भी उसी से होती है और सर्व का नाश भी वही करता है। हे गन्धर्व! जब ऐसा जानोगे कि मैं

जड़ भी नहीं हूं और चेतन भी नहीं हूँ और तब जो शेष रहेगा वही स्वरूप है और तब वही तुझे ब्रह्मरूप भासेगा। इस प्रकार इस समस्त विश्व के आत्मा के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे सूर्य की किरणों का चमत्कार जलाभास हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चेतन का चमत्कार विश्व हो जाता है। परन्तु उसमें आत्मा ने कुछ नहीं किया। केवल इस मन रूपी चितेरे ने ही विश्वरूपी पुतलियों की कल्पना करली है परन्तु जैसे सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं हैं वैसे ही यह जगत आत्मा से भिन्न नहीं है। जगत, ब्रह्म, आत्मा, देश, काल सब उसी तत्व की संज्ञा हैं। वही शुद्ध चेतन आकाश है। तू उसी तत्व में स्थित हो रह।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अट्ठारहवां सर्ग समाप्त ॥१८॥

उन्नीसवाँ सर्ग

जगत्-सत्ता-विवेचन

हे विद्याधर! यह जो स्थावर जङ्गम जगत भासता है, सब आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। सब आत्मा में स्थित है और वह आत्मा ही सारे विश्व में स्थित है। परन्तु वह आत्मा किसी का कारण नहीं है। वह अद्वैत है, उसमें एक और दो की कोई कल्पना भी नहीं होती। यदि तुझे उस पदके पाने की इच्छा हो तो तू ऐसे निश्चय कर कि न मैं हूँ और न यह जगत् है। जब तू ऐसा जानेगा तब तू आत्मपद को प्राप्त होवेगा। वह आत्मा देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित और वही सबमें परमात्मतत्व से स्थित है। परन्तु जगत् को सङ्कल्प ने ही रचा है, आत्मा ने नहीं। जैसे वायु से अग्नि उत्पन्न होता है और वायु से ही दीपक निर्वाण होता है वैसेही जब संकल्प बहिर्मुख होकर फुरता है तब संसार उदय होकर भासता है। और जब वही सङ्कल्प अंतर्मुख होता है तब आत्मपद प्राप्त होता है। इससे संसार की नाना प्रकार की संज्ञायें फुरने से ही होती हैं और स्वरूप में न कुछ सत्य है, न

असत्य है, न स्वतः है, न अन्य है, सब कुछ सङ्कल्प मात्र ही है। तब इसमें अहं, त्वं कहाँ से आया। हे विद्याधर! यह अहं, त्वं कुछ नहीं है, बालक के यज्ञवत भ्रममात्र है। विचार करने से लीन हो जाता है। ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं है। सब कुछ सङ्कल्प के फुरने से ही नाना प्रकार का जगत भान होता है जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और वह जलसे भिन्न कुछ दूसरी नहीं हैं और वायुके संयोग से ही आकारवत भासती हैं, वैसे ही आत्मा में जगत कुछ भिन्न नहीं है केवल सङ्कल्प के फुरने से ही नाना प्रकार का जगत भासता है। हे विद्याधर! सङ्कल्प सहित यह चित्त जैसी भावना करता है वैसा ही रूप देखता है। परन्तु वह स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है, भावना वश और का और देखता है। जैसे मणि के निकट जो रङ्ग रहता है मणि उसे ग्रहण कर लेती है किन्तु मणि में वैसा कोई रूप है नहीं, वह शुद्ध ज्यों की त्यों है, वैसे ही चित्त शक्ति में भी कुछ हुआ नहीं, वह जैसा का तैसा ही है किन्तु हुये की नाईं स्थित है। इससे तुम अपने स्वरूप की ही भावना करो और जड़ चैतन्य को त्यागकर शुद्ध चैतन्य में स्थित हो रहो। जब ऐसा जानकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे तब तुम्हें उत्थान में भी अपना ही स्वरूप भासित होगा। जैसे स्थिर समुद्र में तरंगें उठती हैं सो बिना जलके तो नहीं उठतीं वैसे ही बिना कारण रूप ब्रह्म के जगत नहीं होता। परन्तु इससे यह नहीं जानना चाहिये कि उसमें ब्रह्मसत्ता ही कर्त्तारूप है। नहीं ब्रह्मसत्ता अकर्त्तारूप, और अच्युत है। इसीसे कहा है कि वह अकर्त्ता है और जगत अकारण है। तब जब कि जगत अकारणरूप है तब न यह उपजता है, न नाश होता है और केवल मरुभूमि में जल के समान ही है। इसीसे कहने में आता है कि यह जगत कुछ वस्तु नहीं केवल अज अच्युत और शान्तरूप आत्मतत्व ही अखंडित और स्थित है और पाषाण शिला के कोषवत् और चेतना रहित चिन्मात्र है। तब, भला जिस मूर्ख के हृदय में ऐसे चिन्मात्र की भावना न होवे उससे हमारा क्या प्रयोजन है? हे साधो! परमार्थ सत्ता ने कुछ नहीं

बनाया है-यह जितना भी प्रपञ्च है सबको मनने ही उत्पन्न किया है। जहां मन है, वहाँ ही अनेक प्रकार का जगत भासित हो रहा है। तृण से लेकर सुमेरु पर्यन्त सब कुछ जगत ही है। परन्तु विचार करके देखने से ज्ञात होता है कि सब कुछ वही है और दूसरा कुछ नहीं है। जैसे सुवर्ण के जानने से भूषण भी सुवर्ण ही प्रतीत होता है, वैसे ही जगत का सारा प्रपञ्च विचार पूर्वक देखने से सत्ता समान एक अद्वैत पद ही भासेगा, उसकी कुछ भिन्न संज्ञा नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥१९॥

—o::❀::o—

बीसवां सर्ग

भूतार्थ भावरूप योगोपदेश वर्णन

हे विद्याधर ! इस प्रकार जब तुम आत्मपद प्राप्त कर लोगे तब तुम्हारे लिये सुख दुःख दोनों ही समान हैं। तब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि यदि तुम पर शस्त्रों का भी प्रहार क्यों न होवे और अप्सरायें भी तुम्हारे कण्ठसे क्यों न आलगें दोनों में ही तुम अपने स्वभावमें स्थित रहोगे और कोई भी तुम्हारे लिये दुःखमय और शोकमय न होवेगा। इससे आत्म को पानेका पूर्णयत्न करना चाहिये और इस यत्न में तब तक लगा रहना चाहिये कि जब तक संसारसे सुषुप्तिकी नाईं न हो जावे। हे विद्याधर ! अभ्याससे ही आत्मपद प्राप्त होवेगा और जब यह पद प्राप्त होजाता है तब तुम्हारे इस पांच भौतिक शरीर को किसी प्रकार का ज्वर स्पर्श नहीं करता। तब वह केवल शान्तपद में स्थित होजाता है और जैसे कमलपत्र पर जल नहीं ठहरता वैसे ही उसे संसार का रागद्वेष एवं सुख दुःख कुछ स्पर्श नहीं करता। यह सुख दुःख तो तभी तक प्रतीत होता है कि जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। आत्म-साक्षात्कार हुआ नहीं कि सारे प्रपञ्च आत्म स्वरूप ही हो जाते हैं। आत्मा में जन्म मरण कुछ नहीं है। वह गुण के सङ्कल्प के सत्य मिलने से जन्म लेता और मरता जान पड़ता है

और अन्तःकरण, देह इन्द्रियां पृथक २ भासती हैं। हे विद्याधर! यह जगत भ्रम से भासता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इस जगत को गोपद की नाईं अपने पुरुषार्थ से लाँघ जाते हैं और जो अज्ञानी हैं उन्हें थोड़ा भी बहुत हो जाता है। इससे आत्मपदको ही पाने का प्रयत्न करो कि जिसके पा जाने से यह संसार समुद्र तुच्छ हो जावे। आत्मपद पर सबसे परे है। उसके जानने से अंतःकरण शीतल होजाता है, और समस्त ताप नष्ट हो जाते हैं। उसका त्याग करना बड़ी मूर्खता है क्योंकि यह सारे पदार्थ ब्रह्मका ही स्वरूप हैं। तब जब कि सब कुछ ब्रह्म स्वरूप ही है, तो मन अहंकार, कलंक आदिक भी वही है, न किसी को कुछ दुःख है न किसी को कुछ सुख। जब आत्मपद को जानलोगे तब सब कुछ ब्रह्म ही भासेगा। इससे निःसंकल्प होकर यह निश्चय कर लो कि न मैं हूँ न यह जगत है। इस निश्चय से तुम्हारे सभी संशयों का नाश हो जायगा और तुम आनन्दवान हो जाओगे तब तुम्हें बुद्धि, बोध, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, देश और कीर्ति आदिक जो कुछ शुभाशुभ अवस्थायें हैं सब आत्मस्वरूप ही भासेंगी और इस प्रकार सब में आत्म-बुद्धि ही विद्यमान रहेगी। और तब यह जितने कुछ भावरूप पदार्थ हैं सब का अभाव हो जायेगा। हे विद्याधर! इस नियम से जिसने आत्मपद पाने का यत्न किया है, और जो करेगा वही पावेगा किन्तु जो यह कहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँगा और भगवान मुझ पर दया करेंगे तो वह कदापि मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि बिना पुरुष प्रयत्न के भला कोई मुक्त होता है? कभी नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बीसवां सर्ग समाप्त ॥२०॥

इक्कीसवाँ सर्ग

जगत लय कैसे होगा?

हे विद्याधर! आत्मा में जो अहंकार का स्फुरण हुआ है वह मिथ्या है। परमार्थतत्व बड़ा ही सूक्ष्म और बड़ा ही स्थूल है। वह राग-द्वेष से रहित, चेतन, केवल और शान्तरूप

है। उसमें गुणों और तत्वों का कोई भी विभाग नहीं है। वह क्षोभ से सर्वथा ही रहित है। हे साधो! यह जितने भी दृश्य-पदार्थ भास रहे हैं, सो कुछ हुये नहीं। इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अपना अनुभव-रूपी चन्द्रमा ही, अमृत की वर्षा करने वाला है। अतः तू इस आत्मरूप अमृत ही की भावना कर। तभी जन्म मरण से, बन्धन से मुक्त होवेगा। उस चिदानन्द में अहं का कोई भी उत्थान नहीं होता। जैसे आकाश अपने आप से ही स्थित है, वैसे ही यह आत्म-सत्ता अपने आप में ही स्थित है और इसमें अहं त्वं की कोई भी कल्पना नहीं है। किन्तु जब उसमें अहं का उत्थान होता है तब जगत फैल जाता है। जसे फुरने से रहित वायु आकाश रूप हो जाता है वैसे ही संवित-सत्ता फुरने से रहित होने पर आत्मरूप हो जाती है। तब जगत-भ्रम मिट जाता है, और वास्तव में ऐसा ही है भी। ज्ञानीजनों को आत्मा का ही भाव होता है। इस चित्त में रागरूपी मलिनता ने आकर वास कर लिया है, जब वैराग्यरूपी झाड़न से इसे झाड़ा जाता है तब चित्त निर्मल होजाता है। हे विद्याधर! देवता दैत्य, मनुष्य और नाग आदिक सबको इस चित्तरूपी चितेरे ने ही कल्पित किया है और इसी प्रकार यह सारा जगत इस चित्तरूपी चितेरे की ही कल्पना है। स्वरूप के विचार से निवृत्त होजाता है। स्नेहरूपी संकल्प ने ही इस भावाभावरूपी जगत को फैला रखा है, अतः इसको पुरुषार्थ से नष्ट करो। इसके लिये यह नियम करो कि अपने दैनिक जीवन को तीन भागों में बांट दो। एक भाग में सत्सङ्ग और दूसरी में कथा श्रवण करो और तीसरे भागमें सच्छास्त्र का विचार करो तब जो चौथा भाग होवे उसमें अपने आपही आत्मज्ञान का अभ्यास करो। इस युक्ति से विद्या नष्ट होजावेगी और तुम्हें अशब्द पद प्राप्त होजावेगा।

हे वशिष्ठजी! मेरे ऐसा कहने पर उस विद्याधर ने पूछा—हे मुनीश्वर! अशब्द पद क्या है? तब मैंने उससे कहा—हे विद्याधर! संसार सागर पार करने के लिये ज्ञानियों का सङ्ग करना, उनकी

भली प्रकार से सेवा टहल करना चाहिये, इससे अविद्या का आधा प्रभाव नष्ट होजाता है। फिर तीसरा भाग मनन करके और चौथे भाग को अभ्यास करके नष्ट करना चाहिये। यदि यह उपाय न कर सके तो यह करना चाहिये कि जिसमें चित अभिलाषा करके आसक्त होवे उसीको त्याग दो। इस प्रकार करने से अविद्या का एक भाग नष्ट हो जायगा। तब तीन भाग जो बचते हैं उन्हें शास्त्र विचार और अपने यत्न से क्रमशः धीरे २ नष्ट कर देवे। बस, इस प्रकार से भी अविद्या नष्ट हो जावेगी। हां एक यत्न और है। यदि अपना दृढ़ यत्न होवे तो सत्सङ्ग और सच्छास्त्र विचार द्वारा एक ही बार में अविद्या नष्ट हो जावेगी। तब, जब अविद्या नष्ट हो जावेगी तब जो बचेगा वही अजर, अनन्त और एक रूप है। अस्तु, संकल्प ने ही समस्त पदार्थों को उत्पन्न किया है, संकल्प रहित होने से सब आपही लीन हो जाते हैं। हे विद्याधर! इस जगत को कौन कहे, मन के स्फुरण से तीनों ही जगत लीन हो जाते हैं क्योंकि तीनों को इस मनने ही रचा है। तब जैसे मनने ही इसे प्रकट किया है तो मन ही इसे कष्ट भी कर सकता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का इक्कीसवां सर्ग समाप्त ॥२१॥

—०::❀::०—

बाईसवां सर्ग

त्रसरेणु जगत वर्णन

हे विद्याधर! यह निश्चित सिद्धान्त जानो कि अपने में अहं के उत्थान ने ही सृष्टि को उत्पन्न किया है। अस्तु! जब अहं ही इसका कर्ता—धर्ता है, तब जब उसी का दमन (नाश) होगा तब विश्व का अभाव हो जायेगा। इस पर एक आख्यान कहता हूँ, सुनो। पहले यह समझो कि ब्रह्मरूपी एक बन है जिसमें एक कल्पवृक्ष है और उसकी अनेक शाखायें फैली हुई हैं। उसकी एक शाखा में पुरैन रूपी फल लगा हुआ है। उस फल में देवता, दैत्य, मनुष्य और नाग आदिक, सभी मच्छर के समान

विद्यमान है, वह वासना रूपी रससे परिपूर्ण है और ऐसा जान पड़ता है कि मानो माँस, मज्जा का पहाड़ ही है। उसकी रचना बड़ी ही सुन्दर है, उसमें पञ्चभूतों का जो मुख है वही उस पहाड़ से निकलने का सुन्दर द्वार है। उसीमें त्रिलोकी का ईश्वर एक इन्द्र हुआ कि जिसका अज्ञान उसके गुरु के ही उपदेश से दूर हुआ। तब कुछ काल पश्चात् उस इन्द्र और दैत्यों में घोर युद्ध हुआ जिसमें इन्द्र पराजित हुआ। तब वह भागकर दशों दिशाओं में भ्रमने लगा। परन्तु दैत्य भी उसके पीछे ऐसे लगे हुए थे कि वह जिधर ही जाता वे उसे उधर ही जा घेरते थे। लाख लुकने छिपने पर भी जब उसे कहीं शांति न मिली तब वह अन्तवाहक रूप से सूर्य की त्रसरेणु में प्रवेश कर गया। वहां पहुँचकर उसे युद्ध का स्मरण जाता रहा जिससे वह एक मन्दिर में बैठकर अपने आपको देखने लगा। उस अवस्था में उसने पहले यह देखा कि एक बहुत बड़ा नगर मणियों से बना हुआ है जो बहुत ही सुन्दर और चित्त आकर्षक है। फिर तो वह उस नगर में प्रविष्ट होगया। वहां पहुँचकर वह क्या देखता है कि पृथ्वी, पहाड़, नदियां, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब वहां विद्यमान हैं। फिर तो उसको वहां एक और ही जगत भासमान होने लगा और तब उसने जाना कि मैं यहां सर्व ऐश्वर्यों से सम्पन्न इन्द्र के रूप में स्थित हूँ। पश्चात् उसका शरीर छूट गया और फिर उसका कुन्द, नामक पुत्र उसके स्थान पर इन्द्र हुआ। पश्चात् कुन्द का भी देहपात हुआ और उसका पुत्र राज्य करने लगा। फिर उसके भी एक पुत्र होगया और इसी प्रकार हजारों पुत्र होकर राज्य करते रहे। अब उन्हीं के कुल का यह इन्द्र राज्य कर रहा है। इस प्रकार यह सारा जगत संकल्पमात्र ही है और उसी प्रकार की त्रसरेणु में यह सृष्टि हुई है। अस्तु! इस जगतको संकल्पमात्र जानकर ही इसकी आस्था त्याग दो।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥२२॥

—०※०—

तेईसवां सर्ग

संकल्पासङ्कल्प एकता विवेचन

हे विद्याधर ! वासना बड़ी कठिन होती है। इसके हाथ पड़कर जीवकी जो दशा होजाये, आश्चर्य नहीं। देखो कि उसी इन्द्र-कुल में एक ऐसा इन्द्र हुआ कि जिसने दैत्यों से युद्ध कर उन्हें घोर संग्राम में पराजित किया, और फिर उसे निर्वाण पद भी प्राप्त हुआ। उसके एक पुत्र था जिसको वृहस्पतिजी ने उपदेश देकर इन्द्र बना दिया था। एक समय वह किसी कार्य वश कमल की तन्तु में घुस गया। वहां उसे नाना प्रकार का जगत भासित हुआ और यह भी अहंकार हुआ कि मैं इन्द्र हूँ। फिर तो उसे वही प्राप्त हुआ और वह वहां पर बहुत काल तक राज्य करता रहा। फिर उसे यह इच्छा हुई कि 'मैं ब्रह्मतत्व को प्राप्त होऊँ और वह ब्रह्मतत्व मुझे दृश्यों के समान ही प्रत्यक्ष दिखलाई पड़े। तब यह कैसे होगा इस उपाय में वह एकान्तसेवी बन बैठा और समाधिस्त होगया। तब उस लम्बी अवस्था में उसको भीतर बाहर सर्वत्र ही ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ और इस प्रकार उसने दृश्यों के समान ही ब्रह्मको प्रत्यक्ष देखने की इच्छा पूर्ण करली। फिर तो उसे ज्ञात होगया कि सब कुछ ब्रह्म ही है और सर्व ओर से पूजने योग्य है और सब उसीको पूजते हैं। वही सर्व है और वही सर्व शब्द रूप देखने और मनन करने से भी रहित केवल शुद्ध आत्मपद है। इसी के प्राणपद सर्वत्र फैले हुये हैं। सब शीश और मुख उसी के हैं और सब ओर उसी के कान हैं और सब ओर उसी के नेत्र हैं। सब में आत्मभाव से वही स्थित है और वही सर्व इन्द्रियों और विषयों को प्रकाशित करने वाला है और वही सब को धारण कर रहा है। वही निर्गुण है और वही इन्द्रियों के साथ मिलकर सब गुणों का कर्ता और सब का भोक्ता है। वही सब भूतों के भीतर और बाहर व्याप्त हो रहा है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है और वह दुर्विज्ञेय है। अज्ञानी उसे नहीं

देख सकते और आत्मतत्व द्वारा ज्ञानी उसे ही अपने निकट देखते हैं। वह अनन्त है, सर्व व्यापी है। वह अकेला ही शान्तरूप है और उसमें दूसरा कोई नहीं है। वह स्थावर जङ्गम और चर अचर सब में व्याप्त है और देश, काल, वस्तु सबमें वह ब्रह्म भाव से ही विद्यमान रहता है और वह ब्रह्म से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है। जब उस इन्द्र को ऐसे ज्ञान हुआ तब वह जीवन्मुक्त हुआ। पश्चात् उस इन्द्र का एक बड़ा ही शूरवीर पुत्र दैत्यों पर विजय पाकर त्रिलोकी का राज्य करने लगा। पश्चात् जब उसको भी ज्ञान हुआ तब वह भी निर्वाण हुआ। तब उसका जो पुत्र था, वह इन्द्र हुआ। इस प्रकार कई इन्द्र उत्पन्न होकर राज्य करते रहे। पश्चात् उसके कुल में एक और पुत्र था और वह राज्य करता रहा। पुनः उसे मेरी सृष्टि भासित हुई और वह ब्रह्म ज्ञानी हुआ। इस प्रकार यह जो जगत की उत्पत्ति है वह संकल्प मात्र ही है। पहले उसको त्रसरेणुयें भासीं, फिर एक कमल का तन्तु ज्ञात हुआ और फिर उसने संकल्प मात्रसे कई वृतांत देखे। किन्तु वास्तव में वह कुछ हुई नहीं। जैसे आकाश में नीलता का भान होता है और वह है कुछ नहीं, वैसे ही यह जगत है। जब अहंकार का अभाव होता है तब जगत का पता नहीं चलता। इससे अहं को मिटाना चाहिये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा- निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥२३॥

चौबीसवाँ सर्ग

भुशुण्डि विद्याधरोपाख्यान

हे विद्याधर! अहं के उत्थान होने पर ही सृष्टि बनकर भासती है और इसी प्रकार जब अहङ्कार का अभाव हो जाता है तब जगत का भी अभाव हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि अहं ही सब दुःखों का मूल है। अहं न होता तो कोई भी दुःख नहीं पाता। अहं के कारण ही तो उस इन्द्र ने सूर्य की त्रसरेणु में नाना प्रकार के विस्तार देखे और कष्ट पाया था। अतः अहं को ही

नाश करने का यत्न करो। आत्म साक्षात्कार होने पर अहं का सर्वथा ही नाश हो जाता है। आत्मरूपी पर्वत पर आकाशरूपी एक बन है कि जिसमें यह संसाररूपी वृक्ष लगा हुआ है यह वृक्ष वासना-रूपी रस और अज्ञानरूपी भूमिका ही पाकर उत्पन्न हुआ है। नदियां और समुद्र ही उसकी नसें एवं नाड़ियां हैं कि जिससे यह रस पाता रहता है। चन्द्रमा और तारे ही उसके फूल हैं। वासनारूपी जल (रस) को पाकर ही वह बढ़ता है और उसका बीज अहंकार है। सुख दुःख ही उसके फल हैं और जड़ पाताल तक चली गई है। हे विद्याधर! तुम उसको ज्ञानाग्नि से भस्म करो।

इसी प्रकार एक गहरी खाई है कि जिसके जन्म मरण रूपी दो किनारे हैं। उसमें आत्मारूपी जल भरा हुआ है जिससे वासना रूपी तरंगें और विश्वरूपी बुदबुदे उठते हैं, परन्तु जब वायु का चलना बन्द होजाता है तब वह शान्त और निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार यदि वायु हुआ तो भी वह जल ही है और वायु न हुआ तब भी वह जल ही कहलायेगा, दूसरा कुछ नहीं, उसी प्रकार अज्ञान के होते भी वह आत्मपद ही कहलायेगा और अज्ञान के न होने से भी वह आत्मपद ही रहेगा। बस, इसी प्रकार समदृष्टि से वह आत्मपद भासता है और वही अज्ञान से जगत जान पड़ता है। इसी प्रकार अहं का होना ही अज्ञान है। अहं, मम, संसार ही को कहते हैं। जब यह मिट जाता है तब जगत भी मिट जाता है। अहं में दृश्य और दृश्य में ही अहं होता है। इस कारण तुम उस संवेदन को ही क्यों नहीं त्याग देते कि जिमसे निर्वाणता प्राप्त होजावे।

हे रामजी! इतनी कथा कहकर भुशुण्डि ने मुझसे कहा—हे मुनीश्वर! जब मैंने विद्याधर से ऐसे कहा तब वह समाधिस्त होगया और जान पड़ा कि मानों उसे परम निर्वाणता प्राप्त होगई है। उसका चित्त क्षोभ से रहित होगया और वह शान्त मूर्ति दिखलाई पड़ा। हे मुनि! उसका हृदय शुद्ध था, इसी कारण मेरे वचन उसके हृदय में शीघ्र ही प्रवेश कर गये। तब मैंने उसे कई बार जगाया, परन्तु वह न जागा। जैसे

कोई वनकी अग्निसे जलता हुआ भागकर समुद्रमें जापैठे और निकालने पर भी न निकले वैसे ही वह संसार तापसे जलता हुआ आत्म समुद्र को प्राप्त हुआ था कि जिससे अज्ञानरूपी संसार के प्रवाह को नहीं देखता था। हे वशिष्ठजी! जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है उसको थोड़ा उपदेश भी बहुत प्रभाव करता है पर जिसका अन्तःकरण मलिन होता है उसको बहुत उपदेश थोड़ा भी नहीं लगता। जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता वैसेही गुरुके वचन उसके मलिन हृदय पर नहीं ठहरते। उपदेश-ग्रहण के लिये तो निर्मल हृदय चाहिये, तभी वह आत्म पदको प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! जो आपने मुझ से पूछा था, सो मैंने कहा। इसी गन्धर्व को मैंने इतने काल तक जीवित देखा था और मेरेही उपदेश से वह आत्मपद को प्राप्त हुआ था।

हे रामजी! ऐसा कहकर काकभुशुण्डि चुप हो गया और मैं उसे नमस्कार कर अपने आश्रम पर चला आया। मेरे और काक-भुशुण्डि के इस सम्बाद को हुए आज ग्यारह चौकड़ी युग बीत गये हैं। अस्तु! हे रामजी! ज्ञानका कुछ प्रमाण नहीं है। जैसा शुद्ध हृदय होता है उतने ही शीघ्र और उतने ही विलम्ब से यह विचारवानों को उत्पन्न होता है। यह हृदयकी शुद्धता पर निर्भर है। हे रामजी! इतना उपदेश जो मैंने तुमको दिया है उसका यही अभिप्राय है कि फुरने को त्याग करो। न मैं हूँ, न यह जगत है। केवल निर्वि-कल्प आत्मा ही शेष रहता है और वही अपना आप है। तुम उसीका साक्षात्कार करो। आत्मरूपी दर्पण पर अहंरूपी आवरण छाया हुआ है, इसीसे वह अपना आप दिखलाई नहीं जान पड़ता। तब इस अहंकार का त्याग करोगे तब आत्मपद प्राप्त हो जावेगा, और सब जगत भी अपने आप ही भासेगा। हे रामजी! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। आत्मा में यह जगतभ्रमवश वैसे ही भासता है कि जैसे मृगतृष्णा का जल और वन्ध्या का पुत्र भासित होता है। जैसे आकाश में नीलता का भान होता है, पर वास्तव में वह नीलता है नहीं, वैसे ही यह जगत प्रत्यक्ष भासता है, पर है नहीं। जैसे जेवरी

में सर्प मिथ्या है वैसे ही आत्मा में जगत मिथ्या है । जब आत्मा का ज्ञान होता है, तब जगत का अत्यन्त ही अभाव होजाता है और तब केवल अपना आप ही भासित होता है। इससे हे रामजी! तुम अहं का संवेदन त्याग दो। संसार का बीज अहंकार ही है। शुभाशुभ की बासनाओं ने ही सुख दुःखरूपी फल को उत्पन्न किया है और इस प्रकार बासनाओं से ही सुख दुःख प्रफुल्लित होता है। इससे अहं भावको ही नष्ट करो। क्योंकि ज्योंही अहंकार का स्फुरण हुआ नहीं कि संसार उठ खड़ा होता है। किन्तु जब तुम अहं को त्याग दोगे तब जगत-भ्रम मिट जावेगा। अस्तु बिना आत्मज्ञान हुये यह नष्ट नहीं होगा। हे रामजी! इस देह रूपी पत्र पर अहङ्कार रूपी अणु स्थित है, बोध रूपी सूर्य का उदय हुआ नहीं कि वह स्वयं ही नष्ट हो जावेगा परन्तु यह कहो कि बिना बोध हुये ही वह अहंता नष्ट हो जावे तो ऐसा नहीं होता। बिना इसे नष्ट किये तुम चाहे कीचड़ में धँस जाओ या चाहे पर्वत की गुफा में प्रविष्ट कर जाओ, चाहे घर में रहो, चाहे बनमें रहो, पर कहीं भी शान्ति न मिलेगी। क्यों कि समस्त अनर्थों का कारण यह अहंता ही है, जब तक यह है तब तक दुःख नहीं मिटता और तब तक सिद्धिता नहीं प्राप्त होती परन्तु जब यह मिट जाता है तब परम सिद्धि प्राप्त होजाती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौबीसवां सर्ग समाप्त ॥२४॥

पच्चीसवां सर्ग

विराट आत्मा वर्णन

रामजी! यह सारा संसार संकल्प मात्र है और भ्रमसे ही उदय हुआ है। आत्म स्वरूपका क्या कहना है? इसमें अनेक सृष्टियां बसती हैं। कोई लीन होती हैं कोई उत्पन्न होती हैं, कोई उड़ती हैं, कोई एकत्र होती हैं यह सबमें प्रत्यक्ष रूपसे नित्य ही देखता हूँ। तुम भी देखो एक सृष्टि यह भी उड़ती है तब भला इस जगतमें सृष्टिमें क्या सार है। यह देखने में ही सुन्दर है। परन्तु आकाश रूप ही । जैसे जलमें छाया हिलती डुलती है, वैसे ही इस जगत को भी जानो।

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने उनसे पूछा—हे भगवन्! आप कहते हैं कि सृष्टियां उड़ रही हैं, मैं इन्हें नित्यही देखता हूँ, तुम भी देखो। सो यह मेरे समझ में न आया कि आप क्या कहते हैं?

वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! सुनो, यह जो अनेक सृष्टियां उड़ रही हैं वह पञ्च भौतिक शरीर में प्राण स्थित हैं। प्राण में मन है और उस मनमें सब की अपनी २ सृष्टि विद्यमान है। जब यह जीव शरीर को त्याग करता है तब इसका लिङ्ग शरीर जिसे वासना और प्राण वायु कहते हैं, वह जीव को अपने में स्थिर करके उड़ जाता है। वही लिङ्ग शरीर मुझे सूक्ष्म दृष्टि से भास रहा है। हे रामजी! यह आकाश का वायु है और जिसका कोई आकार नहीं है वही वायु प्राण वायु के साथ मिलकर मुझे प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती है। यही जीव है। अस्तु! यह संसार अथवा यह सारी सृष्टियां वासनामय हैं। वासना के अनुसार ही एक आत्मा में इतने विशाल विश्व को देखता है। जैसी वासना होती है, वैसे ही जगत भासित होने लगता है। हे रामजी! वास्तव में सब कुछ ब्रह्म स्वरूप ही है किन्तु प्रमाद वश वह अपने को कुछ का कुछ मानने लगता है। यह कैसे? उत्तर स्पष्ट है कि वासनाओं ने ही इसे खण्ड-खण्ड कर रखा है। अन्यथा यह आत्मा अखण्ड और देश काल से परिच्छिन्न है। जब अहंकार रूप चित्त नष्ट होवे तब अखण्ड रूप हो किन्तु जब तक अहंकार नहीं जाता, तब तक जगत-भ्रम दिखलाई पड़ता है और तब तक वासनायें भटकाती ही रहती हैं। क्योंकि वासना की सृष्टि चित्त में सर्वदा ही स्थित रहती है। शरीर को छोड़ते ही वह (चित्त) आकाश में उड़ जाता है और इस प्रकार प्राण वायु उड़कर जो आकाश में शून्यरूप वायु है उससे जा मिलती है। वहाँ सब को अपनी २ वासना के अनुसार अपनी २ सृष्टियों का ज्ञान हो जाता है और वे इस प्रकार अपनी २ सृष्टि को लेकर वहां के लिये उड़ जाते हैं जैसे कि वायु गन्ध को लेकर अपने आप

में चली जाती है, वही मुझको सूक्ष्म दृष्टि से उड़ते हुए जान पड़ते हैं। हे रामजी! लिंग शरीर को देखने के लिये स्थूल दृष्टि से काम नहीं चलता, इसके लिये बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिये। मेरी सूक्ष्म दृष्टि है, इसीसे मैं उनको उड़ते हुये देखता हूँ। किन्तु जिसको सूक्ष्म दृष्टि से लिंग शरीर देखने की शक्ति तो प्राप्त है वह वास्तव में है ज्ञान से रहित, तो मैं उसको मूर्ख और पशु के समान ही जानता हूँ। जब मनुष्य वासनाओं को त्याग कर देता है तब उसे विश्व नहीं दिखलाई पड़ता और उसे केवल निर्विकल्प ब्रह्म ही भासता है ऐसे पुरुषों के प्राण नहीं उड़ते और वहां ही लीन होजाते हैं क्योंकि उन का चित्त नहीं रहता। किन्तु जब तक अहंकार का संयोग है तब तक जगत भी चित्तमें स्थिर रहता है। जैसे बीज में वृक्ष और तिलों में तेल स्थित रहता है, वैसेही अहं चित्तवालों में जगत स्थित रहता है। जैसे मिट्टी में बड़े छोटे सभी प्रकार के पात्र स्थित हैं और लोहे में सुई भी और खड्ग भी स्थित रहता है और जैसे बीजमें वृक्ष भाव स्थित है, वैसेही संकल्प कलना में ही जगत स्थित है। किन्तु स्वरूपतः यह कुछ है नहीं। सारा विश्व संकल्प मात्र ही है। क्योंकि एक अवस्था में तो यह उठता है और दूसरी अवस्था में नष्ट होजाता है। सो यह जाग्रत जगत जो तुमको भासता है सो मिथ्या ही है जैसे स्वप्न में जाग्रत नहीं होता और जाग्रत अवस्था में स्वप्न नहीं होता, वैसे ही जब मृत्यु आती है तब सृष्टि का अभाव हो जाता है और तब देश काल पदार्थ सहित अपनी २ वासना के अनुसार सब को अपनी २ सृष्टि भासने लगती है। इससे यह जगत स्वप्नवत ही है जैसा संकल्प होता है, वैसे ही संकल्प उड़ते फिरते हैं। कोई सृष्टि अपनी सृष्टि से मिलती जाती है और कोई नहीं भी मिलती। किन्तु सर्व संकल्परूप ही हैं, भ्रम से और का और भासने लगती है। हे रामजी! यह विश्व भ्रमसे ही सिद्ध हो रहा है। जैसे भ्रम वश सीपी में मोती और जेवरी में सर्प भासता है, वैसे ही आत्मा के प्रमाद से यह विश्व भासित होरहा है, पर आत्मा भिन्न नहीं है।

जैसे स्वप्न से जागने पर स्वप्न का विश्व आपही आप दीख पड़ता है वैसे ही तब यह विश्व अपना आप दिखाई पड़ेगा। जैसे जब निद्रा का वेग रहता है तब उसे शुभ अशुभ विश्व में कुछ भी राग नहीं होता और जब निद्राका वेग हटता है तब फिर इष्ट अनिष्ट के राग द्वेषमें जा पड़ता है—ऐसे ही जब तक ग्रहण-त्यागकी बुद्धि वर्तमान है तब तक यदि कोई सर्वज्ञ भी हो तो वह भी मूर्ख ही है। इससे हे राघव! जड़ होना ही ठीक है। जड़ यह कि दृश्यों से रहित हो आत्मा में स्थित होजावे। जब आत्मा से भिन्न रहेगा तब तक स्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी। जब संकल्पों के स्फुरण से रहित होवेगा तभी स्वरूपका साक्षात्कार होता है। अस्तु! फुरने का ही त्याग करो। हे रामजी! यह जो स्थावर जङ्गमरूपी जगत तुममें भास रहा है वह सब ब्रह्म ही है। जब तुम ऐसा निश्चय करोगे तब तुमको सर्वत्र आत्मपद ही प्रतीत होगा।

रामजी ने प्रश्न किया हे महा मुनीश्वर! जीवका स्वरूप क्या है वह रूप और आकार को कैसे ग्रहण करता है, उसका अधिष्ठान क्या है और वह कहां रहता है।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! यह जीव शुद्ध परमात्मतत्व निर्विकल्प और चिन्मात्र पद है। जब उसमें—'मैंहूँ' ऐसा चैतन्यो-मुखत्व हुआ तब वह चित्त कलना के स्फुरण से जीव नाम से सम्बो-धित होगया। किन्तु वह जीव न तो सूक्ष्म है, न स्थूल है, न शून्य है, न अशून्य है, वह सर्वतो भावसे अनन्त चैतन्य और आकाश रूप है। उसीको जीव कहते हैं। वही सूक्ष्म है और वही स्थूल भी। वही जीव चैतन्य और सर्वगत भी है। वही जीव अद्वैत है। उसका प्रति-योगी कोई नहीं। बस, यही जीव का स्वरूप है। चैतन्योमुखत्व होने से ही वह जीव ब्रह्म हुआ और वही शुद्ध, चैतन्य परमात्मतत्व भी है। उसमें जो स्पंदन हुआ उसी का नाम जीव पड़ा। वह जीव सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है। वही सर्व का बीज भी है और वही विराट रूप भी है। उसका शरीर मनोमय है और वह

आदि परमात्म तत्व से फुरा हुआ है। वही सर्व जीवों का अधिष्ठाता है और वही सबमें व्याप रहा है। उसी के संकल्प से ये सभी जीव रचे हुये हैं। पञ्चज्ञान संयुक्त ये पांचों इन्द्रियाँ और अहंकार, मन और बुद्धि ये आठों ही उसी की सत्ता से अपना २ आकार धारण किये हैं और इसीसे इनमें इतनी शक्ति आगई है कि ये आप ही आप सब कुछ ग्रहण कर लेती हैं। और परमार्थ रूप को त्यागकर संकल्पसे जो आकार उत्पन्न हुये हैं उनको ग्रहण करना इसीका नाम पुर्यष्टका है। इस प्रकार पुर्यष्टका और इन्द्रियों की रचना होने पर फिर इनमें चित्र रचे गये और स्थूल रूपकी रचना कर उनमें आत्मा प्रतीत किया गया। जैसे निद्रामें जीव जाग्रत शरीर को त्यागकर स्वप्न शरीर को अङ्गीकार करता है वैसे ही उसने निर्विकार और अद्वैत शक्ति को त्यागकर वासनामय शरीर को अङ्गीकार किया है। किन्तु उसने अपने असली रूप का त्याग नहीं किया। वह स्वरूप से नहीं गिरा और वही शुद्ध एवं संकल्प रहित भाव का त्यागकर विराटरूप हुआ। पश्चात् उसी पुरुष ने ज्ञान से चारों वेदों की रचना की और जो २ सङ्कल्प करता गया, वह देश, काल, पदार्थ, दिशा और ब्रह्माण्ड सब होते गये। इस प्रकार ईश्वर, विराट, आत्मा और परमेश्वर आदि उस जीव के ही नाम हुये हैं। जीव का वासनारूप स्वरूप मिथ्या नहीं है। वासना शरीर ग्रहण करने से ही वह वासनारूप कहा गया है और है वह शुद्ध, निर्विकार और अद्वैत। जब उसको अपने चैतन्य भाव से चैत्य का मिलाप हुआ तब उसका वायु वासना रूप होगया। फिर उसी आदि जीवसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और देवता, दैत्य, आकाश, पाताल और मध्य सहित यह समग्र त्रैलोक्य उत्पन्न हुआ। जैसे दीपक से दीपक और जल से जल उत्पन्न होता है वैसे ही सर्व स्वरूप उत्पन्न हुये हैं। इस प्रकार सब कर्मों और सर्व शरीरों का आदि बीज वह विराट ही हुआ। चित्त के सम्बन्ध से ही वह तुच्छ हो गया है किन्तु वास्तव में वह है परमात्मस्वरूप ही। जैसे महाकाश भी घट के संयोग से घटाकाश हो जाता है वैसे ही वह विराट परमात्मा में

फुरने से ही सृष्टिको रचकर अहं अहं प्रत्ययके कारण तुच्छ होगया है किन्तु वह मिथ्या एवं भ्रम ही है। जैसे स्वप्न में कोई अपनी मृत्यु देखे, वैसे ही अपने आपको ही लोग दृश्य देखते हैं। यह क्यों? आविकार से! आत्म-लघुता से! अन्यथा ये समस्त दृश्य विराटरूप ही हैं आत्मा में उसका अनुभव मात्र है। बस इसी प्रकार उसने उत्पन्न होकर सृष्टिको रचा है। और उस विराट पुरुष ने इसे जैसा रचा है यह अब तक वैसा ही है भी। स्वयं ही उत्पन्न हुआ है और स्वयं ही लीन हो जाता है। हे रामजी! यह जो कुछ देख रहे हो सब विराट रूप ही है। किन्तु जो स्वरूप से गिरे हुए और तुच्छ हैं उनको यह भान नहीं हो सकता क्योंकि वे तो दृश्य के ही समान हो रहे हैं अथवा दृश्य को ही सब जानते हैं और अपने आपको नहीं। उन्होंने अपने वास्तव रूप को भुला दिया है और वे स्वरूप से गिरे हुए हैं किन्तु जो स्वरूप से न गिरे और जिसे अपना सङ्कल्प रूप विश्व देखकर प्रमाद न होवे उसका नाम विराट आत्मा है। हे रामजी! यह जीव चैतन्य और निराकाररूप है। इसने अपने संकल्प से ही शरीर रच लिया है। परन्तु अब वही दृश्य इसे महा आपदारूप होकर कष्ट भी दे रहे हैं। निर्विकल्प होता नहीं, इससे आत्मपद का सुख भी नहीं प्राप्त होता है। किन्तु इस विराट ने ही सबको उत्पन्न किया है और सर्वदा सब युगों में तो क्या जितनी बार जितनी सृष्टियां उत्पन्न हुई हैं सबको इस विराट ने ही उत्पन्न किया है। अब जिस विराट ने इस दृष्टि को उत्पन्न किया है इसके पहले और भी कितने विराट हुए हैं और कितने ही आगे होंगे। जैसे एक समुद्र से ही लहरें उत्पन्न होती हैं और बुदबुदे उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें लय होजाते हैं वैसेही एक आत्मा से ऐसे कितने विराट उत्पन्न हुये और फिर उसीमें लय होगये। इससे वह आत्मा-परमात्मा ही सबका अधिष्ठान है और वही भीतर बाहर सर्वत्र पूर्ण रूपसे विद्यमान और पूर्ण-ज्ञान-स्वरूप है। वही तुम्हारा अपना ही आप अनुभवरूप भी है। हे रामजी! तुम जहां भी कहीं संवेदन से रहित देखोगे वहीं तुम्हें परमात्मास्वरूप का भान होवेगा।

अतः यह जो कुछ तुम्हें भास रहा है सबको विचार पूर्वक त्यागो। जब इस संवेदना का त्याग कर दोगे तब जो चिन्मात्र शुद्ध स्वरूप तुम्हारा अपना आप है वह भासित होगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का पच्चीसवां सर्ग समाप्त ॥२५॥

—::※::—

छब्बीसवां सर्ग

ज्ञान-बन्ध योग-वर्णन

हे रामजी! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। अपने स्फुरण से ही वह परमात्मा पुरुष जीव संज्ञा को प्राप्त हुआ है और अपने स्वरूप को भूलकर ही वह ऐसा दुःख पारहा है। परन्तु वह वही है। वह कभी परिणाम को प्राप्त नहीं हुआ। यह जीव प्रमाद वश अपने को दृश्य रूप जान रहा है। यदि इसे अपने स्वरूप का स्मरण होता तो यह दृश्य को अपना ही रूप जानता और दुःख को न प्राप्त होता। तब इसको सारा विश्व अपना ही रूप भासता। हे रामजी! यह विश्व इसी का रूप है। किन्तु अविचार से भिन्न भासता है। अहंकार रहित होकर देखे तो यह कुछ बना नहीं है। आत्म स्वरूप में स्थित होकर देखो तो अपना आपही भासित होगा। वह आत्मा शून्य से भी शून्य, जड़, चैतन्य, किंचन, निष्किंचन, सत्य और असत्य सर्वत्र से पूर्ण है, फिर इसमें किसका त्याग कीजियेगा? वह सर्वथा ही अनुभव रूप है, उसीसे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं। किन्तु खेद है कि ऐसे आत्मा को मूर्ख नहीं जानते। जैसे जन्मान्ध को मार्ग का ज्ञान नहीं होता वैसे ही अज्ञानी इस जागृत ज्योति आत्मा को नहीं जानता। और जैसे सूर्य के उदय को उलूक पक्षी छिपा नहीं जानते, वैसे ही वासनाओं से घिरे हुए पुरुष अपने आपको नहीं जानते। जैसे जाल में पक्षी फँसा होता है वैसे ही समस्त जीव वासनाओं में फँसे हुए हैं। यही बन्ध है। और जब वासनाओं से छुटकारा मिले तो वही मुक्ति है। इसी प्रकार विषमता

से ही जीव संज्ञा होती है और समता ही ब्रह्म पद है। हे रामजी ! अज्ञान से ही जीव ऐसा दीन हुआ है, अज्ञान नष्ट होवे तो वही आत्मरूप होजाता है। हे रामजी उपाधियों के संयोग ने ही निर्गुण को सगुण कर दिया है। जब निर्गुण सगुणकी गाँठ टूटे तब वह अद्वैत अपना आप भासित होवे। फिर तो उसको पाने पर कुछ पाना शेष नहीं रहता और उसको जानने पर कुछ जानना नहीं रहता। हे रामजी ! यह ज्ञान जो तुमसे कहा है उसका आश्रय करके तुम इसमें वँधे न रहना क्योंकि ज्ञान वन्ध होने से तो अज्ञानी रहना ही अच्छा है क्योंकि जब ज्ञानको जानकर तुम ज्ञानी ही बने रहे तो क्या हुआ। ऐसे तो अज्ञानी भी साधु सङ्गति पाकर ज्ञानवान हो जाते हैं, फिर तुम्हारे और उनके में भेद ही क्या रहा। हे रामजी ! जो ज्ञान बन्धन में ही पड़ा रह जाता है वह मुक्त नहीं होता जैसे रोगी कहे कि मुझे कोई रोग नहीं है, मैं निरोग हूँ तो उसे वैद्य के औषधि की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह अपने को निरोग जानता है, वैसे ही जो ज्ञान से वँधा हुआ है वह सन्तों का साथ नहीं करता और सत् शास्त्रों को भी नहीं विचारता क्योंकि वह तो यह समझता है कि मैं ज्ञानी हूं,मुझे इसकी क्या आवश्यकता? इससे वह अन्धकूपमें ही पड़ा रहता है।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे महामुनीश्वर ! ज्ञान और ज्ञानवन्ध का क्या लक्षण है और क्या फल है, कृपाकर बताइये। वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! जो शास्त्रों द्वारा यह जान चुका है कि आत्मा क्या वस्तु है किन्तु वह फिर भी विषयों को भोगने की तृष्णा किया ही करता है कि यह अमुक वस्तु मुझे मिले तो ऐसा पुरुष ज्ञानवन्ध कहलाता है। फिर ज्ञानवन्ध वह है कि जो कर्म फल के विचार से रहित है, जो मुख से शुभ अशुभ निरूपण करता है और शास्त्रानुसार अपने को उत्तम मानता है और शास्त्रों के अर्थ भी खूब लगाता है, पढ़ता और पढ़ाता भी है किन्तु विषयों में वँधा ही रहता है और सर्वदा विषयों की ही चिन्ता

किया करता है—ऐसा पुरुष ज्ञानबन्ध है और इसलिये उसे अर्थ शिल्पी भी कहा जाता है। हे रामजी! दो मार्ग हैं। एक प्रवृत्ति और दूसरा निवृत्ति। प्रवृत्ति संसार मार्ग है और निवृत्ति आत्मज्ञान का मार्ग है। जिस पुरुष ने निवृत्ति मार्ग तो धारण किया है किन्तु अपने को प्रवृत्ति मार्ग में ही बर्तता है और इन्द्रियों द्वारा विषयों का रसास्वादन करता है, विषयों से उपराम नहीं होता और उससे सन्तुष्ट होकर स्वरूप का अभ्यास नहीं करता वह ज्ञानबन्ध कहलाता है। फिर जो आत्मा से प्रेम तो करता है किन्तु विषयों की भी चिन्ता किया करता है और अपने को भी उत्तम मानता है तो वह ज्ञानबन्ध कहलाता है। फिर जो आत्म तत्व विवेचन तो खूब करता है और स्थित नहीं है तो उसे भी ज्ञान का फल नहीं प्राप्त हुआ, और वह भी ज्ञानबन्ध ही है। हे रामजी! कोई भी तब तक ज्ञानी नहीं है जब तक कि उसे शान्ति नहीं प्राप्त हुई, और जब तक शान्ति न प्राप्त हो जावे तब तक अपने को ज्ञान से बड़ा माने, और जब तक ज्ञान की प्राप्ति न हो जावे तब तक निदिध्यास, अभ्यास, यत्न और शुभ व्यवहार करता ही रहे। यह नहीं कि विलासी बनकर प्रमाद करे। वरन् प्राणों की रक्षा के निमित्त उपजीविका उत्पन्न करे और ब्रह्म जिज्ञासा के निमित्त प्राणों की धारणा करे। इस प्रकार करने से संसार सागर को पार कर पुरुष आत्म परायण हो जाता है। तब उसके सारे दुःख मिट जाते हैं और फिर वह मुक्त होकर संसारी नहीं रहता। इस प्रकार जब आत्मपरायण हो जाता है तब सारे दुःख मिट जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मपद पाने से सब दुःख नष्ट होजाते हैं, और वहपद ऐसे ही प्राप्त होता है कि जो शास्त्रों का उपदेश सुने उस पर बारम्बार अभ्यास कर के विचार करे, दृश्यों से उपराम हो जावे और उनको मिथ्या जान कर उनसे वैराग्य करे—इसी प्रकार आत्मपद प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण—प्रकरण—उत्तरार्द्ध का छब्बीसवां सर्ग समाप्त ॥२६॥

सत्ताईसवाँ सर्ग

सुखदायक योग उपदेश वर्णन

हे रामजी ! ज्ञान निष्ठा ही सबका अधिष्ठान पद है। पहले वह जिज्ञासी होता है। फिर जब गुरु और शास्त्रों से आत्मविशेषण सुनता है तब उसमें अहं प्रत्यय करके स्थित होता है और वही स्थित होना ज्ञान निष्ठा है। इस निष्ठा से परम उच्चपद प्राप्त हो जाता है। जब उस पद में स्थित हो जाता है तब उसे कर्मों के फल का ज्ञान नहीं रहता। तब तो उसे शुभ कर्मों के फल में राग होता है और न अशुभ कर्म फलमें उसे द्वेप होता, प्रत्युत वह सर्वदा ही हृदय से शीतल रहता हैं और अकृत्रिम शान्ति पद को प्राप्त रहता है। वह कभी भी किसी विषय के सम्बन्ध में नहीं पड़ता और अकृत्रिम शान्तिपद को प्राप्त होता है। यही क्या, वह किसी विषय के सम्बन्ध में नहीं फँसता और उसकी वासना की गांठ टूट जाती है। वही ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी ही आवागमन से रहित होता है। हे रामजी ! जब संसार से विमुख हो और जब संसार की सत्यता न भासे तब जानो कि फिर जन्म न पावेगा। उसके निकट संसार का कारण नहीं जान पड़ता। क्योंकि जो पदार्थ कारण से नहीं उत्पन्न हुआ वह सत्य नहीं होता, इससे संसार मिथ्या है। तब जो मिथ्या है उसकी वासना भी कैसे होवे ? फिर ज्ञानी जन प्रवाह-पतित कार्यों में विचरते भी हैं तो भी सङ्कल्प से रहित होकर उसमें अपना अभिमान कुछ नहीं करता कि यह न हो। उसको सङ्कल्प कोई नहीं होता और उसका हृदय आकाश की नाईं सर्वथा ही शून्य रहता है ऐसे ही पुरुष आत्मपद को प्राप्त रहते हैं। हे रामजी ! यह जीव परमात्मा का ही रूप है। आपने चैत्य से ही संसार रूप हो रहा है, अन्यथा यह आत्मपद ही है। जब चित्त अर्थात् फुरने को त्याग करे तब वही आत्मा कहलाता है। तब उसकी बड़ी शोभा हो जाती है। हे रामजी ! ज्ञानी पुरुष कर्म की स्तुति नहीं करता, उसे इन्द्रियों के

इष्ट की वांछा नहीं होती वह विषयों के सुख की इच्छा नहीं करता। परन्तु जो मूर्ख हैं ये पदार्थों को ही पाकर सुख मानते हैं। उनकी बुद्धिमें ही यही बात दृढ़ होरही है कि मैं संसार के पदार्थों कोही लेकर मुक्त हो जाऊँगा। किन्तु वे मूढ़ हैं, उनका यह सोचना व्यर्थ है। इन्द्रियाँ किसीको भी कभी स्थिर नहीं रहने देतीं और बल पूर्वक उसे विषयों में गिरा देती हैं। चाहे कोई कैसा भी शास्त्र का पंडित क्यों न हो, यदि परमात्मा के ज्ञान से शून्य हो तो उसे भी यह इन्द्रियाँ पतन के गर्त में गिरा देती हैं जैसे चील पक्षी उड़ता तो है आकाशमें किन्तु मांस का टुकड़ा देखकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है वैसे ही अज्ञानी विषयों को देखकर गिर पड़ते हैं। इससे मन सहित इन इन्द्रियों पर ही अधिकार करना चाहिये। मन का संवेदन ही आत्मतत्व से दूर करता है, जब संवेदन दूर होवे तब परमात्मतत्वका साक्षात्कार होता है। तब रूप, अवलोक और मनस्कार सहित जो त्रिपुटी है उसके सब अर्थ की भावना जाती रहती है और केवल आत्मतत्व का ही प्रत्यक्ष भान होता है। हे रामजी ! संसार का आदि परमात्मतत्व ही है। वही अन्त भी है। जैसे सुवर्णको गलाइये तौ भी वह सुवर्ण ही है और न गलाइये तौ भी सुवर्ण ही है ऐसे ही सृष्टि के भावाभाव में आत्म-सत्ता ही प्रधान है। सम्यकदर्शी को ऐसा ही भासता है। किन्तु अज्ञानी एवं असम्यकदर्शी को आत्मसत्ता नहीं भासती। हे रामजी ! यह विश्व आत्मा का प्रकाश ही चमत्कार है, बना कुछ नहीं। उसका चमत्कार ही विश्व होकर स्थित हुआ है। ऐसा ही निश्चय रखने से वासनाओं का अन्त होता है, और जब वासनाओं का अन्त हो जाता है तब चेष्टा स्वाभाविक होने लगती है। अर्थात् तब उसकी चेष्टा उतनी ही होती है कि जितना प्रारब्ध का होना होता है। ऐसी अवस्था में क्रियायें देखने ही मात्र को होती हैं किन्तु वह हृदय से शून्य होता है। उसे क्रिया कर्म में कुछ भी अभिमान नहीं होता। जैसे कोई दूध लेने के लिये दूधका पात्र लेकर ग्वाले के घर जाय और वहां दूध मिलने में देर हो तो ग्वाले से यह कहकर चला आवे कि

जब तक तुम दूध दुहोगे तब तक मैं थोड़ी देर में आता हूँ, यह पात्र रहा है ऐसा कहकर चला जावे और कुछ कार्य करने में लग जाय किन्तु उसका मन दूध में ही लगा रहता है वैसे ही तत्वज्ञानी की क्रियायें तो सब कुछ होती हैं किन्तु उनका मन आत्मपद में ही लगा रहता है और अहङ्कार नहीं होता। जब तक अहङ्कार होता है तब तक जीव की दशा बड़ी ही तुच्छ होती है, उसको केवल अपने शरीर का ही ज्ञान रहता है, वह आत्म अभिमान तो करता है किन्तु ज्ञानसे सर्वथा ही शून्य रहता है। यही जीव के लक्षण हैं। किन्तु इसके आगे मैं जो तुमसे विराट विवेचन कर चुका हूं वह ईश्वर है, सबके अन्तःकरण का ज्ञाता है, सर्व शरीर है और सबको अपना आप जानने वाला है। यद्यपि वह स्वरूप है तथापि अहङ्कार से तुच्छ हो गया है। जैसे घट से घटाकाश होता है वैसे ही अहं के स्फुरण से वह विराट अथवा आत्म-सत्ता परिछिन्नता को प्राप्त हुआ है। वह स्फुरण भी दृश्य में हुआ है और इस प्रकार दृश्य भी स्फुरण में ही है। आत्मा में बुद्धि आदि का स्फुरण ही दृश्य हुआ है। जब अहङ्कार होता है तब आगे इन्द्रि-यादिक विश्व की रचना होती है। इससे फुरने ही में दृश्य है और दृश्य में ही फुरना है। देह और मन आदिक इन्द्रियों में अहं से जो स्फु-रण हुआ है, इसी कारण से इसका जीव नाम पड़ा। स्फुरण नष्ट हो जावे तो आत्मा का साक्षात्कार होवे। हे रामजी! यह, वह, जीना मरना जो कुछ विकार संयुक्त भासित होता है सब मिथ्या ही है। विचार करने से कुछ नहीं रहता। जैसे कलङ्क स्तम्भ में कुछ सार नहीं होता मिथ्या ही है वैसे ही यह सब जाग्रत कर्म मिथ्या ही है। हे रामजी! स्वरूपतः कुछ हुआ नहीं और ज्ञानियों को ऐसा ही जान पड़ता है। जब आत्मपद में जागृत हो जाता है तब उसके सर्व विकारों का विनाश हो जाता है। किन्तु जो विषयों की ही चिन्ता किया करता है वह बन्ध है, उसकी अभिलाषायें ही उसे दुःख देती रहती हैं। हे रामजी! चाहे कोई कितना भी बड़ा राजा क्यों न होवे यदि उसके हृदय में अभिलाषा है तो उसे दरिद्र ही जानो। किन्तु यदि

कोई भिक्षुक हो, दरिद्र हो और उसे भोजन शयन को भी कोई सुन्दर सुपास न हो और यदि ज्ञानसे पूर्ण होता है तो वह उस राजा से बढ़कर सुसंपन्न और सुखीहै। उसके आगे चक्रवर्ती सम्राटका भी कोई महत्व नहीं रहता। वह क्रिया करता भी है तो भी कुछ नहीं करता, उसका करना, न करना सब समान है, क्योंकि वह अहंकार रहित है, निराभिमानी है, उसको शुभाशुभ कर्म बाधक नहीं होते। किन्तु जो अज्ञानी है वह अपने अहं वश दुःख पाता है, इसमे तुम अहंभाव का त्यागकर अपने चैत्य स्वरूप में स्थित हो जाओ। तभी तुम्हारे संशयों का नाश होगा, अन्यथा नहीं। हे रामजी। जितने जीव हैं, सब ज्ञान स्वरूप ही हैं परन्तु मूर्ख जो फुरते हैं और इससे भ्रम को प्राप्त हुए हैं, जब अहंता शांत हो तब शांतरूप होवें। हे रामजी। जहाँ गुणों और तत्वों का क्षोभ न हो वह शांतपद कहलाता है। हे रामजी! उस विराट का मन चन्द्रमा के ही समान निर्मल है और उसी प्रकार सब जीवों का भी मन निर्मल है किन्तु प्रमाद के वश होने से वास्तव रूप नहीं भासता। हे रामजी! जैसे गुलाब की सुगन्धि सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त है परन्तु फूल में ही भासती है वैसे ही चेतन सत्ता समस्त शरीर में व्याप्त है किन्तु उसका हृदय में ही भान होता है। हे रामजी! हृदय में एक त्रिकोण रूप चक्र है वहाँ ही अहं ब्रह्म का उत्थान होता है, वहाँ से ही वृत्तियाँ फैलाकर पञ्च इन्द्रियों के छिद्र से निकलकर विषयों को ग्रहण करती हैं और वह उन इन्द्रियों के विषय में राग द्वेष करता है। हे रामजी! इतना कष्ट प्रकार से ही होता हैं! किन्तु जब ज्ञान होता है तब संसार भ्रम नष्ट हो जाता है। हे रामजी! वासना ही संसार का बीज है और वह प्रत्यक्ष ही दिखलाई पड़ता है। जब इनकी अचिन्तना हो और स्वरूप में अहं न भासे तब संसार भ्रम मिट जायेगा। अहङ्कार के नष्ट होने से अज्ञानी पत्थर की पुतली की भाँति चेष्टा करता है और उसे कुछ स्पर्श नहीं करता। फिर यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि जो पदार्थ सत्य हैं उसका कभी भी अभाव नहीं होता किन्तु जो असत्य है यह सत्य भी नहीं

होता। हे रामजी! अहंकार जो फुरता है वह असत्य है, भ्रम से ही सिद्ध हो रहा है, विचार करने से नष्ट हो जाता है। हे रामजी! यह अहङ्कार रूपी कलङ्क उठा है। जब निरहङ्कार होकर देखोगे तभी मुक्त रूप होवोगे। किन्तु जब तक अहंकार रहेगा तब तक बन्धन है। अतः अहंकार रहित होकर परम निर्वाण पद को प्राप्त होओ। यही परम भूमिका है। हे रामजी! अहंकार रहित हो जाने पर तुम वैसे ही शोभायमान होवोगे कि जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभायमान होता है। क्योंकि ज्ञानी का चित्त सर्वदा ही उस सत्य-पद आत्मा में ही लगा रहता है और इससे वह अहंकार रहित ही रहता है जिस कारण उसके चित्त की चेष्टा फलदायक नहीं होती। जैसे भुना हुआ बीज उगने की शक्ति नहीं रखता, वैसे ही उनको जन्म नहीं लेना पड़ता। किन्तु अज्ञानी का चित्त जन्म-मरण का कारण होता है। इस कारण हे रामजी! तुम सबसे निराश हो रहो किसी की अभिलाषा न करो और न किसी का सद्भाव करो, पाषाण की नाईं हो रहो भोग मिथ्या है, इनकी इच्छा में सुख नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सत्ताईसवां सर्ग समाप्त ॥२७॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

मङ्की ऋषि का वृतान्त

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! यह जो वासना रूपी संसार है इससे तुम वैसे ही तर जावो कि जैसे मङ्की ऋषि तर गये थे। रामजी ने पूछा--हे भगवन्! वह मङ्की ऋषि कौन थे और उन्होंने कैसे संसार सागर को पार किया था, कृपाकर वह वृतांत बतलाइये। वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी! मङ्की ऋषि ने बड़ा भारी तप किया था, उनका वृतांत सुनो। एक समय मैं आकाश में अपने गृह में बैठा था कि तुम्हारे पिता महाराजा 'अज' ने मेरा आवाहन किया, तब मैं आकाशसे उतरकर पृथ्वी पर आया तो मार्ग में मुझे एक बहुत बड़ा निर्जन वन मिला। यहाँ तक कि उसमें कोई

पशुपक्षी तक दिखाई न पड़े और वह बन ऐसा था मानों एकान्त ब्रह्म-स्थान ही है उसमें एक ओर देखा तो कई योजन पर्यन्त मरुभूमि ही दृष्टि आती थी। दोपहर का समय था कि मैं उसके रेतीले मार्ग में जा पड़ा। वहाँ मैंने देखा कि धूप की उष्णता से कई वृक्ष दग्ध हो रहे हैं और उसी ओर से एक विदेशी मनुष्य चला आ रहा है। जब मैं उसके निकट पहुँचा तो उसके मुख से यह शब्द निकलते हुए मैंने सुना कि हाय २, मैंने बड़ा कष्ट पाया है। जैसे किसी को दुष्टों के कारण घोर कष्ट मिलता है और वे दुःख उस पर दया नहीं करते वैसे ही मुझको इस धूप और मार्ग की कठिनता ने कष्ट दिया है। हा, मुझे अत्यन्त ही दुःख मिला है। हे रामजी! इस प्रकार से कहता हुआ वह मेरे साथ चला कि कुछ ही दूर चलने पर धीवरों का एक ग्राम दिखलाई पड़ा। उसमें केवल पाँच-छः गृह थे। उस गांव को देखकर वह बहुत शीघ्रता से चला कि वहाँ पहुँचने पर मुझे शीतल जल और छाया मिलेगी कि जिसमें मैं सुखी होऊँगा। तब उसे अपना साथ छोड़कर शीघ्रता से बढ़ते हुए देखकर मैंने कहा—हे मार्ग के मित्र! तुम साथ छोड़ शीघ्रता से उधर क्यों जा रहे हो। जिसको सुखदायक जानकर उधर दौड़ते हो वह दुःखका ही देने वाला है। जैसे मरुस्थल में जल देखकर मूर्ख मृग वहाँ जाता है और जल न पाकर फिर मूर्छित होकर लौटता है, वैसे ही तुम भी वहाँ जाकर सुखी न होवोगे और दुःख ही प्राप्त होगा। हे मार्ग के मित्र! इस ग्राम के जो वासी हैं, इनका साथ तुम कदापि न करना। क्योंकि इनका सङ्ग दुःख रूप है और इनकी चेष्टायें विचार पूर्वक नहीं होती हैं। तब जो पुरुष बिना विचार के ही चेष्टा करते हैं वे दुःख को प्राप्त होते हैं। हे मित्र! जब इस ग्राम के वासी स्वयं ही अनाचार से रहते हैं तब तुम्हें कैसे सुखी कर सकेंगे। यह तो स्वयं ही इन्द्रियों के विषयों की चिन्तारूपी अग्नि में जल रहे हैं फिर तुम्हारी तप्तता को कैसे शान्त और शीतल कर सकेंगे। हे मित्र! मरुभूमि का मृग होना अच्छा है, पाषाण का कीड़ा भी बनकर रहना श्रेष्ठ है और पृथ्वी के छिद्र में सर्प होकर रहना

उत्तम है किन्तु इन मूर्खों के साथ में रहना अच्छा नहीं है कि जो इन्द्रियजन्य विषयों के लिये ही जीते मरते रहते हैं। क्योंकि इन्द्रियों के विषय दुःखदायी और क्षणिक हैं। जब तक इन्द्रियों को विषयों का संयोग है तभी तक वे सुखकर हैं अन्यथा वियोग होते ही महान् दुःखदायक हो जाती हैं। इस कारण विषयीजनों की प्रीति भी विष के ही समान दुःखदायक होती है। ऐसों का साथ विचार और बुद्धि को नष्ट कर देता है। ऐसे मूर्खों की सङ्गति से उनके वचनरूपी वायु से धूलि उड़ती है कि उसके निकट बैठने वाले को महा अन्धकार में डाल देती है। इससे इन ग्रामवासी अज्ञानियों का साथ कदापि न करना। मूर्ख विचारवती बुद्धिरूपी सूर्य के आगे बादल के समान आकर घेर लेते हैं जिससे वह बुद्धि महान् अन्धकार को प्राप्त हो जाती है। जैसे किसी बेलि वृक्ष पर अग्नि पड़ते ही वह भस्म हो जाता है वैसे ही इन ग्राम-वासियों की सङ्गति वैराग्य को ग्रहण करने वाली बुद्धि का नाश कर देती है। इससे इनका साथ भूलकर भी न करना। उनके साथ से शान्ति कदापि न पाओगे। हे साधो! साथ उनका करना चाहिये कि जिनके साथ हृदय शीतल हो परन्तु ये तो मूर्ख हैं। भला इनके साथ से तुमको क्या सुख प्राप्त होगा। हे रामजी! जब मैंने उससे ऐसा कहा, तब वह मेरे निकट आकर बोला—हे मुनीश्वर! कहो तुम कौन हो, तुम्हारा क्या नाम है। तुम्हारे वचन को सुनकर मुझे बड़ी शान्ति प्राप्त हुई है। तुम बड़े शांतात्मा प्रतीत होते हो। तुम्हारा दिव्य प्रकाश मुझे बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। तुम आदि पुरुष विराट हो, या कौन हो। तुम्हारे दर्शन से मुझे बड़ी शान्ति मिल रही है। तुम्हारे समान कोई भी सुन्दर नहीं है। तुम्हारा प्रकाश बड़ा ही शीतल है। सो कहो, तुम कौन हो। तुम विराट हो या क्या हो, मुझे ठीक २ अपना परिचय दो और यदि मुझसे पूछो कि तुम कौन हो तो मैं माण्डव्य ऋषि के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरा नाम मङ्की है। मैं ब्राह्मण हूँ और

तीर्थ यात्रा के लिए घर से निकला हूं । तब घर से चलकर मैं सर्व दिशाओं में भ्रमता हुआ कितने ही भयानक स्थानों में गया और कई तीर्थों में भी गया, परन्तु कहीं भी मुझे शान्ति न मिली । अब मैं फिर अपने घरको जा रहा हूँ । परन्तु हे भगवन् ! अब मेरा चित्त तो घर पर भी नहीं लगता और घरही तो क्या कुछ दिनों से मुझे यह संसार ही असत्य सा जान पड़ता है । अब तो मुझे ऐसा ज्ञात होता कि यह संसार मिथ्या है और प्रतिदिन नष्ट होरहा है । अब तक मैंने न जाने कितने जन्म पाये हैं और अभी कितने ही पाऊँगा । इससे अब मेरा चित्त इस संसार से विरक्त हो रहा है । सो अब तुम्हारे शरणागत हूँ, मेरा कल्याण करो । आप मुझे कल्याण रूप ही जान पड़ते हो इससे मुझे आपसे बड़ी आशा है, आप मेरा कल्याण करें । हे रामजी ! जब ऐसा कहकर वह चुप होगया तब मैंने उसकी ओर देखकर कहा--हे ब्रह्मन् ! मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा गृह आकाश में है । मुझको राजा अज ने स्मरण किया है, अतः मैं उसके पास जा रहा हूँ । तुम किसी प्रकार का संशय न करो, तुम्हें शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त होगा । हे रामजी ! मेरे ऐसा कहने पर वह मेरे चरणों पर गिर पड़ा और नेत्रों से जल बहाने लगा । मैंने देखाकि उसका मुख कमल महा आनन्द से खिल उठा है । तब मैंने फिर कहा कि हे ब्रह्मन् ! तू संशय न कर । अब मैं तुझे शान्ति देकर ही तेरे साथ से पृथक होऊँगा । तुझे जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछ । मैं तुझे उपदेश करने के लिये पूर्णरूप से तैयार हूं । क्योंकि मैं देखता हूँ तो अब तेरे कषाय परिपक्व होगये हैं, इससे तू मेरे वचनों का पूर्ण अधिकारी है, और मैं तुझको उपदेश करूँगा ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥२८॥

——०::※::०——

उन्तीसवां सर्ग

मङ्की वैराग्य-योग वर्णन

हे रामजी ! मेरे ऐसा कहने पर मङ्की ऋषि ने प्रसन्न होकर मुझसे कहाकि-हे भगवन् ! अब मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मेरा अभीष्ट पूर्ण होवेगा-मुझको अज्ञातसे ही मोह उत्पन्न हुआ था सो अब उसको नष्ट करने के लिये आप सूर्यरूप से उदय हुए हैं । हे भगवन् ! इस संसार में सार कुछ भी नहीं है । फिर भी लोग विषयों की ही ओर दौड़ रहे हैं । यही कारण है जो वे इतने दुखी हैं, और हे मुनीश्वर ! मेरी बुद्धि भी निकृष्ट मार्गको ही जाती है । किन्तु यह जितने भोग हैं उन सभीको मैंने भोग लिया है परन्तु फिर भी शान्ति नहीं मिलती और तृष्णा बढ़-तीही जाती है । जैसे प्यास लगे और खारी जल पी लेवे तो प्यास नहीं बुझती वल्कि वढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार मेरी तृष्णा बढ़ती ही जारही है । हे मुने ! देखता हूँ तो शरीर जर्जर होगया है, दांतों ने जवाव देदिया है और उत्तरोत्तर चोभ भी बढ़ता ही जाता है किन्तु यह तृष्णा नहीं घटती है । क्योंकि संसार के जितने सुख हैं सब दुःखरूप ही हैं । इनमें रंचमात्र भी सुख नहीं मिलता । इससे मैं दुःखही चाहता हूँ । हे मुनीश्वर ! सबको अपनी वासना ही कष्ट देरही है और वासनाही प्रत्येक को बांधती है । परन्तु जीवको यह वैताल तभी तक भासता है कि जब तक ज्ञानरूपी सूर्य उदय नहीं होता । ज्ञानके उदय होते ही वासना की यह रात्रि नष्ट होजाती है और तब इस अहंकारी बैताल का पता नहीं लगता । हे मुनीश्वर ! संतों का साथ और सत् शास्त्रों का अभ्यास ही इस वैताल को भगा सकता है, दूसरा नहीं । क्योंकि यह वासनारूपी काली रात्रि है और सन्तजनों का उपदेश चाँदनी रात्रि है । तब जब उनके उपदेश से अज्ञान नष्ट होजाता है तब आत्म दर्शन होता है और वही दर्शन सूर्यरूप है । किन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष

हैं कि जो सत्सङ्ग और सत्शास्त्र निरूपण भी करते हैं और साथ ही साथ अपनी वासनाओं को भी चलाते रहते हैं, मैं ऐसे ही पुरुषों को बड़ा अभागा समझता हूं। किन्तु अब मैं तो आपकी शरण में आ-गया हूँ। मैंने मन, शरीर, और वाणी इन तीनों का तप कर लिया है अर्थात् इन तीनों को वशमें कर लिया है परन्तु दीर्घकाल तक ऐसा करने पर भी मुझे आत्म-प्रकाश नहीं प्राप्त हुआ। सो आशा है कि अब आपकी शरण में आने से मुझे वह मार्ग प्राप्त हो जायगा कि जिसको पाकर मैं फिर बन्धन में न पड़ूंगा। अतः आप कृपाकर मुझे वही उपदेश करें कि जिससे मेरे हृदय का अन्धकार नष्ट होजावे।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उन्तीसवां सर्ग समाप्त ॥२९॥

—o::❀::o—

तीसवाँ सर्ग

मङ्की–प्रबोध–वर्णन

मङ्की ऋषि के ऐसा कहने पर वशिष्ठजी बोले–हे तपस्वी! वासना, भावना, कलना और संवेदन ये चारों ही अनर्थ की जड़ हैं। जब ये नहीं रहते तभी पुरुष का कल्याण होता है। देखो, चिन्मात्र-पद अपने आपमें ही स्थित है। तब उसमें जो अहंकार का उत्थान होता है वही संवेदन है, और भावना उसे कहते हैं कि जो पहले स्वयं तो कुछ बन जाता है और फिर चेतकर वही चित्त हो जाता है। जब चित्त वैसा ही बन गया तब वह उसी की भावना करने लगता है और तब कहता है कि यह मैं हूं और इससे ही संसार में मेरा विकास होवेगा अथवा इससे ही संसार होता है। फिर तो वैसी ही भावना दृढ़ होजाती है और तब वह अपने शरीर के अनु-सार ही नाना प्रकार के सङ्कल्प विकल्प उठाने लगता है। हे ब्रह्मन्! इस प्रकार ये चारों ही अनर्थ के कारण हैं। जब इनका ज्ञान होवे तब कल्याण होता है। जितने शब्द हैं सबका अधिष्ठान प्रत्येक चैतन्य में विद्यमान है। वही सब कुछ है और सब कुछ एक उसी के ही

आश्रित रहता है। हे ब्रह्मन् ! जब तुझे ऐसा प्रतीत होगा तभी तू कल्याण पद को प्राप्त कर सकेगा, अन्यथा नहीं । अहं वेदना का स्फुरण हुआ नहीं कि झट संसार भास आता है। जैसे वसन्त ऋतु के आते ही लतायें प्रफुल्लित होजाती हैं वैसेही जब संवेदन में स्फुरण होता है तब संसार भी फुर जाता है, और इस प्रकार जगत का अंकुर प्रकट हुआ नहीं कि वासनायें भी फुरने लग जाती हैं और संसार का मिटना असम्भव हो जाता है। बस, इसी प्रकार से जो संसरण हुआ उसे ही संसार कहा जाता है। संसरना मिटे तो आत्मपद का दर्शन होवे फिर तो वह अपना आप रह जाता है और इस प्रकार जो स्फुरण रहित है वही तुम्हारा अपना आप रूप है। तुम उसी अपने आप में स्थित होरहो। जब तक वासना फुरती है तभी तक संसार रहता है। वासनाओं का अन्त कर देने से संसार का भी अन्त हो जाता है। हे पुत्र ! आत्मा में जगत् कुछ हुआ नहीं, वह केवल परमार्थसत्ता ही है, जैसे रस्सी में सर्प कुछ वस्तु नहीं है, रस्सी की अज्ञानता में ही सर्प भासित होता है वैसेही आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है। जब तुझे आत्मपद का ज्ञान होवेगा तब परमार्थसत्ता ही भासित होगी । जैसे अज्ञानी बालक को अपनी छायाही वैताल के रूपमें भासती और भय देती है और जब वह बड़ा हो जाता है तब भूत कोई नहीं, वह निडर होजाता है,वैसेही जब आत्मज्ञान होजाता है तब वासनाओं सहित सारे जगत् का अभाव होजाता है। हे पुत्र ! जैसे घड़े आदि में मिट्टीके सिवा भिन्न कुछ नहीं है वैसे ही सारे प्रपञ्चों में चिन्मात्र के सिवा और कुछ नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है, और जो आत्मा से भिन्न भासता है वह भ्रम मात्रही है। जैसे आकाशमें नीलता भासती है पर नीलता है नहीं और नीलापन भ्रममात्र ही है वैसे ही यह सारा विश्व असम्यक दृष्टि से ही भासता है, सम्यक दृष्टि से तो यह सारा प्रपंच आत्म-स्वरूप ही है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भी बोध-स्वरूप ही हैं। जैसे स्वप्न काल में एकही अनुभव त्रिपुटीरूप होकर भासता है वैसे ही यह

जाग्रत की त्रिपुटी भी आत्मस्वरूप ही है। इस प्रकार स्थावर जङ्गम सहित ये सारे पदार्थ आत्मस्वरूप ही हैं। यदि ये परमात्मरूप न होते तो भासते ही नहीं। अनुभव करने वाला द्रष्टाही एक अद्वैतरूप है उसके प्रमाद से ही भिन्न २ त्रिपुटियों का भान होता है, जैसे स्वप्न त्रिपुटी अपने अनुभव से ही भासित होती है और अनुभव न हो तो न भासे, वैसेही यह त्रिपुटी भी अनुभवतिक आत्मा से भासती है और इस प्रकार सबकी एकता उस परमार्थ स्वरूप से ही हो रही है। हे मुने! सजातीय सभी वस्तुयें आपस में मिल जाती हैं। जैसे एक रूप होने से जलकी बूंद जलमें मिल जाती है, क्योंकि एक रूप है, और जैसे स्पंद और निस्पंद दोनों एक ही वायुरूप है, जल और तरङ्ग में भेद नहीं है, वैसेही यह सारा विश्व परमार्थ स्वरूप ही है, इसमें कुछ भेद नहीं है। हे मङ्की ऋषि! अहं के पश्चात् मम होता ही है, अहं न हो तो मम कहाँ से होवेगा। अस्तु! अहंका होना ही बन्धन है और इससे रहित होना ही मोक्ष है। तब भला केवल यह धारण कर लेने में क्या यत्न है? यह तो अपने आधीन की ही बात है। जब इस प्रकार से अहङ्कार को निवृत्त करलोगे तब वही शेष रहेगा कि जो अपना आप परमार्थ स्वरूप है। उसी को ब्रह्म कहते हैं। जब अहङ्कार नहीं रहता तब वही शेष रहता है कि जो सभी का ब्रह्मरूप और परमार्थस्वरूप है। हे मुने! अहङ्कार ही नाना प्रकार की वासनाओं को उत्पन्न करता है, और फिर उन्हीं वासनाओं के अनुसार जीव अनेक जन्म पाता है कि जो वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे वायु से तृण भटकते फिरते हैं वैसेही वासना वश यह जीव भटकता रहता है। अस्तु! वासना ही जीवको घटीयंत्रकी नाईं कभी नीचे और कभी ऊपरको ले जाती है। जैसे मिट्टी ही घटादिकरूप होकर भासती है, वैसे ही आत्मसत्ता ही जगतरूप होकर भासती है— इससे आत्मासे भिन्न कुछ वस्तु नहीं है। आत्मा अद्वैत और सारे दृश्य बोधमात्र ही हैं। हे साधो! जो जड़ है वह चेतन नहीं होता। न कोई जड़ है न कोई चेतन चैतन्य आत्माही भावनासे जड़रूप दृश्य होकर भास रहा

है और वही ज्ञान से अद्वैतरूप हो जाता है इससे सब कुछ वही है, भिन्न कुछ नहीं बना । हे मुनीश्वर ! अज्ञान से ही यह नाना प्रकार का जगत् भासता है । जैसे मेघ की वर्षा से ही नाना प्रकार के बीज उठ खड़े होते हैं, वैसे ही अहंरूपी बीजसे संसाररूपी वृक्ष वासना मुख से प्रफुल्लित होता है । जब इस अहङ्काररूपी वृक्ष का नाश होवे तब मनुष्य प्रफुल्लित हो जाता है । अन्यथा वासनाओं के प्रहार से तो अर्ध और ऊर्द्धको जाता हुआ आवागमन के चक्कर में पड़ाही रहता है और कभी स्थिर नहीं होता । इससे वासनाओं का अन्तकर तुम आत्मपद में स्थित हो रहो ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तीसवां सर्ग समाप्त ॥३०॥

इकतीसवां सर्ग

मङ्की निर्वाणता

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! यह संसारका मार्ग बड़ा ही कंटकाकीर्ण है इसमें पड़कर जीव अनेक कष्ट उठाते हैं चैतन्यवृत्ति में जो संसरण हुआ है, वही संसार है । जब संसरना मिटे तब स्वच्छ अपना आप ही भासता है । जब चेतन वृत्ति वहिर्मुख होकर फुरती है तब इसी का नाम बन्ध है अन्य कोई बन्ध नहीं कहलाता । हे साधो ! जैसे वसन्त ऋतु से वन फूलता है वैसे ही वासना से ही जगत विस्तरित हो रहा है । किन्तु है यह महान् आश्चर्य, वासना मिथ्या है फिर भी वह जीवों को भटका रही है । इस पिशाचिनी के फेर में पड़ कर ही जीव आवागमन के कष्टों को भोग रहे हैं । किन्तु जिन्होंने इस वासना रूप संसार को पार कर दिया है, वे धन्य हैं और वही प्रत्यक्ष चन्द्रमा के समान अमृतरूप, शीतल और शुभ प्रकाशमान् होते हैं । ऐसा ही पुरुष सबको प्रसन्न करता है और वही ज्ञानी है । हे अङ्ग ! तू भी धन्य है कि तुझे आत्मपद की इच्छा प्राप्त हुई है । अन्यथा इस संसार को तो तृष्णा जला रही है । हे अङ्ग ! यह तृष्णा बिल्ली है जैसे बिल्ली

चूहे को ग्रहण कर लेती है, वैसे ही यह तृष्णा भी जीवों को भक्षण कर लेती है। अन्यथा यह शरीर पुरुषार्थ करने के लिये प्राप्त हुआ है। पुरुषार्थ द्वारा यदि आत्म पद को न प्राप्त किया तो जानो कुछ नहीं प्राप्त किया। वह पशु है। ऐसे पशुधर्मा मनुष्य तो जानो समय तक तृष्णा किया ही करते हैं। हे साधो! ब्रह्मलोक से लेकर काष्ठ पर्यन्त इन्द्रियों के जितने भी विषय हैं यदि वे सभी प्राप्त हो जावें तो भी इस जीव को शान्ति नहीं प्राप्त होती। क्योंकि ये सभी भोग आपातरमणीय ही हैं। इनमें सुख कदापि नहीं मिलता। परन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसे ही शीतल और प्रकाशमान होते हैं कि जैसे चन्द्रमा में शीतलता और सूर्य में प्रकाश होता है। उन्हें विषयों की तृष्णा कदाचित भी नहीं होती। वे उस अमृत रस से सर्वथा ही शीतल बने रहते हैं और उन्हें किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती। इस कारण तुम भी वासनाओं का त्याग कर दो। हे साधो! वासना का बीज अहङ्कार है। जब अहङ्कार फुरता है तब उसके आगे संसार फुर आता है। जैसे जेवरी में सर्प फुर आता है और वह भ्रममात्र ही है, वैसे ही आत्मा में अहङ्कार फुर आता है, यद्यपि वह असत्य है और उसका अभाव हो जावे तो सारे भय आपही आप शान्त हो जाते हैं। किन्तु जब अहङ्कार की उत्पत्ति होती है तब स्त्री, कुटुम्ब और धन आदिक उत्पन्न होकर मनुष्य को बन्धन में डाल देते हैं, और इनकी चमक वैसे ही क्षणस्थायी है कि जैसे बिजली का चमत्कार क्षण में उदय होकर तुरन्त ही नष्ट हो जाता है। इस कारण इनमें कदापि भी बन्धायमान न होवे। इस प्रकार जब अपने आपको अभाव रूप जान लेवे तब परम शान्त रूप आत्मा ही शेष रहता है कि जिसकी अपेक्षा से चन्द्रमा भी अग्नि के समान जान पड़ता है। वह सत्ता परम शून्य और आकाश के समान ही निर्मल है। हे साधो! तुम मेरे इन वचनों को धारण करलो तो मोह मिट जावेगा। जगत का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। आत्मा के प्रमाद से ही यह भासित

होरहा है। इससे यह भ्रममात्र ही है और असम्यक दृष्टि के ही कारण यह जगत भास रहा है। सम्यक दर्शन से परमार्थ सत्ता ही भासती है। जिसके अज्ञान से ही विश्व भासता है उसीको ज्ञानीजन ब्रह्म कहते हैं और उस ब्रह्म शब्द में जो अहं का भाव उत्पन्न हुआ है वही जानो ज्ञान की नष्टता हो गई है। परन्तु सबका अधिष्ठानरूप एक वह 'ब्रह्म' ही है, वही सबको परमार्थरूप से देखता है। तुम उसीमें एकाकी भावसे दृढ़ होजाओ। वह सबकी परमार्थरूप सत्ता ही एक ब्रह्मपद है और वही अजन्मा, अच्युत, आनन्द, शान्तरूप, निर्विकल्प, अद्वैत और वही सबका अधिष्ठान है। जब उस आत्म-सत्ता में भिन्न कुछ भी न फुरे तब जानो कि बोध प्राप्त होगया। हे साधो! यह सारे पदार्थ दुःख के ही देने वाले हैं, इनके जितने भी शब्द अर्थ हैं सब आकाश कुसुम के ही समान हैं, इससे तू इनके लिये कदापि भी शोक न कर क्योंकि सब कुछ तो परमार्थसत्ता ही है। जैसे पुरुष निराकार है किन्तु उसकी भावना से ही अङ्ग का संयोग होता है वैसे ही विश्व भी इसी की भावना से होता है। जैसी-जैसी भावना करता है वैसा ही वैसा रूप आगे भासता है। हे साधो! साधनाओं से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। विश्व ही उत्पादन और वह शब्द ही है। आत्मा अद्वैत और अचिन्त्य है इसीसे विश्व स्वप्न के समान फुरा है। जैसे स्वप्न- सृष्टि निरुपादन होती है वैसे ही यह जाग्रत-सृष्टि भी उपादान रहित होती है। हे साधो! आत्मा अच्युत है। जैसे बिना भीत का चित्र नहीं होता, वैसे ही यह विश्व आकाशवत् है। इसी प्रकार यह आत्मा अकर्त्ता और यह विश्व जो दिखलाई पड़ता है सो उपादान रहित है। तब फिर इसके लिये हर्ष और शोक कैसा? यह सारा प्रपञ्च आत्मस्वरूप ही है। प्रमाद से कुछ नहीं जाना जाता। हे रामजी! ऐसे ही उपदेश से मङ्की ऋषि निर्वाण पद को प्राप्त हुआ है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का इकत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥३१॥

बत्तीसवाँ सर्ग

स्वाभाविकयोगोपदेश-वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार से जिस पुरुष ने सामाधान रूपी वृक्ष के फल को खाकर पचा लिया है जानो वह परमस्थिति को प्राप्त होगया है। जैसे टूटे पर्वत स्थित होगये हैं वैसे ही वह जीव तृष्णा रूपी पंखों के टूट जाने से स्थित हो जाता है। हे रामजी ! तब उसको चित्त का लेश नहीं रहता और वह आत्मरूप हो जाता है जैसे निर्वाण हुये दीपक के प्रकाश का पता नहीं लगता कि वह कहाँ चल गया वैसे ही आत्मपद के प्राप्त होने से चित्त का सर्वथा ही लोप हो जाता है । किन्तु इस जीव को जब तक आत्मानन्द पद प्राप्त नहीं होता तब तक इसे उस अकृत्रिम पद में शान्ति नहीं मिलती। परन्तु ज्यों ही जीव को उस पद में स्थिति प्राप्त हो जाती है त्यों ही परम समाधि मिल जाती है। तब जीव की सारी चेष्टायें इच्छा रहित होजाती हैं और तब इस त्रैलोक्य में ऐसा कोई भी नहीं मिलता कि जो उसे उस महान् पद से उतार लेवे। तब वह मानो किसी-मूर्ति के ही समान अचल भाव से स्थित हो जाता है और मन अमन होकर वह सर्वथा ही शान्तपद को प्राप्त हो जाता है । हे रामजी ! यह मन वासना संयुक्त ही है और वासना युक्तको ही मन कहते हैं। अस्तु ! जिस प्रकार से वासना नष्ट होवे, वही कर्तव्य करना चाहिये । क्योंकि जब तक वासना नष्ट नहीं होती तब तक उस शान्ति पद का दर्शन नहीं होना। अतएव जिस क्रम से वह प्राप्त होवे वही करना चाहिये । बिना उस पद को प्राप्त हुये शान्ति कहाँ ? वही एक ऐसा उत्तम पद है कि जिसकी ओर जाने से दुःखों का सर्वथा ही अभाव हो जाता है । क्योंकि वह पद अविनाशी, निर्विभाग, अनन्त और परम शान्तिरूप तथा वही सर्व को शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला है जब इस जीव को एक

बार उस पद का दर्शन हो जाता है तब उसे उत्थान काल में भी आत्मा का ही भान होता है और द्वैत नहीं भासता तथा फिर वह चाहे जिस किसी प्रकार रहे उसकी समाधि अवस्था भङ्ग नहीं होती और तब किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि कोई उसे विचलित कर सके। विषयों की तो बात ही क्या है फिर, तो उसे देवता भी समाधि पद से वंचित नहीं कर सकते, फिर तो उसके लिये संसार विरस हो जाता है और वह सर्वदा ही समाधि में ही लगा रहता है। जैसे वर्षाकाल की नदियाँ स्वभावतः ही समुद्र की ओर जाती हैं वैसे ही वह सर्वदा ही समाधि की ओर लगा रहता है। उसके लिए संसार विरक्त हो जाता है और वह प्रतिच्तण अपनी आत्मा में ही क्रीड़ित रहता है। चाहे कहीं कुछ भी क्यों न होवे उसका ध्यान किसी दूसरी ओर कदापि नहीं जाता। वह ऐसा आत्मारामी हो जाता है कि उसका शरीर बज्र के समान हो जाता है, वह विषयों से सर्वथा ही निरीच्छित हो जाता है। तब उसे कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी नहीं रहता। ब्रह्मा से लेकर काष्ठ पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उसके लिए सब कुछ सार रहित हो जाते हैं। उनको सङ्कल्प कुछ भी नहीं होता। वे सर्वदा ही मुक्त रूप नहीं होते हैं, उन्हें क्रियायें नहीं बाँध सकतीं और उन्हें साधनाओं का बन्धन नहीं होता। तब वे चाहे कोई साधना करें या न करें यह उनकी इच्छा पर निर्भर है तब उन्हें क्या दुःख होगा। उन्हें विषयों की तृष्णा तो तब होवे कि जब कुछ इच्छा हो। जब उनका वैसा स्वभाव ही नहीं है तब इच्छा किसकी? फिर भला उन्हें कोई भी पदार्थ दुःख संयुक्त कैसे भासते हैं। निर्वाणता तो आदि और अन्त से सर्वथा ही रहित है। वेदाध्ययन करते हुए उसे प्राप्त कर लिया जाता है। प्रणवका जाप करने से भी उसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार करने से समाधिपद प्राप्त होजाता है। और ऐसा करते हुए भी जब समाधि टूट जावे तब फिर वही पाठ करने लगे अर्थात् तब फिर या तो वेदाध्ययन करे और या प्रणव का जप ही करे। जब इस प्रकार से दृढ़ाभ्यास करेगा तब फिर उसको समाधि

अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसा करने से अभ्यासी आवागमन से छूट कर उस पदको प्राप्त कर लेता है कि जो सर्वथा ही शान्तरूप है

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बत्तीसवां सर्ग समाप्त ॥३२॥

तैंतीसवां सर्ग

सर्व-सत्ता-प्रतिपादन

हे रामजी इस संसार की गम्भीरता को कहां तक कहें, इसको पार करना अत्यन्त ही कठिन है। प्रणव के जाप और वेदाध्ययन से ही इससे छुटकारा मिलता है जब ऐसा उपाय करे तब चित्त स्थिर हो जाता है। तब चित्त के स्थित होनेसे ही परमात्मा प्रसन्न होते हैं और तभी हृदयमें ज्ञान का कण उत्पन्न होता है और जब हृदयमें ज्ञान का उदय हो जाता है और सत्य असत्य जान पड़ता है और सन्तों का साथ मिल जाता है, तब उनके सत्सङ्ग और शुभाचार से परम शीतलता प्राप्त होजाती है। फिर तो जगत के सारे रागद्वेष मिट जाते हैं और वह अपने शुभ आचार और कीर्ति को फैलाता हुआ संसारमें सुशोभित हो जाता है। सन्तों के साथ से वह ऐसे ही शीतल हो जाता है कि जैसे चन्द्रमा से शीतलता प्राप्त होती है। सन्तों का दर्शन पाप का नाशक है। किन्तु कैसे सन्त? जो निष्काम हों, जो आत्मा रामी हों। सकाम यज्ञ कर्म और व्रत करने वालोंकी तो संगति ही न करनी चाहिये। वे तो वैसे ही निस्सार और व्यर्थ हैं कि जैसे यज्ञका स्तम्भ पवित्र होते हुए भी निस्सार होता है और उसके नीचे बैठ कर कोई भी सुख और छाया नहीं पाता उनके समस्त साधन आवागमन में ही रखने वाले हैं। यद्यपि आत्मारामी पुरुष भी यज्ञ, तप और व्रतादिक को करते हैं किन्तु उनके सभी कर्म निष्काम होते हैं, इसलिये उनका कर्म आवागमन में रखने वाला नहीं होता। अस्तु! ऐसे ही जिज्ञासुओं का

संग करो। क्योंकि वे ही विशेष हैं। उन्हीं की चेष्टायें वन्दनीय हैं। और वही सबको सुख देने वाले हैं। ऐसे जिज्ञासु नवनीतके ही समान सुन्दर कोमल और स्निग्ध होते हैं। उनके साथ से जितना भी अधिक सुख मिलता है उससे भी अधिक सुख पुष्प-शैय्या और ऐसे किसी भी निर्भीक विषय से नहीं मिलता। जब ऐसे ज्ञानियों की संगति से सुख प्राप्त होवे तब जानो कि आत्मतत्व प्राप्त होगया किन्तु हृदय में जब तक मलिनता का बास है तब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती। परन्तु ज्योंही उस प्रकार से विवेक प्राप्त हो गया अथवा ज्ञान दृढ़ होगया कि त्योंही जीव को परमपद प्राप्त हो जाता है। वह पद चैत्यसे रहित और चैतन्य घन है जब इस प्रकार से जीव शुद्ध चैतन्य में चैतन्योमुखत्व होता है तब उसकी शरीर में मनोमात्र शरीर धारण करनेकी शक्ति आजाती है,वही मनोमात्र शरीर ही अन्तवाहक शरीर कहा जाता है और अधिभौतिक वह है कि जिस शरीर में वासनाओं की दृढ़ता भासती है इसीका प्रतीत होना अनर्थ का कारण है। यह आधिभौतिक शरीर जो कुछ भी चेतता है, उससे अनर्थ की ही प्राप्ति होतीहै। मैं और मेरा आदिक क्या है यही जगत है और आधिभौतिक शरीर में यही भासता है, किन्तु मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि तुम अन्तवाहकरूपी चेतना से भी रहित अपने बोध स्वरूपमेंही स्थित हो जावो। मनने ही जगत को उत्पन्न किया है। इससे मन और जगत दोनों ही मिथ्या हैं। हे रामजी! इन दोनों के समान ही शून्य रूपभी है परन्तु वह भी मिथ्याही है। इसका भी अभाव कर देना चाहिये। इस प्रकार जब ये तीनों ही अस्त हो जातेहैं तब बोधमात्र चेतन उत्पन्न होता है। हे रामजी! द्रष्टा,दर्शन और दृश्य भी भावना-मात्र ही हैं। इनके रहनेसे ही जगत भासता है। क्योंकि अहन्ताही इसका उत्पत्ति का कारण है। अहन्ता न होवे तो जगतभी नहीं रहता। किन्तु जब तक वासनायें उठती हैं तब मनमें शान्ति नहीं होती। जैसे बालों को घुमावे तो वह बल खाते जाते हैं और ज्योंही घुमाना

छोड़े कि फिर उनकी ऐंठन खुल जाता है, वैसे ही जब तक चित्त वासनाओं के वश से भ्रमता है तब तक आवागमन रूपी बल बढ़ता जाता है और ज्योंही चित्त ठहरता है कि अवागमन का सर्वथा ही अभाव होजाता है। परन्तु जब तक इस चित्तका सम्बन्ध दृश्यों के साथ लगा हुआ है तब तक शुद्ध और अद्वैतपद नहीं प्राप्त होता। हे रामजी! जब उस शुद्ध चिन्मात्र में उत्थान होता है तब उसे ही चैतन्योमुखत्व कहा जाता और जब वही अज्ञानता दृश्यों की ओर जाती है तभी प्रमाद और जड़ता उत्पन्न होती है। जैसे अत्यन्त शीतलतासे ही जल बरफ रूप हो जाता है वैसेही चित्तशक्ति प्रमाद से जड़ हो जाती है। और जब वामनाओं की दृढ़ता से अंतवाहक शरीर आधिभौतिक हो जाता है तब पृथ्वी आदिक भूतों का भान होने लगता है। और जैसेही जैसे चित्तकी वृत्ति वहिमु ख होकर फुरती जाती है वैसेही वैसे संमार भामने लगता है। किन्तु जब वही चित्त वृत्ति स्फुरण से रहित हो जाती है तब वह स्वरूप की ओर आती है और तब अपना ही आप भासने लगता है। अस्तु! इस प्रकार द्वैतभास के नष्ट होने पर परमानन्द अद्वैतपद भास जाता है। तब एककी भी संज्ञा नहीं रहती। और केवल आत्मशक्ति शुद्धचैतन्य ही रह जाता है अर्थात् तब ईश्वर से मिलाप हो जाता है और जगत का सर्वथा ही अभाव हो जाता है और यही होना भी चाहिये। क्योंकि यह जगत भावना मात्र है, इससे इसका अभाव करना ही उचित और आवश्यक है यह जगत कुछ बना नहीं सब कुछ भ्रान्ति मात्र ही है। हे रामजी! मेरे वचनों का अनुभव तब होगा जब स्वरूपका ज्ञान होगा। किन्तु ज्ञान भी तभी होगा कि जब मेरे वचनों को अपने हृदय में धारण कर न्हीं का स्फुरण करोगे। जैमे कथा का अर्थ हृदय में जब फुरता है तभी उसका बोध होता है वैसे मेरे ये वचन भी हैं। अन्यथा जब तक तुम मनके पीछे घूमते रहोगे अथवा जब तक मनमें फुरना बना रहेगा तब तक इस जगत का अभाव नहीं होगा। किन्तु मन ज्योंही उपशम

हो जायगा कि त्योंही जगत का अभाव हो जावेगा। हे रामजी! समस्त जीवों पर वासनाका आवरण चढ़ा हुआ है। वासनाओं का अन्त होजावे तो जानो कि ज्ञान प्राप्त होगया। किन्तु जब तक वासनाओं का अन्त न होगा तब तक जगत भासता ही रहेगा। हे रामजी! जगत के भानमें ही वासनायें दृढ़ हो रही हैं और उसीसे जीव दुःख पारहे हैं। जब यह चित्त अचित्त होवे, आत्मभावना की दृढ़ता करे तब ज्ञान रूपी मन्त्र की प्राप्ति होवे। फिर तो अज्ञान रूपी भूत भाग जाता है। हे राघव! यह शरीर पहले अन्तवाहक ही था, स्वरूप के प्रमाद से ही आधिभौतिक होगया है। अब वही आधिभौतिक इसे कष्ट देरहा है। अन्यथा इसको न कोई सुख है,न कोई दुःख, सब कुछ भावना मात्र ही है। चित्त में जैसी भावना होती है वैसा ही आगे भासता है। इसी भावना को अर्थात् मनकी वृत्तियों को अन्तर्मुख कर लेवे तो उस एक बोधका ही भान होता है और जब उस एक का भान होगया तब द्वैत कोई नहीं रहता। सब आपही आप नष्ट हो जाते हैं। किन्तु आत्मा में अन्तवाहक भी नहीं है। क्योंकि अन्तवाहक तो उसे ही कहते हैं कि जो उस शुद्ध चिन्मात्र में चैतन्योमुखत्व होने के लिये चितशक्ति में स्फुरण होकर वह भाव उसमें स्थित हुआ। यदि उसी भाव को पंचज्ञान इन्द्रियों ने लेलिया तो वही जड़ और चेतन की ग्रन्थि हो जाता है। चितशक्तिही चेतन है और पञ्चतन्मात्रायें जड़ हैं। जब यह चेतन चितशक्ति और पञ्चतन्मात्रायें एकत्र हो जाती हैं तब उसीका नाम अन्तवाहक पड़ता है। परन्तु यह भी तो आत्मा में नहीं हुआ न? यदि यह कुछ होता तो मैं ऐसा क्यों कहता कि यह कुछ बना नहीं, यह चिन्मात्र है अथवा आत्मा अद्वैत है। जब इनका कुछ अस्तित्व नहीं है, तब जगत भ्रान्ति से ही तो उत्पन्न रूप और भ्रमसे ही द्वैतभासता है। ऐसे ही यह जाग्रत भी भ्रांतिही से भासित हो रहा है, कुछ बना नहीं है। परन्तु इतना होते हुये भी इसके त्यागने में महान कष्ट होता है। शिर दे देने पर ही इसका त्याग होता है। बिना

ऐसा किये इसमें सफलता नहीं मिलती। हे रामजी। जब इस मन के समस्त अर्थों को तृणों के समान ही ज्ञानाग्नि से जलाइयेगा तभी ब्रह्मसत्ता का भान होवेगा। और जब इन तृष्णोंको भस्मकर डालोगे तभी शांति को प्राप्त करोगे। हे रामजी ! मन को जलादेने पर महान सम्पदा मिल जाती है। मन के उपशम करने में ही कल्याण है। यह जो भीतर बाहर के अनेक पदार्थ भास रहे हैं, सब मनके मोहसे ही उत्पन्न हुये हैं, मन उपराम हो जावे तो यह नाना प्रकार की भूत जातियाँ हैं सभी आकाशरूप हो जावें। क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है। ज्ञानी जनों को एक ही सत्ता भासती है। क्योंकि वे जानते हैं कि यह जगत् भ्रमपूर्ण है और इसमें किसी की कुछ भी वास्तविकता नहीं है। अपनी वासनाओं के अनुसार ही यह नाना प्रकार का जगत भासित होरहा है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥३३॥

चौंतीसवाँ सर्ग

सप्त सृष्टि-योग-वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जगत में सात प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं और सात ही प्रकार के जीव भी होते हैं। नको अलग अलग सुनो। स्वप्न जाग्रत, सङ्कल्प जाग्रत, केवल जाग्रत, जाग्रत, दृढ़ जाग्रत स्वप्न जाग्रत, और क्षीण जाग्रत। हे रामजी ! स्वप्न जाग्रत वह है कि जो स्वप्न में जाग जावे। और यदि कोई पुरुष बैठा हो और बैठे ही बैठे उसकी चित्त वृत्तियाँ नितांत ही ठहर जायें परन्तु निद्रा न आवे तब वैसी अवस्था में उसको जो मनोराज उत्पन्न हो जावे और उसमें उसकी जो वासना दृढ़ हो जावे और पूर्व की वासना भूल जावे तो इस प्रकार उसे अब जो सत्ता भास आई और उसमें उसने मनोराज शरीर की रचना की वही उसका सङ्कल्प जाग्रत हो गया। केवल जाग्रत वह है कि जो आदि परमात्म तत्व से फुरकर निश्चय आत्म पद में स्थित हुआ और तब उसे जो जगत् भास-आया, उसी ऐसे सङ्कल्प मात्र का 'केवल जाग्रत' कहा जाता है।

तीसरा जाग्रत जगत यह है कि आदि परमात्मतत्व से जो स्फुरण हुआ और उससे जो सृष्टि उत्पन्न हुई तब उसीको सत्य जानकर जो ग्रहण किया तो स्वरूप में प्रमाद हो गया और आवागमन में आगया। बस यही जाग्रत जगत है। दृढ़ जाग्रत वह है कि आदितत्व में जो कम्प हुआ तो सृष्टि उत्पन्न हुई और उसको सत जानकर जो ग्रहण किया तो स्वरूप का प्रमाद हुआ जिससे वह जन्म जन्मान्तर को पाने लगा और जब उसमें वासनायें दृढ़ होगईं तो वह पाप कर्म करने लगा फिर तो उसके वश हो जाने से वह ऐसा स्थूल हो गया कि उसे स्थावर योनि में जाना पड़ा। वही घन जाग्रत और सुषुप्त जाग्रत भी कहा जाता है। फिर जब उसे संतों की वाणी ने जगाया तो वह ज्ञान को पाकर जाग जाता है और उसका ज्ञान दृढ़ हो जाता है तब उसी को क्षीण जाग्रत कहते हैं। इस पद में पहुँचने पर परमानन्द पद प्राप्त होता है। हे रामजी! इस प्रकार से यह सात सृष्टियाँ होती हैं परन्तु इनको भी क्या कहूँ। मनके स्फुरण से ही सारे दृश्य भासते हैं। मनको स्थिर करके देखा जाय तो सभी कुछ शून्य हो जाते हैं और अन्त में उस शून्य का भी अभाव हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौतीसवां सर्ग समाप्त ॥३४॥

पैंतीसवाँ सर्ग

सर्व शान्ति का उपदेश

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर! यह जो आपने जाग्रत की उत्पत्ति अकारण अकर्म और बोधमात्र में कही है सो असम्भव है। जैसे आकाश में वृक्ष नहीं होता है, वैसे ही आत्मा में सृष्टि नहीं उत्पन्न हो सकती। आत्मा निराकाश और निष्क्रिय है। उसमें न तो समवायकारण है और न कोई निमित्त कारण है। जैसे-घड़े का कारण मृत्तिका होती है वैसे ही कुम्हार उसका निमित्त कारण होता है। परन्तु आत्मा तो सृष्टि का निमित्त कारण भी नहीं है। क्योंकि वह सर्वथा ही अक्रिय है।

तब भला उसमें सृष्टि कहाँ से उत्पन्न होगी ? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! तुम धन्य हो। निश्चय ही अब तुम जागे हो। आत्मा में सृष्टि का अत्यन्त ही अभाव है। क्योंकि वह सर्वथा ही निर्विकार और निष्क्रियरूप है। वह न भीतर है, न बाहर, न उर्द्ध्व है न अर्ध, वह केवल बोध मात्र और आरम्भ-परिणाम से रहित है। जैसे सूर्य की किरणों में जाल नहीं होता वैसे ही आत्मा में जगत नहीं होता। आत्मा के अभाव से ही सबका अभाव हो जाता है। उसमें न कुछ उपजता है न भास होता है। उपदेश देने के लिये ही उसमें सब कुछ कहा जाता है। रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! जब अपना आप में कुछ है ही नहीं, तब यह सब पिण्डाकार कहाँ से प्रकट हुआ ? इनको किसने रचा है और एक उसमें ही इन सब इन्द्रियों का भान कैसे होता है। वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! आत्मा में न कोई पिण्ड है और न किसी ने इसको रचा है। उसमें कोई भी भूत-प्राणी नहीं है और न इनको किसी ने मोहित किया है। उसमें कोई आवरण नहीं है, भ्रान्ति से आवरण भासता है। किन्तु आत्मा तो सर्वदा ज्ञान-स्वरूप है। इससे उसमें दूसरा भाव नहीं हो सकता। उसमें मन और बुद्धि भी कुछ नहीं बना, इससे उसमें मोह का भी आवरण नहीं हुआ। वह सर्वदा एक रस और आत्मतत्व ही है, ज्ञानी को ऐसे ही भासता है किन्तु अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत ही भासता है। उसके लिये ज्ञान अज्ञान सब समान ही है। फिर भी उसमें ज्ञान अज्ञान की दृष्टि विद्यमान है। जैसे समुद्र एक ही है परन्तु उसमें तरङ्ग और बुदबुदों का उठना और लीन होना दोनों ही भाव विद्यमान हैं और वह दोनों ही जल से भिन्न नहीं है, ऐसे ही जितने विचार और इच्छा भासते हैं सबका बास आत्मा में होता है। अस्तु ! विकार अविकार सब परमात्मा में ही होता है। जैसे सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषण होते हैं और वह सुवर्ण ही हैं, अन्य कुछ नहीं और भ्रम से ही नानात्व

भासना है, वैसे ही वह भी है। जैसे कोई जागकर बैठा हो और नींद आने से स्वप्न सृष्टि भासे तो चाहे उसे जाग्रत के अज्ञान से स्वप्न सृष्टि भासी हो किन्तु जब निद्रा टूटती है तब जाग्रत ही भासता है किन्तु जाग्रत और स्वप्न दोनों ही मिथ्या हैं। जब उस पद का बोध होवे तभी जाग्रत और स्वप्न का भ्रम मिटे। हे रामजी! अपने स्फुरण से ही जगत उत्पन्न हुआ है। जब वही फुरना दृढ़ होता है तब दुःख पाने लगता है। जैसे बालक अपनी परछाईं में वैताल की कल्पना करके दुःखी होता है ऐसे ही जीव अपने स्फुरण से ही आप दुःख पाता है। आत्मबोध होता है तो संसार भ्रम नष्ट हो जाता है। हे रामजी! यह देह और इन्द्रियां आदिक तो आत्मा के अज्ञान से ही स्फुरण हुआ है। तब उनमें जो यह अहंभावना उठी है वह आत्मभावना से ही निवृत हो जायेगी। जैसे वर्षा काल के मेघ शरतकाल के आते ही नष्ट हो जाते हैं वैसे ही जब बोधरूपी शरतकाल आता है तब अनात्मा में अभिमानी रूपी मेघ नष्ट हो जाता है और तब परम स्वच्छता प्रकट हो जाती है। हे रामजी! यह जितना कुछ पिण्डाकार जगत भास रहा है वह सब आत्मसाक्षात्कार में लय हो जाता है। ये समस्त क्षोभ और विकार तो आत्मप्रमाद से ही भासते हैं। आत्मबोध होने पर समस्त विकारों का शमन हो जाता है। तब सारे प्रपञ्च एक हो जाते हैं और द्वैत कोई नहीं रहता। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत, इन्धन और मिष्ठानादिक समस्त द्रव जो कुछ पड़ता है सब एक रूप हो जाता है, वैसे ही जब बोध की प्राप्ति होती है तब सारा जगत एक रूप हो जाता है। जैसे नाना प्रकार के भूषणों को अग्नि में डालिये तो वह गलकर एक सुवर्ण ही हो जाता है और वहाँ भूषण की कोई संज्ञा नहीं रहती वैसे ही जब मन को आत्मबोध होता है तब जगत की संज्ञा नहीं रहती और केवल परमात्म तत्व हो जाता है। हे रामजी! इन्द्रियाँ और जगत तभी तक भासते हैं कि जब तक स्वरूप में निद्रित है। जब स्वरूप से जीव जागता है तब संसार की

सत्यता नष्ट हो जाती है और तब कोई भी इच्छा नहीं रहती। तब उसकी सारी चेष्टायें जीवन्मुक्त के ही समान होती हैं परन्तु उसके हृदय में जगत की कोई सत्यता नहीं रहती। आत्मा का अनुभव हो जाने से वह सब कुछ से वीतराग हो जाता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है और जो जानता है कि यह किरणें हैं उसे उसमें जलका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाने पर संसार का भान नहीं होता। ऐसे दृष्टि तो दोनों की ही समान है केवल भेद इतना ही है कि ज्ञानी के निश्चय में जगत जलवत नहीं है और अज्ञानी को जगत जलके समान ही दृढ़ भासता है। हे रामजी! मन रूपी दीपक जल रहा है, उसमें ज्ञानरूपी जल जलने से वह निर्वाण हो जाता है। और जब मन निर्वाण हो जाता है तब सारे अहंभाव नष्ट होजाते हैं। फिर तो यह जीव कृतकृत्य होकर रागद्वेषसे रहित होजाता है और केवल निर्वाच्यपद प्राप्त होता है। फिर वहां कोई उत्थान नहीं होता। अस्तु! आत्मा में जगत के कोई पदार्थ नहीं हैं, सब कुछ मनके ही सङ्कल्प से भासता है। जैसे स्तम्भ में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है किन्तु उसमें पुतलियाँ हैं नहीं वैसे ही मनके निश्चय में जगत है, आत्मा में कुछ बना नहीं है। जिसका मन सूक्ष्म हो गया है उसको जगत स्वप्न के ही समान भासता है। तब भला उसे इच्छा भी क्या होवे। हे रामजी! यह जगत तो तभी तक भासता है कि जब तक आत्मदर्शन नहीं हुआ। आत्मानुभव होते ही, यह रससंयुक्त जगत कदापि न भासेगा। जैसे धूप और छाया इकट्ठा नहीं होती वैसेही ज्ञान और जगत इकट्ठे नहीं होते। जैसे भूत और वर्तमान इकट्ठे नहीं होते वैसे ही आत्मामें जगत नहीं होता। हे रामजी! यह जो द्रष्टा, दर्शन, और दृश्य संयुक्त त्रिपुटी भासती है वह मिथ्या है। निद्रादोष एवं स्वप्न के समान ही यह तीनों भासती हैं। जाग्रत में इन सबका अभाव हो जाता है। मनोराज ही जगत को स्थित कर रहा है परन्तु इसकी कोई भी सत्यता नहीं है। अतः इस

जगत का भ्रम त्यागकर तुम अपने स्वभाव में स्थित रहो । हे राम-जी यह जगत भ्रम से ही उदय हुआ है, विचार करने से नष्ट हो जाता है जिसका मन उपशम हो जाता है, वही पुरुष मौनी कहलाता है क्योंकि इसने अपना इन्द्रियों का निरोध कर लिया है। और संसार सागर को पार कर कर्मों के अन्त को प्राप्त हो चुका है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पैंतीसवा सर्ग समाप्त ॥३५॥

—०::֍::०—

छत्तीसवां सर्ग

ब्रह्मरूप प्रदर्शन

हे रामजी ! यह जितना कुछ जगत दिखलाई पड़ता है, उसका निश्चय पहले चित्त में ही होता है । चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, सबको यह जगत चित्त से ही भासता है। भेद इतना ही है कि अज्ञानी जगत को सत् मानता है और ज्ञानी उसे शास्त्रानकूल विचार करने से भ्रम मात्र ही जानता है। अस्तु ! यह जगत अविद्या से ही भास रहा है। किन्तु यह अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं है। जैसे सूर्य का किरणों में जलाभास कुछ नहीं है वैसे ही यह अविद्या भी कुछ नहीं है। यह स्थावर जङ्गमरूपी जगत कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्र से एक बूंद निकालिये तो वह नष्ट हो जाता है क्योंकि वह विभाग रूप है ऐसे ही माया अविद्या, सत, असत, आदिक सब का अभाव हो जाता है क्योंकि सारे शब्द जगत में ही हैं, प्रलय में जगत का भी अभाव हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि जगत असत्य है क्योंकि नाश हो जाता है इस पर यदि तुम यह कहो कि असत्य है तो उपजता क्यों है तो इसका उत्तर यह है कि उपजी वस्तु सत्य नहीं होती । इस पर भी यदि तुम प्रश्न करो कि, महा प्रलय में चिदाकाश ही रहता है

और फिर वही जगदाकार होकर भासता है तो उसका भी उत्तर यही है कि आकार कुछ भी भासे किन्तु रूप तो वही है। वह उत्पन्न कहाँ हुआ और उत्पन्न हुआ भी तो उसमें विकार और भेद कैसे हुआ । विकार और भेद तो तब होवे जब कुछ उत्पन्न हुआ हो। अस्तु! सब कुछ बोधमात्र अपने आप में ही स्थित है। उसमें कोई कार्य कारण नहीं है वह आत्मा कार्य कारण से रहित परम शांतरूप अपने आप में ही स्थित है। वही जगतरूप होकर भासता है । किन्तु उसके सहित देश, काल और पदार्थ आदिक सब महा प्रलयरूप ही हैं। महाप्रलय में तो ब्रह्मदेव तक सभी नष्ट हो जाते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि कुछ भी नहीं रहता। केवल बोधमात्र परम-शान्त रूप, अचेनन चिन्मात्र सत्ता ही कि जो वाणी का विषय नहीं है वही शेष रहता है। तत्वदर्शी उसे अनुभव भी कहते हैं। वहाँ तक मनकी पहुँच नहीं होती। उसे कोई नहीं जान सकता। हे रामजी! जिसको अविद्या नहीं है उसमें किसी प्रकार का भास नहीं होता, उसको चित्त और चैत्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इससे वह परम प्रकाश रूप होकर आत्मपद एवं तत्वभाव में ही स्थित रहता है। भाव यह कि उस पदसे प्रकृति का प्रभाव जाता रहता है। उसके लिए यही जगत जो कि पहले भिन्न भिन्न जान पड़ता था अब वही एक रूप हो जाता है। जैसे स्वप्न में सारे पदार्थ भिन्न भासते हैं वह जागने पर एक रूप होजाते हैं वैसे ही जब आत्मानुभव हो जाता है तब सारे पदार्थों सहित जगत एक रूप होकर अपना आप ही भासने लगता है। तब निश्चय हो जाता है कि जगत कुछ बना नहीं है । जैसे अनेकों स्वर्ण भूषणों को अग्नि में डालने पर वह एक पिण्डाकार हो जाता है वैसे ही जब नाना प्रकार के पदार्थों युक्त इस जगत को ज्ञानाग्नि में तपा दिया जाता है तो वह सब कुछ नष्ट होकर एक रूप हो जाता है। अस्तु, जगत के होते हुए भी वह सब कुछ आत्मरूप ही है। हे रामजी! ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है। उसके आगे विदेह मुक्त क्या है और जीवन्मुक्त क्या है, वह कुछ

नहीं जानता उसके लिए दोनों ही समान हैं। जैसे स्वर्ण भूषण बन जाने पर भी स्वर्ण ही है और भूषण न बनने पर भी स्वर्ण ही है। ज्ञानी को देह होते हुए भी ब्रह्म ही भासता है। किन्तु जो अज्ञानी है उसको नाना प्रकार का जगत ही भासता है। हे रामजी! अज्ञानी वही है कि जिसका सम्बन्ध मन से होता है। और अज्ञानी को ही यह जग भासता है। जैसे शिल्पी काष्ठ के स्तम्भ में पुतलियों की कल्पना करता है यद्यपि उसमें पुतलियाँ नहीं हैं वैसेही मन इस असत्यरूप जगत की कल्पना करता है किन्तु ज्ञानी को मनका स्फुरण नहीं होता। हे रामजी! काष्ठ का भी तो एक आधार होता है कि उसमें शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है किन्तु यह आश्चर्य है कि यह मनरूपी शिल्पी विना आधार के ही आकाश में भी जगतकी रचना कर लेता है। जैसे किसी ने कागज पर चित्र लिखा हो सो कागजरूप ही है और कुछ उस पर बना नहीं वैसे ही यह जगत भी परब्रह्म-स्वरूप ही है। उस आत्मपद का अनुभव कराने के लिये ही नाना प्रकार के शब्द-अर्थ कहे गये हैं। जब आत्मपद जान लोगे तब ये सभी उसमें समा जाँयगे। हे रामजी! यह जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म है किन्तु इसी में सारी सृष्टियाँ सन्निहित हैं। अनेक स्फुरणों ने ही सबको खड़ाकर रखा है। जब अफुर होवे तब आत्मरूप हो जाता है। हे रामजी! आकाश, काल, दिशायें और पदार्थ आदिक सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है और वह अपने आप में स्थित और चिन्मात्रपद है।

श्री योगवासिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का छत्तीसवा सर्ग समाप्त ॥३६॥

—०॥※॥०—

सैंतीसवाँ सर्ग

निर्वाण-वर्णन

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! महाप्रलय में सब कुछ लीन हो जाता है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर कोई भी नहीं रहते । प्रलय का अर्थ ही यह है कि सब कुछ निर्वाण हो जावे । हे रामजी ! वह अनन्त आकाश सबसे परे, सम, शुद्ध और आदि अन्त सबसे रहित है । इससे वह सूक्ष्म भी है और पत्थर के समान स्थूल भी है । उसमें फुरना कोई नहीं है । वह सर्वथा ही चैतन्यघन है और उसमें एक दो कुछ भी नहीं है-ऐसी जो सत्ता है वह चित्तके फुरने से अपने आप ही में स्थित है । हे रामजी ! तुम उसीमें स्थित होवो । तब तुम्हें पता चलेगा कि जगत् कहाँ है और यह कैसे उत्पन्न हुआ ? हे राम जी ! इसकी उत्पत्ति समवाय और निमित्त कारण से होती है किन्तु आत्मा निराकार, अद्वैत और सर्व कारणों से पृथक है । वह अच्युत और निराकार है, उसमें जगत कोई नहीं, जगत तो सर्वथा ही भ्रान्तिमात्र और अविद्या के कारण ही भास रहा है, कुछ भी प्रतीत नहीं होता । तब जिसका सर्वथा ही अभाव है और फिर भी वह भासता है तो उसे यही जानो कि वह अविद्या से ही भास रहा है अस्तु ! ब्रह्म सत्ता सर्वदा अपने आपमें ही स्थित है । जैसे जल और तरङ्ग दोनों ही जलरूप हैं और जल से भिन्न कुछ नहीं है, वैसे ही आत्मा और जगत का सम्बन्ध जानो । जब तुम अपने आपमें ही स्थित होकर देखोगे तब जगत का शब्द अर्थ आपही आप जान जाओगे । हे रामजी ! ब्रह्म का कोई आकार नहीं है, वह सर्वथा ही मूर्ति रहित है, फिर उसमें मूर्ति कहाँ से उत्पन्न होगी । जब कोई वस्तु कारण रहित उत्पन्न होवे तब भले ही वह सत् हो किन्तु जो बिना कारण ही दृष्टि आवे उसे सत् कैसे कहा जाय ? जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा बिना कारण ही भासित होवे वैसे ही यह मिथ्या जगत विचार करने

से नहीं रहता और बिना कारण ही भास रहा है। आत्मा में कुछ भी उदय नहीं हुआ है। वह आकाश और काल आदिक सभी पदार्थों से शून्य है। किन्तु आत्मा ज्यों की त्यों स्वतः है और स्थित है उसमें उदय अस्त कोई नहीं होता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सैंतीसवां सर्ग समाप्त ॥३७॥

—०::❀::०—

अड़तीसवां सर्ग

ब्रह्म-एकता प्रतिपादन

हे रामजी ! आत्मा अद्वैत, निर्गुण निराकार और आरम्भ परिणाम से सर्वथा ही पृथक है। उसमें एक और दो कुछ भी नहीं है। उसमें कोई कारण नहीं होता। वह ब्रह्मरूप से अपने आत्मपद में ही स्थित है। उसमें मनका फुरना कुछ भी नहीं है। वह काष्ठ के समान सर्वथा ही अफुर है। उसमें जो कुछ द्वैत भासता है, सब भ्रम मात्र ही है। उसमें यह पृथ्वी और जल संयुक्त जगत का स्फुरण स्वप्न के ही समान है। जैसे स्वप्न की चेष्टा में संकल्प मात्र है वैसे ही यह जगत संकल्प मात्र और स्वप्न ही है। जैसे खरगोश को सींग उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं और कारण न होने से ही उसे सींग नहीं होता वैसे ही इस जगत का कोई कारण नहीं है और उसी नियम से यह कहीं भी नहीं है।

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा—हे भगवन् ! यह तो आपने ठीक ही कहा, परन्तु जैसे बीज समय पाकर वृक्ष हो जाता है वैसेही इस जगत का कारण परमाणु क्यों नहीं है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! क्यों नहीं है, यह जो सूक्ष्म में स्थूल दिखलाई पड़ता है, वह बीज नहीं तो क्या है ? यह जगत जो, अब इतना विशाल दिखलाई पड़ता है यह क्या है, यह संकल्प रूप से ही तो इतना बड़ा हुआ है। परन्तु नहीं, इसको बीज भी इस कारण नहीं कह सकते कि यह महान् सूक्ष्म है। वट का बीज तो फिर भी कुछ परिमाण में

होता है परन्तु इस जगत के बीज का परिणाम क्या कहें। यह तो परमाणु से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है, और वट का बीज तो ऐसे गोलक में होता है कि जो तुम स्पष्ट दीखते हो किन्तु इसका वास तो उस एक अद्वैत आत्मा में है कि जिसको तुम न तो एक कह सकते हो और न दो। उसमें एक और दो का सर्वथा ही अभाव है। वह आधार और आधेय से सर्वथा ही रहित केवल आत्मतत्व मात्र है। इसी प्रकार वट का बीज भी तब वृक्षरूप धारण करता है कि जब उसको जल मिलता है और जब उसकी रक्षा का भी स्थान होता है किन्तु इसके बढ़ने का स्थान तो किसी भी आधार आधेय से सर्वथा ही रहित और अपने आपमें ही स्थित अद्वैत सत्तामात्र ही है। जैसे वन्ध्या के पुत्र का कोई कारण नहीं होता, वैसे ही जगत का भी कोई कारण नहीं है, और जैसे जब वन्ध्या का पुत्र है ही नहीं तब उसका कारण भी कैसे हो वैसे ही जब जगत है ही नहीं तब ब्रह्म भी जगत का कारण कैसे हो सकता है। किन्तु सर्व में दृश्य ही दृश्य-रूप होकर स्थित हुआ है। जैसे सूर्य की किरणों में जल का आभास स्थित है, वैसेही ब्रह्मही जगत रूप में दिखलाई पड़ रहा है। परन्तु यह दृश्य भी कुछ और वस्तु नहीं है। जैसे समुद्र का जलही तरङ्ग और आवर्तरूप होकर भासता है वैसेही अनन्त शक्ति परमात्मा ही प्रकट रूपसे सर्वत्र स्थित है। हे रामजी! मैं और तुम भी इस जगत के स्फुरण मात्र हैं। जैसे मनकी कल्पना ही गन्धर्वपुर की रचना कर लेती है वैसे ही यह जगत भी आत्मा में कुछ बना नहीं है। केवल ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। हमको ऐसा ही भासता है। आत्मा ज्यों का त्यों निर्मल और शान्त पद है। उसमें इस जगत का उदय और अस्त कुछ भी नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३८॥

—०❀०—

उन्तालीसवाँ सर्ग

शान्ति-निर्वाण-वर्णन

हे रामजी ! यह आत्मा केवल अपने आप में ही स्थित है। इसमें देश, काल, वस्तु कुछ भी नहीं है। इसमें जगत का भी कुछ अस्तित्व नहीं है। यह जो कुछ भी भावाभाव पदार्थ तुम देख रहे हो वह स्थावर जङ्गम सहित सूक्ष्म, स्थूल, और शुभाशुभ कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है। यह सब कुछ कार्य कारण से रहित है। तब मैं कैसे कहूँ कि यह जगत कुछ होकर उत्पन्न हुआ है। यह तो है भी और नहीं भी, ऐसा जो स्थित हो गया है वह संवेदन मात्र ही है और उसी के स्फुरण से जगत भास रहा है। जब यह स्फुरण न हो अर्थात् जब यही अपनी ओर आ जावे तब जगत का भ्रम मिट जाय अन्यथा जब यह फुरता है तब धाता, ध्यान, ध्येय रूप होकर यह स्थिर हो जाता है। बस इसी का नाम जगत है और यही बन्ध और मोक्ष है। किन्तु स्पष्टता यह है कि आत्मा में बन्ध और मोक्ष कुछ भी नहीं है। राग-द्वेष ही बन्धन का कारण होरहा है। वासनायें नष्ट होजांय तो जगत का अभाव होकर स्वच्छ आत्मा का ही भान होता है। हे रामजी ! मृत्यु के समय जो जीव निकल जाता है वह मृतक नहीं कहा जाता, वह तो जीवित ही रहता है, मृतक तो तब कहिये कि जब उसका अत्यन्त ही अभाव होजावे पर वैसा तो होता नहीं और फिर जगत भास जाता है। वह मरना तो सुषुप्ति के ही समान है। जैसे सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् जाग्रत में आने पर फिर जैसा का तैसा ही भासने लगता है और जैसे स्वप्न के पश्चात् जाग्रत दशा में फिर अपनी चेष्टा करने लगता है वैसे ही मृत्यु और जन्म होता है। यदि मृतक अवस्था में शोक किया जाता है तो जीने का भी हर्ष होता है और यदि हर्ष होता है तो शोकभी होता है, इसलिये यह मरना जीना दोनों ही अवस्थायें समान हैं।

हे रामजी ! जब तुम इन दोनों अवस्थाओं को समान दृष्टि से देखोगे तभी शीतलता प्राप्त होगी। जब फुरनेका अभाव होता हैं तभी शांति प्राप्त होती हैं। फिर तो धाता, ध्यान, ध्येय तीनों का ही अभाव हो जाता है और अज्ञान नहीं रहता। फिर तो इन सब विकारों का ऐसा अभाव होजाता है कि स्वच्छ और निर्मल पदही शेष रह जाता है। हे रामजी ! वह निर्मल पद तो अभी विद्यमान है। भ्रमोंके कारण ही पदार्थसत्ता प्रतीत होती है। अस्तु परमार्थ स्वरूप के प्रमाद ने ही जगत को रच लिया है, स्वरूप में जाग्रति होवे तो इसका सर्वथा ही अभाव होजाता है। हे रामजी ! जैसे स्वप्न में जीव को बिना भये ही राज्य दिखलाई पड़ता है वैसेही लोग इस जगत को देख रहे हैं। परन्तु वास्तव में यह कुछ हुआ नहीं है। फुरनाही सब बन्धनों का कारण है। फुरना से रहित होवे तो परमानन्द को प्राप्त होकर परम स्वच्छता और शांति प्राप्त होवे।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का उन्तालीसवां सर्ग समाप्त ॥३९॥

—०::❀::०—

उनसठवां सर्ग

वशिष्ठ-समाधि वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! यह सृष्टि आत्मा का एक विवर मात्र है। इस पर मैं तुम्हें एक और आख्यान सुनाता हूँ कि जिसको सुनने और समझने से तुम जरा और मृत्यु से छूट जाओगे। इस को स्वयं मैंने अपनी आंखों से देखा है। यह इतिहास परम सुन्दर और चित्तको प्रसन्न करने वाला आश्चर्यरूप है। इसका आरम्भ ऐसे होता है कि एक समय जब कि मेरा चित्त जगत से उपराम होगया तब मैंने विचारा कि अब किसी एकान्त स्थानमें चलना चाहिये कि जहां पहुँचकर मैं अपनी प्राप्त सभी क्रियाओं को व्यवहारिक रूप में देख कर शान्ति को पा सकूं। क्योंकि बिना निर्विकल्प समाधि से अपने

आदि, अन्त और मध्य से रहित परमानन्द स्वरूप और अविनाशी पद को पाऊँगा। ऐसा विचार कर मैं निर्विकल्प समाधि लेने की इच्छा से आकाश में उड़ा और एक देवता के पर्वत पर जा बैठा। परन्तु वहां भी मैंने क्या देखा कि इन्द्रियों के अनेक विषय यत्र-तत्र फैले हुए हैं, वाराङ्गनायें गा रही हैं, उनके शिर पर चमर होरहे हैं, शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही है। तब वह दृश्य देखकर मैंने सोचा कि यहां भी शान्ति नहीं है और आगे चलूँ। तब मैं वहां से भी उड़ा और निकट ही एक परम सुन्दर कन्दरा में जा पहुँचा। वह कन्दरा एक बड़े ही सुन्दर वनमें थी कि जहां मन्द सुगन्ध वायु हिलोरें ले रहा था। किन्तु वह भी मुझे शत्रुवत ही प्रतीत हुआ क्योंकि वहां भी पक्षियों के शब्द होरहे थे, वायु का स्पर्श हो रहा था तथा और भी ऐसे कई एक विघ्न विद्यमान थे। तब वहां भी मुझे अच्छा न लगा और मैं आगे बढ़ा। तब आगे चलकर मैं नागों के देश में पहुंचा। वहां कई सुन्दर नाग-कन्यायें मुझे दिखलाई पड़ीं, इन्द्रियों के भी कितने ही सुन्दर विषय दिखलाई पड़े किन्तु वे सभी मुझे सर्प के ही समान विषधर प्रतीत हुए। तब मैं समुद्र के तट पर गया, और वहां जो पुण्य-स्थान थे उनमें विचरा और कन्दरा और वनको देखता हुआ पर्वत पाताल और दशों दिशाओं को देखता हुआ कोई एकान्त स्थान देखने लगा परन्तु बहुत शोध करने पर भी मुझे कोई वैसा स्थान दिखलाई न पड़ा कि जहां रहकर मैं अपनी इच्छित शान्ति को प्राप्त करता। तब मैं फिर आकाश को उड़ा, पवन मेघमण्डल और देवताओं तथा विद्याधरों और सिद्धों के स्थानों को लांघता हुआ आगे बढ़ता चला जा रहा था कि भूतों के कई ब्रह्माण्ड मुझे उड़ते हुए दिखलाई पड़े उनमें कई अपूर्व भूत और नाना प्रकार के स्थानों को मैंने उड़ते हुए देखा। तब कई स्थानों को पार कर जब मैं और आगे बढ़ा तो क्या देखता हूँ कि कहीं तो सूर्य का प्रकाश होरहा है और कहीं प्रकाश नहीं भी है। तब मैं चन्द्रमण्डल को लांघकर जो आगे बढ़ा

तो महा आकाशमें जा पहुँचा। फिर तो वहां से मुझे इन्द्रियों का रोक कुछ भी कठिन न रहा क्योंकि वहां इन्द्रिय-जन्य विषय कुछ भी दिखलाई न पड़े और केवल एक आकाश ही आकाश दृष्टि आता था और वायु, अग्नि जल और पृथ्वी का सर्वथा ही अभाव था। तब मैं उस स्थान में गया और वहां मुझे कभी स्वप्न में भी कोई भूत दिखलाई न पड़े और सिद्धों का कोई भी आवागमन न था। तब यह देखकर वहां मैंने संकल्प की कुटी रची और उसके साथ फूल पत्रों से पूर्ण एक कल्पवृक्ष को रचा कि जिसके एक ओर में छिद्र रख दिया था। तब ऐसी कुटी बनाकर मैंने उसमें प्रवेश किया और यह संकल्प किया कि अब एक वर्ष पर्यन्त मैं समाधि में बैठूँगा। ऐसा निश्चय करके पद्मासन बांध मैं उस गुफा में जा बैठा। मुझे कोई इच्छा तो थी नहीं इस कारण उस दशा में भी मुझे कुछ भी संकल्प न हुये और जब एक वर्ष व्यतीत हो गया तब फिर पूर्व का निश्चय किया संकल्प फुर आया। तब जैसे कि प्रथम उगा हुआ बीज बसन्तऋतु को पाकर हरा हो आता है वैसे ही मेरे प्राण फुर आये और जैसे वसन्त ऋतु को पाकर पुष्प खिल आते हैं वैसे ही मेरी ज्ञानेन्द्रियां खिल आईं और अहंकार रूपी यह पिशाच फुरने लगा कि मैं वशिष्ठ हूँ। वह वर्ष मुझे एक निमेष मात्र ज्ञात हुआ। हे रामजी! इसी प्रकार उस दिशा में बैठने पर कितने ही काल व्यतीत होजाते हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि मानो अभी बहुत थोड़ा ही हुआ है। जैसे सुखकी अवस्था में बहुत काल भी थोड़ा ही जान पड़ता है और दुःखद अवस्था में अल्प समय भी बहुत हो जाता है। हे रामजी! यह शक्ति सब जीवों में विद्यमान है पर किसी को इसकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती और वासनायें अन्तःकरण को सर्वदा ही मलिन किये रहती हैं। यदि अन्तःकरण पवित्र रहता है तो पुरुष जो संकल्प करता है वह सिद्ध होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चालीसवां सर्ग समाप्त ॥४०॥

—०※०—

इकतालीसवां सर्ग
विदेह अहंकार मीमांसा

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आप तो निर्वाण-अस्वरूप हैं फिर इस अवस्था में आपको अहंकार का स्फुरण कैसे हुआ? वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! ज्ञानी हो या अज्ञानी देह का सम्बन्ध तो सभी को है न? तब जब तक शरीर का सम्बन्ध बना रहता है तब तक अहंकार फुरा करता है। क्योंकि आधार से ही आधेय होता है ऐसा ही जहां शरीर होता है वहां अहंकार अवश्य ही उठ खड़ा होता है और जहां होता है वहां शरीर होता है। अहंकार के बिना शरीर नहीं होता और उस अहंभाव की कल्पना यह अज्ञान रूपी बालक ही करता है। ज्ञान हो जाने पर अहंकार नष्ट हो जाता है। अहंकार को अविद्या ने ही कल्पा है। परन्तु यह अविद्या भी असत्य है। तब जब कि स्वयं अविद्या ही असत्य है तब उससे उत्पन्न होने वाला अज्ञान कैसे सत्य हो सकता है? यह केवल असत्य ही भ्रम से उदय हुआ है। इसकी उत्पत्ति अविचार से ही हुई है, विचार करने से नष्ट होजाता है। विचार के आगे अविद्या नहीं ठहरती। जैसे दीपक के आते ही अन्धकार भाग जाता है, वैसे ही विचार के आते ही अज्ञानता नष्ट हो जाती है। तब इस प्रकार जो वस्तु विचार करते ही नष्ट हो जाती है वह असत्य नहीं तो क्या है। तब भला उसके कार्य भी कैसे सत्य हो सकते हैं। अस्तु इस अहंकार को भी असत्य ही जानो। इसके कोई कारण नहीं है। हे रामजी! यह शुद्ध आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियां साकार और आत्मा निराकार है। तब भला इस साकार और निराकार का साथ कैसे हो। हे रामजी! यह जो कुछ आकार है सब मिथ्या ही है। अंकुर तो तब होता है जब उसका कोई बीज होता है परन्तु जब बीज ही नहीं है तब अंकुर कहां से होगा। इसी प्रकार जब जगत

का कारणरूप संवेद नहीं होता तब जगत कहाँ होगा आकाश में दूसरा चन्द्रमा तब मानें जब वहाँ कोई दूसरा चन्द्रमा हो परन्तु जब वहां कोई दूसरा चन्द्रमा ही न हो तो उसका कारण कैसे माना जाय ? हे रामजी ! ब्रह्म में कोई कार्य कारण नहीं होता, वह आकाश के ही समान निर्मल अद्वैत शुद्ध और संकल्प रहित अच्युत और अविनाशी है। इस प्रकार जो पृथ्वी आदिक तत्व भास रहे हैं, ये अविद्यमान ही हैं, भ्रम से ही भास रहे हैं। जैसे स्वप्न काल की अविद्यमान सृष्टि भी विद्यमान ही जान पड़ती है वैसे ही यह अविद्यमान जगत विद्यमान प्रतीत होरहा है.इसकी सत्यता कुछ भी नहीं है। यह आकाश वृक्ष के समान ही संकल्प वश भास रहा है। परन्तु यह सब कुछ स्वरूप से भिन्न नहीं है, उसी में सबका भाव होरहा है, विचार करने से अभाव होजाता है क्योंकि जिसके द्वारा जिसका भाव होता है उसीके द्वारा अभाव भी होजाता है। हे रामजी ! यह जो शुद्धसत्ता अपने आप में स्थित है वही जगदाकार होकर भासती है। इस प्रकार यह सारा जगत् ब्रह्माका ही स्वरूप है, उसमें अहंकार का लेश भी नहीं है। उसमें मैं, मेरा फुरना आदिक कुछ भी नहीं है। तब, जब कि मैं ही सर्व आत्मसत्ता हूँ तब मुझमें अहंकार कैसा ? यदि मुझमें अहंकार दिखलाई भी पड़ता हो तो वह बहुत सूक्ष्म होगा और उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता, उसमें कर्त्तापन और भोक्तापन नहीं होता। क्योंकि ऐसे ज्ञानियों में अहंकार का सर्वथा ही अभाव रहता है। उन्हें सब कुछ ब्रह्म ही भासता है और उनमें अहंकार नहीं होता। फिर अहंकार न तो पहले ही था और न अब ही है और न फिर होगा, भ्रमसे ही प्रतीत होरहा है, ऐसा जानने से अहंकार नष्ट हो जाता है और जब इस प्रकार अहंकार का नाश होजाता है तब अविद्या का भी नाश हो जाता है। हे रामजी ! इन सबसे भी तुमको क्या प्रयोजन है जैसा प्रकृत आचार हो वैसा करो, और हृदय में शिलाकोश के समान बने रहकर अपने सब निश्चयों को गुप्त रखते हुए इन्द्रियों की

सब क्रियाओं को करो। इस प्रकार तुममें अहंकार का कुछ भी स्पर्श न होगा। तब तुम्हें केवल एक ब्रह्मसत्ता ही भासित होगी और अन्यथा कुछ भी न भासेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का इकतालीसवां सर्ग समाप्त ॥४ ॥

—०※०—

बयालीसवां सर्ग

जगज्जाल समूह वर्णन

वशिष्ठजी के इतना कहने पर रामजी बोले—हे महाज्ञानिन्! आपने जो एक वर्ष की समाधि लगाई थी उसमें आपने क्या-क्या देखे थे कृपाकर वह वृतान्त मुझे बतलाइये? इस पर वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! समाधि की उस अवस्था में मैं क्या देखता, वह तो निर्विकल्प समाधि थी। हां! जब उससे उतरा तब एक मनोहर तान से बजता हुआ बहुत ही सुरीला शब्द मुझे सुनाई पड़ा। तब मुझे ज्ञात हुआ कि मैं बहुत ऊँचे पर आ गया हूँ। फिर मैंने विचार किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि जहां मैं बैठा हूँ वह तीन लाख योजन की ऊँचाई है और यहाँ सिद्ध आदि भी नहीं आते, तब यह शब्द कहां से आता है। यहां तो कोई सृष्टि कर्ता भी नहीं दिखलाई पड़ता और दशों दिशायें भी शून्य हैं फिर यह शब्द कहां से आया? ऐसा विचार कर ही रहा था कि उस शून्याकाश में मेरा चित्त ऐसा रम गया कि मुझे यह इच्छा हुई कि मैं आकाश ही हो जाऊँ और इस प्रकार उस शब्द को प्राप्त करूँ, देखूँ कि यह शब्द कहाँ से आता है और यदि यह शब्द इस आकाश में न मिले तो मैं वह चिदाकाश ही हो जाऊँ कि जहां भूताकाश भी एक छोटी कुटी के ही समान भासता है। तब ब्रह्म में निश्चय ही इस शब्द का पता लगेगा। ऐसा विचार कर मैंने फिर समाधि लगा ली और इस प्रकार बाहर भीतर से सर्व इन्द्रियों की चेष्टा को रोककर आकाश

के समान ही स्थित हो गया। फिर तो वैसा करने से मेरी समस्त अहंता नष्ट होगई और उस आकाश से भी चिदाकाश रूप होगया। फिर मैंने उस आकाश को भी त्याग दिया और बुद्धि आकाश में गया। किन्तु उसे त्याग कर फिर चिदाकाश में ही आना पड़ा। चिदाकाश में पहुँचकर मैं उस शब्द को सुनने लगा। फिर तो उसे सुनते २ मैं चिदाकाश ही हो गया कि जिसका संकल्प ही उसका स्वरूप है। हे रामजी! वह चिदाकाश निराकार स्वरूप है और वही आधाररूप भी है कि जिसने सबको धारण कर रखा है इससे वह परमानन्द स्वरूप, शान्त और अनन्त भी है, उसमें समस्त ब्रह्माण्ड प्रतिविम्बित होरहे हैं। हे रामजी! इस प्रकार जब वह आदर्श मुझ में स्थित हुआ तब मुझमें ही मुझे अनन्त सृष्टियां भासने लगीं। हे रामजी! वे सृष्टियां ब्रह्म में वैसे भास रही थीं कि जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु भासते हैं। किन्तु उनमें मैंने यह देखा कि प्रत्येक जीवाणु को अपनी ही अपनी सृष्टि भास रही थी और एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता था जैसे कई मनुष्य एक साथ सोते हों और सबको स्वप्न हो तो सभी को अपनी ही सृष्टि भासेगी, दूसरे की नहीं वैसे ही ब्रह्म के समस्त जीवाणु अपनी ही अपनी सृष्टि को जानते थे। परन्तु मैं सभी को जानता था। हे रामजी! उस समय मैंने एक सृष्टि को ऐसा देखा कि वह बहुत ही निर्मल थी और उसमें कहीं लेशमात्र को भी आवरण न था और एक सृष्टि तो ऐसी दिखलाई पड़ी कि जिस पर पाँचों तत्वों का आवरण चढ़ा था। कुछ सृष्टियाँ ऐसी भी दिखलाई पड़ीं कि जिन पर चार तत्व का ही आवरण था और वैसे ही कोई-कोई को छः आवरण थे, किसी पर दश आवरण चढ़े थे और कोई ऐसी थीं कि जिन पर चौंतीस और छत्तीस आवरण तक चढ़े हुये थे, परन्तु वे सभी आकाश रूप ही थीं, केवल मेरे मन के संकल्प और स्फुरण से ही वैसी ज्ञात हो रही थीं इससे यह निश्चय हुआ कि एक आत्मा में ही समस्त सृष्टियों का समावेश है और फिर भी

यह आत्मा निराकार और निर्लेप है। तब जब कि आत्मा निर्लेप है तब उसमें सर्व पदार्थ भी निःसार ही हैं, संकल्प से ही सब कुछ बन जाता है। जैसे दीवार पर चित्र लिखे हों, वैसे ही आत्मारूपी दीवार पर चित्ररूपी सृष्टि आई हुई है कि जो सभी अपने २ व्यवहार में निमग्न हैं और वे सभी ही अपनी ही अपनी सृष्टि को जानती हैं, और एक दूसरे को नहीं जानती थीं। परन्तु यह जो कुछ दृश्य मैंने देखा, सब अपने संकल्प से ही देखा। जब संकल्प करता तब सृष्टियां भासने लगतीं और जब स्वरूप की ओर देखता तब केवल ब्रह्म ही भासता था और उसमें कुछ बना हुआ नहीं जान पड़ता था। हे रामजी! कहीं ऐसी भी सृष्टि दिखलाई पड़ी कि जिसमें बाल, वृद्ध और युवावस्था की कोई मर्यादा भी न थी, वे जैसे जन्मे वैसे ही रह गये। कोई सृष्टि ऐसी भी थी कि जिसमें सूर्य और चन्द्र प्रकाश हीन होता था और केवल अग्नि के प्रकाश से ही वे अपनी समस्त चेष्टायें करते थे और कोई ऊपर को जाते थे तो कोई-कोई नीचे भी आ रहे थे। कोई शास्त्रानुसार अपनी चेष्टा करते थे और कोई कीट के ही समान थे। और कोई उससे भी निकृष्ट अवस्था में अपनी चेष्टायें कर रहे थे। इस प्रकार उस चैतन्य रूपी वन में मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखी कि जिन सबमें चैतन्य का ही आभास आ रहा था। परन्तु वे सब कुछ बनी नहीं थीं और जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासे या नीलता का भान होता है, वैसे ही बिना होते ही वे सृष्टियां भास रही थीं। जैसे गन्धर्व नगर होवे और जैसे मरुस्थल में जल होता है वैसे ही समस्त सृष्टियां भासती हैं। हे रामजी! ब्रह्मरूपी आकाश में चित्तरूपी गन्धर्व ने सृष्टि रची है किन्तु स्वरूपतः वे कुछ उत्पन्न नहीं हुई हैं, भ्रम से ही भासती हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि बिना कारण होती है वैसे ही समस्त सृष्टियां अकारण और आभास मात्र ही हैं। इस पर यदि तुम कहो कि अकारण सृष्टि ऐसी नहीं भासेगी तो मेरा उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न की सृष्टि बिना कारण ही होती है किन्तु

वह होती है अर्थ सहित और बिना उपजे ही उपज जाती है वैसे ही यह सम्पूर्ण सृष्टि आभास मात्र है और अधिष्ठानसत्ता के ही आश्रय होकर फुर रही है। ब्रह्म ही सबका अधिष्ठान है और सर्व का स्फुरण एक उसी सत्ता से होरहा है, उस ब्रह्म सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं है। चेतना के वश उसे एक ही में नानात्व भासता है। परन्तु उसमें वह अनेकता कुछ नहीं, वह आत्मा सर्व काल में अपने आप ही में स्थित है। जैसे क्षीर समुद्र में तरंगें वायु द्वारा ही उठती हैं और वह क्षीर सागर से भिन्न नहीं ऐसे ही पदार्थ में ब्रह्मसत्ता ओतप्रोत नहीं हो सकती। किन्तु जो दुग्ध मंथन करने से घृत निकलता है उसमें आत्म सत्ता अपने आप में ही स्थित है, स्फुरण से ही सब कुछ भ्रमता दिखलाई पड़रहा है, फुरना एवं भ्रम न हो तो सब कुछ ब्रह्म ही दिखलाई पड़े। हे रामजी! तुम भी फुरने को त्यागकर अपने निर्विकल्प स्वरूप में स्थित होओ, तभी जगत भ्रम-शान्त होवेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४२॥

—::※::—

तैंतालीसवाँ सर्ग

जगज्जाल वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार जब मैंने सृष्टियों को देखा तो यह विचार करने लगा कि शब्द कहां से आता है उसका उच्चारण करने वाला कौन है? ऐसा विचार कर मैं चारों ओर देखने लगा तो मुझे फिर तीतर का सा एक शब्द और सुनाई पड़ा। तब तो मैं और भी आश्चर्य में पड़ गया और बारम्बार उसका विचार करने लगा। फिर तो उस प्रकार के ध्यान से मुझे उस शब्द का अर्थ भी प्रकट होने लगा और फिर मैंने क्या देखा कि एक महा सुन्दरी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो मेरे सामने चली आरही है। हे रामजी! उसकी शोभा को तो मैं क्या कहूँ, वह ऐसी शोभायमान

थी मानों साक्षात लक्ष्मी पार्वती ही शरीर धारण किये हो । इस प्रकार वह सुन्दरी मेरे निकट आकर बोली कि हे मुनीश्वर ! मैंने बहुत संसार देखा है पर तुम्हारे जैसा सन्यास धर्मा पुरुष नहीं देखा, अपने समान तुम्हीं दिखलाई पड़े हो । हे मुनीश्वर ! तुम ऐसे हो कि जो संसार सागर में बहता हुआ तुम्हारी ओर आ जाता है तुम उसे अवश्य ही निकाल देते हो, क्योंकि तुम उस सागर से पार हो चुके हो, तुमको मेरा नमस्कार है । हे रामजी ! उस सुन्दरी के इस कथन को सुनकर मैं बड़े आश्चर्य में पड़ गया कि इसने मुझे कभी देखा भी नहीं और सुना नहीं, फिर यह मुझे कैसे जानती है । तब मैंने विचार किया कि यह कोई माया है जो अपना चरित्र दिखलाने आई है, निश्चय ही समस्त ब्रह्माण्ड इसीसे दृष्टि आरहे हैं । हे रामजी ! ऐसा उसको जानकर मैं फिर आकाश को उड़ा तब क्या देखता हूँ कि कहीं सत्‌दृष्टि भासरही है तो कहीं संकल्प की सृष्टि और कहीं गन्धर्व नगर की सृष्टि भासित होरही है । तब मैंने जाना कि जैसे यह सत सृष्टियां हैं वैसे ही जगत की सृष्टि भी स्वप्नवत है और बोधमात्र ही अपने आप में स्थित है । तब मैं अपने आप स्वरूप में स्थित हुआ तो क्या देखता हूँ कि वहाँ वह अपने आप स्थित है और उसमें कोई नहीं है । किन्तु जब उसीमें मैं संकल्प करके देखूं तो मुझे आत्मा का भान होवे और जब संकल्प करके देखूं तब नाना प्रकार का जगत भासित होवे जो कहीं नष्ट होता हुआ भासे और कहीं उत्पन्न होते हुये जान पड़े । कहीं ऐसा भी भासित हो कि उत्पन्न होकर भी और का और ही हो जावे । उत्पन्न कहीं हो और दृष्टि में कहीं और ही आवें । कहीं भिन्न सृष्टि और कहीं भिन्न शास्त्र दिखलाई पड़ें कहीं नरक की सृष्टि भासे और कहीं स्वर्ग की । कहीं सूर्य चन्द्रमा और तारों का चक्र चलता हुआ दृष्टि आवे और कहीं अनन्त सृष्टियां और कहीं अनन्त ही सूर्य रुद्र, ब्रह्मा और अनेकों विष्णु दिखलाई पड़ें । कहीं प्रलय ऐसे मेघ गर्जें और कहीं सुमेरु आदिक पर्वत उड़ते हुए दृष्टि आवें और रूप

ब्रह्माण्ड जलते और बारहों सूर्य तपते हुये दृष्टि आते थे। कोई ऐसे स्थान दिखलाई पड़े कि जिनमें जन्मते ही जीव पुष्ट हो जावें। कोई ऐसी सृष्टि दिखलाई पड़े कि जिसमें जीव उत्पन्न होकर मर जावें और फिर दूसरी सृष्टि में जाकर जन्म लेवें। उसी क्षण मरें और उसी क्षण जी जावें। कहीं प्रलय होता रहे तो कहीं उत्पत्ति दिखलाई पड़े। इस प्रकार वहां मैंने अनेक सृष्टियां देखीं। परन्तु सबका सार ब्रह्मसत्ता ही था। अतः हे रामजी ! वह ब्रह्म स्वरूप ही सब काल और समस्त विश्व का आधार भूत है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। जैसे समुद्र में बुदबुदे और तरङ्ग सब जलरूप ही हैं वैसे ही सारा जगत ब्रह्मस्वरूप ही है। उससे भिन्न कुछ नहीं है इसलिये हे रामजी ! मैं और तुम यह जगत भी ब्रह्म रूप ही हूँ। ज्ञान पूर्वक देखो तो सब ब्रह्म ही भासित होगा। संकल्प से ही नाना प्रकार की सृष्टियाँ भास रही हैं। हे रामजी ! उस अवस्था में कई सृष्टियां तो ऐसी भी देखीं कि जो नीचे की ही ओर जारही थीं और कुछ सृष्टियों को धर्म अधर्म का विचार ही न था। एक सौ पचास सृष्टियां तो मुझे ऐसी दिखलाई पड़ीं कि जो त्रेता युग की थीं। वे जैसी भिन्न थीं वैसेही उनके जगत भी भिन्न-भिन्न थे। उसी में ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ भी भिन्न २ प्रकार से कई दिखलाई पड़े कि जिन सबको मेरेही समान ज्ञान था और स्वरूप एवं आकार प्रकार में भी वे मेरे ही समान थे। कुछ मुझसे उत्तम भी थे और उन सबके आगे उपदेश लेनेके लिये रामजी बैठे थे। वे सभी वशिष्ठ मेरे ही समान ज्ञानीथे और सब रामजी को उपदेश कर रहे थे। उस कालमें मैंने अनेक त्रेता और सतयुग भी देखे कि जो सभी चैतन्य के आश्रित फुर रहे थे। कहीं महाप्रलय के क्षोभ होरहे थे कहीं समुद्र हिलोरें ले रहाथा, कहीं श्यामरूप चन्द्र उष्ण और सूर्य शीतल जान पड़ता था और कहीं ऐसा भी सृष्टि दिखलाई थी कि जहां दिन में ही अन्धकार रहता और उसमें रात्रि के समान उलूक आदिक पक्षी चेष्टा करते थे कोई सृष्टि ऐसीभी थी कि जिसमें रात्रि और दिनका कुछ

भी ज्ञान न होता था। किसी २ में धर्म का तो लेश भी नहीं था और जैसी इच्छा होती थी वैसी ही चेष्टा करते थे। कहीं पुण्य वाले नरक को जाते थे और कहीं पापी स्वर्ग को जा रहे थे। कहीं बालु का तेल निकल रहा था कहीं विषपान करते कोई अमर हो रहे थे और किसीको अमृत ही विष होरहा था। जिसका जैसा संकल्प था, वह वैसा ही होरहा था। कहीं पाषाण से कमल उत्पन्न होरहे थे और कहीं वृक्षों में रत्न और हीरे दिखलाई पड़ते थे, कहीं प्रकाश युक्त आकाश में बड़े-बड़े वन दीखते थे और कहीं ऐसी सृष्टि दिखलाई पड़ती थी कि जिनमें मेघ ही उनके वस्त्र थे और कहीं वस्त्रों के ही समान मेघ होरहे थे। इस प्रकार अन्धे, बहरे, काने और लूले लंगड़े अनेक प्रकार से दिखलाई पड़े। किन्तु वास्तव में वे सभी सृष्टियां शून्यरूप थीं और संकल्प वश ही नाना प्रकार का जगत भासित हो रहा था। कोई सृष्टि ऐसी भी दिखलाई पड़ती थी कि जिनमें सूर्य और चन्द्रमा बिल्कुल ही नहीं जान पड़ते थे। कहीं पृथ्वी की सृष्टि, पृथ्वी में, आग की अग्नि में जल की जल में दिखलाई पड़ती थी। कोई सृष्टि पाँच भूतकी थी और कोई काष्ठकी पुतली के समान ही चेष्टा कर रही थी। ऐसे-ऐसे देखते हुये मैं न जाने कितने ही योजन की दूरी पर चला गया तब मुझे फिर एक आकाश दिखलाई पड़ा और वहां भी कोई तत्व न दृष्टि आया। तब मैं फिर आगे बढ़ा तो ऐसी सृष्टि दिखलाई पड़ी कि जो खाना पीना आदिक सब चेष्टायें बैताल ही के समान करती थी किन्तु स्पष्ट प्रतीत होती थी। किसी किसी सृष्टिमें मैं और तुम की भी कोई कल्पना न की थी और उनमें केवल निर्द्वन्द्व पदही विद्यमान था, मन नहीं था। कोई सृष्टि अहंकार पूर्ण थी और कोई आतमभावना कर रही थी, कोई अपना आपही जानती थी और किसी में भेदभाव भी था और किसी में नहीं भी था। कोई सृष्टि मोक्ष लक्ष्मी से अत्यन्त ही शोभायमान होरही थी और कोई उत्पन्न होकर तुरन्त ही नष्ट हो जाती थी। कोई चिरकाल से ज्यों की

त्यों बनी हुई थी। हे रामजी ! इस प्रकार से मैंने वहां अनन्त सृष्टियां देखीं कि जो अंत होते ही फुर रही थीं और सभी संकल्प मात्र थीं। किन्तु वास्तव में वे थीं कुछ नहीं। मेरे संकल्प ने ही इतनी सृष्टियों को देखा था। मैं जब संकल्प को लय कर देता था तब सृष्टियां भी लय होजाती थीं। हे रामजी ! यह सारा जगत संकल्प मात्र ही है, चित्तके फुरने में ही समस्त जाल बैठा हुआ है, जैसे-जैसे चित्त फुरता है वैसे ही वैसे जगत फैलता जाता है। इस प्रकार मैं नीचे ऊपर सब ओर गया किन्तु चेतन रूपी समुद्र के बुदबुदे के समान ही सब कुछ दिखलाई पड़ा अन्य कुछ नहीं था। इस प्रकार निश्चय हुआ कि जो जैसी भावना करता है उसे आगे २ वैसा ही भासता है। परन्तु वह सब कुछ संकल्प ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का तैंतालीसवां सर्ग समाप्त ॥४३॥

—o❀o—

चवालीसवां सर्ग

ज्ञान जगत एकता-वर्णन

हे रामजी ! वह चिदाकाश ब्रह्म अपने आप ही में स्थित है। जैसे जल अपने भाव में सर्वथा स्थित है वैसेही ब्रह्म स्थित है। तब उस ब्रह्म में जो चैतन्योमुखत्व हुआ है उसी से वह चिदाकाश कहलाया। इसी प्रकार जो मनमें संकल्प हुआ और उसका फुरने से जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड फुरा वह भूताकाश हुआ मनसे उपजने के कारण ही उसका नाम भूताकाश पड़ा है परन्तु वह सब संकल्प मात्रही है और आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। जब महा प्रलय होता है तब सभी भूत नष्ट होजाते हैं और केवल सूक्ष्म ब्रह्म ही रह जाता है। हे रामजी ! वह ब्रह्म आकाश के बारहवें भागसे भी अत्यन्त ही सूक्ष्म है, मैं उसकी उत्पत्ति कैसे कहूँ। जब उसकी उत्पत्ति

ही नहीं है तब उसका प्रलय भी कैसे होगा। हे रामजी! यह जितना भी जगत दिखलाई पड़रहा है सब उस ब्रह्म की इच्छा है। इस प्रकार से ज्ञानी जो कुछ भी स्वाभाविक चेष्टा है उसका नाम हृदय है और वह ब्रह्ममय है। वही ब्रह्म जगत का वपु है। जैसे स्वप्न में अपना ही संचित देश, कालका रूप होकर भासता है, वैसे ही अपने स्वरूप के अज्ञान से यह दुःखदाई जगत भासता है। जैसे अपनी ही छाया में अज्ञान वश बालक वैताल की कल्पना करके भयभीत होता है। जब उसको ज्ञान हो जाता है तब भय कोई नहीं रहता वैसेही यह जगत कुछ उपजा नहीं है अज्ञान से ही भासता है। उसमें यथार्थता कुछ नहीं होती। चेतनसत्ता ही जगदाकार होकर भास रही है। उत्पत्ति और प्रलय सब उसी के अङ्ग हैं। वही सबका अधिष्ठान रूप और आकाश रूप आत्म सत्ता है। समाज शब्द उस ब्रह्म में ही स्थित है और वह ब्रह्म सर्व शब्दों से रहित भी है। तब उसमें उत्पत्ति और प्रलय भी कहां से आवे। वह आत्मा तो अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और सर्वथा ही अदृश्य है। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है और वह अन उपजा ही अविनाशी है। परन्तु उस आत्मा से जगत भिन्न नहीं है, सब आत्मरूप ही है। तब भला उस आत्मरूप में विकार कैसा? सब कुछ तो ब्रह्मका ही स्वरूप है और सर्व शब्द एक उसी अधिष्ठान सत्तामें स्थित है। जैसे शरीरवाला अपने शरीर के सब अङ्गों को अपना ही जानता है वैसे ही यह सारा जगत ब्रह्म का ही अङ्ग है अर्थात् उस अवस्था में योगी को ऐसा ही प्रतीत होता है कि मैं ही सब कुछ हूँ। और यह सत्य ही है कि देश, काल, वस्तु सहित यह जो कुछ भी जन्म, मरण और साकार, निराकार, केवल आकेल और नाशी अविनाशी पद है सब उसी के नाम हैं। जैसे अपने अवयव और अवयवी उसी के हैं, फैलावे तब भी अपना ही स्वरूप है और न फैलावे सिकोड़ लेवे तब भी अपने ही अङ्ग हैं वैसे ही उत्पत्ति और प्रलय सब उस ब्रह्म के ही अङ्ग हैं, भिन्न नहीं, परन्तु

भिन्न के ही समान भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल होता नहीं, परन्तु जल भासता है वैसेही ब्रह्म में जगत कुछ है नहीं किन्तु भासता है। इससे यह सारा जगत आत्मस्वरूप ही है। वह शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म एक ऐसा है कि जिसमें संवितरूपी जड़ लगी हुई है। और चित्त एवं शरीर रूपी स्तम्भ उसमें लगे हुये हैं। लोकपाल ही उस वृक्ष की शाखायें हैं और फल ही उसका प्रकाश है। अन्धकार ही उसमें श्यामता है, फूलों के गुच्छे प्रलय हैं और उन गुच्छों के हिलाने वाले विष्णु अलि-स्वरूप हैं और रुद्र आदिक ही उसकी जड़ तह और त्वचा हैं। किन्तु यह सब कुछ सम और सतभाव में आत्म-ब्रह्म ही विद्यमान है और उसमें कुछ बना नहीं है। वह सर्वदा निज स्वभाव सत्ता में ही स्थित है। उसमें विकारता कुछ नहीं है और वह सर्वदा निर्मल और आकाशरूप, आदि, अन्त और मध्य कल्पना से रहित अपने ही आपमें स्थित है। फिर उसमें लोकपाल आदिक भ्रम कहां से होवे! किन्तु उसमें जो अज्ञानता आ गई है, उसी से यह सारा भ्रम भास रहा है। एकाग्र चित्त होने से जगत का भ्रम नहीं रहता। फुरने से ही सारा भ्रम भासता है। फुरने से उलट कर आत्मा की ओर आवे तो जगत-भ्रम नष्ट हो जावेगा। जैसे वायु से अग्नि जागता है वैसे ही फुरने से जगत भासता है। फुरना मिटे तो जगत-भ्रम भी मिट जावे। और वह फुरना ज्ञान से बिना ज्ञान को नहीं मिटता। ज्ञान होजावे तो फुरनेका मिटना ही क्या है? बन्ध भी छूटकर मुक्ति हो जावे क्योंकि आत्मा में बन्ध और मोक्ष कुछ भी नहीं है। उसमें बन्ध और मुक्ति भी जो भासती है सो अज्ञान सेही भास रही है, अज्ञान नष्ट होवे तो आत्मा में बन्ध और मोक्ष न भासे! इसी प्रकार जगत का यह सारा प्रपंच आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का चवालीसवा सर्ग समाप्त ॥४४॥

———०::::०———

पैंतालीसवाँ सर्ग

जगत एकता प्रतिपादन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर ! यह सब दृश्य जो आपने देखा वह किसी स्थान में बैठकर समाधिस्त होकर देखा है या उन-उन ब्रह्माण्डों में जाकर देखा है। क्या प्रसङ्ग है, स्पष्ट बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! मैं सर्व शक्तिमान आत्मा हूं और मेरी शक्तियाँ अनन्त हैं, मुझे कहीं आना जाना क्या है। इन दृश्यों को तो मैंने एक स्थान में बैठकर देखा है और न कोई सृष्टि ही देखी। मैं तो स्वयं ही चिदाकाश हूं और चिदाकाश को ही देखा है। हे रामजी ! जैसे तुम अपने अङ्गों को शिखा से लेकर नखपर्यन्त देखते हो वैसे ही मैंने ज्ञाननेत्र से अपने आपही में जगत देखा जो निराकार निरवयव आकाशरूप निर्मल और फुरनेसे रहित दृष्टि आया है, वास्तव में कुछ नहीं केवल आकाश रूप है। जैसे स्वप्नमें सृष्टिका अनुभव हो परन्तु संवितरूप है बना कुछ नहीं और जैसे वृक्षके पत्र, टास, फूल, फल, सब वृक्षके अङ्ग होते हैं वैसे ही ज्ञाननेत्रसे मैंने जगतको देखा। हे रामजी ! जैसे समुद्र तरङ्ग, फेन, बुदबुदे और अपने आपहीमें देखता है, तैसेही मैं अपने आपमें जगत को देखता हूँ और अब भी मैं इस देह में स्थित हुआ पर्वत की सृष्टि को ज्ञान से देखता हूं। जैसे कुटी के भीतर बाहर आकाश एक रूप है वैसेही मुझको आगे और अब भी जगत आकाशरूप अपने आप में भासते हैं। जैसे जल अपने रसको जानता है बरफ अपनी शीतलता को जानता है और पवन अपनी स्पन्दता को जानता है वैसेही मैं ज्ञानरूप से सृष्टि अपने में देखता भया। जिस ज्ञानवान पुरुष को शुद्ध बुद्धि में एकता हुई है वह अपने को सर्वात्मा देखता है और

जिसको आत्मस्थिति हुई है वह वेदन को भी अवेदन देखता है और कदाचित् उपजा नहीं मानता। जैसे देवता अपने २ स्थानों में बैठे हुए दिव्यनेत्र से कोटि योजन पर्यन्त अपने को विद्यमान देखते हैं वैसे ही जगतों का मैंने सर्वात्म होकर देखा। जैसे पृथ्वी में निधि ओषधि और रस रहित पदार्थ होते हैं सो पृथ्वी अपने में ही देखती है वैसे ही मैंने जगत् को अपने ही में देखा। रामजी ने पूछा हे भगवन्! वह जो कमल नयनी कान्ता छन्द के पाठ करने वाली थी उसने फिर क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह आकाश को धारके मेरे निकट आई और जैसे भवानी आकाश में आन स्थित हो वैसे ही वह आन स्थित हुई। जैसे मैं आकाशवपु था वैसेही उसको भी मैंने आकाशवपु देखा। प्रथम मैंने आकाश में इस कारण न देखा कि, मेरा आधिभौतिक शरीर था। तब चित्तपद होकर मैं स्थित हुआ तब वह कांता देखी। मैं आकाशरूपी हूँ और वह सुन्दरी भी आकाशरूप है और जगत जाल जो देखे सो भी आकाशरूप हैं। श्री रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम भी आकाशरूप थे और वह भी आकाशरूप थी, पर वचन-विलास तो तब होता है जब शरीर होता है और उसमें बोलने का स्थान कण्ठ, तालु, नासिका, दन्त, होंठ और हृदय में प्रेरनेवाले प्राण होते हैं और अक्षर का उच्चार होता है और तुम तो दोनों निराकार थे तुम्हारा देखना और बोलना किस प्रकार हुआ। बोलना, रूप अवलोक और मनस्कार से होता है रूप अर्थात् दृश्य, अवलोक अर्थात् इन्द्रियाँ और मनस्कार अर्थात मन का फुरना इन तीनों बिना तुम्हारा बोलना कैसे हुआ? वशिष्ठजी बोले हे रामजी! जैसे स्वप्न में रूप अवलोक और मनस्कार, शब्द पाठ और परस्पर वचन होते हैं सो आकाशरूप होते हैं वैसेही हमारा देखना, बोलना और आपस में संवाद हुआ था जैसे स्वप्न में रूप अवलोक और मनस्कार आकाशरूप होते हैं और प्रत्यक्ष भासते हैं वैसेही हमारा भी देखना और बोलना है तब तुम्हारा प्रश्न कहाँ रहा? जैसी सृष्टि आकाश में देखी वैसी ही सृष्टि यह भी

हैं। क्योंकि जैसे उनके शरीर थे वैसे ही इनके भी हैं और हमारे भी हैं। जैसा वह जगत था वैसा ही यह भी है। पर आश्चर्य है सत् वस्तु तो नहीं भासती और असत् भास रही है। जैसे स्वप्न में पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और जगत के सर्व व्यवहार कहीं हैं नहीं परन्तु प्रत्यक्ष ही भासते हैं और सत् वस्तु अनुभवरूप नहीं भासती वैसे ही हम तुम और यह सारा जगत सब आकाशरूप ही है। जैसे स्वप्न में युद्ध होता हुआ जान पड़े और शब्द होवे और आना जाना भी भासित हो किन्तु वह हुआ कुछ नहीं, सब आकाशरूप ही है वैसे ही वह जगत भी है। हे रामजी! इस पर यदि तुम यह पूछो कि स्वप्न क्या है और कैसे होता है तो सुनो! स्वप्न मिथ्या है, कुछ बना नहीं, सब अनुभवरूप है। आदि परमात्म सत्ता से जो स्वप्न में शब्द उत्पन्न हुआ वही विराट आत्मा है, उसी से समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई और वे आकाशरूप ही हैं। क्योंकि जब स्वप्न ही आकाशरूप है, उसमें कुछ बना नहीं, तब उससे जो विराट उत्पन्न हुआ वह भी स्वप्न ही हुआ। तुम्हारे बोध के लिए ही दृष्टान्त के रूप में मुझे यह स्वप्न और विराट शब्द कहना पड़ा। परन्तु यथार्थ में यह स्वप्न और विराट भी कुछ हुये नहीं, सब केवल आत्मतत्वमात्र ही है और सर्व में वह ब्रह्म ही स्थित है। हे रामजी! जैसे स्वप्न की सृष्टि आकाशरूप होती है, वैसे ही हम तुम और यह सारा जगत भी आकाशरूप ही है वास्तव में कुछ हुआ नहीं। स्वप्न जगत और यह जाग्रत जगत सब एकही है। जाग्रत दीर्घ कालका स्वप्ना है और स्वप्न अल्पकाल का। जाग्रत के व्यवहार दृढ़ होते हैं और वे उत्पन्न और प्रत्यक्ष होते हुए भासते हैं और स्वप्न के वैसे नहीं भासते। स्वप्न में जो भोग प्रत्यक्ष होते हैं वे भ्रांतिमात्र हैं और निर्मल आत्मा में उनकी कुछ भी दृढ़ता नहीं है, सब अनहोते ही भासते हैं। हे रामजी! यह हम और तुम यादिक दृश्यों को मन रूपी द्रष्टा ही सत्य मानता है किन्तु इनकी उत्पत्ति अज्ञान एवं भ्रम से ही हुई है। शुद्ध द्रष्टा दृश्य से रहित है

जैसे द्रष्टा आकाशरूप है वैसे ही दृश्य भी आकाशरूप ही है और जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव से भिन्न कुछ नहीं भासती वैसे ही यह जाग्रत सृष्टि भी अनुभव रूप ही है। चिदाकाश अनन्त आत्मामें जगत का कोई कारण नहीं है। स्वप्न-सृष्टि के समान ही यह जाग्रत जगत भी बिना कारण ही है। इसमें भी कुछ हुआ नहीं, सब अनुभव रूप है। समस्त जीव साकार रूप हैं और इनकी जो स्वप्न-सृष्टि अनेक प्रकार की होती है वह भी आकाशरूप ही है, कुछ बना नहीं। सब कुछ निराकार अद्वैत आत्म सत्ता ही है तब उसमें जो आदि आभास रूप जगत फुरा वह आकाशरूप क्यों न होवे? साकार और निराकार भी क्या है, सुनो। एक चित्त है दूसरा चैत्य है। चित्त शुद्ध चिन्मात्र को कहते हैं और चैत्य अर्थात् दृश्य फुरने को कहते हैं। तब जिस चित्त को दृश्य का सम्बन्ध है उसका नाम जीव है और जिस चित्त का अज्ञानता वश द्वैत का सम्पर्क है और जो अनात्मा में भी आत्मा को अभिमान रहता है वही जीव साकार रूप कहलाता है और उसकी स्वप्न सृष्टि आकाशरूप ही है। तब इस प्रकार जो अचैत्य चिन्मात्र और निराकार सत्ता है उसका स्वप्न आभास रूप जगत आकाशरूप क्यों न होवे। हे रामजी! यह सारा जगत बिना कारण ही है। कुछ बना कहीं इससे चिदाकाश और निराकार रूप ही है। जैसे स्वप्न जगत अकृत्रिम होता है वैसे ही यह जगत भी अकृत्रिम ही है। इसमें निमित्त और समवाय कारण कोई भी नहीं है। सब कुछ अच्युत और अद्वैत आत्मा ही विद्यमान है। तब इसमें दृश्य का कारण कैसे कहा जाय। इसमें कर्त्ता, भोगता भी नहीं है और न यह जगत ही कुछ है। हे रामजी! ऐसा जानकर ही ज्ञानी जन मौन बने रहते हैं और जैसा प्राकृत आचार आ पड़ता है, वैसा ही करते हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४५॥

———०::❀::०———

छियालीसवाँ सर्ग

विद्याधरी का शोक वर्णन

रामजी ने पूछा-हे भगवन् ! उस एक वर्ष की अवधि में जबकि आप चिदाकाश में स्थित होकर सृष्टियों को देख रहे थे और वह जो शब्द हुआ था जब उसकी आप खोजकर रहे थे तब उस समय में जो सुन्दरी आपके निकट आकर बोली थी वह कौन थी और उसने क्या २ कहा था।

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! जब उस शब्द की टोह में मैं लगा था तब वह देवी मेरे पास आई तो मैंने उससे प्रश्न किया कि तुम कौन हो और कहाँ से आई हो और मेरे पास आने का क्या प्रयोजन है तब देवी बोली कि हे मुनीश्वर ! मैं इसलिये आई हूं कि आपको बतला दूँ कि आप क्या हैं और यह सब जो दृश्य आप देख रहे हैं सब उस ब्रह्मरूपी महाकाश के अणु का भी एक अणु है और उसके छिद्र में जो छिद्र है उसी में तुम्हारा वास है और यह सारा जगत भी उसी में विद्यमान है। उसी सृष्टि के ब्रह्मा की एक कम्प ने इस जगत को रचा है और उसी तुम्हारे जगत में यह सारी पृथ्वी और पृथ्वी के ऊपर समुद्र विद्यमान है। उसी समुद्र से यह पृथ्वी घिरी हुई है और उससे ऊपर उससे दूना द्वीप है और उस द्वीप के ऊपर उससे दूना समुद्र है। उससे जब आगे जाइयेगा तब आपको सुवर्ण की पृथ्वी मिलेगी जो दस हजार योजन की दूरी तक प्रकाशमान फैली हुई है। उसके प्रकाश के आगे सूर्य और चन्द्रमा का भी प्रकाश फीका जान पड़ता है। उसके आगे लोकालोक पर्वत है कि जो सब स्थानों में प्रसिद्ध है और उनमें बहुत से नगर बसे हुए हैं। कोई ऐसे भी स्थान हैं कि जहाँ सर्वदा प्रकाश ही रहता है और कोई ऐसे भी स्थान हैं कि जहाँ सर्वदा अन्धकार ही फैला रहता है। किसी स्थान में पदार्थ मिलते भी हैं और कहीं नहीं भी मिलते। किसी स्थान को देखने से

हृदय प्रसन्न होता है और किसी को देखकर दुःखही प्राप्त होता है। कहीं सूर्य नहीं उदय होते और कहीं सूर्य और चन्द्रमा दोनों साथ ही उदय होते हैं। कहीं पशु रहते हैं, कहीं मनुष्य रहते हैं और कहीं देवता और दैत्य रहते हैं। किसी स्थान में किसान बसते हैं और कहीं धर्म होता है। किसी स्थान में विद्याधर कहते हैं तो कहीं-कहीं मदोन्मत्त हस्ती ही विचर रहे हैं। कहीं नन्दन बन हैं तो कहीं शास्त्र का विचार होता है और कहीं नहीं भी होता है। कहीं राजा हैं कहीं बड़े २ नगर हैं. कहीं उजाड़ बन हैं, कहीं वायु चलता है, कहीं बड़े २ छिद्र हैं, कहीं ऊँचे शिखर हैं, कहीं देवता रहते हैं तो कहीं मच्छ, यक्ष और राक्षस बास करते हैं। कहीं विद्याधरी देवियां रहती हैं तो कहीं अनन्त देशों के बड़े २ स्थान और बड़ी २ बस्तियां विद्यमान हैं। उस लोकालोक के शिखर पर सात योजन का एक लम्बा तालाब है कि जिसमें कमल फूल रहे हैं और चारों ओर कल्पवृक्ष लगा हुआ है तथा वहां के सब पत्थर चिन्तामणि के ही समान हैं। उसके उत्तर दिशा में एक स्वर्ण की शिला पड़ी हुई है कि जिसके शिखर पर ब्रह्मा विष्णु और रुद्र बैठे हुये हैं। हे मुनीश्वर! उसीके ऊपर शिला में मैं रहती हूँ और वहीं पर मेरा पति और सारा परिवार भी वहीं रहता है हे मुनीश्वर? उसमें मेरे साथ एक ब्राह्मण भी रहता है कि जो अब बुड्ढा हो गया है फिर भी वह एकान्त में जाकर सर्वदा वेदाध्ययन ही किया करता है। जब मैं छोटी थी तब उसने कहा था कि मैं तेरे साथ विवाह करूँगा। सो अब जबकि मैं बड़ी हुई तो वह मेरे साथ विवाह करने से इन्कार करता है। हे मुनीश्वर! जबसे वह वृद्ध उपजा है तबसे ब्रह्मचारी ही रहा है और सर्वदा वेदाध्ययन करके विरक्त चित्त बना रहा और मुझमें भी सर्वदा से ही कोई न्यूनता नहीं रही। अब भी आप देखिये कि मैं वस्त्राभूषणों से सर्वथाही सुसज्जित हूँ और मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग चन्द्रमा के ही समान कोमल और सुन्दर हैं। मैं सर्वजीवोंको मोहित करने वाली हूं, मुझे देखकर कामदेव भी मूर्छित हो जाता है। मेरे

हँसने मे मानों फूल झड़ते हैं और इस प्रकार मुझमें सर्व गुण विद्यमान हैं। मैं लक्ष्मी की सखी हूँ परन्तु न जाने क्या कारण है कि वह ब्राह्मण मुझसे विवाह का वचन देकर भी अब एकान्त में जाकर बैठा है और सर्वदा वेदाध्ययन में ही लगा रहता है। देखिये वह कैसा दीर्घ सूत्री है जब मैं उत्पन्न हुई तब तो उसने मुझसे विवाह करने का वचन दिया और जब मैं युवा हुई तब मुझको त्यागकर एकान्त में जाकर बैठा है। आप महा त्यागी हैं तो भी आप जानते होंगे कि स्त्री को भर्त्तार अवश्य चाहिये। सो अब मैं युवा हुई, मुझे भी पति की आवश्यकता है। पति के न रहने से मुझे यह बड़े सरोवर कि जिनमें कमल फूल रहे हैं अग्नि के अङ्गारे के ही समान जान पड़ते हैं, फूलों से भरे हुये बड़े २ बाग मुझे मरुस्थल के ही समान जान पड़ते हैं। उनको देखकर मैं रुदन करती हूँ और मेरे नेत्रों से ऐसा प्रवाह चलता है कि जैसे वर्षाकाल का मेघ जलधारा बरसाता है। जब मैं अपने मुख आदिक अङ्गों को देखती हूँ तो मेरे आँसुओं का अन्त नहीं रहता। जब मैं कल्प वृक्ष और तमाल तरूके पुष्पों की शैया बिछाकर उसके ऊपर शयन करने जाती हूँ तब मेरे अङ्गों के स्पर्श से पुष्प जलने लगते हैं। जिस कमल को मैं स्पर्श कर देती हूं वह भस्म हो जाता है। इस प्रकार पतिकी वियोगिनी हुई यदि मैं बरफके पर्वत पर भी जाकर बैठ जाती हूं तो वह भी अग्निके समान ही हो जाता है। तब उसमें अपने हृदय की अग्निको शांत करने के समान मैं नाना प्रकार के फूलों का हार बनाकर जो गले में डालती हूं तो उससे भी मेरी तप्तता नष्ट नहीं होती। इससे मैं समझती हूँ कि मेरे पति का शरीर ही त्रिलोकी है और उनके चरणों में मेरी प्रीति है। मैं घरके सब काम करती हूँ मुझमें सभी गुण विद्यमान है। मैं ही सबको धारण किये हूं मैं ही सबका पालन कर रही हूं और मुझको सर्वदा ही जय की इच्छा बनी रहती है। मैं पतिव्रता हूँ। जो पुरुष पतिव्रता की इच्छा करता है वह बहुत सुख पाता है, उसे कोई भी ताप नहीं लगते

यह सब गुणों से सम्पन्न रहता है वह स्त्री भी सर्वदा अपने पति से ही प्रेम करती है और पति भी स्त्री को सर्वदा प्यार ही करता है। हे मुनीश्वर! मैं ऐसी हूँ। पर इस पर भी वह ब्राह्मण मुझको त्यागकर एकान्त में जा बैठा है। मेरे उस पति को कुछ भी इच्छा और कामना नहीं है परन्तु मैं उसके वियोग में जल रही हूँ। हे मुनीश्वर! वह स्त्री भी भली है कि जिसका पति विवाह करके मर गया हो, क्वांरी भी भली है और जो पति के संयोग से पहले ही मर जाती है, वह भी भली है परन्तु जिसको पति तो प्राप्त हो जावे और उसे स्पर्श न करे तो उसको बड़ा दुःख होता है। हे मुनीश्वर! जैसे जो पुरुष परमात्मा की भावना के संस्कार से रहित उत्पन्न हुआ है वह निष्फल है वैसे ही पति के बिना मैं निष्फल हूं। क्योंकि जब मैं शय्या बिछाकर शयन करती हूं तब मेरी दाहाग्नि से समस्त पुष्प जल जाते हैं। सुख के स्थान दुःखदायक जान पड़ते हैं और जो मध्य स्थान हैं वे भी न तो सुख देते हैं और न दुःख देते हैं, मैं सबसे ही विरक्त होरही हूँ। सो हे मुनीश्वर! जब उस मेरे पति ने मुझे नहीं अपनाया तब मैं वियोगिनी होकर तप करने लग गई हूं। मुझे पति से वैराग्य उत्पन्न होगया है और अब मुझे कुछ भी इच्छा नहीं रह गई है। मेरे भर्ता के वैराग्यरूपी ओले ने मेरी तृष्णारूपी कमलिनी पर पड़कर उसे जर्जर कर दिया है, उससे मुझे जगत विरस जान पड़ता है और यह ठीक भी है क्योंकि जगत् की कोई भी वस्तुयें स्थिर नहीं हैं। अतः अब मुझको वैराग्य उत्पन्न हुआ है। तब एक तो मुझे ऐसा वैराग्य हुआ और दूसरी ओर मेरा यह भर्ता भी महा वैराग्यवान होकर एकान्त में बैठकर वेदाध्ययन करता हुआ आत्मसाक्षात्कार की चेष्टा में लगा हुआ है और उसने भी इस जगत् से सर्वथा ही वैराग्य कर लिया है। परन्तु उसे भी अभीष्ट पद आत्मा का दर्शन नहीं हुआ है। वह मन को स्थिर करने का उपाय करता है, शास्त्रों का अध्ययन एवं मनन भी करता है परन्तु अभी तक उसका मन स्थित

नहीं हुआ है। इधर मैं भी संसार से विरागिनी होकर योग मार्ग का ही अनुसरण कर रही हूँ, मुझे यह शरीर विरस हो रहा है, परन्तु जो पाना चाहिये उसे मैं भी अब तक पा सकी। हाँ, योग की धारणा करते २ अब मुझमें इतना तो अवश्य हो गया है कि मैं आकाश मार्ग से उड़ सकती हूँ, सिद्धों के मार्ग में भी आती जाती हूँ, परन्तु इससे भी मेरी वह आत्मपद प्राप्त करने की इच्छा पूर्ण नहीं होती है। हे मुनीश्वर ! मुझे निर्वाण पद पाने की इच्छा है। सो अब आप मिल गये हैं, मुझे वही उपदेश दीजिये कि जिस प्रकार मैं पाने योग्य आत्मपद को पाऊँ। हे मुने, इनके लिये मैं सिद्ध विद्याधर और ज्ञानियों के बहुत से स्थानों में गई परन्तु मुझे कहीं भी सफलता न मिली और जिससे सुना सब आप ही का यशोगान करते हैं। कितनों ही ने मुझसे कहा कि वशिष्ठजी ही ज्ञानके द्वारा सबका अज्ञान दूर करते हैं। सो हे मुनीश्वर ! आप निश्चय ही अज्ञान के नष्ट-कर्ता हैं, तब यह दृढ़ रूप से जानकर ही मैं धारणा के अभ्यास से आप की सृष्टि में आई हूँ। अब आप मुझे वही उपदेश दीजिये कि जिस प्रकार से मेरा अज्ञान नष्ट होकर शीघ्र ही मुझे आत्म लाभ होवे और हे मुनीश्वर ! वह मेरा भर्ता जो आत्मपद के बिना भटक रहा है उसे भी आत्मा का दर्शन कराइये जिससे कि वह मुझे भी आत्मज्ञान का उपदेश देवे। हे मुनीश्वर ! आप मुझे माया से पार हुए जान पड़ते हैं, इसी कारण मैं आपकी शरण आई हूँ। मैं स्त्री भाव से आपके पास नहीं आई हूँ, किन्तु शिष्य भाव से ही आई हूं। यदि कोई महान् आत्मा की शरण में जाता है तो वह निष्फल होकर नहीं लौटता वरन् उसका अभीष्ट पूर्ण हो जाता है सो आप कृपा करके मुझे उपदेश कीजिये कि जिससे मैं आत्मपद को पा जाऊँ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का छियालीस वां सर्ग समाप्त ॥४६॥

—०:※:०—

सैंतालीसवां सर्ग

अङ्गना द्वारा अभ्यास योग निरूपण

हे रामजी! जब उस अङ्गना के मुझसे ऐसा कहा तब मैं आकाश में अपने सङ्कल्प से दो आसन बनाकर एक पर उसे और दूसरे पर स्वयम् ही पद्मासन लगाकर बैठ गया और उससे पूछा कि हे देवि! तुमने जो यह कहा है कि मेरी सृष्टि एक सुवर्ण की शिला में है, सो यह कैसे? और उस सृष्टि का ब्रह्मा भी तेरा भर्ता कैसे हुआ, यह मुझे बतला। तब उस सुन्दरी ने कहा—हे भगवन्! यह समग्र त्रिलोकी उसी प्रकार बसी हुई है कि जैसे उर्ध्व, लोक में देवता वास करते हैं, और पाताल में दैत्य, नाग और मध्यमण्डल में मनुष्य और पशु पक्षी आदिक जीव तथा समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भी स्थित है। सो इन सबकी चेष्टा जैसी होनी चाहिये वैसी नीति के अनुसार होती है। जैसी परमात्मा की नीति है वैसी ही उसके आश्रय सर्व की चेष्टायें हो रही हैं और वह मर्यादा कालान्त में भी जैसी की तैसी ही बनी रहती है। साधारण जीव जन्मते और मरते हैं और देवता विमानारूढ़ रहते हैं दिन का स्वामी सूर्य है और रात्रि का स्वामी चन्द्रमा है। दो ध्रुव हैं। तारों का मंडल चक्रवायु से चलता है। इसी प्रकार से परमात्मा की नीति द्वारा सारे चक्र चल रहे हैं। परमात्मा अनन्त है और इसका अन्त कोई नहीं पा सकता। जब संवेदन फुरता है तब जगत फैल जाता है और तब यह प्रतीत हो जाता है कि इससे कोई ईश्वरीय सत्ता भी है। और जब वही फुरना नहीं होता तब जगत सर्वथा ही अभाव हो जाता है। हे मुनीश्वर! यदि आप चाहें तो चलकर मेरी सृष्टि का विलास देखें। यद्यपि आपको कोई इच्छा नहीं है और आप सर्व विलासों से पार हो चुके हैं तब भी अब आपको कृपाकर मेरी सृष्टि को देखने चलना ही होगा।

वशिष्ठजी कहते हैं—हे रामजी! ऐसा कहकर वह अप्सरा मुझे आकाश मार्ग से लेकर चली तो हम दोनों भूताकाश में चिरकाल तक

उड़ते २ लोकालोक पर्वतों को पार करते हुए एक ऐसे सुन्दर पर्वत की शिखर पर जा पहुंचे कि जो चन्द्रमा के ही समान सुन्दर था। तब वहाँ मैंने एक ऐसी सुवर्ण की शिला देखी कि जो चारों ओर से एक समान ही जान पड़ती थी और उसमें सृष्टि आदि का कुछ भी क्रम न था। तब मैंने उस अङ्गना से कहा—हे देवि! तू तो कहती थी कि मेरी सृष्टि कहाँ है हे रामजी! जब मैंने इस प्रकार आश्चर्य युक्त हो उससे पूछा तब बोली कि हे भगवन्! इस शिला में तो मुझे अपनी सृष्टि वैसे ही भासती है कि जैसे स्वच्छ दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब भासता है। मेरे हृदय में जो पूर्व संस्कार पड़ा हुआ है क्या वह कहीं जा सकता है? देशकाल की जैसी कुछ चर्या है उसके अनुसार वह अवश्य भासेगा। परन्तु अब आप कहते हैं कि इसमें तो कोई सृष्टि नहीं दिखलाई पड़ती सो निश्चय ही आपकी दृष्टि में कैसे आवेगी जब कि आपके हृदय में इसका कुछ संस्कार ही नहीं है। बस यही कारण है कि जो आपको इस शिला में अपनी सृष्टि नहीं भासती है। जैसा अभ्यास होता है वैसाही पदार्थ प्राप्त होता है और केवल उसके उपदेश से ही दृष्टि की प्राप्ति नहीं होती वरन् जब शिष्य उसका अभ्यास करता है तभी उसका अभीष्ट पद प्राप्त होता है। अभ्यास से क्या नहीं मिलता। सारी सिद्धियाँ एक अभ्यास में ही स्थित हैं। जो कुछ अभ्यास करे वह मिलता है। जब मैं पहले यहाँ आई थी तो मुझे इस शिला में सब सृष्टियां न जान पड़ती थीं क्योंकि तब मुझे अंतवाहकता प्राप्त थी और यह सृष्टि अन्तवाहक शरीर में ही स्थित है परन्तु अब आपके साथ से द्वैतरूपी कथा के कहने सुनने से मुझे अन्तवाहक का विस्मरण होगया है जिससे अब मुझे भी इसमें कोई सृष्टि नहीं भास रही है। जैसे मलिन दर्पण में अपना मुख नहीं भासता वैसेही आपकी सृष्टि के सङ्कल्प से अब मुझे अपनी सृष्टि नहीं भास रही है। जैसा कुछ दृढ़ाभ्यास होता है वैसे ही ज्ञात होता है। अस्तु! इसी प्रकार से जानिये कि जैसे जब उस आदि चिन्मात्र में प्रमाद का

दृढ़ अभ्यास हुआ तब आधिभौतिक भासने लगा, नहीं तो अंतवाहकता ही रहती है वैसे ही इसका भी अर्थ समझ लीजिये। हे मुनीश्वर! आप देखें कि अभ्यास से ही सब कुछ सिद्ध होता है। जब अज्ञान का अभ्यास करता है तब अहङ्कार रूपी पिशाच लगकर नाना प्रकार के कष्ट देता है और जब शास्त्रों के वचन सुनता है एवं उसमें दृढ़ अभ्यास होता है तब कष्ट क्षीण हो जाता है। हे मुने आप यह देखें कि जिसको जो कुछ भी सृष्टि प्राप्त होती है सो अभ्यास के ही बल से प्राप्त होती है। इसी प्रकार यदि अज्ञानी ब्रह्म का अभ्यास करता है तो वह ज्ञानी हो जाता है अभ्यास में अद्भुत शक्ति हैं। अभ्यास से पर्वत भी चूर्ण किया जा सकता है। देखिये! अभ्यास से घुन शनैः २ वृक्षों का भी चर्वण कर डालता है। अभ्यास से अगम अस्तु भी सुगम हो जाती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु के निकट जाकर जिस पदार्थ की वांछा करो सो सिद्ध होता हैं वैसे ही यह आत्मरूपी चिन्तामणि कल्पतरु है। इसमें जिस पदार्थ का अभ्यास किया जाता है वह सिद्ध होता है। इस प्रकार यह अभ्यासरूपी भूमिका इच्छित फलको प्रदान करती हैं। बाल्यावस्था का अभ्यास वृद्धावस्था तक बना रहता है। अस्तु! अभ्यास ही सब कुछ है। अभ्यास से बान्धव अबान्धव और अबान्धव बान्धव हो जाते हैं। जैसे मिष्ठान में यदि तीक्ष्णता की भावना होवे तो वह तीक्ष्ण हो जाता है वैसेही जैसा अभ्यास होताहैं वैसा ही प्राप्त होता है। जैसे पुण्य किया रहे तो वह फिर आपके अभ्यास से क्षीण होजाता है और वैसेही पाप भी पुण्य के अभ्यास से नष्ट हो जाता है, माता भी अमाता हो जाती है, अर्थ के अनर्थ हो जातेहैं, मित्र अमित्रहो जाता है, भाग्य अभाग्य रूप हो जातेहैं वैसेही समस्त पदार्थों को अभ्यास चलायमान कर देता है, अभ्यास का नाश कदापि भी नहीं होता। हे मुनीश्वर! यदि कोई पदार्थ निकट ही क्यों न पड़ा होवे और इन्द्रियां भी निकट ही विद्यमान हों तौ भी बिना अभ्यास के वह नहीं मिलता इससे आप देखिये कि जो कुछ भी सिद्ध होता है सब अभ्यास के ही

बल से सिद्ध होता है । अभ्यास के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। ऐसे ही अज्ञानरूपी विशूचिका रोग ब्रह्मचर्य के अभ्यास से नाश हो जाता है। अस्तु ! अभ्यासरूपी नौका से संसार सागर बड़ी सुगमता से पार हो जावेगा, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जैसे उदित-उदय पदार्थों के अस्त की भावना कीजिये तो वह अस्त ही हो जाये और यदि कोई पदार्थ अस्त हो तो उसके उदय की भावना करने से वह उदय हो जावेगा और वैसे वर ही की सिद्धता शाप से नष्ट हो जाती है और शाप वर से नष्ट हो जाते हैं—ऐसे ही अभ्यास से सब कुछ सिद्ध हो जाता है । अभ्यास ही समस्त शक्तियों का केन्द्र है और अभ्यास ही सब कुछ करने वाला है । अभ्यास न करेगा तो कुछ भी न होगा । कोई कितना भी शास्त्र क्यों न सुने, यदि उसमें विचार अभ्यास न करे तो वह शास्त्र सुनना व्यर्थ है, बिना उसके अभ्यास के इष्टपदार्थों की प्राप्ति कदापि न होगी। जैसे वन्ध्या को पुत्र नहीं होता वैसे ही अभ्यास के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता । अभ्यास करने से आत्मपद का दर्शन शीघ्र ही हो जाता है, अभ्यास से इष्ट प्राप्त हो जाता है । जैसे प्रकाश से पदार्थ देखा जाता है तो वह देखना ही अभ्यास हुआ, और जो उसके लिए यत्न करना है वह अभ्यास का भी अभ्यास कहलाता है। इस प्रकार जब यत्न और अभ्यास किया जाता है तब पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं । हे मुनीश्वर ! किसी वस्तु का बारम्बार चिन्तन करने का ही नाम अभ्यास है। जब ऐसा अभ्यास करेगा तब भला कोई पदार्थ कैसे न प्राप्त होगा। । यह जो चौदह प्रकार की भूत जातियाँ हैं, जो उसमें जैसा अभ्यास करता है उसे वैसा ही सिद्ध होता है। हे रामजी ! यह अभ्यासरूपी एक ऐसा सूर्य है कि जिसके प्रकाश से जीव अपने इष्ट पदार्थ को पाता है । अतः उसी प्रकार अभ्यास बल से सारे भय नष्ट हो जाते हैं और प्राणी निर्भीक होकर पृथ्वी, वन, पर्वत और कन्दराओं में जहाँ चाहे विचरता है । ऐसी क्या वस्तु है कि जो अभ्यास से न मिले । इसी प्रकार हे मुनीश्वर ! आपका दृढ़ निश्चय इस शिला में है इसी प्रकार आपको यह शिला

ही भासती है परन्तु मुझको इसमें सृष्टि का अभ्यास है इससे मुझे इसमें सृष्टि ही भासती है। जब आप अपने सङ्कल्प को मेरे सङ्कल्प के साथ मिलाकर देखेंगे तब आपको भी यही जगत भासेगा। हे मुनीश्वर ! अन्तवाहकता सबके पास विद्यमान रहती है और सबका आदि वपु अन्तवाहक ही है। जैसे समुद्र में सब तरङ्गों की एकता विद्यमान होती है वैसे ही एक अन्तवाहकता में ही सर्व की एकता विद्यमान है। हे मुनीश्वर ! जब तुम इस प्रकार के अभ्यास को धारण करोगे अथवा जब धारणा के अभ्यास से तुम्हें शुद्ध बुद्धि प्राप्त होगी तब तुम्हें इस शिला में सृष्टि भासने लगेगी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का सैतालीसवा सर्ग समाप्त ॥४७॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

प्रत्यक्षादिक प्रमाणों द्वारा जगत की निर्वाणता वर्णन

वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! जब इस प्रकार उस अङ्गना ने मुझसे कहा तब मैंने पद्मासन बांधकर धारणा–ध्यान करना आरम्भ किया। फिर तो वैसा करने से मेरी आधिभौतिकता नष्ट हो गई और निरन्तर शुद्ध बोध का अभ्यास करने से मुझे बोध का पूर्ण अनुभव उदय हो गया। मेरी समस्त कलनायें नष्ट हो गईं और मैं उस परम शान्त पद में स्थित हो गया कि जो पद सर्वथा ही वैसा निर्मल है कि जैसे शीतकाल का आकाश निर्मल होता है। फिर तो वह शिला भी मुझे बोध मात्र ज्ञात हुई और तब मुझे आत्म-तत्व मात्र ही वह सब कुछ भासने लगा। हे रामजी ! जैसे मैंने आकाशरूप वह शिला देखी वैसे ही सारा जगत आकाश रूप ही है, द्वैत कुछ बना नहीं। आत्म अज्ञान से ही द्वैत भास रहा है। अन्यथा सर्वदा काल वह आत्म सत्ता ही अपने आप में स्थित है। जैसे कोई स्वप्न में अपने शिर को कटा हुआ देखे और रुदन करे किन्तु जागकर फिर अपने को ज्यों का त्यों देखकर आनन्द करता है वैसेही जब तक जीव अज्ञान निद्रा में सोता है तब तक जगत के

नाना प्रकार के भ्रमों को देखता है और जब स्वरूप में जागृत हो जाता है तब उसके सारे भ्रम मिट जाते हैं और तब केवल अपना आप ही भासता है। परन्तु हे रामजी ! यह आश्चर्य तो देखो कि जो वस्तु सत्‌रूप है वह असत् की नाईं जान पड़ता है। आत्मा सत् रूप है परन्तु भासता नहीं और जो असत्‌रूप है वह सत् की नाईं भासता है ऐसे ही यह शरीर आदिक दृश्य असत्‌रूप है परन्तु वे सत्य जान पड़ते हैं और आत्मा जो कि सर्वथा ही प्रत्यक्षरूप है वह नहीं भासता और शारीरादिक अप्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान के कारण प्रत्यक्ष भासते है। भला यह कैसा आश्चर्य है? आत्मा सर्वदा ही प्रत्यक्ष है और उसीमे लोक परलोक की सारी क्रियायें सिद्ध हो रही है और जगत के सारे पदार्थ आत्मसत्ता से ही सिद्ध हो रहे हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही आत्मसत्ता भासित होती है और सबको भ्रमवश आधिभौतिक भासने लगा है और इस प्रकार वह भ्रमके कारण ही अपने आपको आधिभौतिक जानने लगा है परन्तु है वह निर्वि-कार और निर्गुण वही सर्व का रूप है और उसको कोई नहीं जानता। परन्तु यह जानना चाहिये कि समस्त जीवों का आदि शरीर अन्तवाहक ही है और वह शुद्ध आत्मा का किंचन केवल और आकाशरूप ही है उसमें कुछ बना नहीं सङ्कल्प से ही आधि-भौतिकता दृढ़ हुई और वह मिथ्या भ्रमके कारण ही ऐसी भासरही है जैसे स्वप्न में आधिभौतिक शरीर भासता है वैसे ही जाग्रत में भी भासता है परन्तु अन्तवाहकता अविनाशी और उसका लोक परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। वह वास्तव में बोधरूप कुछ भिन्न नहीं है और भ्रमके कारण ही आधिभौतिक दृष्टि आता है। जैसे अज्ञान के कारण ही सीप में मोती और सूर्य की किरणों में जल का आभास होता है और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है वैसे ही भ्रमवश अपने में आधिभौतिक भास रहा है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अड़तालीसवां सर्ग समाप्त ॥४८॥

उनचासवाँ सर्ग

स्वर्ण शिला वृतान्त वर्णन

हे रामजी ! जब इस प्रकार से बोध दृष्टि करके मैंने उस शिला को देखा तो वह मुझको ब्रह्मरूप ही भासित हुई और सङ्कल्प दृष्टि से देखा तो उसमें पृथ्वी, समुद्र, पर्वत और सूर्य चन्द्रमा आदिक सब कुछ भासित हुए। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब भासता है वैसे ही आत्मरूप दर्पण में सारा जगत भासता है। हे रामजी ! तब इस प्रकार से उस शिला को देखकर मैं देवी के साथ उसमें सङ्कल्प शरीर रचकर प्रविष्ट हुआ। फिर तो हम दोनों जगत् के व्यवहारको लाँघते गये और जहाँ परमेष्ठी ब्रह्मा का स्थान था वहाँ हम जा बैठे। तब देवी ने कहा हे भगवन् ! तुम परमेष्ठी से ऐसे कहना कि,यह देवी मुझको यहां लेआई है, और पूछना कि, इसको जो तुमने विवाह के निमित्त उपजाया था तो फिर तुमने इसका त्याग क्यों किया ? हे मुनीश्वर ! उसने मुझको विवाह के अर्थ उत्पन्न किया था पर जब मैं बड़ी हुई तब उसने मेरा त्याग किया ? उसको वैराग्य उपजा है और उसे देखकर अब मुझको भी वैराग्य उपजा है, इसीसे हम उस परमपद की इच्छा रखते हैं कि जहाँ न द्रष्टा है न दृश्य है और न शून्य है केवल शान्तरूप है और जो सर्गके आदि और महाकल्प के अन्त में रहता है उसमें स्थित होने की इच्छा की है जिसमें स्थित हुए पहाड़वत् समाधि हो जावे। ऐसे परमपद का उपदेश करो। हे रामजी ! इस प्रकार कहकर वह भर्त्ता के जगाने के निमित्त निकट जाकर बोली, हे नाथ ! तुम जागो तुम्हारे गृह में यह दूसरी सृष्टि के ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ मुनि आये हैं। तुम उठकर इनका अर्घ्य पाद्य से पूजन करो क्योंकि, यह गृह में अतिथि आये हैं। महापुरुष केवल पूजा से ही प्रसन्न होते हैं। हे रामजी !

जब इस प्रकार देवी ने कहा तब ब्रह्माजी समाधि से उतरे और उनके प्राण देह और नाड़ियों में वैसे ही आन स्थित हुए कि जैसे वसन्तऋतु से सब वृक्षों में रस हो आता है, वैसेही उसकी दशों इन्द्रियों और चारों अन्तःकरण में शनैः शनैः करके प्राण स्थित हुए और सब इन्द्रियाँ खिल आईं। तब उन्होंने मुझको और देवी को अपने सन्मुख देखा और ज्ञानमे ॐकार का उच्चार करके सिंहासन पर बैठे। ब्रह्माजी के जागने से बड़ा शब्द होने लगा और विद्याधर, गन्धर्व, ऋषि मुनि आ प्रणाम करके स्तुति और वेद की ध्वनि से पाठ करने लगे। ब्रह्मा बोले–हे ऋषे! कुशल तो है? तुम इतनी दूर से क्यों आये हो, तुम तो सार असार को जानने वाले हो। जैसे हाथ के बेल का फल होता है वैसेही तुमको ज्ञान है, बल्कि ज्ञानरूपी समुद्र हो। ऐसे कहकर उसने अपने निकट आसन दिया और नेत्रों से आज्ञा की कि, इस पर विश्राम करो। हे रामजी! जब इस प्रकार उसने मुझसे कहा तब मैं प्रणाम करके उसके निकट जा बैठा और एक मुहूर्त पर्यन्त देवता, सिद्ध और ऋषियों के प्रणाम होते रहे। उसके अनन्तर जब विद्याधर और देवता सब चले गये तब मैंने कहा हे भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता ईश्वर परमेष्ठी तुम ऊँचे आसन पर विराजमान हो और साक्षात् ब्रह्मज्ञान के समुद्र हो, यह जो तुम्हारी शक्ति देवी है जिसको तुमने भार्या करने के निमित्त उत्पन्न किया था और फिर उसे विरस जानकर त्याग किया [illegible] वैराग्य करने से इसको भी वैराग्य उपजा है इस निमित्त यह मुझको यहाँ ले आई है। आप मुझे उपदेश न कीजिये। ब्रह्मा ने कहा हे मुने! मुझमें उदय और अस्त कुछ भी नहीं है मैं तो सर्वथा ही सबसे शान्त अजर और अमर रूप हूँ। मैं ही अपने आप में स्थित और परम आकाश रूप हूं। मेरे स्त्री बच्चे कहां? तो भी जैसी कथा है वैसी कहता हूँ सुनो, आप एक महान् पुरुष हैं, आपके सन्मुख में जैसा का तैसा कहूँगा। देखिये,

वह आदि शुद्ध चिदात्मा चिन्मात्र पद है. उसके ज म का फुरना बना कुछ नहीं। जैसे जहाँ समुद्र है वहां तरङ्ग भी होते हैं परन्तु समुद्र से भिन्न कुछ तरङ्ग हुए भी नहीं—वही रूप हैं, तैसे ही यह जगत भी कुछ उपजता नहीं और न लीन होता है, ज्यों का त्यों आत्म समुद्र अपने आपमें ही स्थित है, जगत सङ्कल्प शक्ति से फुरता है और सङ्कल्प शक्ति अहंरूपी किंचन मात्र उदय हुई है। जैसे कमल से सुगन्ध लेकर परियाँ निकलती हैं तैसेही भूल से देवी जगतरूपी सुगन्ध को लेकर उदय हुई भासती हैं। हे मुनीश्वर ! वास्तव में न कोई सङ्कल्प है और न प्रलय है ज्यों का त्यों ब्रह्म अपने स्वभाव में स्थित है। जैसे आकाश में आकाश और समुद्र में समुद्र स्थित है, वैसे ही ब्रह्म में ब्रह्म स्थित है। आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। वह उदय और अस्त सबसे परे है। आकाश में नीलता नहीं होती, आकाश न तो सत्य है और न असत्य, ऐसे ही ब्रह्म में जगत सत्य असत्य कुछ भी नहीं है। मैं उसी ब्रह्म का किंचन रूप ब्रह्मा हूँ, और यह जगत मेरे ही सङ्कल्प से उत्पन्न हुआ है। अस्तु, अब मैं अपने सर्व सङ्कल्पों को निर्वाण करता हूँ। फिर तो जैसे कमल के नष्ट होजाने से सुगन्धि का अभाव हो जाता है वैसे ही जगत का अभाव हो जायेगा क्योंकि मेरी ही इच्छा तो फुरी थी और अब उसीका निर्वाण हुआ है, तब वासना न होने से जगत भी कहाँ होगा यह जो तुम्हारा शरीर भास रहा है वह भी तो सङ्कल्प से ही भासता है परन्तु अब तुम अपनी सृष्टि में चले जाओ तो देखें कि फिर यह कैसे भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उनचासवां सर्ग समाप्त ॥४९॥

——o::*::o——

पचासवां सर्ग

प्रलयकाल-वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार मुझसे कहकर ब्रह्माजी ने पद्मासन लगा लिया पद्मासन लगाना था कि उनके मनोगत विचार तत्क्षण ही कार्यरूप में परिणत हो गये और जगत में लगी हुई वृत्तियाँ सर्वथा ही शान्त हो गईं । वृत्तियों का शान्त होना था कि हे रामजी ! वह देवी भी उन्हीं के समान पद्मासन लगाकर उनमें लीन होने लगी । फिर तो इस प्रकार ब्रह्मा के लीन होते ही सृष्टि प्रलय के सारे उपद्रव उठ खड़े हुए । मनुष्य पाप करने लगे, स्त्रियाँ दुराचारिणी हो गईं । सर्व जीवों ने अपने २ धर्म को त्याग दिया । काम, क्रोध, लोभ, मोह और राग-द्वेष बढ़ गये तथा सर्व साधारण शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हुए अनीश्वरवादी हो गये । फिर तो वर्षा बन्द हो गई, प्रतिक्षण कुहिरा छाया रहता, कहीं अकाल पड़ता और कहीं धनी दरिद्र और दरिद्र धनी होते थे । धर्मात्माओंको आपदायें भोगनी पड़ती और राजा नीति त्याग मद्यपान करते, चोर चोरी करते तथा जीवों को महान् आपदायें भोगनी पड़तीं । राजा अन्याय करने लगे । धर्म लुप्त हो गया अधर्म फैल गया । मूर्ख राजा बन बैठे और पण्डित ज्ञानी सेवा टहल करने लगे । दुष्टों की मान प्रतिष्ठा होने लगी और सत्य व्रत-धारियों का उपहास होने लगा । पृथ्वी ने अपनी सत्ता त्याग दी और इस प्रकार सभी जीव निष्प्राण होगये । समस्त स्थान धँसकर खाई होगया, भूचाल आया, पर्वत काँपने लगे । चारों ओर हाहाकारी शब्द होने लगा और समस्त बेलि वृक्ष सूखकर जर्जर होगये । ब्रह्माने ही पृथ्वी की रचना की थी, जब वही नहीं रहा तब उसकी रची हुई पृथ्वी कैसे रहती और इस प्रकार जब ब्रह्मा के अस्त होते ही पृथ्वी लय हो गई अथवा जब ब्रह्मा के विरस

होते ही वह भी विरस होगई तो उस पर विस्तृत जगत कैसे प्रफुल्लित होता । फिर तो सारे जगत की चैत्यता नष्ट होगई और पृथ्वी महान् दुःख को प्राप्त होकर धूल उड़ाने लगी तथा नगर के नगर नष्ट भ्रष्ट होगये । समुद्र ने अपनी मर्यादा त्याग दी, पर्वत और कन्दरायें गिर २ कर नष्ट होगईं । राजा और उसके नगर के लोग भागने लगे । समुद्र की तरंगें उछल-उछल कर आकाश को चूमने लगीं । बड़े-बड़े रत्नों के पर्वत गिर पड़े और उन सब गिरे हुए रत्नों का चमत्कार तारा मण्डल के समान ही पृथ्वी पर भासने लगा । महान् क्षोभ उत्पन्न हुआ, सूर्य और चन्द्र का प्रकाश क्षीण होगया । बड़वाग्नि उदय हो गई । वरुण और कुबेर आदिक देवताओं के वाहन भयभीत होगये । जल के वेग से बड़े २ पर्वत काँप उठे । पक्ष धारी पर्वत उड़-उड़कर नन्दन वनमें जाने लगे और इस प्रकार कल्पतरु और नन्दन वन भी टूट-टूटकर समुद्र में गिरने लगा, सिद्ध और गन्धर्व भी आकाश से टूटकर गिर पड़े । सात समुद्र इकट्ठे हो गये । गङ्गा, यमुना और सरस्वती आदिक सब नदियाँ समुद्र में मिलकर घोर शब्द करने लगीं । उनमें से मच्छ कच्छ निकलकर पर्वतों पर जाने लगे, कितने ही पंखधारी जलचर उड़-उड़कर आकाश देखने लगे । हाथी चिंघाड़ने लगे, तारा मण्डल टूट गया, सूर्य और चन्द्रमा भी टूट-टूटकर समुद्र में गिरने लगे । महान् क्षोभ उत्पन्न हो गया ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥५०॥

—०:❀:०—

इक्यावनवाँ सर्ग

निर्वाण वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार जब उस विराट रूप ब्रह्मा ने अपने जगतरूप प्राणों को खैंच लिया तब जगत चक्र को संचालित करने वाला वायु अपनी मर्यादा को त्याग कर क्षुब्ध हो गया और उस चक्र के समस्त यन्त्र नष्ट होने लगे। कारण कि वे सङ्कल्प ब्रह्मा के ही संकल्प थे और ब्रह्मा ने ही अपने प्राणों एवं सङ्कल्पों को खैंच लिया था। फिर किसकी सामर्थ ऐसी थी कि उन्हें रोक सके। घड़ी भर में महा प्रलय उपस्थित हो गया। तेजोमय देवता जो वायु के आधार से रहते थे, वायु के निकल जाने से वे निराधार होकर समुद्र में ऐसे ही गिर पड़े कि जैसे पके हुए फल वृक्ष से गिर पड़ते हैं। ऐसी प्रबल वायु चली कि उससे महान् क्षोभ उत्पन्न होगया। घोर शब्द होने लगे। प्रबल वायु के झोंके से सुमेरु पर्वत की कन्दरा गिर पड़ी और सुमेरु पर्वत भी गिर पड़ा।

वशिष्ठजी ऐसा कह ही रहे थे कि रामजी ने पूछा—हे भगवन्! यह जो सङ्कल्परूप ब्रह्मा को आपने विराटरूप कहा है सो मेरी बुद्धि में तो ऐसा आरहा है कि यह सारा जगत उसीका शरीर है और वह सङ्कल्परूप नहीं है। सङ्कल्प तो आकाशरूप होता है। किन्तु यह जगत तो प्रत्यक्ष ही स्थूलरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। हे मुनीश्वर! जो जिससे उपजता है, वह वैसा ही होता है, तब इस जगत को ब्रह्मा का अङ्ग कैसे मानें? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! इस जगत का और केवल आत्म तत्व मात्र ही अपने आपमें स्थित था। तब उस केवल चिन्मात्र में 'अहं' की किंचनता होकर स्थित हुई और उस किंचनता ने दृश्यों को साथ कर लिया तब उसके अनुभव ग्रहण से जो निश्चय हुआ उसका नाम बुद्धि पड़ा और जब बुद्धि हुई तब मन हुआ। फिर तो उस मन के फुरने से ही जगत दृश्य फैल गया। इस

प्रकार उस शुद्ध चिन्मात्र में जो चैत्य है वही ब्रह्मा का स्वरूप है और उसीके स्फुरण से यह जगत उठ खड़ा हुआ है। बस उसी सङ्कल्परूप जगत का यह विराट है परन्तु वह आकाशरूप ही है और उसमें कुछ बना नहीं। यह जितने कुछ आकार भास रहे हैं सब ब्रह्मसे ही भासता है किन्तु जितने भी सङ्कल्प हैं सब आकाशरूप ही हैं, आत्मसत्ता केवल आकाशरूप स्वतः अपने आपमें ही स्थित है। उसमें अहं का स्फुरण मिथ्या है और अज्ञान से ही दृढ़ हुआ है। अज्ञानी को ही भासना है. ज्ञानी को नहीं। क्योंकि सब सङ्कल्पमय है, कुछ बना नहीं सारा जगत चिन्मात्र स्वरूप ही है। एक अद्वैत कलना ही सर्व शब्दों से रहित आत्मामात्र, मैं–तुम आदिक शब्दों से रहित स्थित है, यह जगत उसी आत्मा का किञ्चन है। परन्तु यह वास्तव में कुछ है नहीं, सङ्कल्प की दृढ़ता से ही दृश्यरूप भास रहा है। जैसे सूर्य की किरणों में जलका आभास होना है वैसे ही जगत आत्मा का आभासरूप है। हे रामजी ! जिस रूप में मैं इस जगत का विवेचन कर रहा हूँ यदि कोई इसे ऐसा ही समझ कर अपने हृदय में धारण कर लेवे तो निश्चय ही उसकी भासनायें नष्ट हो जावेंगी जो हुआ है उसी का नाम आदि ब्रह्मा है और वह मैं ही हूँ। परन्तु मैं सर्वदा ही अपने आप में स्थित हूँ। मुझमें अपने आप ही अहं विद्यमान है। तब उसी अहं में जो आदि सङ्कल्प फुरा उसी में जगत का जाल रच उठा। पश्चात् उसी जगत भ्रम का एक नियम बना, परन्तु वह ब्रह्म शक्ति कि जो सर्व सङ्कल्पों की जन्मदात्री है शुद्ध और निराकार है। उसे उत्पन्न हुए आज एक हजार चौकड़ी युग बीत गये और अब यह कलियुग चल रहा है। इस कारण अब मैं परम चिदाकाश में ही स्थित होना चाहता हूँ, क्योंकि अब कल्पों और महा कल्पों की मर्यादा पूर्ण हो चुकी और अब इसमें कुछ रस नहीं रहा, इस कारण अब मैं इसे त्याग देता हूं। क्योंकि यदि इसे त्यागूंगा नहीं तो निर्वाणपद नहीं प्राप्त होता। फिर यह तो होना ही चाहिये

था कि अपनी खोई हुई अन्तवाहक शक्ति को प्राप्त करलूँ। सो धारणा के अभ्यास से इसे प्राप्त किया। यह आकाश में ही फुरी है इससे इसको अन्तवाहक होना ही चाहिये। आकाश में इसको तुम्हारी सृष्टि भासित हुई थी कि जिससे परम पद पाने की इच्छा से तुम्हारा साथ होगया और यह तुमको यहाँ लेआई है। देखो श्रेष्ठ पुरुषों का यही धर्म है कि वे अपनी शरणागतों की रक्षा करें। यह तुम्हारी शरण देख कर आई है, तुम इसका कल्याण करो। यह मेरी मूर्तिरूप वासना-शक्ति है। पहले मैंने इसको रचकर तब समस्त जगत् को रचा है। परन्तु अब मुझे अफुर और निर्वाण पदको पानेकी इच्छा हुई है कि जिससे मैंने इसे त्याग दिया है और अब यह देखिये कि इसको भी वैराग्य उत्पन्न होगया है। अच्छा है, वैराग्य होना ही चाहिये, क्योंकि जगत् का सारा विलास तो सङ्कल्प मात्र ही है, इसमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है, यह परमात्म तत्व ज्यों का त्यों अपने आप में ही स्थित है। इसमें मैं, तुम, और मेरा तेरा, आदिक शब्द समुद्र के तरङ्ग की समान ही स्थित हैं, जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजकर शब्द करते हैं और फिर लुप्त होजाते हैं, वैसे ही हमारा तुम्हारा बोलना और मिलाप होता है। हे मुनीश्वर! वास्तव में न कोई उपजा है और न कोई लीन होता है। जैसे तरङ्ग जलरूप है भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही सब जगत् ब्रह्म स्वरूप है, भिन्न कुछ नहीं, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि सब वही रूप है। हे मुनीश्वर! मैं चिदाकाश हूँ और चिदाकाश में स्थित हूँ। यह ब्रह्मशक्ति है जिसने जगत् रचा है, यह भी अजर और अमर है और न कदाचित् उपजा है और न नाश होगा। शुद्ध आत्मा किंचन द्वारा जगत होकर भासता है जैसे सूर्यकी किरणें जल हो भासती हैं, परन्तु जल कुछ हुआ नहीं वैसेही आत्मा ही है, विश्व कुछ हुआ नहीं। हे मुनीश्वर! जगत जाल होकर आत्मा भासता है पर जगत के उदय अस्त होने से आत्मा में कुछ क्षोभ नहीं होता, वह ज्यों का त्यों एक रस स्थित है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और लीन

होते हैं परन्तु समुद्र ज्यों का त्यों रहता है, वैसे ही जगत कुछ उपजा नहीं सङ्कल्प से उपजे की नाईं भासता है। जैसे दृढ़ता से जल ओला होजाता है, वैसे ही चिन्मात्र में चैतन्यता से पिण्डाकार भासता है परन्तु उपजा कुछ नहीं । हे मुनीश्वर ! यह जो शिला है जिसमें हमारी सृष्टि है सो केवल चितघन रूप है। तुम्हारी सृष्टि में यह शिला है और हम चैतन्यघन हैं। चैतन्य आकाश आत्मा शिला होकर भासता है। जैसे स्वप्न में सृष्टि जाग्रत भासती है सो बोधरूप है बोध ही जगत सा भासता है वैसे ही यह जगत और शिलारूप होकर बोध ही भासता है। सूर्य, चन्द्रमा, नदी, वरुण, कुबेर आदिक जगत जो भ्रमसे दृष्ट आता है सो बना कुछ नहीं चैतन्य का किंचन ही ऐसे भासता है जैसे सूर्य की किरणों में किंचन जला भास होता है वैसे ही जहाँ आत्म सत्ता है वहाँ जगत भासता है। सब पदार्थ आत्मसत्ता से ही भासते हैं। ब्रह्मसत्ता सबमें अनुस्यूत है इससे सब ओरसे सृष्टि बसती है। जैसे एक शिलामें हमारी सृष्टिमें जो कुछ पदार्थ भासते हैं और इनमें सृष्टि बसती है सो प्रच्छन्न दृष्टि नहीं भासती पर जब अन्तवाहक दृष्टि से देखिये तब भासती है। घटों में, गढ़ों में और पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आदि ठौरोंमें सृष्टि है और उसे पूर्ववत् आत्मा ही ज्यों का त्यों भासित होगा। उस आत्म में समवाय और निमित्त कारण कुछ भी नहीं है। उसमें इस जगत का उदय और नाश होना सर्वथा ही असत्य है, उसमें अद्वैत और अनन्त भी क्या कहा जाय ? महाप्रलय में जबकि सर्व शब्दों का अभाव हो जाता है तब परम चिदाकाश अनुभव सत्ता ही शेष रहती है इसी को मोक्ष कहते हैं । हे रामजी ! हमको अब भी संवितसत्ता ही भासती है । मैं शुद्ध और सर्व कलनाओं से रहित हूँ और चिन्मात्र रूप ही हूँ। मुझमें जो वशिष्ठ का अहं फुरा है सो कुछ फुरा नहीं और फुरे के समान ही भासता है परन्तु वह आत्मा का ही किंचन है, उसमें कुछ हुआ नहीं । हे रामजी ! इसी प्रकार

तुम भी वासना रहित होकर अपनी स्वाभाविक चेष्टा करो या न करो अथवा जो इच्छा हो वही करो परन्तु कुछ सङ्कल्प न करो कि मैं यह करूँगा—परम मौनता धारण करके उसी में स्थित हो जाओ। यही ज्ञानियों का आचरण है और उनको ऐसा ही अनुभव होता है, तुम भी ऐसा ही निश्चय करलो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का इक्यावनवां सर्ग समाप्त ॥५१॥

——०::❀::०——

बावनवां सर्ग

परमार्थ योगोपदेश वर्णन

हे रामजी! यह सारा संसार अज्ञानी को ही सत्य भासता है, ज्ञानी को नहीं। ज्ञानी को तो सब कुछ ब्रह्म ही भासता है। ब्रह्म में अहं, त्वं आदिक कोई भी शब्द नहीं है। वह केवल चिन्मात्र और आकाश रूप ही है, उसमें अहं त्वं शब्द तो विचार के निमित्त ही कहे गये हैं। पर वास्तव में वह चेतना और चिन्मात्र पद ही है उसमें जब सर्व शब्दों का ज्ञान किया जाता है तब शेष शान्त पद ही रहता है, अन्यथा नहीं हे रामजी! एक अधिष्ठान ज्ञान है और दूसरा ज्ञाप्तिज्ञान है, अधिष्ठान ज्ञान सर्वज्ञ ईश्वर का है और ज्ञाप्ति ज्ञान जीव को है। एक लिङ्ग शरीर का जिसको अभिमान है वह जीव है और सर्वलिङ्ग शरीर का अभिमान ईश्वर है। जहाँ इस जीव की ज्ञाप्ति पहुँचती है उसको जानता है। जैसे एक शैया पर दो पुरुष सोये हों और एक को स्वप्न आवे उसमें मेघ गर्जते हैं और दूसरा वह मेघ का शब्द नहीं सुनता क्योंकि ज्ञाप्ति उसके नहीं आई परन्तु मेघ तो उसके स्वप्न में है। जैसे सिद्ध विचरते हैं और जीव को दृष्टि नहीं आते क्योंकि, इसकी ज्ञाप्ति नहीं आती और सब सृष्टि बसती है तिसका ज्ञान ईश्वर को है सो सृष्टि भी सङ्कल्प मात्र है, कुछ बनी नहीं और भ्रम से भासती है जैसे बादल में

हाथी, घोड़े, मनुष्य आदिक विकार भासते हैं वे भ्रान्ति मात्र हैं वैसे ही आत्मा के अज्ञान से यह सृष्टि नाना प्रकार की भासती है हे रामजी! यह आश्चर्य है कि आत्मा में अहंकार का उत्थान होता है कि, मैं हूँ और अपने का वर्णाश्रम मानता है पर विचार करके देखिये तो अहं कुछ वस्तु नहीं सिद्ध होती है और अहं अहं फुरती है यह आश्चर्य है कि, भूत कहां से उठा है और शुद्ध आत्मा ब्रह्म यह कैसे हुआ है? अनहोते अहंकार ने तुमको मोहित किया है इ के त्यागने में तो कुछ यत्न नहीं इसका त्याग करो। हे रामजी! यह मिथ्या संकल्प उठा है। अब अहंकार का उत्थान होता है तब जगत होता है और जब अहन्ता मिट जाती है तब जगत का भी अभाव होता है क्योंकि कुछ बना नहीं भ्रम मात्र है। जैसे सङ्कल्प नगर और स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र है वैसे ही यह विश्व भी भ्रममात्र है। कुछ बना नहीं और आत्मतत्व रूप है—भिन्न नहीं। जैसे पवन के दो रूप हैं चलता है तो भी पवन है और ठहरता तो भी पवन है, वैसे ही विश्व भी आत्मा—स्वरूप है। जैसे पवन चलता है तब भासता है और ठहर जाता है तब नहीं भासता, वैसा ही चित्य शक्ति का चमत्कार है, जब फुरती है तब विश्व भासता है पर तो भी चिदघन है और जब ठहर जाता है तब विश्व नहीं भासता परन्तु आत्मा सदा एक रस है। जैसे जलमें तरङ्ग और सुवर्ण में भूषण है सो भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा में विश्व कुछ हुआ नहीं—आत्मा-स्वरूप ही है। ज्ञप्ति भी ब्रह्म है और ज्ञप्ति में फुरा विश्व भी ब्रह्म है तो विधि, निषेध और हर्ष, शोक किसका करें? सब वही है। हे रामजी! संकल्प को स्थिर करके देखो कि, सब तुम्हारा ही स्वरूप है। जैसे मनुष्य शयन करता है तो उसको स्वप्न सृष्टि भासती है और जब जागता है तब देखता कि, सब मेरा ही स्वरूप है। वैसे ही जाग्रत विश्व भी तुम्हारा ही स्वरूप है। जैसे समुद्रमें तरङ्ग उठते हैं सो जलरूप हैं

वैसे ही विश्व आत्म-स्वरूप है और जैसे चितेरा काष्ठमें कल्पना करता है कि,इतनी पुतलियाँ निकलेंगी और जैसे मृत्तिका में कुम्हार घटादिक कल्पना करता है कि,इसमें उतने पात्र बनेंगे पर काष्ठ और मृत्तिका में तो कुछ नहीं, ज्यों का त्यों काष्ठ है और ज्यों की त्यों मृत्तिका है परन्तु उनके मनमें आकार की कल्पना है, वैसे ही आत्मा में संसार रूपी पुतलियां मन कल्पता है। जब मनका संकल्प निवृत्त हो तब ज्यों का त्यों आत्म पद भासे। जैसे तरङ्ग जलरूप है, जिसको जलका ज्ञान है सो तरङ्ग भी जलरूप जानता है और जिसको जलका ज्ञान नहीं सो भिन्न२ तरङ्ग के आकार देखता है, वैसेही जब निरसङ्कल्प होकर स्वरूप को देखे तब फुरने में भी आत्मसत्ता ही भासेगी। अहं त्वं आदिक सब जगत ब्रह्मस्वरूप है तो भ्रम कैसे हो और किसको हो। सब विश्व आत्मस्वरूप ही है और आत्म निरावलम्ब अर्थात् चैत्य और अहंकार से रहित केवल आकाश रूप है। जब तुम उसमें स्थित होगे तब नाना प्रकार की भावना मिट जावेगी क्योंकि, नाना प्रकार की भावना जगत में फुरती है। जगत का बीज अहन्ता है, जब अहन्ता नष्ट हो तब जगत का भी अभाव हो जावेगा हे रामजी! अहन्ता का फुरना ही बन्धन है और निरहंकार होनाही मोक्ष है। एक चित्त बोध है और दूसरा ब्रह्म बोध है—चित्त-बोध जगत है और ब्रह्म-बोध मोक्ष है। चित्त बोध अहन्ता का नाम है. जब तक चित्त बोध फुरता है तब तक संसार है और जब चित्त की भावना होती है तब मुक्त होता है इस चित्त के अभाव का नाम ब्रह्म बोध है। हे रामजी! पवन फुरता है वैसे ही ब्रह्म में चित्त-बोध है। जैसे फुर अफुर दोनों पवन हीहैं, वैसे ही चित्त-बोध और ब्रह्म-बोध ब्रह्म ही है—भिन्न कुछ नहीं। हमको तो ब्रह्म ही भासता है जो चैतन्य मात्र और शान्तरूप अपने स्वभाव में स्थित है जिसको अधिष्ठान का ज्ञान होता है उसको निवृत्ति भी वही रूप भासता है। और जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता उसको

भिन्न भिन्न जगत् ही भासता है। जैसे एक में पत्र, डाल, फूल और फल भासते हैं पर जिनको बीज का ज्ञान नहीं उसको भिन्न २ भासते हैं। हे रामजी! हमको अधिष्ठान आत्मतत्व का ज्ञान है, इससे सब विश्व आत्मरूप ही भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का विश्व और जन्म मरण भासते हैं। हे रामजी! सब शुद्ध आत्मतत्व में फुरते हैं और सबका अधिष्ठान, निराकार, निर्विकल्प, शुद्ध आत्मा सबका अपने आप है, इससे सब विश्व आकाशरूप है, कुछ भिन्न नहीं है। जैसे तरङ्ग जलरूप है वैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है। चित्त जो फुरता है उसके अनुभव करने वाली चैतन्य सत्ता है सो ही ब्रह्म है और तुम्हारा स्वरूप भी वही है, इसमें अहं त्वं आदिक जगत सब ब्रह्मरूप है तुम संशय त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित होओ। आगे तुमसे जो द्वैत अद्वैत कहा है वह सब उपदेशमात्र है एक चित्र की वृत्ति को स्थित करके देखो तो सब ब्रह्म ही है, भिन्न कुछ नहीं तो निषेध किसका कीजिये? हे रामजी! चित्त की दो वृत्ति ज्ञानवान कहते हैं—एक मोक्षरूप है और दूसरी बन्धरूप है। जो वृत्तिस्वरूप की ओर फुरती है सो मोक्षरूप है और दृश्य की ओर फुरती है सो बन्धरूप है। जो तुमको शुद्ध भासती हो वही करो। जो द्रष्टा है सो दृश्य नहीं होता और जो दृश्य है वह द्रष्टा नहीं होता परमात्मा तो अद्वैत है इससे द्रष्टा में दृश्य पदार्थ कोई नहीं। तुम क्यों दृश्यकी ओर फुरते हो और अन होता दृश्य का अभाव जानो तब अवाच्य पद है उसको वाणी से कुछ कहा नहीं जाता। हे रामजी! जैसे अङ्गी और अङ्गवाले, आकाश और शून्यता, जल और द्रवता और बरफ और, शीतलता में कुछ भेद नहीं वैसे ही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं। कोई जगत है। इससे आत्मपद में स्थित हो रहो, भ्रम करके जो आपको कुछ और मानते हो उसको त्यागकर ब्रह्म की ही भावना करो और आपको मनुष्य कदाचित न जानो जो आपको मनुष्य जानोगे तो यह निश्चय अधोगति को प्राप्त करने वाला है, इससे अपने स्वरूप में स्थित रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बावनवां सर्ग समाप्त ॥५२॥

तिरपनवाँ सर्ग

परमार्थयोग–उपदेश वर्णन

हे रामजी ! जब मन की वृत्ति देश से देशान्तर को जाती है तब उसके मध्यमें जो संवित तत्व है उसको जो अनुभव करता है वही तुम्हारा स्वरूप है, तुम उसी में स्थित हो रहो तब तुम चाहो जैसी चेष्टा करो, देखो, सूँघो. स्पर्श करो, बोलो, चलो हँसो और सब क्रियायें करो, तुम्हें कुछ भी स्पर्श न होगा। यह जाग्रत–सुषुप्ति–योग कहलाता है। इस अवस्था में पहुँच कर तुम जो भी चेष्टायें करो सब शुभ होवें और हृदय में फुरने से तो ऐसे ही रहित हो जाओ कि मानो तुम कोई पाषाण शिला हो गये हो क्योंकि तुम्हारा स्वरूप आभास रहित, निर्मल और शान्त-रूप ही है। जैसे सुमेरु पर्वत स्थित है,तुम वैसे ही स्थित होजाओ। दृश्यों का क्या है, ये तो अज्ञान से ही फुर रहे हैं इससे सर्वथा ये ही अन्धकार रूप हैं और आत्मा सर्वदा ही प्रकाशरूप है। किन्तु खेद है कि ऐसे उत्तम प्रकाश में भी अज्ञानी को अन्धकार ही भासता है। क्योंकि वह आत्माको न देखकर जगतको देखताहै और जगत अविद्या रूप एवं अविचार से ही सिद्ध है। विपर्यय दृष्टिसे ही जगत भासता है अन्यथा इसका वास्तविकरूप निराकार ही है। अज्ञानी को ही साकार भासता है। परन्तु आनन्दरूप ही है, उसमें दुःख कुछ भी नहीं है, वह शान्तरूप है। परन्तु अज्ञानी उसको भी अशान्त जानता है। महत को लघु जानता है, नित्य को अनित्य देखता है। किन्तु आत्मा ऐसा नहीं है। वह चैतन्य है, जड़ नहीं। शुद्ध चिन्मात्र है। चैत्य नहीं। उसे चैत्य संयुक्त देखना मूर्खता है। वह शुद्ध चैतन्य है मूर्ख उसे जड़रूप देखते हैं। परन्तु वह तो अहं रहित अपने आप में ही स्थित है। उसने नहीं, अनात्म ने ही अहं में प्रतीत किया है, इसीसे इसको जगत दृष्ट हो रहा है। परन्तु आत्मा तो सर्वदा ही

अवयव रहित, अक्रिय और निरयव है। उसको अंशाशी भावमें देखना सक्रिय और अवयवी कहना मूर्खता है। क्योंकि वह सर्वथा ही निष्कलंक प्रत्यक्ष है। उसके परोक्षमें और कुछ कलंकयुक्त कहना मूर्खता है। आत्मरोगी ही उसे परोक्षवासी कहते हैं, ज्ञानी नहीं। हे रामजी! आत्मा में कोई भी विकार नहीं है, वह सर्वथा ही शुद्ध, सूक्ष्म, लघु से भी लघु और सर्व शब्दों और अर्थोंका अधिष्ठान स्वरूप ही है हे रामजी! उसी ब्रह्मरूपी ड बे में यह जगतरूपी रत्न पड़ा है। परन्तु उससे आत्माको क्या? उस डब्बेके समान ही आत्माका जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके निकट यह जगत रुईके रोमसे भी सूक्ष्माति सूक्ष्म है। हे रामजी! आत्मरूपी एक बन है कि जिसमें जगतरूपी मंजरी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच तत्व ही उसके पत्र हैं कि जिनसे वह शोभित होरही है। परन्तु यह मंजरी ऐसी निकम्मी और इतना अस्तित्व हीन है कि अहन्ता के उदय हो से ही उदय होती और अहन्ता के ही नष्ट होनेसे नष्ट हो जाती है। हे रामजी! यह आत्म प्रमाद से ही भास रहा है। मायारूपी चन्द्रमा की किरणें ही जगत हैं जो अपनी नेति नियति शक्ति से नृत्य कर रही हैं परन्तु यह अविचार से ही सिद्ध है और विचार कर से शान्त हो जाते हैं। जैसे दीपक को हाथ में लेने से अंधकार देखिये तो नहीं दिखलाई पड़ता वैसेही विचार पूर्वक देखनेसे जगत का अभाव हो जाता है। परन्तु वह केवल शुद्ध आत्मा ही प्रत्यक्ष भासता हैं। सो उस आत्मा में यह जगत कुछ बना नहीं। आत्मा और जगत में कुछ भी भेद नहीं है। उसमें जो भासता है, भ्रममात्र है। जैसे तागे और पट्टमें कुछ भेद नहीं है वैसेही आत्मा और जगत में कुछ भी भेद नहीं है। आत्मारूपी रंगमें जगतरूपी चित्र रंगा हुआ है, सो जैसे समुद्रका तरंग होता है वैसे ही यह जगत आत्मा में स्थित हैं और उसमें भेद कुछ नहीं हैं। सारे पदार्थ उसीसे सिद्ध हो रहे हैं। सारी क्रियाओं को वही सिद्ध कर रहा है। वह सर्वदा ही अनु-

भवरूप और अप्रौढ़ है, उसको प्रौढ़ करना मूर्खता है। हे रामजी! यह सारा विश्व तुम्हारा ही स्वरूप है, उसमें जाग्रत होकर देखो तो सर्वत्र तुम्हीं स्वच्छ, आकाशरूप- प्रत्यक्ष, सूक्ष्म और ज्योतिस्वरूप अपने आप ही में स्थित और खड़े दिखलाई पड़ोगे। जैसे जलमें लहर और तरङ्ग उठते हुये जान पड़ते हैं और वे जल स्वरूप ही हैं वैसे ही आत्मा में रूप अवलोक और मनस्कारों का स्फुरण होता है किन्तु सब आत्मरूप ही हैं, भिन्न कुछ नहीं। यह सारा चमत्कार उस शुद्ध चिन्मात्र परमात्मा से ही उदय हुआ है। परन्तु उसमें यह जगत कुछ बना नहीं आकाश नगर के समान ही उसमें यह सारी रचनायें हुई हैं, यह अज्ञानी के ही दृश्य में दृढ़ हो रहा है, ज्ञानी को नहीं। ज्ञानी को सङ्कल्प सृष्टि नहीं भासती और उसे सब कुछ शून्याकाश ही भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तिरेपनवां सर्ग समाप्त ॥५३॥

—०:※:०—

चौवनवां सर्ग

इच्छा त्यागोपदेश

हे रामजी! इच्छा करनी ही मूर्खता है। फिर इच्छा करें भी तो किसकी। क्या इस जगत की? नहीं कदापि नहीं। यह जगत तो मृग तृष्णा के जलवत ही मिथ्या है। तब जब यह स्वयम् ही असत्य है तो इसकी इच्छा भी क्या करें। फिर इच्छा ही तो मनुष्य के बन्धन का कारण है। इच्छा न हो तो मोक्ष ही है। ज्ञानी को इच्छा नहीं होती अर्थात् वह सारी इच्छाओं का दमन किये रहता है। उसकी सारी चेष्टायें अनिच्छित ही होती हैं। जैसे सूखे बांस के भीतर बाहर शून्य होता है। और संवेदन उसको कुछ नहीं फुरता वैसे ही ज्ञानवान के अन्तःकरण और बाह्यकरण में भी शान्ति होती है, अन्तःकरण में सङ्कल्प कोई नहीं उठता और बाहर भी कोई उपाधि नहीं निःसङ्कल्प निरुपाधि ही उसकी चेष्टा होती है।

जिस पुरुष के हृदय से संसार का रस सूख गया है वह संसार समुद्र से पार हुआ है और जिसका रस नहीं सूखा उसको रागद्वेष फुरते हैं उसे संसार बन्धन में जानों। मैं तुमसे ऐसी समाधि कहता हूँ कि जो सुख से प्राप्त हो और जिसमें मुक्त हो सर्व इच्छा से रहित होना ही परम समाधि है। जिस पुरुष को इच्छा फुरती है उसको उपदेश भी नहीं लगता। जैसे आरसी के ऊपर मोती नहीं ठहरता वैसे ही उसके हृदय में उपदेश नहीं ठहरता। इच्छा ही जीव को दान करती है और इच्छा से रहित हुआ शान्तरूप होता है और फिर शान्तिके निमित्त कर्तव्य कुछ नहीं रहता। हम तो निरीच्छित हैं इससे हमको भीतर बाहर शान्ति है और हमको कर्तव्य करने योग्य कुछ नहीं-यह सब प्रारब्ध के अनुसार राग द्वेष से रहित चेष्टा होती है और बोलते हैं परन्तु बाँसुरी की नाईं। जैसे बाँसुरी अहङ्कार से रहित बोलती है वैसे ही ज्ञानवान् अहंकार से रहित हैं और स्वाद को ग्रहण करते हैं। जैसे करछी सब पदार्थों में डाली जाती है और उसी के द्वारा सब पदार्थ निकलते हैं परन्तु उसको कुछ राग-द्वेष नहीं फुरता, वैसे ही ज्ञानवान स्वाद लेता है। जैसे पवन भली बुरी गन्ध को लेता है परन्तु रागद्वेष से रहित है वैसे ही ज्ञानवान् रागद्वेष संवेदन रहित गन्ध को लेता है और इसी प्रकार सर्व इन्द्रियों की चेष्टा करता है परन्तु इच्छा से रहित होता है इसी से परम सुख रूप है। जिसकी चेष्टा इच्छा सहित है वह परम दुःखी है। जिस पुरुष को भोग रस नहीं देते वही सुखी है और जिसको रस देते हैं और जिसकी राग से तृष्णा बढ़ती जाती है उसको ऐसे जानो जैसे किसी के मस्तक पर अग्नि लगे और उस पर तृण बुझाने के निमित्त डाले तो वह बुझती नहीं बल्कि बढ़ती जाती है, वैसे ही विषयों की इच्छा भोगों से तृप्त नहीं होती। इच्छा ही बन्धन है और इच्छा की निमित्त का नाम मोक्ष है। संसाररूपी विष का वृक्ष है और उसका बीज इच्छा है जिसकी इच्छा बढ़ती जाती है उसका

संसार बढ़ता जाता है और उससे वह वारम्वार जन्म पाता है। ऐसा सुख ब्रह्मा के लोक में भी नहीं जैसा सुख इच्छा की निवृत्ति में है और ऐसा दुःख नरक में भी नहीं जैसा दुःख इच्छा के उपजाने में है। इच्छा के नाश का नाम मोक्ष है। इच्छा के उपजाने का नाम बन्धन है जिस पुरुष को इच्छा उत्पन्न होती है वह दुःख पाता है और संसार रूपी गढ़े और खेत में पड़ता है, इच्छा रूपी विष की वेलि है उसको समता रूपी अग्नि से जलाओ। सम्यकदर्शन से जलाये विना बड़ा दुःख देगी और बढ़ती जावेगी। जिस पुरुष ने इच्छा के दूर करने का उपाय नहीं किया उसने अन्धेरे कूप में प्रवेश किया है शास्त्र का श्रवण और तप, दान, यज्ञ इसी निमित्त है कि किसी प्रकार इच्छा निवृत्त हो जो एक ही वार निवृत्त न कर सको तो शनैः शनैः निवृत्त करो। यह विषय की वेलि बढ़ी हुई दुःख देती है। जो पुरुष शास्त्रों को पढ़ता और इच्छा को बढ़ाता है वह मानो दीपक को हाथ में लेकर कूप में गिरता है। इच्छा रूपी कटिआरी का वृक्ष है जिसमें सर्वदा कण्टक लगे रहते हैं। उसमें कदाचित् सुख नहीं। जो पुरुष कांटे की शय्या पर शयन करके सुखी हुआ चाहे तो नहीं होता, वैसे ही संसार से कोई सुख पाया चाहे तो कदाचित् न होगा। जिससे इच्छा निवृत्त हो वही उपाय करना चाहिये। इच्छा के निवृत्त होने में सुख है और इच्छा के उत्पन्न होने में बड़ा दुःख है। जो अनिच्छित पद में स्थित हुआ है उसको यदि एक क्षण भी इच्छा उपजाती है तो वह रुदन करता है। जैसे चोर से लूटा रुदन करता है वैसे ही वह रुदन और पश्चाताप करता है और उसके नाश करने का उपाय करता है। इच्छारूपी क्षेत्र में राग द्वेष रूपी विष की वेलि है। जो पुरुष उसके दूर करने का उपाय नहीं करता वह मनुष्यों में पशु है। यह इच्छा रूपी विषका वृक्ष बढ़ा हुआ नाश का कारण है। इससे तुम इसका नाश करो। हे रामजी! इस इच्छा को नष्ट करने का उपाय तुमसे पहले भी कह चुका हूँ और

अब भी स्पष्ट करके कहे देता हूं कि इस संसार में आकर जहां तक शीघ्र संभव हो सके इच्छा को नष्ट कर देवे। तभी कल्याण होवेगा अन्यथा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौवनवाँ सर्ग समाप्त॥५४॥

—०॥※॥०—

पचपनवां सर्ग

विराट आत्मा विवेचन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा–हे भगवन्! यह संसार भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ हैं और कैसे अनुभव होता है, कृपा कर मुझे बतलाइये। वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी! यह जो कुछ स्थावर जङ्गम जगत तुमको दिखलाई पड़ रहा है यह सब प्रलयमें नाश हो जाता है यहां तक कि तब ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र भी लीन हो जाते हैं और वह स्वच्छ, अज अनादि और केवल आत्मतत्व मात्र ही शेष रहता है। उसमें वाणी की गम नहीं वह केवल अपने आपमें ही स्थित है और वह ऐसा सूक्ष्म है कि उसमें यह सूक्ष्म आकाश भी स्थूल जान पड़ता है। जैसे सुमेरु पर्वत के निकट राई का एक दाना सूक्ष्म है वैसे ही आकाश से भी आत्मा सूक्ष्म है किन्तु उसमें अहं किंचन होकर यह जगत फुर आया है। परन्तु वह आत्मा सर्वदा निर्विकल्प और समुद्र के समान ही देश काल से परे चेतन घन अपने आप ही में स्थित है। जैसे स्वप्नकाल में जीव अपने भाव को ही लेकर स्थित होता है वैसे ही आत्मा अपने भाव को ही लेकर चेतन किंचन होता है। वही ब्रह्मा है और वही चित्तस्वरूप है उसी ने चैत्य नाम से दृश्यों को देखकर अपने भाव को लेकर उदय हुआ है। इससे उसने जो कुछ अनुभव किया वह मिथ्या है। जैसे कोई स्वप्न काल में अपना मरण देखे तो वह अनुभव मिथ्या है वैसे ही चिद्अणु दृष्टि से दृश्य को जो देखता है तो उसकी मिथ्या

ही दृष्टि है। वह जब चिद्अणु अपने स्वरूप को देखता है कि जो केवल निराकाररूप है तब उसमें अहंका ऐसा बीज दृढ़ होता है कि वह अपने आप से निकल कर संकल्पवश दृश्यों को ही देखने लगता है। जैसे बीज में अंकुर निकलता है वैसे ही संकल्प के फुरने से देश, काल, द्रव्य द्रष्टा, दर्शन और दृश्य हो जाता है। पर वास्तव में कुछ हुआ नहीं। आत्मा सर्वदा अपने आप में ही स्थित है और संकल्प से ही भासता है। जहां चिद्अणु भासे वहां ही देश है और जिस समय भासे वह काल है और जो भाव हो वह क्रिया हुई। भाव का ग्रहण द्रव्य है और देखने को जो वृत्ति दौड़ती है वह नेत्र होकर स्थित हुई है और जिसको देखते हैं वह शून्य है और देखने वाले भी शून्य हैं, अस्त हैं, कुछ बने नहीं। जैसे आकाश में ही आकाश स्थित है वैसे ही आत्मा अपने आपमें ही स्थित है, संकल्प-वश सब कुछ भासता है। इस प्रकार चिद्अणु ही दृश्य रूप होकर स्थित हुआ है। उसी चिद्अणु में जब स्वरूप की वृत्ति फुरती है तब पहले नेत्र इन्द्रिय उत्पन्न होकर स्थित होती है और जब सुनने की वृत्ति फुरती है तब श्रवण इन्द्रिय उत्पन्न होकर स्थित होती है। इसी प्रकार जब स्पर्श वृत्ति फुरती है तब त्वचा इन्द्रिय और जब सुगन्ध लेने की वृत्ति फुरती है तब नासिका इन्द्रिय उत्पन्न होती है। जब रस ग्रहण करने की इच्छा होती है तब रसना इन्द्रिय उत्पन्न होकर स्वाद लेती है। परन्तु पहले इस चिद्अणु का कुछ भी नाम नहीं था और अब यह सारा जगत उसीका रूप है और यह केवल आकाश रूप ही है। परन्तु संकल्पवश अपने में यह स्थूलता और इन्द्रियों को देख रहा है। परन्तु इसका अनादि स्वरूप चिद्अणु ही है। वही अब इन्द्रियों के संयोग से पदार्थों को ग्रहण करने लगा है। उसमें स्पन्दरूप से जो वृत्ति फुरी है उसका नाम मन हुआ है। अनिश्च-यात्मक बुद्धि से निश्चय और वही अहंकार वश द्रष्टा के रूप में हो गया है। जब उस चिद्अणु का संयोग अहंकार से हुआ तब वही

अपने में देश काल को देखने लगा और इस प्रकार जैसे-जैसे उसने आगे दृश्य देखा वैसे ही उसे देश काल दिखलाई पड़ा। यह उसके अहंकार की विषमता हुई। फिर तो उस विषमता में पड़कर वह देश, काल, क्रिया और द्रव्यों के अर्थ को भिन्न-भिन्न ग्रहण करने लगा और इस प्रकार आकाश होकर आकाश को भी ग्रहण कर लिया अन्यथा उस आदि फुरने से चिद्‌अणु में पहले अंतवाहक शरीर हुआ और फिर संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासने लगा। जैसे भ्रम वश एक आकाश में और आकाश भासे वैसे ही अनहोते ही सत्य दृश्य उसमें भ्रमवश भासने लगे। जैसे मरुस्थल में नदी भासती है वैसे ही अविचार से संकल्प की दृढ़ता वश पञ्चभौतिक आकार भासने लगे। फिर तो इसी प्रकार अहं प्रत्यय होने से वह सब कुछ देखने लगा कि यह मेरा शिर है, यह मेरे चरण हैं, यह अमुक देश है और यह अमुक वस्त और अमुक पदार्थ है। जब इस प्रकार से चित्त विषयों की ओर दौड़ा और राग द्वेष को ग्रहण करने लगा तब यह सभी देहादिक फुरने से भास गये। परन्तु यह सब संकल्प की दृढ़ता से ही भासित हुये और संकल्प से ही दृढ़ हुए हैं। हे रामजी! इस प्रकार से ब्रह्मा, विष्णु और कीट पतिङ्ग सब उत्पन्न हुए हैं परन्तु सारा भेद प्रमाद अप्रमाद से उत्पन्न हुआ है। प्रमादियों को जगत भासता है और अप्रमादी को सर्वदा आनन्दरूप स्वतन्त्र ईश्वर ही भासते हैं। उनको यह जगत और वह जगत सब कुछ अपना आप ही रूप भासता है। किन्तु अप्रमादियों को तो सर्वदा दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है और वे महान तुच्छ हैं। पर वास्तव में कुछ हुआ नहीं। परमात्म तत्व ही सब कुछ है। आत्मसत्ता अपने आप में ही स्थित है। वही सब कारणों का कारण, काल में नीति, क्रिया में क्रिया और वही सर्व का बीज स्वरूप इस त्रिलोकी रूप बूँद का मेघ है कि जिस आदि विराट पुरुष धन में न तो कोई शरीर है और न उसमें हम हैं और न तुम हो, वह केवल और चिदाकाश रूप ही

है। हे रामजी! इतना विस्तार होने पर भी वह अब भी आकाश रूप ही है। आत्मसत्ता भिन्न अवस्था को कदापि भी नहीं प्राप्त हुई, केवल आकाशरूप ही है। जैसे स्वप्न में मेघों का गर्जन होवे परन्तु वह निद्रा-दोष है, कहीं मेघ नहीं गर्जे वैसे ही यह जगत आकाशरूप ही है—आत्मा में जगत कुछ हुआ नहीं। सब आकाश रूप ही है। हे रामजी! उस विराट पुरुष का देह बहुत योजन पर्यन्त लम्बा है तो भी वह ब्रह्म आकाश के सूक्ष्म अणु में ही स्थित है। यह सारा त्रिलोकी एक चिद्अणु में ही स्थित है और उस विराट पुरुष का वपु ऐसा है कि जिसका आदि अन्त और मध्य नहीं भासता तो भी वह एक चावल के समान भी नहीं है। हे रामजी! यह जगत जो इतना विस्तृत दिखलाई पड़ता है वह स्वप्न के पर्वत जाग्रत के एक अणु के समान भी नहीं है। विचार रूपी तराजू से तौलिये तो परमार्थ सत्ता से कुछ भिन्न नहीं हुआ। आत्मसत्ता ही ऐसे भासती है। इसी का नाम स्वायम्भुव मनु और विराट है इसी को जगत कहते हैं। हे रामजी! जगत और विराट में कुछ भी भेद नहीं है। सब आकाशरूप ही है। इसी को सनातन कहते हैं और यही रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र, मेघ, वायु, पर्वत और जल है। उसमें चैतन्यता से अपना अणु शरीर रूप जान पड़ता है। जैसे स्वप्न में कोई अपने आपको पर्वत देखे वैसेही वह अपने आपको विराटरूप देखता है। जैसे वायु के दो रूप हैं—गमनता और अगमनता, परन्तु दोनों में वह वायु जैसा का तैसा ही है वैसे ही यह ब्रह्म सत्ता ज्यों का त्यों है चाहे चित्त फुरे या न फुरे। सर्वदा अद्वैत सत्ता ही भासती है जो अद्वैत विराट स्वरूप है। हे रामजी! इस दृष्टि से उसके शिरपाद नहीं होते। ब्रह्माण्ड की सारी पृथ्वी उसका मांस है और समुद्र ही उसका रुधिर है, नदियां उसकी नाड़ियां हैं और दशों दिशायें वक्षस्थल हैं, तारागण रोमावलि हैं। सुमेरु आदिक अंगुलियां हैं और सूर्यादिक तेज पित्त है चन्द्रमा कफ है, पवन प्राणवायु है और इस

प्रकार सारा जगत उसका शरीर है ब्रह्मा हृदय है जो आकाशरूप है परन्तु संकल्प से ही वह नाना रूप भासता है, स्वरूपतः कुछ है नहीं आकाश आदिक सारा जगत उस चिदाकाश का ही स्वरूप है और वह अपने आप में स्थित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पचपनवा सर्ग समाप्त ॥५५॥

—०❀०—

छप्पनवाँ सर्ग

विराट—शरीर—वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार जो विराट है वही ब्रह्मा है, उसका आदि और अन्त कुछ भी नहीं है। उसका शरीर बहुत छोटा है और वही चैतन्यशरीर वाला अपनी किंचनता वश ब्रह्मा रूप हुआ है। अब तुम उसके विस्तार का वर्णन सुनो। हे रामजी ! उस ब्रह्मा ने अपने संकल्प से एक अखण्ड रचना की। फिर उसको तोड़ फोड़ कर दो भाग किये। एक को ऊपर कर दिया और एक को नीचे। ऊपर वाला भाग ब्रह्मा का शिर हुआ और नीचे वाला भाग जो पातालको गया वही उसका चरण हुआ। तब जो बीज का भाग आकाशवत रहा वही ब्रह्मा का उदर हुआ। फिर तो दशों दिशायें उसके वक्षस्थल होगये और सुमेरु आदिक पर्वत हाथ हुए, पृथ्वी मास हुई, समुद्र रक्त हुआ, नदियां नदियां हुई, प्राण अपान वायु हुए, हिमालय पर्वत उसका रूप हुआ, चन्द्रमा सूर्य उसके नेत्र हुए, और तारागण स्थूल लार हुए कि जो उसके प्राण के बल से निकलती है। उसकी शिखा में मनुष्य हुए, पशुपक्षी उसके रोम हुये और सर्व भूतों की चेष्टा व्यवहार हुआ। फिर पर्वत ही उसकी अस्थियां हैं और ब्रह्म लोक को ही उसने अपना मुख बनाया। इस प्रकार सारा जगत उस विराट का ही वपु है।

इतनी कथा सुनकर रामजी बोले हे भगवन् ! इस संकल्प

ब्रह्मा को तो मैं भी जानता हूँ परन्तु मेरी बुद्धि में यह नहीं आता कि जब यह सारा जगत उसी का वपु है तब वह फिर ब्रह्मलोक में ब्रह्मा होकर कैसे जा बैठा है अथवा भिन्नरूप से वह वहां कैसे स्थित हो गया है—कृपाकर मुझे यह समझाइये।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह कोई आश्चर्य नहीं है। यदि तुम ध्यान लगाकर बैठो और उस अवस्था में अपनी ही मूर्ति को हृदय में संकल्पवश रचकर स्थित होवो तो वैसा ही भासेगा। देखो, जब मनुष्य को स्वप्न आता है तब उसमें जगत भासता है, वह क्या है—वह भी तो अपना ही स्वरूप है परन्तु अपने पृथक से और को देखता है वैसे ही यह सारा जगज्जाल उस ब्रह्मा का ही रूप है। और वह अपने एक शरीर से ब्रह्मलोक में भी स्थित है। हे रामजी! ब्रह्म और जीव में केवल इतना ही भेद है कि जीव अपनी स्वप्न सृष्टि का विराट है परन्तु उस पर प्रमादवरण ऐसा पड़ा हुआ है कि जिससे उसको अपनी सृष्टि नहीं भासती और अन्य का अन्य ही भासता है किन्तु ब्रह्मा को कोई आवरण नहीं है इस कारण उसको यह सारा जगत अपना ही शरीर भासता है। देव, दानव, मनुष्य, ऋषि और विद्याधर सब उसी विराट पुरुष की ग्रीवा में स्थित हैं। भूत, प्रेत, पिशाच सब उसी विराट पुरुष के मल से उत्पन्न हुये हैं। कहां तक कहें—यह सारा स्थावर जङ्गमरूपी जगत सब उसी के संकल्प से रचा हुआ उसी विराट पुरुष में स्थित है और सब उसी के अङ्ग हैं। जब तक यह जगत है तब तक वह विराट भी है, जगत नहीं होगा तो विराट भी नहीं होगा। यह जगत ब्रह्म और विराट तीनों ही एक ही हैं। सारा जगत उस विराट का ही स्वरूप है। उसमें निराकार और साकार कुछ नहीं। भीतर बाहर सब विराट का ही वपु है। जैसे आकाश भीतर बाहर से एकही है और उसमें कुछ भेद भाव नहीं है वैसे ही विराट आत्मा में कुछ भेद भाव नहीं है। जैसे वायु के स्पन्द और निस्पन्दन में कुछ भेद नहीं होता वैसे ही विराट

और आत्मा में कुछ भी अन्तर नहीं है, साकार निराकार सब कुछ विराट का ही शरीर है। यह जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, संकल्प से ही उत्पन्न के समान भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल नहीं है और जल भासता है वैसे ही ब्रह्मसत्ता में जगत नहीं है परन्तु जगत भासता है। परन्तु वह कुछ उत्पन्न हुआ नहीं, बिना उत्पन्न हुए ही उत्पन्न के समान भासता है और वह केवल अपने आप में ही स्थित है। हे रामजी! तुम चिन्मात्र स्वरूप हो, तुम में संकल्प विकल्प कुछ नहीं है, तुम चैत्य से रहित चिन्मात्र स्वरूप हो। इससे तुम सर्व संकल्पों को त्यागकर निज स्वभाव में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण-उत्तरार्द्ध का छप्पनवां सर्ग समाप्त ॥५६॥

—०❀०—

सत्तावनवाँ सर्ग

प्रलय-दृश्य-वर्णन

हे रामजी! अब मैं तुम्हें प्रलय का प्रसङ्ग फिर सुनाता हूँ। एक समय जब कि मैं ब्रह्मपुरी में ब्रह्मा के पास ही बैठा था तो मैंने नेत्र खोलकर देखा कि मध्याह्न का समय है और दूसरा सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हुआ है। उसका अद्भुत प्रकाश था और बिजली के समान ही चमचमा रहा था, उसे देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया कि यह बड़वाग्नि के समान तेजस्वी सूर्य कहां से आगया। यह दृश्य मैं देख ही रहा था कि एक और सूर्य उदय हुआ। फिर उत्तर दिशा में भी एक सूर्य दिखलाई पड़ा। इस प्रकार मेरे देखते–देखते दश सूर्य उदय होगये। तब एक पहले ही से था और दश सूर्य फिर उदय हुए और एक वह बड़वाग्नि वाला सूर्य, इस प्रकार द्वादश सूर्य एकत्र होकर विश्व को तप्त करने लगे। फिर प्रलय का त्रैनेत्र सूर्य उदय हुआ कि जिसका एक नेत्र सूर्य के समान था, दूसरा बड़वाग्नि के समान और तीसरा नेत्र बिजली के समान था। फिर तो

ये तीनों ही नेत्र विश्व को जलाने लगे, दिशायें लाल होगईं, अट्ट-अट्ट शब्द होने लगे, नगर, वन, कन्दरा और पृथ्वी जलने लगी, देवताओं के स्थान जलकर गिर पड़े, पहाड़ जलकर काले होगये। ज्वाला की चिनगारी निकलकर पाताल हो गई और पाताल भी जल गया, समुद्र जलकर सूख गये, हिमालय पर्वत का बरफ जल होकर जलने लगा। हे रामजी! जब इस प्रकार बड़वाग्नि प्रज्वलित हुई, तब मुझे भी तपन हुई और मैं वहां से नीचे जाकर स्थित हुआ तब मैंने वहां देखा कि अस्ताचल पर्वत जलता हुआ उदयाचल पर्वत के पास जा पड़ा है। मदराचल और सुमेरु पर्वत जलकर गिर पड़े अग्नि की प्रचण्ड ज्वालायें आकाश को चूमने लगीं, उनमें तड़-तड़ भड़-भड़ शब्द हो रहा था। सारा विश्व जलने लगा। महान् क्षोभ उत्पन्न हुआ। पृथ्वी के रस फैलकर, फूटकर जलने लगे। हे रामजी! इस प्रकार से वह महान् प्रलय का दृश्य मैंने देखा है। इसीलिये कहता हूँ कि जगत के जितने भी रस हैं सब विरस हैं परन्तु अपने-अपने काल में सब रस संयुक्त ही भासते हैं। उस समय तो मुझे सब कुछ ऐसा ही भासित हुआ कि जैसे जलती हुई बेलि-लतायें भासित हों। हे रामजी! उस समय मैंने देखा कि सारा विश्व जल रहा है और उसमें जो ज्ञानी पुरुष हैं वे तो सुखी हैं अज्ञानी नष्ट हो रहे हैं। बड़ा भयानक शब्द हो रहा था। जब वह अग्नि शिव के कैलाश पर्वत के निकट आई तो सदा शिव ने भी अपने नेत्र से एक अग्नि प्रकट की कि जिससे और भी महान् क्षोभ उत्पन्न हो गया और समग्र ब्रह्माण्ड जलने लगा। फिर तो वह वायु चली कि बड़े-बड़े पर्वत भी तृण के समान उड़ने लगे। यक्षों के भी स्थान उड़ गये और बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। इन्द्रादिक देवता भी अपने स्थान को छोड़कर ब्रह्मलोक में चले गये। बड़े-बड़े मेघ जो सर्वदा ही जलसे भरे रहते थे वे भी उस बड़वाग्नि में जलकर सूख गये और कल्परूपी पुतली नृत्य करने

लगी इस प्रकार उस प्रलय में जीवों को जो महान् कष्ट हुआ वह कहा नहीं जाता, और जब इस प्रकार अग्नि से समस्त स्थान जलकर भस्म हो गये तब उसके पश्चात् पुष्कल मेघ घोर गर्जन करके अपार जलधारा बरसाने लगा कि जिससे पहले तो मुशल वृष्टि हुई और फिर स्तम्भ धारा की वृष्टि हुई और फिर नदी तथा महानद के समान वर्षा होने लगी। फिर तो जल का वेग गङ्गा और यमुना की लहरों के समान प्रवाहित हुआ और इस प्रकार समस्त स्थान फिर शीतल हो गये। जल की उस वेगवती धार में सुमेरु आदिक पर्वत नृत्य करने लगे और सभी पर्वत ऐसे जान पड़ते थे मानों जलचर हैं। हे रामजी! उस जल का वेग ऐसा बढ़ा कि कुछ कहा नहीं जाता। बड़े-बड़े स्थान, देवता, सिद्ध और गन्धर्व, उस जल में बह गये। फिर तो वह जल ब्रह्मलोक तक चढ़ गया कि जिसको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु ब्रह्म दृष्टि से वह सब मेरे लिये ब्रह्मरूप ही था। जब विचार दृष्टि से देखता तो वही प्रलय जान पड़ता और जब विचार दृष्टि से देखता तो वही ब्रह्म रूप भासित होता था।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५७॥

—::❀::—

अट्ठावनवां सर्ग

वासना-क्षय-विवेचन

हे रामजी! इस प्रकार उस ब्रह्मा का सारा जगत जलकर जलमय हो गया। परन्तु मुझे वह जल से भिन्न कुछ न भासे और सब शून्य ही भासता था। ऊपर, नीचे, मध्य और दिशायें भी कुछ न भासित होवें। तत्त्व, पर्वत, देवता, पशु और पक्षी कहीं भी दिखलाई न पड़े। तब मैंने देखा तो ब्रह्मपुरी की भी यह दशा हो रही थी कि जैसे प्रातःकाल का सूर्य

अपनी प्रभा को विस्तरित करता हुआ समग्र संसार को प्रकाश देता है वैसेही ब्रह्माजी भी समाधि में बैठकर मुझको परम प्रकाशित जान पड़े। उनके साथ ही ब्रह्मा के कुटुम्बी भी पद्मासन बांधकर परम समाधि लगाये हुए भावना मूर्ति के समान ही यथा स्थान बैठे हुए थे, और उनके आगे चारों वेद साक्षात् शरीर धारण किये विराजमान थे तथा बृहस्पति, वरुण, कुबेर, इन्द्र, यम, अग्नि, और चन्द्रमा आदिक देवता तथा जीवन्मुक्त अवस्था वाले ऋषि मुनि भी यथास्थान ध्यानावस्थित बैठे हुये थे। जब एक मुहूर्त तक मैंने उनको ऐसे देखा तो वे क्या दिखलाई पड़े कि सूर्य के बिना ही वे सब के सब अन्तर्ध्यान होगये हैं। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अपने में विद्यमान होती है और जागने से अभावना हो जाती है, वैसे ही मेरे देखते २ ब्रह्मपुरी शून्य वन की नाईं होगई जैसे राजपतन से मार्ग प्रलय हो जाते हैं वैसे ही प्रलय होगयी। हे रामजी! जैसे स्वप्ने में मेघ गर्जते दृष्टि आते हैं और यह दृष्टान्त तो बालक भी जानते हैं कि जो प्रत्यक्ष अनुभव को छिपाते हैं वे मूर्ख हैं मैं अनुभव से जानता हूँ कि जब तक निद्रा है तब तक स्वप्ने की सृष्टि भासती है और आगे से उसका अभाव होजाता है वैसे ही जब तक ब्रह्मा की वासना थी तब तक सृष्टि थी जब वासना क्षय हुई सृष्टि कहां रही जब वासना नष्ट होती है तब अन्तवाहक आधिभौतिक शरीर नहीं रहते। हे रामजी! जब शुद्ध मात्र पद से चित्त शक्ति फुरती है तब वह पहले पिण्ड के आकारवत होती है और तब तक यह संसार उपजता और नष्ट होता रहता है वैसेही ब्रह्मा की सुषुप्ति में जगत लीन हो जाता है और जाग्रत में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा की सुषुप्ति लीनता ही जगत का प्रलय है। शरीर के नाश को प्रलय नहीं कहते। शरीर का नाश तो जीवात्मा के निकलते अर्थात् मृत्यु होते ही हो जाता है और जीव को फिर लोक भासने लगता है। परलोक नहीं भासता। परलोक तो भ्रम मात्र का है। जैसे यह लोक भ्रम मात्र है, वैसे ही परलोक भी

भ्रम मात्र ही है। यदि यह कहो कि परलोक ही महाप्रलय है तो यह भी नहीं है क्योंकि श्रुति, स्मृति और शास्त्र-पुराण सब यही कहते हैं कि महा प्रलय में सब कुछ नष्ट हो जाता है और कुछ भी नहीं रहता, केवल आत्मा ही शेष रहता है। फिर यदि कोई यह कहे कि महा प्रलय में ये स्थूलभूत सकुच कर अपने ही में सब को संकुचित करके सूक्ष्म कारण में जाकर लीन हो जाते हैं तो वह भी नहीं है क्योंकि जब सूक्ष्म भूत बना ही रहेगा तब महाप्रलय कहां हुआ फिर तुम यह कहो कि संवेदन जो अज्ञान है और जिसमें सर्वदा अहंकार का ही स्फुरण होता है वह महा प्रलय है तो यह भी ठीक नहीं है कारण कि उसको मूर्छा में अज्ञान होता है और फिर सृष्टि भासने लगती है, मृत्यु होती है, फिर पञ्चभौतिक शरीर भासता है-इससे इसका भी नाम महाप्रलय नहीं है। जब तक पंचभौतिक शरीर रहता है तब तक जगत भासेगा ही। अस्तु जब इसका अभाव होता है तभी महाप्रलय भासता है। जब शरीर को जीव त्यागता है तब उसकी क्रिया नहीं होती और तब वह पिशाच होता है और जब इस प्रकार से यह शरीर बिना रूप का होता है तब मनुष्य मुर्दा हो जाता है और तब ब्राह्मण, क्षत्रिय की संज्ञा नहीं रहती—इस प्रकार तुम यह देखो कि शव शरीर का भी नाम महाप्रलय नहीं है और प्रमादावरण वश विपर्यय हो जाने को भी महाप्रलय नहीं कहते। महाप्रलय में तो सब कुछ का अभाव हो जाता है और उसमें सारी वासनायें ध्वंस हो जाती हैं। इसलिये वासनाक्षय को ज्ञानीजन निर्वाण कहते हैं। जैसे जब तक ही स्वप्न का जगत भासता है कि जब तक जाग्रत नहीं रहता वैसे ही जब तक वासना है तभी तक जगत भासता है वासना रूप हो जावे तो जगत का सर्वथा ही अभाव हो जाता है। हे रामजी! वासना भी कुछ फुरती नहीं, वह भी आभास मात्र ही है इस पर यदि तुम कहो कि तब यह भासित क्यों होता है तो इसका उत्तर यह है कि यह जो कुछ भास

रहा है सब अपने भाव में आप ही स्थित है, भाव से उत्थान होने का ही नाम बन्ध है और उत्थान के लुप्त होने को ही मोक्ष कहते हैं। हे रामजी! इस नेत्र को खोलने और बन्द करने में तो फिर भी कुछ यत्न करना ही पड़ता है किन्तु मुक्त होने के लिये तो कुछ भी यत्न नहीं करना पड़ता। जब वृत्ति वहिर्मुख हुई तो बन्धन हुआ और वृत्ति अन्तर्मुख हुई तो मुक्त हुआ। बस, बन्ध और मोक्ष का यही सिद्धान्त है। तब भला तुम्हीं कहो कि इसमें क्या यत्न है? अतएव, तुम सुषुप्त के समान ही निर्वासनिक हो जाओ। क्योंकि अहं संवेदन से ही मिथ्या जगत फुर रहा है। अहं का संवेदन न होवे तो जानो कि निर्वाणता प्राप्त हो गई। फिर तो एक और दो की कोई कल्पना नहीं होती और परमशान्त निर्विकल्प पद प्राप्त हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५८॥

—०::❀::०—

उनसठवां सर्ग

जगत की असत्यता वर्णन

हे रामजी! इस प्रकार जब वे ब्रह्मा भी ब्रह्मपद में लीन होकर अन्तर्ध्यान हो गये तब द्वादशरूपी सूर्य फिर ब्रह्मपुरी को जलाने लगे और समस्त ब्रह्मपुरी जलकर भस्म हो गई। तब वे सूर्य भी ब्रह्मा के ही समान पद्मासन बांधकर स्थित हुए और कुछ काल पश्चात् वे सूर्य भी वैसे ही निर्वाण हो गये कि जैसे तेल के बिना दीपक निर्वाण हो जाता है। इस प्रकार जब वे द्वादश सूर्य भी निर्वाण हो गये तब समुद्र उछलने लगे और उससे ब्रह्मपुरी भी ढँक गई। जैसे बीच में अन्धकार नगर को ढँक लेता है वैसे ही समुद्र ने ब्रह्मपुरी को ढँक लिया। बड़ी २ लहरें उठीं और पुष्कल मेघ भी तरङ्गों से छिप गये, और वे भी जल रूप होगये। तब आकाश से एक महा भयानक काले शरीर का मनुष्य निकला कि जिसका उग्रवेश देखते ही भय मालूम होता था। उसने

निकलकर समस्त ब्रह्मपुरी को ढँक लिया। वह कृष्णमूर्ति मानों कल्प पर्यन्त रात्रि एकत्र होकर उसका रूप आन स्थित हुआ है। उसके मुखसे लाल-लाल लपटें निकल रही थीं। उसके शरीर का ऐसा प्रकाश था मानों करोड़ों सूर्य और बिजली का प्रकाश एकत्र स्थित है। उसके पाँच मुख थे, दश भुजायें थीं, तीन नेत्र थे। उसके हाथ में त्रिशूल था और आकाश के ही समान उसकी मूर्ति थी। जैसे विष्णुजी ने समुद्र मन्थन के लिये विशाल भुजायें धारण की थीं और उससे समुद्र को क्षोभ उत्पन्न हुआ था वैसे ही उसकी भुजायें विशाल थीं और वह अपनी नासिका के वायुसे समुद्र को भी क्षुब्ध कर रहा था। हे रामजी! जैसे आकाश और जल वपु बिना है वैसाही उसने विशाल रूप धारण किया था। वह ऐसा जान पड़ता था मानों प्रलयकालके समुद्र ही मूर्ति धारण करके स्थित हुए हैं अथवा मानों समस्त अहंकार की समवष्टिता एवं महाप्रलय की बड़वाग्नि ही साक्षात् मूर्ति धारण किये स्थित है। हे रामजी! जब इस प्रकार भली भांति मैंने उसकी उग्रमूर्ति को देख लिया जब मुझे ज्ञात होगया कि यह महारुद्र है और इसी से इसके हाथ में त्रिशूल है। फिर इससे भी समझ गया कि जो उसके तीन नेत्र और पञ्चमुख थे। तब मैंने उसे प्रणाम किया।

रामजी ने पूछा हे भगवन्! रुद्र किसको कहते हैं। और उसका भयानक रूप क्या था उसने हाथ में कैसा त्रिशूल लिया था। क्या उसे किसीने भेजा था और वहाँ आकर उसने क्या किया और फिर कहां गया। वह अकेला ही था या उसके साथ और कोई भी था। उसका शरीर काला क्यों था।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! अहंकार ऐसा है कि जिसमें विषम विष भरा हुआ है, उसको त्याग करना ही उचित है। परन्तु समष्टि अहंकार सेवने से ही योग्य है सर्व भूतों को अपना ही रूप जानना यह समष्टि अहंकार है, और उसी को रुद्र कहा जाता है। वह रुद्र आकाश रूप है इसी से उसका स्वरूप श्यामवर्ण का था। उसी में समस्त जीत

अहंकार त्यागकर स्थित होते हैं, इसी से वह इतना कृष्णवर्ण और इतना उग्रवेशी था। पञ्चमुख ज्ञान इन्द्रियों की समष्टिता थी और दश भुजा कर्म इन्द्रियों की समष्टिता थी। राजस, तामस और सात्विक तीन गुण तीनों नेत्र थे अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान, वा ऋग, यजु और साम तीनों वेद नेत्र थे, अथवा मन, बुद्धि, और चित्त तीनों नेत्र थे ॐकार की तीन मात्रा उसके नेत्र और आकाशरूपी वपु था और त्रिलोकी रूपी हाथ में त्रिशूल थे जो चित्संवित से फुरा था इससे उसी का भेजा हुआ था और फिर उसी में लीन होगा। वह केवल आकाशरूप था। जो कुछ उसने किया था वह भी सुनो। ऐसा वह रुद्र था मानों आकाश में पङ्ख लगे हैं, उसने अपने नेत्र प्राणों को खींचा तो सर्व जल उसके मुख में प्रवेश करने लगे। जिस तरह नदी समुद्र में प्रवेश करती है, वैसे ही सब जल रुद्र में लीन हुए और जिस प्रकार वड़वाग्नि समुद्र को पान कर लेती है, वैसे ही उस रुद्र ने एक मुहूर्त में जब जल पान कर लिया और जिस प्रकार अज्ञानी का अज्ञान संत सङ्ग से नष्ट हो जाता है, वैसे ही उसने जल को पान कर लिया। तब केवल शुद्ध आकाश हो गया, न कहीं पृथ्वी दृष्टि आवे, न अग्नि, न वायु, कोई तत्व कहीं दृष्टि न आवे, एक आकाशही दृष्टि आवे, जिस प्रकार उज्वल मोती होता है वैसेही उज्वल आकाशमें दृष्टि आवे और चारों तत्व कहीं न भासें। एक तो अधोभाग दृष्टि आवे, दूसरे मध्य भाग आकाश में रुद्र ही दृष्टि आवे, तीसरे ऊर्ध्वभाग दृष्टि आवे और चौथे चिदाकाश दृष्टि आवे कि सर्वात्मा है और कुछ दृष्टि न आवे। वह रुद्र भी आकाशरूप था और उसका कोई आकार न था केवल भ्रान्ति से आकार भासता था। जिस प्रकार भ्रम से आकाश में नीलता और तरुवरे भासते हैं और जिस प्रकार स्वप्न में भ्रम से आकार भासते हैं, वैसे ही रुद्र का आकार दृष्टि आया पर आत्मा आकाश भिन्न न था। जिस प्रकार चिदाकाश में भूताकाश भ्रमसे भासता है वैसे ही रुद्र का शरीर भासा। वह

रुद्र सर्वात्मा था और आकाश होकर भासा सो किञ्चन था। आकाश में रुद्र निराधार भासा था। जिस प्रकार निराधार होते हैं वैसे ही वह निराधार दृष्टि आता था श्री रामजी ने पूछा, हे भगवन्! इस ब्रह्माण्ड के ऊपर क्या है और फिर उसके ऊपर क्या है सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जो ब्रह्माण्ड का आकाश है उस पर दशगुणा जल अवशेष है, जल के ऊपर दश गुणा अग्नि है उसके ऊपर दशगुणा वायु है और उसके ऊपर दशगुणा आकाश है। रामजी ने पूछा हे भगवन्! ये तत्व जो तुमने वर्णन किये सो किसके ऊपर हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी। ये तत्व पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं। जिस प्रकार माता की गोदमें बालक आन बैठता है वैसेही ये तत्व पृथ्वी पर हैं और पृथ्वी उस भागके आश्रय है। हे रामजी ने पूछा हे भगवन्! पृथ्वी आदिक तत्व सहित निराधार ब्रह्माण्ड किसके आश्रय स्थित हुआ है, उनका चलना और ठहरना कैसे होता है और नाश कैसे होते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हीं कहो कि आकाशमें मेघ किसके आश्रय होते हैं? सूर्य और चन्द्रमा किसके आश्रय होते हैं? जिस प्रकार ये सङ्कल्प के आश्रय हैं वसे ही ब्रह्माण्ड भी सङ्कल्प के आश्रय है। जैसे स्वप्नकी सृष्टि सङ्कल्प के ही सहारे होती है और सङ्कल्प आत्माके आश्रित है, वैसे ही यह जगत और सारे तत्व आत्म सत्ता के ही आश्रित हैं। इनका ठहरना और गिरना भी आत्मा के ही आश्रित रहता है। चित्त स्पन्द में जैसी नीत हुई है वैसेही स्थित है। परम स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है। जैसे सूर्य की किरणों में जल का आभास होता है वैसे ही आत्मा में यह जगत भासित हो रहा है। जैसे आकाशमें नीलता है और नेत्र दोष से आकाशमें मोती भासते हैं वैसे ही भ्रमवश आत्मा में जगत भासित हो रहा है। इससे इस मिथ्या जगत की संख्या नहीं हो सकती। जैसे सूर्य किरणों और रेतके कणों की संख्या करनी अशक्य है वैसेही जगत की संख्या नहीं हो सकती। क्योंकि यह वास्तव में कुछ बना नहीं। यह यों ही

अजात जाता है। जैसे विना हुये ही स्वप्न सृष्टि भासती है वैसे ही वह जगत भासता है। अतः इसको मिथ्या जानकर इसकी वासना त्यागदो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उनसठवां सर्ग समाप्त ॥५९॥

——०::※::०——

साठवाँ सर्ग

भैरव-भैरवी उपाख्यान वर्णन

हे रामजी! वह रुद्र बड़ा ही भयानक था। उसके विशाल नेत्र तेज से ऐसे पूर्ण थे कि मानों सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि ही उसके नेत्र हैं। उसकी भयानकता तो और क्या कहूँ मानो महाप्रलय का समुद्र ही मूर्ति धारण कर आगया था। उसकी श्यामरूप छाया बड़ी ही विशाल थी और उसके कण्ठ में रुण्ड—मुण्डों की माला पड़ी हुई थी, पहले तो उसे देखकर मैं कुछ न समझ सका कि यह अग्निदेव हैं अथवा सूर्य आदिक कौन है। परन्तु मैंने देखा कि तत्काल ही उसकी छाया नृत्य करने लगी। फिर उससे एक महा दुर्बल स्त्री निकली जिसका भी शरीर श्यामवर्ण ही था मानो अँधेरी रात ही साक्षात् मूर्ति धारण करके आई हो। उसके भी तीन ही नेत्र थे उसकी भुजायें विशाल थीं और ग्रीवा भी बहुत लम्बी थी। रुद्र के समान ही वह भी गले में रुद्राक्ष और रुण्ड-मुण्डों की माला पहने हुए थी। उसका भी स्वभाव वैसा ही महा विकराल था और वह भी हाथों मे त्रिशूल, तलवार, वाण, ध्वजा, उखल और मुशल आदि शस्त्रों को धारण किये हुए थी। उसका ऐसा भयानकरूप देखकर मुझे ज्ञात हुआ कि यह काली भवानी है। तब काली देवी समझ कर मैंने उसे नमस्कार किया। वह अपने श्यामाकार को धारण किये ऐसे ही मालूम होती थी जैसे कोई पर्वत का श्याम शिखर हो। उसके मस्तक का तीसरा नेत्र ऐसा ही प्रज्वलित हो रहा था जैसे वड़वा अग्नि धधक रही हो कभी उसकी दो भुजायें दिखलाई पड़तीं और कभी हजारों भुजायें चमक जातीं।

थी। कभी एक ही भुजा दृष्ट आवे और कभी वह अनन्त भुजाओं वाली जान पड़े और कभी इसमें कोई भी भुजा न दिखलाई पड़े। कभी उसमें शिर पात कुछ भी न दृष्टि आवे और कभी वह किसी देवाङ्गना के समान ही नृत्य करने लगे। तब नृत्य करते २ वह कभी ऐसी स्थूल भासित होवे कि मानों उससे आकाश और सब दिशायें ढँक गई और इस प्रकार उसका नख से शिख तक कुछ भी न दिखलाई पड़े। जब कभी वह अपनी भुजाओं को हिलावे तो ऐसा जान पड़े कि यह आकाश को नाप रही है। इस प्रकार वह महाप्रयत्न रूप होकर आकाश, पाताल और सर्व दिशाओं को ढँके हुये थी। उसकी विशाल नासिका ऐसी जान पड़ती थी मानों कोई पर्वत की कन्दरा है और लोका लोक पर्वत के समान ही उसके अस्थि पिञ्जर जान पड़ते थे। उसके कण्ठ में नदियों की माला सी चलती हुई जान पड़ती थी। उसके नासिका के निकले हुए स्वांस प्रश्वांस से बड़े बड़े पर्वत भी उड़े जाते थे। मानों समग्र ब्रह्माण्ड की माला उसके गले में पड़ी हुई थी। उसके हाथों में ब्रह्माण्ड रूपी भूषण पड़े हुए थे और पाँव में ब्रह्माण्ड के ही घुँघरू और ब्रह्माण्ड की ही किंकिणी उसकी कटि में लगी हुई थी। जब वह नृत्य करती तो सारा ब्रह्माण्ड नाच उठता था। उसके नृत्य करते ही सुमेरु आदिक पर्वत भी तृण और पत्र के समान नाच उठते थे। उसके एक-एक रोम में ब्रह्माण्ड स्थित था। वह धर्म अधर्म रूपी मुद्रा अपने कानों में पहने हुए थी। उसका विशाल मुख मानों समग्र ब्रह्माण्ड को भक्षण कर रहा था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा चारों वेदों का सार रूपी दुग्ध उनके शरीर से श्रवित हो रहा था। इस प्रकार मानों समस्त जगत की मर्यादा उसके शरीर में स्थित थी। उसके आधेही शरीरमें मानों समस्त आकाश मंडल समाया हुआ था, उसके आधे ही शरीर में मानों सभी सिद्ध, देवता, दैत्य, विद्याधर, गन्धर्व और किन्नर समाये हुए थे। मानों वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों

की आदर्श थी, जब वह अपनी भुजाओं को उछालती तो उसके नखों की चमक चन्द्रमा को भी तुच्छ कर देती थी। मन्दराचल और उदयाचल पर्वत उसके कानों के भूषण हो रहे थे। उसमें हिमालय पर्वत बरफ का एक कण सा ही जान पड़ता था। उसकी चेष्टायें नाना प्रकार की होरही थीं। मानो सारा ब्रह्माण्ड रूपी रत्न उस एक ही डब्बे में पड़ा हुआ था। परन्तु यह सभी दृश्य मैंने अपने सङ्कल्पसे उसमें देखे। जब संकल्प करूँ तब ऐसाही दिखलाई पड़े और जब आत्मा की ओर देखूँ तब वह केवल एक आत्मा ही जान पड़े और उसमें दूसरा कुछ भी न दृष्टि आवे। परन्तु संकल्प में तो मुझे सारा ब्रह्माण्ड उसी में दिखलाई पड़ता था। जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी उसमें भासते थे। मानों एक उसीमें जगत की सारी क्रियायें हो रही हैं और देव, दानव, गन्धर्व तथा अप्सरायें भी मानो उस एक ही में विमानारूढ़ स्थित हैं। इस प्रकार मैं अपने संकल्प से उसमें नक्षत्रों का चक्र भी चलता हुआ देखता था। परन्तु जब मैं उसे आत्म दृष्टि से देखूँ तब वह मुझे ब्रह्मरूप ही जान पड़े और संकल्प से सारा जगत उसी में भासता था। जगत ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि और सूर्य चन्द्रमा आदि सब एक उसीमें दिखलाई पड़ते थे। देह में अनन्त सृष्टियाँ मुझे उड़ती हुई जान पड़ती थीं। तब मैंने जाना कि वह रुद्र जो मैंने पहले देखा है वह भैरव है और यह भैरवी उसकी शक्ति है। साक्षात् शरीर धारण कर आये हैं। इस प्रकार दोनों ही मुझे विशाल शरीर वाले जान पड़े। वह सर्वात्मा और नित्य शक्ति थी। वह सारे विश्व को एक अपने आपही में स्थित देखती थी। जैसे समुद्र अपने में उठने वाली समस्त तरङ्गों को अपना ही रूप जानता है वैसेही वह समस्त ब्रह्माण्ड को अपना ही रूप जानती थी। वह सदाशिव से भी कहीं अधिक अहंकार वाली थी। मानो उसने समस्त अहङ्कारों की माला धारण किये थी और सारे ब्रह्माण्ड

तो उसके गले में माला के ही समान पड़े हुए थे । यम आदिक उसकी मर्यादा थे । रुद्र के शिर पर जो जटा थी, उसमें मोर पुच्छ की कलङ्गी लटकी हुई थी और काली भवानी दम्–दम् शब्द करती हुई जाकर स्मशान में नृत्य करने लगी थी । हे रामजी ! ऐसी काली भवानी तुम्हारी सहायता करें ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का साठवां सर्ग समाप्त ॥६०॥

—०::※::०—

इकसठवाँ सर्ग

भीतरी भेद

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा–हे भगवन् ! अब यह बतलाइये कि उस देवी के हाथ में क्या शस्त्र थे और वह कहाँ से आई थी तथा उसके एकही शरीर में सारे ब्रह्माण्ड का महाप्रलय कैसे हो रहा था और वह रुद्र भी कौन थे कि जिन दोनों का आपने ऐसा अद्भुत वर्णन किया है । हे मुने ! फिर वह कहाँ चली गई और उसका स्वरूप क्या था ?

वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी ! सुनो, न कोई काली भवानी है । न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री । न कोई ब्रह्माण्ड है । न कोई पिण्ड । केवल चिदाकाश ही सर्वत्र स्थित है । सङ्कल्प से ही आकार–प्रकार भासते हैं । हे रामजी ! अपने स्वभाव में ही चैतन्य प्रकाश, सत्य, अनन्त, अविनाशी और आत्मपद स्थित है चेतन आत्मा ही रुद्र का आकार भास रहा था । जैसे सुवर्ण ही भूषण हो जाता है वैसे ही वह परमदेव चिदाकाश ही चेतन स्वरूप होकर भासता है । जैसे ईख में मधुरता ही ईख का स्वरूप है वैसे ही आत्मा की चेतनता ही उसका स्वरूप है । चैतन्य सत्ता अपने स्वरूप को कदापि नहीं त्यागती । वही अपने आपमें स्थित है और वही बाहर भी जैसा आकार चाहिये सङ्कल्प से भासने लगती है । जैसे ईख में

मधुरता न होवे तो उसको कोई ईख नहीं कहता वैसे ही आत्मसत्ता में चेतनता न हो तो उसे कोई चैतन्य नहीं कहेगा । यदि आत्मा चेतनता को त्याग देवे तब तो वह परिणामी ही हो जायगा, फिर उसे चेतन कोई कैसे कहेगा और तब वह अपने आपमें स्थित भी कैसे रहेगा किन्तु अभी वह अपने स्वभाव में ही स्थित है और किसी अन्य अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ है। इसी नियम से यह कहा जाता है कि सारा जगत आत्मा का किंचन है । जैसे इक्षुरस में मधुरता विद्यमान रहती है वैसे ही आत्मा में चेतनता विद्यमान है । उसमें चेतनता युक्त लक्षण ही उसकी चेतनता स्वरूप है और इसी कारण यह जगत भावरूप प्रदर्शित हो रहा है । यदि उस शुद्ध चिन्मात्र में चित्त का उत्थान न होता तो जगत का भाव कदापि न लखाता । दोनों अवस्थाओं में आत्मा ज्यों ही त्यों अपने आप में ही स्थित है जैसे वायु का स्पन्द और निस्पन्द दोनों ही वायु रूप ही है वैसेही आत्मा भीतर बाहर सर्वत्र आत्मरूप ही है । उस शुद्ध चेतन में किसी और शब्द का प्रवेश नहीं होने पाता । वह आत्मा सर्वदा एक समान ही रहता है । इस कारण उसमें यह जगत भी कुछ नहीं है । जगत का घटना, बढ़ना, आदि, मध्य, अन्त और आकाश, प्रलय, कल्प, महाकल्प, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, जीवन, मरण, सत्, असत, प्रकाश, अन्धकार, ज्ञानी, अज्ञानी, मूर्ख, पण्डित, नाम, रूप, लोक, अवलोक, विद्या, अविद्या, बन्ध, मोक्ष, दुःख, सुख, पृथ्वी, जल, जड़, चेतन, जल, अग्नि, वायु, आकाश और आना जाना कुछ नहीं है। हे रामजी ! उसमें मैं, तुम, वेद, शास्त्र, पुराण, मन्त्र, आकार उकार मकार, जप और नाम सहित यह जो कुछ स्थावर जङ्गमरूपी जगत है सब ब्रह्म स्वरूप ही है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। जैसे समुद्रमें लहरें और बुलबुले तथा भवरें भी सब जल रूप ही हैं, वैसे ही सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म से जगत भिन्न कुछ नहीं है । जैसे स्वप्न में पर्वत भासे और अनुभव से नहीं भासता है वैसे ही यह जगत ब्रह्म

से भिन्न नहीं है । जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है वैसे ही आत्मसत्ता जगद्रूप होकर भासती है । यह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश आदिक जितने भी शब्द हैं सब ब्रह्मसत्ता से ही भास रहे हैं किन्तु वह ब्रह्मसत्ता अपने निज स्वभाव में ही जैसा का तैसा प्रत्येक के अपने आपमें ही स्थित है । वह कभी परिणाम भाव को नहीं प्राप्त होती और वही सत्ता सब की अपने आप आत्मा है । जैसे समुद्र अपने तरङ्ग भाव को त्याग कर सौम्यरूप से फिर अपने आपही में स्थित हो जाता है और वह अपना ही वास्तविक रूप है वैसे ही ब्रह्मसत्ता स्फुरण अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प को त्यागने पर अपने आपही में ज्यों की त्यों स्थित अनामय, अनन्त और परमशान्त स्वरूप, निर्विकार और दुःखों से रहित है । जब ज्ञान होता है तब वही ब्रह्मसत्ता को प्राप्त होता है । वही बोध है । वही अबोध है और वही विधि, निषेध सब कुछ है । जीवत्व भाव को त्याग देने पर सब आत्मा ही आत्मा दिखलाई पड़ता है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का इकसठवां सर्ग समाप्त ॥६१॥

—०::※::०—

बासठवाँ सर्ग

शिव–शक्ति विचार

हे रामजी ! यह जो चिदाकाश एवं परम चिद[illegible]रा मैंने तुम से कहा है वह सर्वदा अपने आपमें ही स्थित है । वही [illegible] रूप है और वही नृत्य करता था । वहाँ न कोई आकार था और न कोई काली भवानी थी । अपनी चिद्घन सत्ता ही किंचनता वश वैसा होकर भासती थी परन्तु आत्म दृष्टिसे देखने पर सब कुछ चिदाकाश रूपही था । परन्तु जो कोई मेरी अवस्था (योगावस्था) को पहुँचा हो वही वैसा रूप देख सकता है अन्य नहीं । भैरव और रुद्र का रूप कल्पान्त है और वह कल्पान्त

की मूर्ति ही नृत्य करके अन्तर्ध्यान होगई थी परन्तु वह सब कुछ मायावासी स्वरूप मात्र था और चेतनसत्ता के आश्रय होकर ही उन दोनों ने नृत्य किया था। इस प्रकार यह शुद्ध चिदाकाश ही जगत रूप होकर भासित होरहा है और चेतना के किंचन से ही जगत भासता है और वह भी कैसा कि जैसे सुवर्ण में भूषणों का भान होता है।

इस पर रामजी ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर ! पहले तो आपने यह कहा है कि आत्मतत्व अद्वैत है और उसमें यह नश्वर जगत प्रमाद से कल्पित है और कल्प से इसका नाश हो जाता है और तब केवल अद्वैत सत्ता ही शेष रहती है। परन्तु अब आप यह कहते हैं कि चैत्यता से ही जगत भासता है। तब उस अद्वैत में चैत्यता कैसे हुई और इसको चेतने वाला कौन है और प्रलय होने के पहले ही काली कैसे भासित हुई, कृपाकर मुझे यह बतलाइये।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! न कोई चैत्य है और न कोई चेतनेवाला है, केवल आत्म सत्ताही अपने आप में स्थित है। वही शिव तत्त्व है और वही चेतनघन, परम निर्मल और शान्तस्वरूप है। वही परम चिदाकाशरूप एवं शिवतत्व रुद्र आकार को धारण कर मुझे दिखलाई पड़ा था। इस प्रकार वह चिदाकाश ही आकार होकर भासता है, नहीं तो न कोई भैरव है और न कोई भवानी। सारा जगत भ्रम मात्र है। आत्मसत्ता की चैत्यता ही जगतरूप होकर भासित होरही है और स्वरूपतः न तो जगत है न चैत्यता, आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। उस अद्वैत सत्ता में कुछ हुआ नहीं। फिर उसमें चेत और चेतने वाला मैं कोई क्या कहूँ, सब वृत्तियों की ही शक्ति भास रही है। परन्तु आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही स्थित है। हे रामजी ! हमको तो ऐसा ही भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत ही भासता है किन्तु आत्मा सर्वदा ही एक रस है, किंचनता वश उसमें सभी आकार प्रकार भासने लगते है। ऐसे ही भैरव और भैरवी सब निराकार रूप हैं, भ्रमवश आकार

वत भासते हैं। जैसे मनोराज का युद्ध भासता है और जैसे कथाओं के अर्थ भासते हैं और वे भी बिना कुछ हुए ही सङ्कल्पवश भासते हैं वैसे ही यह जगत चिदात्मा में भास रहा है। आकाश में तारे नहीं हैं परन्तु भासते हैं। आत्मा एक अद्वैत और चेतन है। उसकी चेतनता का आभास नहीं होता। वह अपने आप ही में स्थित है और वह निष्किञ्चन है। जैसे सूर्य की किरणें किञ्चन रूप होती हैं और उनमें जल भासता है वैसे ही चैत्य का किञ्चन जगत भासता है और महाप्रलय में भैरव और भैरवी रूप होकर भासती हैं परन्तु न तो कोई भैरव है और न कोई काली है, सब कुछ आत्मा ही है। उस आत्मा में कोई वाच्य-वाचक नहीं है और न तो उसमें कुछ कहना है न सुनना है। सङ्कल्प से ही वह रुद्र नाचता था। जैसे सुवर्ण में भूषण भासता है वैसे ही सङ्कल्प वश चिदाकाश में आकर भासते हैं और उसमें कुछ बना नहीं। मैं- तुम और यह सारा जगत उस आत्मा निष्किञ्चन का ही स्वरूप है, उसमें एक भी शब्द नहीं फुरा है। जैसे स्वप्न के शब्दों का स्फुरण कोई अस्तित्व नहीं रखता और वे सब पत्थर के ही समान मौन रूप हैं वैसे ही इस जाग्रत जगत में जो भी शब्द हो रहे हैं सब स्वप्नवत हैं। कुछ हुए नहीं—आत्म-सत्ता ही अपने आप में भासित हो रही है। जैसे आकाश सर्वथा ही शून्य है, वैसेही आत्म-सत्ता अपने आप में ही स्थित है। उसमें एक, दो, सत्य, असत्य, चित्त, अचित्त, मौन, अमौन, कुछ भी नहीं है। वह केवल, चिन्मात्र, और निर्विकल्प रूप आत्म-सत्ता ही ज्यों का त्यों स्थित है। हे रामजी! यह शास्त्र का एक महान् सिद्धान्त है कि इस सम्बन्ध में तुम सर्वथा ही मौन हो जाओ। निर्विकल्प हो जाना ही सब सिद्धान्तों की महान् समता है। जैसी स्वाभाविक चेष्टा हो वैसा आचरण करते हुए सर्वदा आत्म निश्चय रखना ही मौन कहलाता है इसी का पाषाणवत मौन भी कहते हैं। सारी क्रियायें करते पर अपने आप से कुछ भिन्न न देखो, यही आत्म स्थिति कहलाती

है। जैसे नटवा सब स्वांगों को धरता है पर वह अपना लक्ष्य उसी नट-क्रिया में ही रखता है वैसे ही तुम भी हो रहो। जो कुछ तुम्हें अनिच्छित ही प्राप्त हो जाय उसको शास्त्रानुसार भोग करो और अपने निर्गुण और निष्क्रियरूप से अविचल बने हुए सर्वदा उसी अद्वैत रूप में ही स्थित बने रहो।

रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवन्! अभी तो आपने यह बतलाया ही नहीं कि वह रुद्र कौन था और काली कौन थी और उनके जो अङ्ग घटते बढ़ते थे तथा वे जो नृत्य करते थे वह क्या था—कृपा कर यह भी बतलाइये।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! वह भी शिवतत्व ही जैसा भास रहा था और वास्तव में कोई आकार-प्रकार न था। वह निर्वाच्य पद ही सब कुछ वैसा दृश्यरूप से भासित हो रहा था। जितनी भी संज्ञायें मैंने तुम से कही हैं वह सब सङ्कल्प में हैं, आत्मपद में और आत्म वेत्ताओं में नहीं हैं। तो भी मैं तुम्हें समझाने की चेष्टा करता हूँ। हे रामजी देखो, सब का आत्मतत्व जो है वही केवल पद चिदाकाश है वही शिव भैरव है और उसी के चमत्कार का नाम चित्त-शक्ति है, वह काली है, वही भैरवी है और वही रुद्र तथा वही भैरव है। उस शिवरूप आत्मा में कोई भेद नहीं है। जैसे वायु और उसकी गमनता में कुछ भेद नहीं होता, अग्नि और उष्णता में कुछ भेद नहीं होता, वैसे ही चित्तकला और आत्मा में कुछ भेद नहीं होता। जैसे निस्पन्द वायु का कुछ लक्षण नहीं होता और वह अवाच्यरूप है किन्तु जब वही वायु स्पन्द रूप होता है तब उसका लक्षण होता है और तब उसकी गमनता में शब्द होता है, वैसे ही चिदाशक्ति में उसका लक्षण और उसके अनेकों नाम होते हैं। स्पन्द, इच्छा, वासना वासक जो भी कहिये सब उपयुक्त ही है। जैसा २ चित्त का भाव होता है अथवा चित्त संवित में जैसी २ वासनायें फुरती हैं वैसी ही वैसी वासना

फुरती है, और जब इस प्रकार वासना फुरी कि तब वैसा ही वैसा दृश्य आगे फुरा और तब त्रिपुटी भी फुर आई जिसे वासना, वासक और वास्य भी कहा जाता है इस त्रिपुटी में जीवत्व भाव स्थित होता है। जब इसको यह भावना होती है। कि मैं जीव हूँ, मेरा नाश कदाचित् भी न होवे तब इच्छा से वह जीव कहलाया और जो चित्तशक्ति की ऐसी संज्ञा हुई वही स्पन्दता कहलाई परन्तु शिवतत्व सर्वदा ही अफुर और अचेत शक्ति में फुरने की नाई स्थित है। जैसे सूर्य की किरणों में जल नहीं होता और हुये की नाईं ही भासता है वैसे ही यह जगत है और जो काली देवी है वह परमात्मा की क्रिया शक्ति है सो यह पहले तो कारणरूप प्रकृति है और फिर उसी से सब हैं इसी से वह प्रकृति रूप है और विकृति नहीं अर्थात् किसी का कार्य नहीं। महदादिक पञ्चभूत, महत्तत्व और अहङ्कार यह सप्तप्रकृति विकृति है,इसी को कार्य कारण भी कहते हैं। कार्य आदि देवी के हैं और कारण षोडश है। पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, पाँच कर्म इन्द्रियां, पञ्च प्राण और एक मन। इसके सत्तर कारण हैं। इनमें सोलह तो कार्यरूप हैं और इनमें कारण किसी का नहीं होता, वह पुरुष परमात्मा अद्वैत, अचित्त और चिन्मात्र है, उसमें किसी का न तो कारण है और न कार्य है। वह पुरुष परमात्मा अद्वैत, अचित् और चिन्मात्र है और वह अपने आप ही में सर्वदा स्थित हैं। समस्त द्वैत कलना कार्य कारण में और चित्त शक्ति में ही स्थित है। वही जब निस्पन्द होता है तब तत्वरूप शिवपद में निर्वाण हो जाता है। तब कारण और कार्य रूपी सारे भ्रम मिट जाते हैं और तब केवल आकाशवत ही शेष रहता है ! यह शुद्ध, अद्वैत, अचेत और चिन्मात्र पद सर्वदा अपने–अपने आप में ही स्थित है। उसकी स्पन्द रूप क्रिया शक्ति की ही इतनी संज्ञायें हैं। पहले तो सब कारण रूप प्रकृति है अर्थात् जैसे बड़वाग्नि समुद्र को सुखाती है वैसे [illegible] सुखाती है इससे वही

सिद्धि है अर्थात् सभी सद्धियाँ उसी के आश्रमभूत रहती हैं, वही जयन्ती है, वही चण्डिका है उसीके क्रोध से जगत का प्रलय होता है और उसीसे जव भय पाते हैं, वही वीर्य है अनन्त वीर्य है, दुर्गा है, गायत्री है, सावित्री है और इस प्रकार कुमारी, गौरी, शिवा, जया विजया, शक्ति और सुशक्ति उसी के नाम हैं। वही राजसी, तामसी, और सात्विकी तीनों प्रकार की क्रियाओं को करने वाली है और वही सूर्य संज्ञाओं की क्रिया शक्ति है। हे रामजी! इस प्रकार ही उस देवी और रुद्र का वर्णन है। अब वह जो नृत्य करती थी उस क्रिया को भी सुनिये। यह जो सात्विकी, राजसी और तामसी तीनों प्रकार की क्रियायें करती थी वह कैसे? देखिये, उसमें जो ग्राम, पुर और नगर भासते थे वह सब उसी के अङ्ग थे और वही सृष्टि थी। जब वह शुभ सत्ता से पृथक होती थी तब उसके अङ्ग सृष्टि रूप अनेक हो जाते थे और जब वह शुभ सत्ता अर्थात् आत्म-सत्ता या चिद्घन सत्ता की ओर आती थी तब सृष्टि रूप उसके अङ्ग सूक्ष्म हो जाते थे और जब उस प्रकार वह शिवतत्व से आ मिलती थी तब सृष्टि रूपी कोई भी अङ्ग न रहते थे। इसी प्रकार उस रुद्र या भैरव में भी कुछ हुआ नहीं, केवल क्रिया-शक्ति के फुरने से ही यह जगत रूप होकर भासता है और जब वही अपने अधिष्ठान की ओर देखता तब उसे अपना ही स्वरूप भासित होता था। हे रामजी! आत्मा और क्रिया-शक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं है, अवयव और अवयवी में कुछ भेद नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णता में कुछ भेद नहीं है वैसे ही आत्मा और उसकी क्रिया शक्ति में कुछ भेद नहीं है वह चित्त शक्ति आत्मा का स्वाभाविक गुण है। वह कृष्ण रूप है उसी से उसका नाम काली पड़ा। श्याम रङ्ग होने से ही ऊर्ध्व के भाग को आकाश कहा गया है अन्यथा वह तो निराकार ही है। ऐसे ही काली भी निराकार है परन्तु श्यामता के कारण उसे

काली कहा गया है। फिर वह जगत की नाशक है, इसीलिये उसे काली कहा जाता है और जब वह स्वरूप की ओर आती है तब जगत का नाश कर देती है। कहने का भाव यह कि जब वही शुभ सत्ता अपने से पृथक होकर भासती है। तब जगत उठ खड़ा होता है और जब स्वरूप में भासती है तब उसमें जगताभास नहीं रहता। जैसे आकाश का अङ्ग आकाश ही-है, वैसे ही जगत इसका अङ्ग है और जैसे समुद्र में तरङ्ग समुद्र रूप ही में वैसे ही इसका (शुभ-सत्ता, आत्म-सत्ता का) रूह जगत ही है, और यही शक्ति चिदाकाश है, और उससे पृथक कुछ नहीं है। यही जब फुरती है तब जगत रूप भासती है और जब नहीं फुरती तब शुभ स्वरूप आत्मरूप रहती है। हे रामजी! इसी प्रकार से तुम्हारी चित्त शक्ति जब तुम्हारी ओर आवे तब जगत् भ्रम मिटेगा, अन्था नहीं। इस चित्त शक्ति ने ही जगत् के सारे भ्रमों को रच दिया है। परन्तु वह शुभ-सत्ता सर्वथा ही शांत स्वरूप, अजर, अमर, चिन्मात्र और क्षोभ रहित है।

रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवान्! आपने जो काली के अङ्ग और उसमें स्थित सृष्टि देखी थी वह उसकी आत्मा में कहाँ तक स्थित है, यह आप मुझे समझाकर कहिये—वह सत् है या असत्।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! काली आत्मा की क्रिया-शक्ति है इससे वह सत्य ही है परन्तु आत्मा में वह कुछ वैसी नहीं हुई है। मनोराज में जैसा चिन्तन किया जाता है वैसा ही भासता है। परन्तु आत्मा में कुछ भी सत्य नहीं है, चित्त शक्ति ही बसी हुई है। विधि-निषेध युक्त जितने भी पदार्थ और महास्थावर जङ्गमरूपी जगत् जो कुछ भी भासता है सब चिदाकाश ब्रह्म-स्वरूप ही है परन्तु वास्तविकता यही है कि ब्रह्म में यह कुछ हुए नहीं। सर्व प्रकारेण सर्व काल में आत्मा ही अपने आप में स्थित है और वह शुद्ध, निर्विकार और ज्यों का त्यों स्थित है। क्रिया-शक्ति ने ही देश, काल सब कुछ रच लिया है, और वह [illegible] में [illegible] है परन्तु उसक कोई

वास्तविकता नहीं है। जैसे निद्रावस्था में सब सृष्टि भासती है वैसे ही निद्रित स्वरूप से अज्ञानता होने के कारण जगत की सृष्टि भासती है, जैसे जब नींद टूट जाती है तब स्वप्न-सृष्टि नहीं भासती, वैसे ही यह सृष्टि भी कुछ वास्तव में नहीं है जो कुछ भासती है वह अज्ञान से ही भास रही है। सारे पदार्थ चित्त के फुरने से ही भासते हैं। शुद्ध सङ्कल्प वालों को यह प्रत्यक्ष भासती है अर्थात् वह जैसी सृष्टि चाहे रच लेता है और अशुद्ध संकल्प वालों को मनोराज की यह सृष्टि भासती है कि जो मिथ्या है और जिसका आत्मा में कुछ भी अस्तित्व नहीं है। जैसा संकल्प फुरता है वैसा ही भासने लगता है। इसी प्रकार यह सृष्टि सङ्कल्प रूप ही है और हृदय में इसकी सत्यता विद्यमान रहती है कि इसका अर्थ अनुभव होने लगता है। जैसे परलोक को कोई देखता नहीं है परन्तु उसकी सत्यता जो हृदय में होती है तो उसका रागद्वेष हृदय में फुरता है और संकल्पवश वैसा ही भाव उठता खड़ा होता है, इसी प्रकार से जब तक चित्त-स्पन्द फुर रहा है तब तक यह जगत खड़ा ही रहेगा और जब चित्त निस्पन्द हो जायगा जब जगत की सत्यता भी नष्ट हो जायेगी। अस्तु ! क्रिया-शक्ति ने ही जगत को रच रक्खा है। जब यह क्रिया-शक्ति या काली शक्ति आत्मा से पृथक रहतीहै तब तक नाना प्रकार का जगत रचती है और क्षोभ को प्राप्त होती है और जब वही शुभ-सत्ता आत्मा की ओर जाती है तब शान्तरूप हो जाती है। फिर तो वह प्रकृति संज्ञा नहीं रहती और सब अद्वैतरूप हो जाता है। जिस प्रकार वायु जब तक चलता है तभी तक उसके अनुसार उतना ही शीत, उष्ण, सुगन्धि, दुर्गन्धि और बड़ी छोटी आदि संज्ञा होती है और जब वह ठहर जाता है तब कहा नहीं जाता कि ऐसा है और वैसा है। इसी प्रकार चित्त शक्ति की स्पन्दता ही सारे जगत को रच रही है। उसी को प्रकृति और कारण रूप भी कहते हैं। उसके

विद्या और अविद्या ही भेद हैं। इसको ऐसा समझना चाहिये कि जैसे जो कुछ कहने को होता है पहले इसका चित्र खिंच जाता है अर्थात् पहले ही से वह विद्यमान रहता है तब चित्र खिंचता है और वह स्पन्दरूप ही है, ऐसे ही उस शुभ सत्ता में ऐसा अंकुर विद्यमान है कि जिससे वह ऐसा विकृतरूप हो जाता है परन्तु वह सर्वथा ही निरंकुश रूप अद्वैत ही है, उसमें किसी को भ्रम नहीं है। हे रामजी ! यह समस्त जीव शिव स्वरूप ही हैं परन्तु इनमें जो स्फुरण हुआ है अथवा इनका चित्त जो फुरा करता है वही कालीरूप है। जब यह इच्छाशक्ति बाहर फुरने लगती है तब इसके भ्रमों का अन्त नहीं रहता । फिर तो वह नाना प्रकार के विकारों को उठाकर अनुभव करता हुआ लेशमात्र भी शान्ति को नहीं पाता और कष्ट पर कष्ट भोगता है । किन्तु जब उसी चित्र शक्ति को उलट कर पटक देता है अर्थात् जब अधिष्ठान की ओर लगा देता है तब जगत का सारा भ्रम मिट जाता है और तब वह परम शान्तिमान हो जाता है । इससे आतमा और चित्त-शक्ति में कुछ भी अन्तर नहीं है। जब उसमें स्पन्दता होती है तब वह और का और भासने लगता है, और स्पन्दता नहीं होती तो वह जैसा का तैसा अपना आप ही भासता है । उसमें जानना न जानना कुछ भी नहीं है । बस, उसको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये कि जब तक इच्छा शक्ति शिवसत्ता की ओर नहीं देखती तब तक नाना प्रकार के नृत्य करती रहती है और जब शिव की ओर देखती है तब उसका नृत्य विरस हो जाता है, और उसके सारे ही अङ्ग सूक्ष्म हो जाते हैं। हे रामजी ! तुमको स्मरण तो है न कि मैंने क्या कहा है । जब उस काली का आकार बे प्रमाण होगया तब वह आत्मा की ओर देखने लगी जिससे सूक्ष्म होता था । क्यों मेरा वह कहना कि काली कभी सूक्ष्म हो जाती है और कभी चिदाकाश हो जाती और कभी विस्तृत होती है । सो मुझे इसी प्रकार से समझ लो कि जब

बाहर की ओर देखती तब इतना विस्तार पाती और अपनी ओर अर्थात् आत्माविमुख होती तब सूक्ष्म हो जाती । बस, इसी प्रकार से वह इतना नृत्य करती फैलाती और क्या-क्या हो जाती थी परन्तु जब शिवतत्व की ओर जाती थी तब उसी में समा जाती थी अर्थात् तब वह भी शिवरूप ही हो जाती थी । शिव के सम्मिलन से उसका विलास शून्य हो जाता था । इसी प्रकार के अभ्यास से प्रत्येक को शुभ सत्ता एवं शिवपद की प्राप्ति हो जाती है ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बासठवां सर्ग समाप्त ॥६२॥

तिरेसठवां सर्ग

अनन्त सृष्टि वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार जब वह काली नृत्य करके निर्वाण होगई तब शिव (रुद्र) अकेले ही रह गये । और तब वही मुझको दिखलाई पड़े और दो खण्ड आकाश के देख पड़े । एक नीचे का भाग और ऊपरी भाग । इसके अतिरिक्त कुछ भी दिखलाई न पड़े । तब शिव नेत्र फैलाकर दोनों खण्डों को वैसे ही देखने लगा कि जैसे सूर्यदेव जगत को देखते हैं, और जब उसने अपने प्राणों को खींचा तब ऊर्द्ध और अधः दोनों ही खण्ड इकट्ठे हो गये । इस प्रकार उसने ब्रह्माण्ड को अन्तर्मुख कर लिया तब वह रुद्र ही अकेला रह गया, केवल चिदाकाश ही शेष रहा और दूसरी वस्तु क्षण पश्चात उस रुद्र ने महा विशाल रूप धारण किया कि जिससे वह ब्रह्माण्ड को लांघ गया और एक वृक्ष के समान हो गया । फिर अंगुष्ठ मात्र शरीर धारण कर एक ही क्षण में परम सूक्ष्म अणु के समान ऐसा होगया कि नेत्रों से दिखलाई भी न पड़े । मैं बहुत ध्यान से देखता किन्तु कुछ भी दिखलाई न पड़ा और सर्वथा ही नष्ट हो गया, केवल चिदाकाश ही शेष रहा और दूसरी वस्तु

कुछ भी न भासित हुई। जैसे वर्षा काल के मेघ शरत काल के आने से नष्ट हो जाते हैं वैसे वह रुद्र भी नष्ट हो गया। उस समय मुझको तीन वस्तु दिखलाई पड़ीं। एक देवी ब्रह्मा की शक्ति दूसरी काली और तीसरी शिला। तब मुझे ज्ञान हुआ कि यह तो स्वप्न नगर के ही समान ही कुछ नहीं है और सारा प्रपञ्च मिथ्या ही दिखलाई पड़ा है। तब मैंने विचार करके देखा कि स्वर्ण शिला ही पड़ी है और यह समस्त सृष्टि इस शिला के ही कोष में स्थित है। तब मैं उसमें भी सृष्टि देखने लगा तो नाना प्रकार की सृष्टि ही दिखलाई पड़ी। परन्तु जब मैं उसे बोध दृष्टि से देखूँ तो सब ब्रह्म ही भासे। उस प्रकार सङ्कल्प दृष्टि से देखने पर उस आत्म आदर्श में अनन्त सृष्टियां दिखलाई पड़ें और चर्म दृष्टि से देखूँ तब शिलाही जान पड़े। परन्तु जब निःसङ्कल्प होकर देखूँ तो वह शिला मुझे अद्वैत आत्मा ही दृष्टि आवे। इस प्रकार उस शिला में मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखीं जो कहीं तो ऐसी जान पड़ती थीं कि यहाँ ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, यहां ब्रह्मा ने सूर्य और चन्द्रमा रचे हैं, यहाँ मर्यादा स्थापित हुई है, यहीं सम्पूर्ण पृथ्वी आदिक तत्व उत्पन्न किये हैं परन्तु प्राण नहीं उत्पन्न किये, कहीं कहीं समुद्र ही नहीं है और कहीं सर्व व्यवहार करते हुए दृष्टि आते थे, कहीं सूर्य और चन्द्रमा उत्पन्न थे और कहीं नहीं थे। कहीं चन्द्रमा शिव से उत्पन्न हुये थे और कहीं शिवसे नहीं निकले थे। कहीं क्षीर समुद्र मथा गया था और कहीं नहीं मथा गया था और अमृत नहीं निकला और लक्ष्मी, हाथी, घोड़ा, और धन्वन्तरि वैद्य नहीं निकले थे। कहीं विष और अमृत नहीं निकला था, देवता मृतक हो रहे थे और जहाँ समुद्र मथा गया था वहां से अमृत निकला था, वहाँ के सब देवता सुखी थे। कहीं प्रकाश होरहा था कहीं नहीं था। कहीं पर्वत ही पर्वत दिखलाई पड़ते थे, और कहीं इन्द्र के वज्र से पर्वत कटते और उड़ते हुए दिखलाई पड़ते थे। कहीं प्राणियों को जरा मृत्यु से हुये थी और कहीं स्पर्श

भी नहीं करती थी। कहीं प्रलय हो रहा था और कहीं कल्प पर्यन्त ज्यों के त्यों पड़े थे। कहीं मेघों का गर्जन हो रहा था और कहीं समग्र पृथ्वी जलमग्न दिखलाई पड़ती थी। कहीं आकाश ही आकाश दिखलाई पड़ता था तो कहीं कोई प्राणी ही न दीखे और कहीं देवता और दैत्यों के युद्ध चल रहे थे। कहीं लोगों में परस्पर प्रेम था और कहीं शत्रुता। कहीं राजा बलि और इन्द्र का युद्ध हो रहा था तो कहीं रुद्र और वृत्रासुर का ही युद्ध चल रहा था। कहीं सर्वदा प्रसन्नता ही रहती थी और कहीं सर्वदा शोक ही बना रहता था। कहीं सतयुग था तो कहीं कलयुग। कहीं राम-रावण युद्ध चल रहा था और कहीं राम ने रावण को भूमि में गिरा दिया था और कहीं राम ही को रावण पछाड़ रहा था। कहीं सुमेरु पर्वत नीचे था तो पृथ्वी उसके ऊपर थी कहीं पृथ्वी शेष नाग पर थी और कहीं शेष नाग पृथ्वी पर थे। कहीं भूचाल हो रहा था और कहीं प्रलय हो रहा था। एक स्थान में एक बालक वट वृक्ष पर बैठा हुआ अंगूठा चूस रहा था जो विष्णु भगवान थे, कहीं ब्रह्मा के कल्प की रात्रि थी, जहाँ महा शून्यता और घोर अंधकार फैला हुआ था। हे रामजी! वहाँ मैंने यह भी देखा कि कौरव और पाण्डवों में युद्ध हो रहा है और कृष्ण पाण्डवों की सहायता कर रहे हैं। कोई सृष्टि नष्ट हो रही थी और कोई उसी स्थान पर फिर उत्पन्न हो रही थी। हे रामजी! इस प्रकार एक ही आत्म आदर्श में मैंने अनेक सृष्टियाँ देखीं कि जो उसमें प्रतिबिम्बित थे। परन्तु जब मैं उसको आत्मदृष्टि से देखूँ तो सब चिदाकाश ही दिखलाई पड़े और जब संकल्प देखूँ तब जगत का ही भान होवे। कहीं दशरथ के पुत्र राम रावण को मारने चले हैं और कहीं ठीक तुम्हारे ही स्वरूप के अनेक तपस्वीगण बैठे हुए तप कर रहे थे कि जिनका मन अत्यन्त ही प्रसन्न था। इस प्रकार मैंने उस शिलामें अनेक सृष्टियों को देखा।

यह सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवन्! क्या मैं

पहले भी ऐसा ही उत्पन्न हुआ हूँ? यदि ऐसा प्रसङ्ग होवे तो कृपाकर उसे भी बतलाइये।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! अवश्य ही तुम पहले भी हो चुके हो, अब भी हो और आगे भी होवोगे। मैं भी पहले था और आगे भी होऊँगा? यह तो आत्मा का विवर्त है कि उसमें जैसी की तैसी ही कणका उत्पन्न होती है। तुम पहले भी ऐसे ही उत्पन्न हुये हो। हाँ, कुछ अल्प परिवर्तन भले ही हुआ हो। कभी यह पूरे लक्षण तुम में रहे और कभी तुम अर्द्ध लक्षण के हुये और कभी चतुर्थ भाग लक्षण वाले हुये हो। जैसे अन्न का बीज जैसा होता है तो वैसा ही अन्न पैदा होता है। भले ही उसमें कुछ लघु और कुछ बड़ा होवे। ऐसे ही सब पदार्थ होते हैं। जैसे समुद्र में कोई छोटी और बड़ी लहरें उठती हैं परन्तु वे सभी तरङ्ग रूप ही हैं। ऐसे ही हमारे समान भी फिर होंगे किन्तु आत्मतत्व कुछ भिन्न नहीं है, सङ्कल्प से ही भिन्नता और विलक्षणता जान पड़ती है। जैसे समुद्र में वायु से तरङ्ग उठते हैं ऐसे ही आत्मा के सङ्कल्प वश ही जगत भासता है, अन्यथा आत्मा में कुछ है नहीं। यह सारा जगत चैतन्य का ही विलास है और चित्त के फुरने में ही अनन्त सृष्टियाँ भास रही हैं। जैसे स्वप्न सृष्टि बड़े आरम्भ से भासती है परन्तु वह स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है, वैसे ही यह जगत आरम्भ के परिणाम से कुछ बना नहीं और यह आत्म सत्ता ज्यों की त्यों स्वतः अपने आपमें ही स्थित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तिरेसठवां सर्ग समाप्त ॥६३॥

—०:❀:०—

चौंसठवाँ सर्ग

वशिष्ठजी का पृथ्वीरूप वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार मैंने अनेक सृष्टियाँ देखीं तो मेरा मन दृश्यों से व्याकुल हो गया तब मैंने भ्रम को त्यागकर अपने वास्तविकरूप का ध्यान किया । फिर तो मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं नित्य, शुद्ध बोध स्वरूप चिदाकाश अपने आप में ही स्थित हूँ । फिर मुझे ज्ञात हुआ कि यह सब जो दृश्य मैंने देखा है वह चिन्मात्र आत्मा का ही संवेदन मात्र एक स्फुरण है और सारे जगत की उत्पत्ति संवेदन से ही होती है । जैसे जल देने से अंकुर निकलता है वैसे ही मेरे में सृष्टि का जो अनुभव होने लगा तो उसी से मैंने जाना कि सृष्टि फुरी है ।

इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! उस समय तो आप आकाश रूप थे फिर उस अपने आप में आपको सृष्टि का स्फुरण कैसे हुआ ? कृपाकर मेरे बोध की दृढ़ता के लिये यह समझाकर कहिये ।

वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी ! वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । फिर भी वह जैसे उत्पन्न होता है उसे सुनो । हे रामजी ! मेरा अपना आप अनुभव और आकाशरूप ही है । किन्तु उसमें जो अहंकार उत्थान होता है कि "मैं हूँ"—यह अहंभाव आना ही निश्चयात्मक बुद्धि को उत्पन्न कर देता है और जब ऐसी बुद्धि फुरी तब उसने संकल्प विकल्प रूपी मन फुर कर उसने पदार्थों को रच लिया । जब मनमें देखने का स्पन्द फुरा तब चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई और वो देखने लगीं । सुनने की इच्छा हुई तो श्रवण इन्द्रिय हुई । रस लेने की इच्छा हुई तो रसना इन्द्रिय हुई और वह रस लेने लगी । सुगन्ध की इच्छा हुई तो नासिका इन्द्रिय हुई और

वह सुगन्ध ग्रहण करने लगी। स्पर्श करने की इच्छा हुई तो त्वचा इन्द्रिय प्रकट हुई और वह स्पर्श ग्रहण करने लगी। इसी प्रकार मुझे ज्ञानइन्द्रिय प्राप्त होगई कि जिसमें मैं शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध लेता हुआ अपने साथ स्थूल शरीर देखने लगा। परन्तु यह शरीर का देखना स्वप्नवत ही है जिसको मैं देखता हूँ, वह दृश्य है और जिनसे देखता था यह इन्द्रियाँ है। ऐसेही जिस समय दृश्य फुरा वह काल कहा जाता है और जहाँ वह फुरता है वह देश कहलाता है। और जिसमे वह होता है वह क्रिया कहलाती है। बस इसी प्रकार से सब देश, काल और पदार्थ उत्पन्न होते हैं। नहीं तो न कोई देह है. न कोई इन्द्रिय, और न कोई सृष्टि है। चित्तकला में ही सब उत्पन्न हुये दिखलाई पड़ते हैं। हे रामजी ! जब वह सृष्टि मुझे फुरी तब मुझे अपना पूर्व स्वरूप विस्मरण हो गया और उस प्रकार जब शरीर और इन्द्रियाँ मुझे अपने साथ भासित हुईं तो उनमें मैंने अहं प्रलय करके ओंकार शब्द का जोर से उच्चारण किया कि जो शब्द आदि, मध्य, और अन्त से रहित पर ब्रह्मस्वरूप है और जिसमें ही समस्त ब्रह्माण्ड वैसेही स्थित है जैसे समुद्र तरङ्गों का आधार स्वरूप समुद्र जैसा का तैसा स्थित रहता है। जब मैं उस शिला को आधिभौतिक दृष्टिसे देखूँ तब वह मुझको शिला भासे और जब अन्तवाहक दृष्टि से देखूँ तब उसमें मुझे अनन्त ब्रह्मांड ही स्थित दिखलाई पड़े और जब आत्म दृष्टि से देखूँ तब मुझे, अपना आपही जान पड़े। जैसे सूर्यकी किरणों में मरुस्थल का जल भासता है वैसे ही मुझको उस शिला में सृष्टि भासित होती थी। परन्तु जैसे मरुभूमि की नदी मिथ्या है वैसे ही ग्रहण करने वाली वृत्ति मिथ्या है और जैसे संवेदन में मनन शक्ति का स्फुरण मिथ्या है वैसेही मृग तृष्णाकी नदी मिथ्या है। तब जब संवेदन ही मिथ्या है तब उसका मनन भी कैसे सत्य हो सकता है। ऐसे ही इस जीवका भी रूप अवलोक मिथ्या है और वह भ्रमवशही भासता

है। जैसे स्वप्न सृष्टि, सङ्कल्पपुर, मनोराज का नगर और कथा का वृतान्त बिना उपजेही केवल भ्रमवश ही प्रत्यक्ष भासता है वैसे ही यह जगत भी केवल भ्रमवश सत्य जान पड़ता है, वास्तव में कुछ है नहीं। हे रामजी! अब वह सुनो कि जिस प्रकार से मुझ में सृष्टि भासित हुई थी। देखो, जब मुझमें पृथ्वी की धारणा हुई तब मुझे वही शरीर रूप जान पड़ी क्योंकि मैं विराट आत्मा था और तब उस पृथ्वी पर बन पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्ष, फल, फूल, मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, ऋपीश्वर, दैत्य और नाग आदिक जो स्थित हैं सब मेरे ही शरीर होगये और तब पर्वत मेरा मुख हो गया और सुमेरु आदिक पर्वत मेरी भुजायें हुईं और सातों समुद्र इन्द्रियां तथा सब नदियां मेरे कण्ठमें मालाके समान होगईं और सारा वन रोम होगये और मरुस्थलकी नदी मेरे ऊपर फैल गई कि जिसमें देवता, दैत्य, मनुष्य और पशु पक्षी, आदिक सब मेरे कीड़े के समान ही भासित हुये। तब मेरे ऊपर ही किसी स्थान में लोग हल चलाते, बीज बोते अन्न उत्पन्न होता कि जिसे प्राणी खाते थे। कहीं पृथ्वी खोदते, कहीं कोई पूजा करते, कहीं समुद्र स्थित था, कहीं नदी चलती थी, कहीं राजा राज्य करते और कहीं वही लोग मेरे ही ऊपर युद्ध करते थे। कोई कहता यह मेरी पृथ्वी है कोई कहता मेरी है। इस प्रकार ममता करके लोग एक दूसरे से युद्ध करते थे। कहीं हाथी चलते, कोई रोता विलाप करता, कोई हँसता कोई सुगन्ध लेता, कहीं दुर्गन्धि आती, कहीं नदियोंका प्रवाह चल रहा था और कहीं नदियां जलके विना क्षोभ कर रही थीं। क ीं मेरे ऊपर बरफ जमा हुआ पड़ा था, कहीं दृढ़ स्थान थे और अनिष्ट। कहीं जीव सात्वकी चेष्टा करते कहीं राजसी और कहीं-कहीं लोग तामसी चेष्टाओं में ही लगे रहते थे। इस प्रकार से सर्व जीव अपनी अपनी चेष्टा कर रहे थे परन्तु उन सबका आधार भूत मैं ही था। सारी चेष्टायें मुझसे ही फुर रही थीं और वह सब संवेदन का फुरना ही था और कुछ नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण का चौसठसवां सर्ग समाप्त ॥६४॥

पैंसठवां सर्ग

वशिष्ठजी का जलरूप वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा—हे भगवन्! यह जो आपको पृथ्वी का अनुभव हुआ वह सङ्कल्प रूप था या मनसे उत्पन्न हुआ अथवा आधिभौतिक था, जैसे हुआ हो वैसा मुझसे कहिये। वशिष्ठजी कहने लगे हे रामजी! सारा जगत् संकल्प रूपही है, केवल चिदाकाश ही अपने आपमें स्थित है और वह चिदाकाश भी मैं ही हूँ कि जो न तो कभी उत्पन्न हुआ और न कभी मेरा नाश होगा। मैं सर्वदा अद्वैत, अचेत्य और चिन्मात्ररूप ही हूं। उसमें जो सङ्कल्प हुआ उसीका नाम मन है और वही सङ्कल्पाभास ब्रह्मा और इच्छा होकर उत्पन्न हुआ है कि जिसमें जगत् स्थित है और वह भी आकाश रूप ही है, कुछ बना नहीं। यह समस्त शुभाशुभ रूप जगत् केवल मन में स्थित है और इसके जितने भी आकार दिखलाई पड़ते हैं सब निराकार रूप ही हैं, भ्रम से पिण्डाकार समझते हैं। जैसे स्वप्न में शुभाशुभ पदार्थ भासते हैं और वे सब निराकार ही हैं वैसे ही जगत भी भ्रमसे ही पिण्डाकार भासता है, विचार करने से लुप्त हो जाता है। क्योंकि स्वरूप कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे बालक मिट्टी की सेना रचकर उसको भिन्न नामों से कल्पते हैं वैसे ही अद्वैत आत्मा में इस मनरूपी बालक ने नाना प्रकारके जगतकी कल्पना कर ली है परन्तु आत्म तत्व अपने आप ही में स्थित है। जैसे जब मृग तृष्णा का जल है ही नहीं तब उसमें कोई डूबा कैसे, वैसे ही जब मन स्वयं ही आभासरूप है तब वह जगत को कैसे रचेगा। सारा जगत चिदाकाशरूप ही है, कुछ बना नहीं। उस आत्मरूपी आकाश में मनरूपी नीलता अविचार से ही सिद्ध हो रही है। विचार करते ही लोप होजाती है। जैसे दीपक के आतेही

अन्धकार नष्ट होजाता है वैसे ही विचार करने से मनका रचा हुआ यह जगत नष्ट होजाता है। अस्तु, मनको निर्वाण करना ही परम शान्ति है। क्योंकि जितने भी क्षोभ उत्पन्न होते हैं सबको मन ही उत्पन्न करता है। और इस प्रकार समस्त शब्द अर्थ मनकी ही कल्पना से उत्पन्न होते हैं। मन निर्वाण हो जावे तो कोई भी शब्द अर्थ नहीं रहता।

रामजी ने प्रश्न किया-हे मुनीश्वर! यह तो मैंने जाना कि आप अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुये थे परन्तु यह भी तो बतलाइये कि उस समय आप कुछ और रूप भी हुए या ऐसेही रहे।

वशिष्ठजी कहने लगे-और क्या होता। इस आत्मरूपी जाग्रत में मैं अनन्त ब्रह्मांडकी पृथ्वीरूप होकर तो उत्पन्न ही हुआ था और जैसा स्थित हुआ उस समय तक वैसेही स्थित बना रहा। चैतन्य होकर भी मैं जड़के समान स्थित होगया था। परन्तु वह मैं जगत आदि कुछ नहीं था, केवल वह चिदाकाश ही था कि जिसमें एकता अनेकता, और अस्ति, नास्ति अहंत्वं और इदं कुछ भी नहीं है सर्व शब्द ब्रह्मही है। जगत के होते भी वह अरूप ही है और उसमें जगत केवल चमत्कार मात्र है। जहां पदार्थ होता है वहां जगतकी सत्ता होती ही है। परन्तु वह ब्रह्म तो सर्वदा और सर्व प्रकार से सर्व पदार्थों का स्वप्न मात्र ही है। उसमें स्थित होकर ही मैंने समस्त ब्रह्मांड को देखा था। जब मैंने पृथ्वीकी भावना की तो पृथ्वी रूप हुआ और जब जलकी भावना की तब जलरूप होकर फैल गया और इसी प्रकार मुझपर वृक्ष, घास, फूल, गुच्छे आदि उत्पन्न हो गये। सबमें मैं ही तो विद्यमान था, पत्रोंमें रस होकर मैं ही स्थित था, स्तम्भ में मैं ही शक्तिरूपसे था, मैं ही समुद्र हुआ और मुझ में ही नदियों का प्रवाह चला, मैं ही प्रवाहित होरहा था और मुझ में ही बादलों के समान गड़गड़ाहट होती थी। तरङ्ग और फेनमें भी मैं ही था। कणका होकर मैं ही स्थित हुआ था और मैं ही तो सब

प्राणियों में रक्त और रसरूप से विद्यमान था और सबकी नाड़ियों का मथन करके मैं सब में प्रविष्ट था सो जैसी नाड़ियाँ होती हैं मैं वैसा ही रस होकर स्थित हुआ था । मैं सबमें कफ, पित्त, मूत्र आदिक नस-नाड़ियों में स्थित था । सबकी जिह्वा के अग्रभाग पर मैं ही विराजमान रहता था और मैं ही सब स्वादों को लेने वाला था । मैं ही बरफ रूप से स्थित था और मैं ही जड़ चैतन्य के समान स्थित था । मैंने ही सबको उत्पन्न किया था और मैं ही प्रलय का मेघ होकर गर्जन कर रहा था तथा मैंने ही फिर सबका नाश किया था । इस प्रकार उस स्थावर जङ्गमरूपी जगत में मैं ही स्थित था । परन्तु जैसे स्वप्न काल का जगत् अनुभवरूप ही है और अनहोता ही उपज कर भासता है वैसे ही मैंने जलरूप होकर जगत को फिर धारण कर लिया । परन्तु नाना प्रकार के स्थानों में मैं ही स्थित था । मैं ही पुष्प शैया पर कितने ही काल तक विश्राम करता रहा और मैं ही पुष्पों में गन्धरूप से विद्यमान था । मैंने ही आकाश में मेघ होकर गर्जन किया, विचरण किया और मैं ही पर्वतों पर प्रचण्ड रूप से प्रवाहित हुआ और मैं ही एक-एक कण में विद्यमान था ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पैसठवाँ सर्ग समाप्त ॥६५॥

———o::❀::o———

छासठवाँ सर्ग

ब्रह्म और जगत की एकता वर्णन

हे रामजी ! इस प्रकार मैंने पहले पृथ्वीरूप, फिर जल रूप जो धारण किया और उसमें जिस २ क्रम से जगत-दृश्य देखा वह तुम्हें सुना दिया । अब वह सुनो कि जो तेजरूप धारण करके मैंने जगत की क्रिया सिद्ध की है । देखो, जैसे राजा के सेवक चोर को पकड़कर मारते हैं वैसे ही मैंने तमरूपी चोर को तेजरूपी दीपक से पकड़कर मारा । मैं तो आकाशरूप ही था, इससे मेरे कण्ठ में तारा

वली रूपीमाला पहले से ही पड़ी हुई थी जिससे मैं सूर्य रूप होकर सब जलों को सोखने लगा और मुझसे दशों दिशायें प्रकाशित हो गईं। तब वह आकाश जो ऊँचापन से श्याम भासता है वह भी मेरे निकट प्रकाशवान होगया और इस प्रकार सारे जगत में मैं ही फैल गया और जहाँ मैं रहूँ वहाँ से तम का सर्वदा अभाव हो जाता था। मुझे सूर्य और चन्द्रमा एक डब्बे के ही समान भासित होता था, परन्तु मैं तो सात्वकी राजसी और तामसी समस्त क्रियाओं को प्रकाशित करने वाला सूर्य हुआ। मैं ही सब देवताओं और सब पितरों को तृप्त करता था। मैं ही यज्ञ की अग्नि, रत्न, मोती और मणि आदिकों को प्रकाश देने वाला था और सर्व के प्राणों में मैं ही स्थित था तथा प्राण-अपान के क्षोभ से मैं ही अन्न को पचाने लगा। जैसे आत्मा के प्रकाश से रूप अवलोक और मनस्कार प्रकाशते हैं वैसे समस्त पदार्थ मुझसे ही प्रकाश पाने लगे। मैं ऐसा तेज रूप था कि मानों चैतन्यसत्ता का ही दूसरा बन्धु हूँ। जिस प्रकार सब पदार्थ आत्मा से सिद्ध होते हैं वैसे ही सब मुझसे सिद्ध होने लगे। रत्नों में तेज और सिद्धों में वीर्य रूप से मैं ही विद्यमान था और सारे जगत को बलरूप से मैं ही पुष्ट कर रहा था दाहक शक्ति के लिये वड़वाग्नि के समान मैं ही जगत को नष्ट करने वाला था और तेजधारियों में तेजरूप से और बलवानों में बलरूप से मैं ही विद्यमान था, नीचे भी मैं मध्य में भी मैं था और चन्द्रमा सूर्य से रहित जो स्थान हैं, उनमें भी मैं ही विद्यमान था मैं ही अग्निरूपी नेत्र था, और मैं ही सूर्य रूपी नेत्र था तथा मध्य-मण्डल में इसी प्रकार मैं ही स्पष्ट देखता था। स्थावर जङ्गमरूपी जगत के समग्र पदार्थों में मैं ही स्थित था परन्तु जब मैं ज्ञान दृष्टि से देखूँ तो मुझे सर्वत्र आत्मा का ही भान होता था और जब मैं अपने को अन्तवाहक दृष्टि से विराट जानूँ तब मुझे ऐसा प्रतीत होवे कि मानों समस्त संसार से मैं ही फैल रहा हूं और समस्त पदार्थ मेरे

ही अङ्ग हैं। तेजस्वियों में तेज, क्रोधियों में क्रोध, यतियों में यति मैं ही था और सब ओर से मेरी ही जय जयकार होती थी और सुवर्ण और रत्नों में जो प्रकाश और रूप है वह भी मैं ही हूँ।

रामजी ने पूछा—हे भगवान्! इस प्रकार जो आप जगत की क्रिया का अनुभव कर रहे थे और जलरूप होकर अग्नि को बुझाते तथा अग्नि होकर जल को जलाते थे और इष्ट अनिष्ट को जो कुछ अपने ऊपर सहन करते थे, वह कैसे—मेरे दृढ़ बोध के लिये कृपाकर वह वृतान्त कथन कीजिये।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! जैसे कोई स्वप्न में नाना प्रकार के जड़ पदार्थों को देखता है और वास्तव में वे हैं नहीं, केवल अनुभव का ही खेल है, निद्रा दोष से ही वे सब द्वैत भासते हैं वैसे ही वह सब जो कुछ हुआ सब स्वप्न के ही समान मुझको जान पड़ा था और नहीं तो बोध स्वरूप में कुछ नहीं है! जब पदार्थ भावना नहीं रहती जब सारा जगत बोधरूप ही भासित होता है। हे रामजी! जिसको देश काल और वस्तु के भेद से रहित अखण्ड सत्ता उदय हुई है उसको ज्ञानी कहते हैं और जब यह पुरुष परमात्मा को देखता है तब उसे सारा जगत आत्मस्वरूप ही जान पड़ता है। और जिस पुरुषको स्वप्न सृष्टि में पूर्व का रूप भूला नहीं है उसको अन्तवाहक कहते हैं। उसके लिये पत्थर, जल और अग्नि में प्रवेश करने से खेद नहीं होता। हे रामजी! मैं जो आकाश में उड़ता रहा और आकाश को लांघकर जो ब्रह्म खप्पर में फिरा वह भी अन्तवाहक शरीर से ही फिरा। हे रामजी! जिसको कोई आवरण नहीं होता उसे अन्तवाहकता प्राप्त रहती है। मुझे शुद्ध आत्मा में जो स्वप्न हुआ था और पूर्वका रूप विस्मरण नहीं हुआ इससे सारा जगत मुझको अपना ही स्वरूप भासता रहा और अपने सङ्कल्प से कल्पना करने पर अपना ही अङ्ग भासता था। जैसे कोई मनोराज से अग्नि का समुद्र रचे और उसमें स्नान करे तो वह भी होता है क्योंकि उसको

खेद नहीं होता सब अपने सङ्कल्प में ही उसको भासते हैं। अन्त-वाहक शरीर से विराट सबको अपना आप देखता है वैसे ही सब जगत् मुझको अपना आप समझता था तो खेद कैसे हो? जिस प्रकार स्वप्न वाला स्वप्ने में पर्वत, नदियाँ और अग्नि देखता है सो वही रूप है और आप भी एक आकार धारण करके वन जाता है और पूर्व का स्वरूप है उसकी प्रच्छन्नता से भूल जाता है और राग-द्वेष से जलता है। मैंने तत्वरूप वनके जो आपको जड़ रूप देखा तो मैंने आपको चैतन्यरूप देखा और जड़ की नाईं भी जाना। इस प्रकार मुझको अपना स्वरूप विस्मरण न हुआ तब मैं विराटरूप सबको अपना अङ्गही देखता रहा। इसमे मुझे खेद होना है? खेद तब होता है कि जब अपना स्वरूप भूलता है और प्रच्छन्न वन जाता है, पर मैं तो बोधवान् रहा कि, मैंने स्पन्द से सब रूप धारे हैं। हे रामजी! जिसको यह निश्चय है उसको दुःख कहाँ? सुख दुःखरूप जो पदार्थ हैं सो मैंने अपने में ऐसे देखे जैसे आदर्श में प्रतिबिम्ब भासता है। जिसको यह दृष्टिहो उसको दुःख कहाँ है? हे रामजी! जिसको अन्तवाहक शक्ति प्राप्त होती है वह पाताल और आकाशमें जाने को समर्थ होता है और जहाँ प्रवेश किया चाहे वहाँ जा सकता है क्योंकि, सृष्टि सङ्कल्प मात्र है। हे रामजी! और कुछ सृष्टि बनी नहीं आत्मा का किंचन ही सृष्टि रूप होकर भासता है। हे रामजी! यह सृष्टि सब ब्रह्मस्वरूप है। हमको तो सदा ऐसे ही भासती है। जब तुम जागोगे तब तुमको भी ऐसे ही भासेगी। तुम भी अब जागे हो। उस प्रकार मैं अग्नि होकर स्थित हुआ कि जिसकी शिखा से कालख निकलती थी। प्रकाश मैं ही हुआ और अपने चिद्स्वरूप अनुभव में मुझको जगत् भासे उसमें स्थित हुआ। अन्धकार और उलूकादि भी मेरे प्रकाश से प्रकाशित हैं और भाव-रूप पदार्थ भी मैं अपने में जानता भया क्योंकि, भावरूप पदार्थ तब भासते हैं जब उनकारूप होता है सो रूपवान् पदार्थ मैंही था इस

कारण सब मेरे ही में सिद्ध होते थे इस प्रकार मुझको प्रतिभा हुई। हे रामजी! फिर मैंने पवन की धारणा का अभ्यास किया तब हवन रूप होकर विचरने लगा और कमल के फूलों और वृक्षों को हिलाने लगा। तारों और नक्षत्रों का आधार भूत हुआ और वे मेरे आधार पर फिरने लगे। चन्द्रमा और सूर्य के चलाने वाला भी मैं ही हुआ समुद्र और नदियों के प्रवाह मेरी ही शक्ति से चलते रहे मन का बड़ा वेग भी मैं ही हुआ और प्राणियों के शरीर में मेरा निवास हुआ मैं ही प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान पुञ्जरूप होकर स्थित हुआ और सब नाड़ियों में मेरा निवास हुआ। सब नाड़ियों को रस अपना-अपना भाग मैं ही पहुँचाता रहा और हलना, चलना, बोलना, लेना, देना सब मुझ ही से सिद्ध होता था निदान सब पदार्थों में स्पर्श शक्ति मैं ही हुआ और सर्व शब्द मेरे ही से सिद्ध होते थे। क्रियारूपी बुन्द का मैं मेघ हुआ, आकाशरूपी गृह में मेरा निवास था और दशों दिशा सब मेरे में ही फुरी थीं। देवताओं को गन्ध में से मैं ही सुख देता था और दीपक को मैं ही प्रज्वलित करता था। पक्षियों में मेरा सदा निवास था। जैसे अग्नि में उष्णता रहती है वैसे ही सबके सुखाने और हरियावल करने वाला मैं ही हूँ। हे रामजी! इस प्रकार मैं पवन होकर स्थित हुआ इस लिये रूप, अवलोक और नमस्कार सर्व पदार्थ मैं ही हुआ और चन्द्रमा, सूर्य, तारे, अग्नि, इन्द्रिय, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वरुण, कुबेर और यम आदिक जगत् होकर मैं ही स्थित हुआ। पञ्चभूतों के भीतर और बाहर भी मैं था, प्राण अपान के क्षोभ से दुःख होता है सो मैं ही साकार निराकार रूप हूँ और रक्त पीत श्यामरङ्ग पदार्थ सब मैं ही हूं। उस चिद् अणु से जो पञ्चभूतों का स्फुरण हुआ है वह उसी का रूप है। जैसे स्वप्न सृष्टि अपना ही रूप होती है, दूसरी नहीं है, वैसे ही यह हाड़ मांस और पृथ्वी होकर समस्त भूतों में मैं ही वायु रूप, अग्निरूप, और आकाशरूप से स्थित हूं। मैं ही चैतन्य वपु था

और वे तत्व भी चैतन्य वपु थे। जैसे स्वप्न-संसार आकाशरूप होता है वैसे ही वे भी आकाशरूप ही हैं। सर्वकाल और सर्व प्रकार से सर्वात्मा ही सर्व में स्थित है। उसे अपने आप से भिन्न जानना मूर्खता है। समदर्शियों को वह भिन्न नहीं भासता किन्तु जो असम्यकदर्शी हैं उनको भिन्न २ ही भासता है इसी क्रम से मैंने समस्त जगत को अपने आप में देखा है। मैं ब्रह्मरूप था इस कारण मुझसे ही सारा जगत उत्पन्न हुआ दृष्ट आया, यदि मैं ब्रह्म न होकर कुछ और ही होता तो जगत तो क्या मुझमें एक तृण भी उत्पन्न न होता। मैं ब्रह्मरूप हूँ, इसी से मुझमें सृष्टि उत्पन्न होती है। परन्तु जब मैं ज्ञान दृष्टि से देखता हूँ तब मुझे आत्मा ही भासता है और जब अन्त वाहक दृष्टि से देखता हूँ तब स्पन्द के कारण अणु-अणु में सृष्टि ही भासती है। एक अणु में मुझे अनन्त सृष्टियाँ भासित हुई हैं। इससे सृष्टि आभासरूप है और वह आभास अधिष्ठान के ही आश्रय होता है और सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही है और वह ब्रह्मसत्ता देशकाल के भेद से रहित अखण्ड और अद्वैत है। उसी की सत्ता पाकर एक-एक अणु में सृष्टि विद्यमान है, कोई भी अणु से रहित नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं हैं। जैसे वायु और उसकी गमनता में भेद नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उनसठवां सर्ग समाप्त ॥५९॥

——०::※::०——
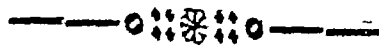
सड़सठवाँ सर्ग

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार जब मुझ में सृष्टियों का स्फुरण हुआ तब मैंने उनको भ्रमपूर्ण जान—कर त्याग दिया और अपने सर्व सङ्कल्पों को त्यागकर अन्तर्मुखहो अपनी आकाश कुटी की ओर आया। कुटी पर पहुँचकर मैंने देखा कि उसमें मेरा वह शरीर तो है नहीं कि जिसे मैं छोड़कर गया था और उसके स्थान में एक दूसरा ही पुरुष समाधिस्थ हो बैठा है। तब मैंने विचार किया कि यह कोई महान् पुरुष हैं कि जो पद्मासन बांधे योग में लीनता प्राप्त कर रहे हैं और इन्होंने ही मेरे शरीर को मृतक जानकर गिरा दिया है। परन्तु मैं आया था अपनी कुटी में बैठने, इस कारण मुझे उस पर कुछ विचार तो अवश्य हुआ किन्तु अपने उस वेग को हटाकर मैं फिर सप्तर्षि लोक को उड़ा और उस कुटी का सङ्कल्प मेरे हृदय में बसा था उसे मैंने समूल हटा दिया। तब सप्तर्षि लोक को आते हुए मार्ग में मैंने यह विचार किया कि अब तो मैं अपना सङ्कल्प हटाकर चला आया सो उस महा पुरुष की क्या दशा हुई—यह देखना चाहिये। मैंने उलट कर देखा तो वह कुटी सहित वहां नहीं था। क्योंकि वह कुटी ही उसकी आधार भूत थी और वह स्थित थी मेरे ही सङ्कल्प में और जब मैंने अपना सङ्कल्प हटा लिया तो वह कुटी भी वहाँ से हट गई अर्थात् मेरे उस सङ्कल्प से नष्ट होते ही वह कुटी भी वहाँ से नष्ट होगई। तब जब कि वह कुटी ही नष्ट हो गई तब उसमें वह सिद्ध कैसे रहता। निदान वह नीचे की ओर गिरने लगा तब उसे गिरते देखकर उसका कौतुक देखने की इच्छा से मैं भी उसके पीछे चला। मैं स्वाधीन था परन्तु उसे देखा तो वह पराधीन अवस्था में पड़ा हुआ चला जा रहा था। चलते २ वह सात द्वीपों का पार कर उस स्वर्ण भूमि पर जाकर स्थित हो गया कि जो नितान्त ही प्रकाश युक्त लगभग दश योजन की दूरी

तक फैली हुई थी। वहां भी वह वैसे ही जाकर स्थित हो गया कि जैसे पद्मासन लगाये मेरी कुटी में समाधिरत स्थित रहा। तब उसे इस प्रकार पद्मासन लगाये ग्रीवा सीधी किये मस्तक उठाये हुए बैठा देखकर मैंने विचार किया कि इससे कुछ पूछूं। मैं उसके निकट गया। परन्तु क्या पूछूं, वह तो नितान्त ही घोर समाधि में स्थित हो रहा था। किन्तु मुझे पूछना ही था—इस कारण उसे बारम्बार जगाकर मैं बुलाने लगा। परन्तु वह किसी प्रकार भी जागता न था। तब यह कैसे जागेगा मैं बादल बनकर उस पर घोर वर्षा करने लगा। गड़गड़ाहट का घोर शब्द किया। बिजलियां चमकाईं। पहाड़ों के टूटने के से शब्द किये परन्तु वह फिर भी न जागा। तब मैं उसके शिर पर बरफ का टुकड़ा बरसाने लगा। तब जैसे पत्थरों की वर्षा होती है उसी प्रकार वह ओलों की प्रचंड वर्षा पाकर जागृत हुआ और आँख खोलकर ऊपर की ओर वैसे ही देखने लगा कि जैसे वर्षाकाल में मोर गण पर्वतों के शिर पर नेत्र ऊपर उठाकर देखते हैं। परन्तु उस समय तक भी उसने अपनी पूरी समाधि न तोड़ी थी, इससे मैं उसके सामने गया। तब मुझे देखकर उसने अपनी समाधि खोल दी। समाधि खोल देने पर उसकी सब इन्द्रियाँ यथा स्थान आगईं। तब मैंने उससे पूछा—अहो! मुनीश्वर! कहो तुम कौन हो, कहाँ स्थित हो, क्या करते थे और तुम्हारी कुटिया कहां है? तब वह साधु बोला—हे मुनीश्वर! आप तनिक जल्दी न करें, मैं स्वस्थ होकर सब कुछ कहता हूँ। क्योंकि अभी समाधि से उतरा हूँ और अभी मेरी इन्द्रियां अपने २ स्थानों में उतना स्वस्थ न हो पायी हैं परन्तु मैं आप से अपना सब समाचार खुलकर कहूँगा। हे रामजी! वह साधु मुझ से ऐसा कहकर अपना पूर्व वृतांत स्मरण करने लगा और कुछ क्षण स्मरण करके बोला—हे मुनीश्वर! मुझसे बड़ी भूल हुई है। मैंने आपकी बड़ी अवज्ञा की है। परन्तु आप सन्त हैं, इससे मुझे क्षमा कीजिये, मैं

आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ। हे रामजी ! ऐसा कहकर वह तपस्वी मुझसे एक क्षण पश्चात् बोला–हे वशिष्ठजी ! यह जगत रूपी एक नदी है कि जिसका प्रवाह बड़ा ही प्रबल और कदापि भी सूखने वाला नहीं है। चित्तरूपी सागर से निकली हुई इस धारा का वेग बड़ा ही कठिन है। जन्म-मरण इसके दोनों किनारे हैं और यह राग-द्वेष रूपी तरंगों से सर्वदा ही भरी रहती है। भोगरूपी तृष्णा ही इसके चक्र अर्थात् भँवर हैं। हे मुनीश्वर ! उस भँवर में पड़कर जब मैं महान् दुखी हुआ तब मुझे यह विचार हुआ कि अब मैं अपने सुख के निमित्त देवों के स्थान में चलूँ। तब मैं देवताओं के स्थान में गया और दिव्य भोगों को भोगने लगा। तब स्पर्श आदिक जो भोग हैं वह सभी मैंने भोग किये परन्तु शान्ति कदापि न मिली। तब वहां से भी मेरा चित्त उचट गया और मैं शान्ति के लिये लोकालोक में फिरने लगा और सोचने लगा कि जिसमें सार हो उसमें स्थित होऊँ। तब इस प्रकार के विचारों युक्त फिरते रहने पर मुझे ज्ञात हुआ कि सार वस्तु तो अपना अनुभव रूप आत्मा ही है, मैं उसीमें स्थित होऊँ। तब मैं उसमें स्थित हुआ और जितने विषय भोग हैं उन सबको विष रूप जानकर त्याग दिया। क्योंकि हे मुनीश्वर ! इन विषय भोगों की तृष्णा से मनुष्य मृतक हो जाता है। स्त्री और धन आदि का मोह तो सुख के स्थान में दुःख ही देता है। भला ऐसा कौन है कि जो इसमें आकर सावधान रह सके। क्योंकि ये भोग तो मनुष्य को सर्वथा ही नष्ट कर डालते हैं। जब इस शरीर रूपी नदी में रहने वाली बुद्धिरूपी मछली ज्योंही शिर उठकर बाहर देखती है कि त्योंही भोगरूपी बगुला इसे चटकर लेता है। फिर तो प्राणी आत्म मार्ग में शून्य हो जाता है। भोगरूपी चोर इसे दिन दहाड़े ही लूट लेते हैं और जब इस प्रकार जीव आत्मा से शून्य हो जाता है। तब उसके जन्मों का अन्त नहीं रहता अर्थात् तब वह सर्वथा ही आवा-

गगन में ही पड़ा रहता है और उससे छुटकारा कभी नहीं पाता। फिर तो वह अनेक शरीरों को धारण कर नाना प्रकार के कष्ट भोगता रहता है। परन्तु अब तो मैं अपने आपमें जाग गया हूँ इससे अब वे भोगरूपी चोर मुझे नहीं लूट सकते। अन्यथा इन भोग रूपी नागों के डसने से शरीर मृतक हो जाता है और उनकी इच्छा करने मात्र से प्राणी आत्मपद से सर्वथा ही शून्य हो जाता है। विषयों की इच्छा उसे बारम्बार तिरस्कृत करती है, वह क्षण-क्षण में निरादर को प्राप्त होता है। तब उसे कितना दुःख होता है कि जिस शरीर के लिये ही वह इतना तिरस्कृत होता है वही शरीर उसका साथ नहीं देता और वास्तव में वह नाशरूप है। इससे देखा जाय तो यह शरीर ही आपका घर है और इसमें अहं करना परम आपदाओं को प्राप्त करना है। अतः इसमें अहं की प्रीति न करना ही परम सुख का कारण है। जब एक न एक दिन इसे काल भक्षण ही कर लेगा तब इससे भोगों की इच्छा करनी ही मूर्खता है। भोगों की इच्छा दुःख के अतिरिक्त सुख कदापि नहीं देती। बाल्यावस्था के पश्चात् युवावस्था और युवावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था आ जाती है। तब शरीर जर्जर हो जाता है और उसे नाना प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। यह जरावस्था महान दुःख दायी है। और जैसे इसमें दुःख प्राप्त होता है वैसे ही बाल्या और युवावस्था भी कम दुःख नहीं देती। बाल्यावस्था में जीव क्रीड़ित रहता है, युवावस्था में काम की सेवा करता है और वृद्धावस्था में घोर चिन्ता में मग्न रहता है। इन तीनों के पश्चात् ही मृत्यु आ जाती है और प्राणी को आत्मलाभ नहीं होता। इस प्रकार यह आयु बिजली की चमक के समान क्षणिक है। इस कारण इसमें भोगों की वांछा क्या की जावे, भोग तो महान् दुःख को ही देने वाले हैं। यदि इन्हें कोई सुखकर जाने तो वह भूल में है। इनसे कोई स्वस्थ कैसे हो सकता है? भला यह भोग रूपी तरगे उसे स्थिर

कैसे बैठने देंगी। इनमें बैठने वाला अवश्य मरेगा। विषय भोग उसे शान्ति कदापि न होने देंगे। भला कोई सर्प-फण की छाया में भी बैठकर शीतल हो सकता है? कदापि नहीं। शीतलता तो तब प्राप्त होगी कि जब आत्मज्ञान रूपी वृक्ष की छायामें बैठे। तभी उसे शान्ति मिलती है और तभी वह सुखी होगा। परन्तु जिन पुरुषों ने विषयों का सेवन किया है वे परम आपदा को ही प्राप्त होते हैं। आनन्द का देने वाला तो आत्मपद ही है। वे प्राणी बड़े ही मूर्ख हैं कि जो विषयों की ओर दौड़ रहे हैं। इस मायामय संसार में सुख और शान्ति कदापि नहीं मिल सकती। यह मरुस्थल में नदी के समान ही है कि जिससे प्यास कदापि नहीं बुझती। परन्तु वे ही मूर्ख विषयों की ओर जाते हैं कि जो आत्मपद से च्युत हैं। आत्मेस्थित पुरुष विषयों की चिन्ता नहीं करते। वे उस पत्थर की शिला के समान हैं कि जो नदी की प्रबलधार में भी टससे मस नहीं होता और अज्ञानी उस तृण के समान हैं कि जो नदी की अल्प धारा में भी बह कर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो भोगों की तृष्णा में पड़ा है जानो वह फिर उबर नहीं सकता। जैसे तर्कस और धनुष से निकला हुआ बाण फिर कठिनता से ही लौट सकता है वैसे ही भोगों में डूबा हुआ मनुष्य कठिनता से आत्मपद की ओर लौटता है। उसका अन्तर्मुख होना कठिन ही हो जाता है। परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि जो पदार्थ सुखदायक नहीं हैं उन्हीं की ओर जाने के लिये यह चित्त घोर यत्न करता रहता है और इतना काम करने पर भी उसे पूर्णरूप से पाता नहीं। तब भला वह कितना मूर्ख है कि जो आत्मपद बिना यत्न ही मिल जाता है उसे न प्राप्त करके श्रम से भी न पाने वाले अप्राप्त एक दुःख जनक पदार्थों में यह दौड़ रहा है। जिस शरीर को वह सुखरूप जानता है वह भी सर्व रोगों का मूल है। जो भोग हैं वे ही रोग हैं। जिसको वह सत्य जानता है वह सर्वथा ही असत्य है, रस विरस

है, वन्धु अवन्धु हैं और इस प्रकार यह सारा जगत मिथ्या और दुःखरूप है। जो स्त्री को वह सुख रूप जानता है वह परम दुःख रूप और विषधर सर्पिणी के समान है उसके काटने से वह सर्वथा ही मृतक हो जाता है। स्त्री उसे आत्म लाभ नहीं करने देती। इस कारण हे वशिष्ठजी! मैं उस शरीर को आपदारूप ही जानता हूँ। और यही सत्य भी है। क्योंकि पुत्र और धन आदिक सम्पदायरूप कदापि नहीं हो सकते इनसे दुःख ही दुःख मिलता है और सुख तो नाम मात्र को भी नहीं मिलता। हे वशिष्ठजी! यह कोई सुनी हुई बात मैं नहीं कह रहा हूँ वरन् अपनी आँखों से देखी और अनुभव की हुई वार्ता कहता हूँ। हे मुनीश्वर! मैंने खूब अनुभव कर लिया है कि यह सारा जगत माया मात्र ही है। सार वस्तु देखने के लिये मैं कहां नहीं गया। बड़े से बड़े स्थान मैंने देखे परन्तु मुझे ऐसा एक भी स्थान दिखलाई न पड़ा कि जहां कुछ भी सार होवे। नन्दन आदिक वन भी काष्ठरूप ही हैं। भूतल में वे समस्त पञ्चभूत ही भरे हैं कि जिनके शरीर में रक्त, मांस और हड्डियां तथा मलमूत्र के सिवा और कोई तत्वकी वस्तु नहीं है, वे सर्वथा ही अहङ्कारी और एक मात्र शरीर पोषक ही हैं ऐसे देह विलासियों को धिक्कार है। भला वे इस नश्वर शरीर का अभिमान क्यों करते हैं कि जब यह अंगुलि के जल के समान ही क्षण भर में वह जाता है। भला जिसकी बाल्य युवा और वृद्धावस्था को जाते पलक भर की भी देर नहीं होती उसकी वे क्या आशा करते हैं। वे शरीरको पाकर व्यर्थकी तृष्णा क्यों करते हैं। यह शरीर तो सर्वथा ही जलकर राख हो जायगा, परन्तु तृष्णा को तो जितना ही ग्रहण करे वह उतना ही युवापन धारण करती जाती है। इस कारण तृष्णा को असत्य जानकर ही मैंने इसे त्याग दिया है। मैं इसे सुखरूप कदापि नहीं जानता। सुखरूप तो आत्म पद ही है। मैं उसमें स्थित हूँ। अब मुझे इन्द्रियों का भय कुछ भी नहीं रहा। परन्तु हां, मैंने आपकी यह बड़ी अवज्ञा की है

कि आपके शरीर को उठाकर नीचे डाल दिया है। यह मैंने अच्छा नहीं किया। मैंने अपना विचार त्याग दिया। यदि विचार किये होता तो सम्भवतः मुझसे ऐसी भूल कदापि न होती। सो कृपाकर आप मुझे क्षमा करें।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सरसठवां सर्ग समाप्त ॥६७॥

—०❀०—

अरसठवाँ सर्ग

हे रामजी! जब इस प्रकार मुझसे कहकर वह तपस्वी चुप हो गया तब मैंने उससे कहा—हे साधो! तुम बड़े ही विचारवान् हो। बीती बातों की चिन्ता क्यों करते हो विचारवान पुरुष गई बात की चिन्ता नहीं करते। तुम तो अपनी भूल कहते हो, परन्तु मुझसे भी तो भूल हुई है, मैंने भी तो बिना विचारे ही तुम्हारी कुटी को गिरा दिया है। यदि मैं तनिक भी विचार किये होता तो वह मेरी कुटी कि जिसमें बैठे हुए आनन्द लाभ कर रहे थे कदापि न गिरने पाती क्योंकि वह तो मेरे ही संकल्प में स्थित थी। यदि मैं विचार किये होता तो वह कैसे गिरती। फिर भी जो होना था सो हो गया, उस की चिन्ता त्यागकर अब आत्म की सुधि लीजिये और जहां जाना हो अपने स्थान को जाओ मैं भी अपने लोक को जाता हूँ। हे रामजी! जब मैंने ऐसा कहा तब वह तपस्वी वहां से उठा और मैं भी उसके साथ ही आकाश को उड़ा। चलते २ हम दोनों बहुत ही दूर चले गये और मार्ग में हमने कितने ही लोकालोक के दृश्य देखे कि जिन सबका वर्णन ही असम्भव है। निदान वह अपने लोक को और मैं अपने स्थान को चला आया। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा हे मुनीश्वर! आपका पञ्च भौतिक शरीर तो पृथ्वी पर गिर पड़ा था। फिर आपने किस शरीर से सब यात्रा की। वशिष्ठजी कहने लगे हे रामजी! वह शरीर तो गिर गया था परन्तु

मेरा अन्तवाहक शरीर तो नहीं गिरा था न, उस शरीर से मैंने सब लोकों और सब देवताओं के सब स्थान देख लिये। इस पर यदि तुम यह कहो कि अन्तवाहक शरीर से मैंने उस तपस्वी को कैसे देखा तो इसका उत्तर यह सुनो कि मेरा संकल्प सच्चा था और उससे मैंने जो चाहा सो देख लिया और इसी प्रकार संकल्प की सत्यता से ही उस सिद्ध ने भी मुझे देख लिया था। इस प्रकार हम दोनों के संकल्प सत्य और एक दूसरे के अनुरूप और मिलते जुलते थे कि जिस कारण हम दोनों ने एक दूसरे को देखा। संकल्प की समानता और एकता एक दूसरे को मिला देती है। चाहे कोई कैसा भी तपस्वी क्यों न हो यदि उसका संकल्प इतना बलवान न हो कि वह दूसरे के संकल्पको न जान सके तो उसकी समस्त सिद्धता व्यर्थ है। संकल्प की दृढ़ता ही एक दूसरे को खींचती है। संकल्प से तुम जिसको चाहो उसे अपनी ओर खींच सकते हो, उससे जो चाहो सो काम करा ले सकते हो। हां, संकल्प में उतनी दृढ़ता, उतनी शक्ति और उतनी ही सत्यता तथा उतना अभ्यास होना चाहिये। फिर जिसको चाहो उसको भली भांति अपनी ओर खींच लो। करके देखो, कुछ भी कठिन नहीं है। जिसका संकल्प बली होता है उसी की जय होती है। मेरा संकल्प बलवान था, मेरे ही कुटी में वह स्थित था इस कारण मैंने उसे अपनी ओर खींच लिया। हे रामजी! अन्तवाहकता एवं संकल्प शक्ति में ही सब कुछ स्थित है। जिसको यह अवस्था प्राप्त रहती है उसको ऐसे २ प्रसङ्ग तो क्या हैं बड़े से बड़े प्रसङ्ग भी अल्प होजाते हैं और उसे भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल का ज्ञान बना रहता है। परन्तु जो दिन रात सांसारिक व्यवहारों में ही लगा हुआ है उसको तो नेत्रों के सन्मुख समक्ष वाले वर्तमान पदार्थ ही भासते हैं, इससे वह कुछ नहीं कर सकता परन्तु जो समाधिस्त है वह क्या नहीं कर सकता। मैं तो कुटी में अपना शरीर छोड़कर इधर उधर घूम रहा था कि जिससे मैं समाधि से परांमुख था और मेरी

अवस्था चंचल हो गई थी और वह तपस्वी समाधि में रहकर अपने संकल्पों में ऐसा बलवान होरहा था कि उसने मेरे शरीर को नीचे गिरा दिया। यदि मैं पहले ही के समान अपनी समाधि में लगा रहता तो वह मुझे कैसे गिरा पाता। मेरे संकल्प की निर्बलता ने ही मेरी कुटिया को गिराया। परन्तु मेरा पूर्व का किया हुआ संकल्प इतना बलवान और निर्मल था कि मेरे स्मरण करते ही वह आ गया और जिस रूप में मैंने चाहा उस तपस्वी को देख लिया। हे रामजी! संकल्प शक्ति से क्या नहीं हो सकता। यह जो इन्द्रलोक और कुबेर आदिक देवताओं के स्थान देखे वह सब मेरी अन्तवाहकता के ही गुण थे। मैं सबको ही देखता था और मुझे कोई न देखता था। जैसे स्वप्न में कोई शब्द करे और उसका शब्द किसी जाग्रत वाले को सुनाई नहीं पड़ता और जैसे संकल्प रहित वालों को किसी दूसरे की सृष्टि और उसके व्यवहार का शब्द नहीं जान पड़ता वैसे ही मुझको कोई न जानता था। तब सबसे पहले मैंने पिशाच शरीर धारण करके आकाश विचरण किया और उस अवस्था में मैंने दैत्यों के स्थान देखे, परन्तु मुझे कोई न देख सका। इस पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! पिशाच कैसे होते हैं, पिशाच की कोई जाति होती है और यदि जाति होती है तो उनके क्या कर्म धर्म हैं? वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! पिशाच का कोई आकार—प्रकार नहीं होता फिर भी जैसा रूप धारण करते हैं वैसा सुनो। कोई पिशाच आकाश की नाईं शून्य होते हैं और कोई छायारूप से भय दिखलाते हैं और कोई बादल के समान होते हैं और कोई कौवे के रूपमें भय देते हैं। इसी प्रकार का भिन्न भिन्न रूप धारण करके वे सबको देखते हैं परन्तु उनको कोई नहीं देखता। वे शीत उष्ण से सर्वदा ही दुःखी रहते हैं और काम, क्रोध, लोभ मोह आदिक इच्छाओं से वे सर्वदा ही तपते रहते हैं। ठण्डा पानी और भोजन वे भी चाहते हैं और वे भी

नगरों, वृक्षों और वनों में ही वास करते हैं। कभी वे कुत्ते के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और कभी स्थिर आदि रूप धारण कर लेते हैं। वे किसी २ के मनमें प्रवेश कर जाते हैं और इसी प्रकार वे मन्त्र-तन्त्र और पूजा पाठ से सन्तुष्ट होजाया करते हैं। इनमें भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं। उत्तम जाति वाले देव स्थानों में और मध्यम मनुष्यों में तथा नीच जाति वाले नरक स्थल में वास किया करते हैं। इनकी भी उत्पत्ति उसी अचैत्य शुद्ध चिन्मात्र से होती है। हे रामजी! वह अपना आप शुद्ध और कल्प वृक्ष के समान ही चैतन्य और वर दाता हैं। उससे जैसी इच्छा एवं वासना की जाये वैसा प्राप्त होता है। उसमें न तो कहीं पिशाच हैं, न कहीं जगत है। ब्रह्मसत्ता ही स्वतः अपने आपमें स्थित है। उसी आत्म-तत्व में जो किंचन हुआ है उसी 'अहं' को जीव कहते हैं। फिर उसी 'अहं' अर्थात् जीव की दृढ़ता से मन हुआ जो कि ब्रह्मारूप से स्थित हो रहा है। उसी ब्रह्मा ने मनोराज से जगत को उत्पन्न किया है और वही ब्रह्मा जगतरूप से स्थित हुआ है। अतः ब्रह्म में ब्रह्म ही स्थित है। उस ब्रह्माका शरीर अन्तवाहक और केवल आकाश रूप है। उसी की संकल्प दृढ़ता से यह आधिभौतिक जगत दृढ़ हुआ है परन्तु यह सब कुछ मनरूप और दीर्घकाल के स्वप्नवत ही है। जाग्रत है इसी कारण इतना दृढ़ भास रहा है। हे रामजी! इस ब्रह्मरूपी शरीर में जो संकल्प का अहंकार हुआ है इसीसे यह जगत और आधिभौतिकता भास रही है। परन्तु कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, सब संकल्परूप ही है। न मैं हूँ, न तुम हो, न जगत है-- सब कुछ ब्रह्मही है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं है, वायु और उसकी गमनतामें कुछ भेद नहीं है, वैसेही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं है। ब्रह्म और जगत दोनोंही कुछ उपजे नहीं है। दोनोंही ब्रह्म तो भिन्नता भ्रान्ति से भासित होरहे हैं। पञ्चभूत और मन इन्हीं छहों को जगत कहा जाता है। इनमें जो चैतन्य भास रहा है उसी

का नाम परमपद है। हे रामजी ! जब तुम आत्मपद में जागृत होवोगे, तब पञ्चभूत ही भासित होगा और जब आत्मपद को जानोगे तब पञ्चभूत भी आत्मा से भिन्न ही भासित होगा। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही है। आत्मप्रमाद से ही संसार भासित होरहा है। जब तक आत्मा में प्रमाद है तब तक संसार का भ्रम कदापि नहीं मिटता। परन्तु यह निराकार जगत संकल्प मात्र ही है। संकल्प की दृढ़ता से ही आकाश में स्थूलता दृष्टि आ रही है। ज्ञान अज्ञान किसी काल में भी जगत कुछ है नहीं परन्तु अज्ञानी को दृढ़ भास रहा है। जैसे मनोराज का रचा हुआ जगत उसी के हृदय में बसा है अन्य के नहीं वैसे ही जो अज्ञान की निद्रा में सोया है उसीके हृदय में यह जगत भासता है, ज्ञानी के नहीं। ज्ञानी के लिये तो यह सारा जगत आकाश रूप ही है। हे रामजी ! इस पर तुम कह सकते हो कि जब संकल्प बन्धन रूप ही है तब चाहे कोई अन्तवाहक रहे या तपस्वी सबके लिये ही वह दुःखकर है ? परन्तु यह प्रसङ्ग ऐसे नहीं है। सबका संकल्प दुःख-दायी नहीं होता। उन्हीं का संकल्प दुःखदायक होता है कि जो स्वरूप से गिरे हुए हैं। परन्तु जो स्वरूप से नहीं गिरे हैं, विचारवान हैं, ज्ञानी हैं उनको संकल्प दुःखजनक नहीं होता। ऐसा होता तो ब्रह्मा भी बन्धन में पड़ जाता क्योंकि उसने संकल्पवश सृष्टि की रचना की है। पर नहीं, ब्रह्मा अपने स्वरूप में जागृत है, इस कारण उसे कोई बन्धन नहीं होता। अन्ततः स्वरूप ही तो अहं प्रत्यय से संकल्परूप हुआ है। अन्यथा आत्मा में न जगत है न जगत का आदि, मध्य और अन्त ही कुछ है। सब होना न होना अपने आप आत्मसत्ता ही में स्थित है। तब जब कि सब कुछ सर्वात्मा ही है तो रागद्वेष भी किसको होगा ? सब कुछ अपना आप ही तो है। उसीके संवेदन, उसीकी किंचनता से यह जगत स्फुरित हुआ है। हे रामजी ! यह सारा जगत उस ब्रह्म का संकल्प मात्र ही है कि जिसमें यह सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, रुद्र, और मेरु आदि भास रहे हैं। संकल्प

की दृढ़ता से अपनी आधिभौतिकता दृढ़ हुई । परन्तु यह सब कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, भ्रान्ति से ही भास रहा है। जैसे जल में फेन और बुदबुदे कुछ भिन्न नहीं हैं सब जलरूप ही है, वैसे ही यह सारा जगत आत्मरूप ही है इसमें कुछ भिन्नता नहीं है। जैसे स्वप्न सृष्टि बिना कारण ही होती है वैसे ही यह जगत भी बिना कारण ही संकल्पवश उत्पन्न हो गया है। तब ब्रह्मा से लेकर कीट पतङ्ग आदिक यह जो कुछ जगत जैसे संकल्पवश उत्पन्न हुआ है ऐसे ही यह पिशाच भी उत्पन्न हो गये हैं, इसके अतिरिक्त पिशाचों की उत्पत्ति का और कोई कारण अथवा और कोई तथ्य नहीं है। आत्मा में जैसी किंचनता होती है वैसा ही भासता है। परन्तु उसमें पृथ्वी आदिक तत्वों की कोई भी वातविकता नहीं है और यह ब्रह्मा आदिक जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है, सब कुछ भ्रम मात्र ही है। परन्तु हे रामजी! यह जितने भी शरीरधारी हैं सब शरीर रहित ही हैं, अन्तवाहक शरीर सभी को प्राप्त है जैसे ब्रह्माजी अन्तवाहक हैं वैसे ही उनसे उत्पन्न होने वाले जितने भी मनुष्य हैं सब अन्तवाहक ही हैं परन्तु संकल्प की दृढ़ता ने ही इनमें आधिभौतिकता दृढ़ कर दी है। और इस प्रकार सभी जीवों का संकल्प भिन्न २ और अपने आप ही में स्थित है। जिसका जैसा संकल्प होता है उसको वैसी सृष्टि प्राप्त होती है। इस पर यदि तुम यह कहो कि जब सब की सृष्टि अलग २ है तो सब जीव इकट्ठे ही क्यों दृष्टि आते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक नगरवासी किसी दूसरे के नगर में जाकर उसके पास बैठे तो वह दोनों ही एकत्र स्थान में ही कहलायेंगे वैसे ही यह जीव इकट्ठा ही भासते हैं। परन्तु वे एकत्र रहकर भी अपनी २ सृष्टि को नहीं जानते क्योंकि उनकी वासना मलिन है, उनका संकल्प भ्रमपूर्ण है, निर्मल और सत्य नहीं है। वे अपनी अन्तवाहकता को भूले हुए हैं, उनको आधिभौतिक दृढ़ हो रहा है, फिर वे एक दूसरे की सृष्टि को कैसे जान सकते हैं। जिसको

जैसे अनुभव का अभ्यास होता है उसको वैसा ही भासता है। इसी प्रकार पिशाच योनि जो है वह अन्धकार पूर्ण है और इसी से वे अन्धकारों में ही प्रकट होते हैं। चाहे मध्याह्न ही क्यों न होवे। यदि सूर्य की उस प्रखरता के आगे पिशाच आकर खड़ा हो जावे तो वहां अन्धकार ही हो जाता है। पिशाच ऐसे ही तमरूप होते हैं। जैसे उल्लू को सूर्य प्रकाश में भी नहीं दिखलाई पड़ता वैसे ही पिशाच को भी प्रकाश में नहीं दिखलाई पड़ता। क्योंकि पिशाच सर्वथा ही तम-रूप हैं उनको सर्वथा अन्धकार ही दिखलाई पड़ता है। कारण कि उनका ओज तमरूप ही है। हे रामजी! जिसको जैसा निश्चय होता है उसको वैसा ही भासता है। परन्तु हमें तो सर्वथा आत्मा का ही निश्चय रहता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अड़सठवां सर्ग समाप्त ॥६८॥

—o❀o—

उनहत्तरवाँ सर्ग

भीतरी बातें

हे रामजी! इसी प्रकार अन्तवाहक शरीर धारण कर मैं समस्त लोकालोक में विचर कर सबको देखता रहा, परन्तु मुझे कोई न देख पाता था। मैंने सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, , कुबेर, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषि, मुनि, ब्रह्मा और विष्णु तथा रुद्र आदि सबको देखा परन्तु वे लोग मुझे किसी प्रकार भी न देख सके। एक बार तो मैंने जाकर इन्द्र का शरीर पकड़ कर जोर से हिलाया भी परन्तु वह मुझे न देख सका। तब कुछ दिन के पश्चात् मुझे इस बात का प्रबल मोह उत्पन्न हुआ कि यहां तो मैं इतने काल तक रहा भी परन्तु कोई मुझे न जान सका अर्थात् मेरा किसी से परोक्ष-परिचय नहीं हुआ। तब उस हेतु से मैंने यह इच्छा की कि सब मुझे देखें। मैं शिव संकल्प था, इससे मुझे सब देखने लगे। आकाश, पाताल और मृत्युलोक में भी मुझे

सब जान गये। जहां-जहां मैंने संकल्प किया वहां-वहां मैं प्रकट रूप से सबको दिखाई पड़ने लगा। परन्तु मुझे फिर भी अपना स्वरूप ही ज्ञात हुआ। हे रामजी! मेरा यह वशिष्ठ नाम ऐसा ही है कि जैसे जेवरी में सर्प भासित होवे—ऐसा ही मैं ब्रह्मरूप ही हूं। अन्य लोग मुझे भले ही वशिष्ठमुनि जानें और तुम भी उन्हीं आधिभौतिक वालों की तरह मुझे वैसे ही आकार वाले वशिष्ठ समझो परन्तु मेरे लिये आधिभौतिक और अन्तवाहक दोनों शरीर चिदाकाश की किंचनता ही भासते हैं। मैं सर्वदा ही निराकार और अद्वैतरूप ही हूँ। हमारी और तुम्हारी चेष्टा में कुछ भी अन्तर नहीं है परन्तु मुझे सर्वदा आत्मपद का ही निश्चय रहता है और इसी कारण से मैं जीवन्मुक्त होकर विचरता हूँ। किन्तु अज्ञानी को क्रिया में द्वैत का भान होता है और हमको अपनी क्रिया में अद्वैत ही भासता है और इस प्रकार हमें ब्रह्मा भी अद्वैत रूप भासता है और उसका जगत भी अद्वैत रूप ही है। जैसे समुद्र और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं है। मैं चिदाकाश हूँ और मुझमें फुरना कुछ नहीं है। फुरना होने से ही जगत भासता है। ब्रह्मा और उसका जगत् संकल्प की दृढ़ता से ही ऐसा आधिभौतिक भास रहा है अन्यथा न तो कोई ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है और न कोई जगत ही उत्पन्न हुआ है। सब कुछ चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है जो सर्वदा एक रस रहने वाला है। सृष्टि की आदिम अवस्था से लेकर कल्प पर्यन्त जितने भी क्षोभ होते हैं वे सब आत्मा में कुछ हैं नहीं। वह सर्वदा ही एक रस रहने वाला अन उपजा ही अज्ञान से भासित हो रहा है। जब आत्म-ज्ञान होता है तब न तो जगत रहता है न जगत बुद्धि ही रहती है, तब सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म भासता है। किन्तु अज्ञानी को तो कारण सहित जगत ही भासता है। यह महारामायण शास्त्र अज्ञान को दूर करने वाला है, इसके पढ़ने

सुनने और विचार करने से अज्ञान का सर्वथा ही नाश हो जाता है अतः यह संसार अविद्या और वासना से ही भास रहा है। इसकी ओर दौड़ना वृथा है। इसकी ओर दौड़ने वाला महा प्रमादी, मूर्ख, और बन्दर के ही समान चंचल है। भोगों की इच्छा करनी नीचता और पशुता है। भोगों में जो गिरा वह अपने जीवन में कदापि नहीं सँभल सकता। तृणवान को वैराग्यावस्था नहीं प्राप्त होती। यद्यपि भोग को ज्ञानी भी भोगते हैं परन्तु भोग दृष्टि से नहीं ज्ञान दृष्टि से। प्रवाह-पतित जो कुछ प्रारब्ध वेग से प्राप्त हो जाता है उसी को वे भोगते हैं। उनकी भोग-इन्द्रियां उसमें कदापि नहीं डूबतीं। वे भोगों को इन्द्रियों से भ्रान्ति मात्र ही जानते हैं। परन्तु अज्ञानी उसी में लिप्त हो जाते हैं, उसी की तृष्णा में जन्मते मरते हैं और इस प्रकार उनको सर्वदा भोगों का ही बन्धन पड़ा रहता है। किन्तु ज्ञानी सर्वदा आत्मा में ही तृप्त रहता है। उसमें पहुंचकर सारे पदार्थ आप ही आप शीतल और शान्त हो जाते हैं, उसे आत्मानन्द की प्राप्ति रहती है और दुःख कोई नहीं रहता। परन्तु जो स्त्री, पुत्र और धन में आसक्त है, जो बारम्बार एक न एक नाना प्रकार की इच्छा को ही उठाता रहता है वह महान् मूर्ख और महान् नीच है, ऐसों को मेरा बारम्बार धिक्कार है। आत्मपद के जिज्ञासु को चाहिये कि वह शास्त्रों का विचार अभ्यास करता रहे। तभी आत्मपद प्राप्त होता है परन्तु विना इस महारामायण शास्त्र के विचार किये और कितने भी शास्त्रों को क्यों न विचार डाले-परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस शास्त्र में वे ही उपदेश किये गये हैं कि जिन पर आचरण करके परमपद प्राप्त हो जाता है। जो इस शास्त्र को त्यागकर अन्य ओर लगते हैं वे मूर्ख हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥६९॥

—o::*::o—

सत्तरवां सर्ग

जीवन्मुक्त-गणना

वाल्मीकिजी कहते हैं—हे भरद्वाज ! जव इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तव सायंकाल का समय हो गया था, इससे समस्त श्रोता एक दूसरे को दण्ड-प्रणाम करते हुए सन्ध्या वन्दनादिक के लिये यथा स्थान जाने लगे । तव वशिष्ठजी ने भी अपना उपदेश वहीं स्थगित कर दिया और दूसरे दिन सूर्य के उदय होते ही जव फिर समस्त श्रोताजन आकर यथा स्थान वैठ गये तव वशिष्ठजी रामजी से बोले—हे रामजी ! कल जो तुमको मैंने भीतरी वातें वतलाई हैं उनके विचार से जगत् का भ्रम अवश्य ही नष्ट हो जाता है । हे रामजी ! यह जगत् आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । अधिष्ठान में जो चित्त का स्फुरण हुआ है वही जगत् होकर भासित हो रहा है । किन्तु ज्ञानी को सदैव आत्मसत्ता ही भासती है । हे रामजी ! मैं तुम और यह जगत् जो कुछ है सव आत्मसत्ता ही है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । अपना अनुभव ही स्वप्न-सृष्टि हो रहा है । उस अनुभूत आत्मा में ही नाना प्रकार के विकार दृष्टि आ रहे हैं फिर भी आत्मा अखण्डरूप ही है । इससे आत्मा और जगत में कुछ भी भेद नहीं है । जैसे सुवर्ण और भूषण में कुछ भेद नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत में कुछ भेद नहीं । ब्रह्म ही चेतनावश जगतरूप होकर भास रहा है । जैसे स्वप्न में अपने ही अनुभव से वहुत कुछ वृथा ही भासता है जो अनुभव से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है और जैसे समुद्र और तरङ्ग में कुछ अन्तर नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं है । असम्यक दृष्टि से ही यह भास रहा है, सम्यक दृष्टि प्राप्त हो जाने तो कुछ भी अन्तर नहीं भासता । ब्रह्मसत्ता में पहले जो किंचनता हुई है, वही ब्रह्मा हुआ और वह चिदाकाश ही हुआ,

अपने आपमें ही स्थित है। उसी ब्रह्मा ने जगत् की रचना की है। इस कारण यह जगत् भी ब्रह्मा के ही समान आकाशरूप ही है। उसमें जगत का उपजना आदिक स्वप्न के ही समान है। वह परमार्थ सत्ता सर्वदा अपने ही आप में स्थित है। वही जगतका स्वरूप है और वही शुद्ध, अनन्त अविनाशी, अचैत्य और चिन्मात्र पद भी कहा जाता है। मैं वैसाही शुद्ध और चिदाकाश रूप हूँ। मुझ में कोई आकार-प्रकार नहीं है और न तो कोई मेरा साथी है, न मैं कभी उत्पन्न हुआ हूँ और न कभी मरूँगा। मैं नित्य, शुद्ध, अजर अमर और अविनाशी अपने स्वभावसत्ता में ही सर्वदा से स्थित हूँ। चाहे कितने ही विकार क्यों न उत्पन्न होवें परन्तु मैं सर्वदा ही एक रस रहने वाला हूँ। जैसे स्वप्नकाल में चाहे कितना भी क्षोभ क्यों न उत्पन्न होवे परन्तु जाग्रत के लिये सब कुछ आभा मात्र ही होता है, वैसे ही इस जगत की उत्पत्ति और प्रलय आदिक जितने भी क्षोभ होरहे हैं सब आभास मात्र ही हैं, आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में ही स्थित रहने वाली है, उसे कुछ भी स्पर्श नहीं करते। जो ऐसी अनुभवरूप सत्ता को नहीं पहचानता वह महा मूर्ख है। आत्म हत्यारा है। निश्चय ही वह महान् आपदा के समुद्र में डूब जावेगा। परन्तु जिसने अपने स्वरूप को पहचान लिया है उसको मानसिक दुःख कदापि स्पर्श नहीं कर सकते। जैसे पर्वत को चूहा नहीं चूर्ण कर सकता वैसे ही उसको दुःख स्पर्श नहीं कर सकते। किन्तु जो आत्मपद से अनभिज्ञ है उसको शान्ति कदापि नहीं मिल सकती। क्योंकि उसने अपने स्वरूप को त्याग दिया है, देहाभिमानी है। देहाभिमानी कभी स्थिर नहीं हो सकता। परन्तु जिसे देह का अभिमान नहीं है वह उस चिन्तामणि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है कि जिसके पा जाने से सर्व दुःखों का शमन हो जाता है। किन्तु अनात्माभिमानी तो ऐसा दुःखी होता है कि उसे फिर उसका शरीर ही विकारवान जान पड़ता है

और वह सर्वदा ही आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। परन्तु जिसने अभिमान को त्याग दिया है, जो आत्मा को ही एक करके मानता है अथवा जो एक मात्र उपासक है वह न तो जन्म लेता है और न कभी मरता है। उसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु उड़ा नहीं सकता, जल डुबा नहीं सकता और इस प्रकार वह सर्वदा ही निर्विकार अविनाशी और चिदाकाश स्वरूप ही है। हे रामजी! देह के नाश होते हुए आत्मा का नाश नहीं होता, शरीर के कटने और दग्ध होने से आत्मा न तो कटता है और न भस्म होता है। वह शुद्ध, नित्य, अच्युत और अनन्त रूप है। स्वरूप से वह किसी अन्य भाव को नहीं प्राप्त हुआ। मैं वही अहं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझमें न कोई जन्म है, न मरण है। मुझ में सुख, हर्ष, शोक और जीने मरने की इच्छा कुछ भी नहीं है। रस्सी में सर्प और सुवर्ण में भूषण के समान ही आत्मा में मेरा वशिष्ठ नाम कल्पित है। परन्तु मैं देश कालसे परे नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वरूप आत्मा और अनन्त हूँ। पर यह मैं अपने ही लिये अथवा मेरे ही जैसे और जो भी आत्मतत्व वेत्ता होवें—उन्हीं के लिये कहता हूँ, अन्य तो सभी संसार रूपी खाई में गिरे हुए हैं। उनका जीवन व्यर्थ है। कथन मात्र के लिये वे भले ही चैतन्य बनें परन्तु वे पत्थर की शिला के ही समान जड़ हैं। जैसे लुहार की धौंकनी से वायु निकलती है वैसेही उनका जीना व्यर्थ है। वे घटीयन्त्र की नाईं वासना में ही भटकते रहते हैं और उन्हें आत्मानन्द का दर्शन कदापि नहीं होता, वे सर्वदा ही तपते रहते हैं। परन्तु जो आत्मपद में स्थित हैं उनको दुःख का तनिक भी लेश नहीं होता और वे कदाचित् भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होते। उनके लिये सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही होता है। जैसे तृण पर्वत को चलायमान नहीं कर सकता वैसे ही उनको दुःख तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। दुःख तो तब होवे जब आत्मा से कुछ भिन्न भासे। आत्मा से कुछ भी भिन्न नहीं है।

सारा जगत आत्मानुभवरूप ही है, सब कुछ परमात्मा का ही स्वरूप है जैसे स्वप्न की समस्त वस्तुयें अनुभव स्वरूप ही हैं वैसे ही यह नाना प्रकार का जगत आत्मामें अनुभवरूप भ्रमसे ही उदय हुआ है। सर्वमें आत्मसत्ता ही भासित हो रही है। उस अधिष्ठान सत्तामें जैसा२ निश्चय होता है वैसा भासता है। हे रामजी! एक कार्वाक मतावलम्बी हैं कि जो तत्वों से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं और बौद्ध मतवाले बोध से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं और कहते हैं कि बोध के अभाव होने से ही सृष्टि का अभाव हो जाता है परन्तु जो ज्ञानवान ब्रह्म समुदाय हैं वह सर्व में एक ब्रह्मसत्ता को ही स्थित देखते हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह सत्ता एक ही है, उसमें जैसा जो निश्चय करता है उसे वैसाही भासित होता है। चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में जो भावना की जाती है वह वैसे ही सफलता देता है। इस प्रकार आत्मसत्ता में जैसी भावना की जाती है वैसाही रूप भासित होता है। किन्तु पण्डितों का यही कथन है कि आत्मसत्ता ही सर्व का सारभूत और साक्षी है। उसमें जब लगकर दृढ़ अभ्यास किया जाता है तब वह आत्मसत्ता ही भासने लगती है, परन्तु करना यह चाहिये कि जब वह भासने लगे तब निश्चय से कदापि भी विचलित न होवे।

वशिष्ठजी के इतना कह चुकने पर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर! कृपाकर यह बतलाइये कि इस भूतल और आकाश, पाताल में भी ऐसा कौनसा विचारवान है कि जिसे पूर्वापरका ज्ञान रहता हैं और यदि किसी को ऐसा ज्ञान है तो उसने आत्मस्वरूप का निश्चय कैसे किया है? वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह सारा जगत इन्द्रियजन्य विषयों की तृष्णा में ही जल रहा है। कभी इष्टकी प्राप्ति में हर्ष करता है तो कभी अनिष्ट को पाकर शोकान्वित होता है। ऐसा कोई कदाचित ही है कि जो इस जगत में सूर्य के समान प्रकाश करता है अन्यथा सब तृण के समान ही भोगरूपी वायु में भटक

रहे हैं। किसको श्रेष्ठ कहें। जो श्रेष्ठ हैं वे भी तो विषयरूपी अग्नि में जल रहे हैं। यह मृत्युलोक तो दुःखका ही स्थान है, देवलोक के देवता भी तो सर्वदा ही भोगरूपी अपवित्र स्थानों में अपने आप को प्रसन्न मानते हैं, इससे मैं तो उनको भी यव का कीट ही समझता हूँ। फिर वेचारे गन्धर्व भी मूढ़ हैं। उन तक तो आत्मपद की गन्ध भी नहीं पहुँचती और वेचारे दिन रात रागमें ही उन्मत्त वने रहते हैं। इसी प्रकार विद्याधर भी मूर्ख ही हैं कि जो वेदों के अर्थ रूपी चातुर्य को भी अग्नि में ही जला देते हैं और इस प्रकार उन्हें वेदोंके सारभूत अमृत का भी नहीं ध्यान रहता, इससे वे भी आत्मपदसे वंचित ही रहते हैं। सिद्धोंका भी क्या कहना है। मेरे विचार से तो वे पक्षी ही हैं कि जो इधर उधर उड़ते फिरते हैं और अपने वास्तवरूप में स्थित नहीं रहते। यक्षों को धन का ही अभिमान रहता है। इससे वे भी आत्मपदको नहीं पाते और दिन रात उसी धनकी ही चिन्ता में पड़े रहते हैं और आत्मपदको नहीं पाते । योगनियां मदसे उन्मत्त रहती हैं। दैत्यों का सर्वदा ही देवताओं से युद्ध करने का ही ध्यान रहता है और इस प्रकार उन्हें भी आत्मलाभ नहीं होता। पाताल में नागों का वास है, वे जलमें भी रहते हैं। उनके पास एक से एक सुन्दर नागिनियां पड़ी रहती हैं कि जिनके काम पाशमें वँधे रहकर वे आत्मानन्द से सर्वथा ही वंचित रहते हैं। इस प्रकार जितने भी भूत-प्राणी हैं सब विषयों के ही सुखमें लगे हुये हैं और किसीको भी आत्मपद नहीं प्राप्त होता। परन्तु, हाँ, इन सब जातियों में कोई कोई ज्ञानी और जीवन्मुक्त पदमें भी स्थित रहता है, ऐसा नहीं है कि वीजका ही नाश होवे। नहीं, देवताओं में ब्रह्म विष्णु और महेश सर्वदा आत्मानन्द में ही स्थित रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, कुवेर, शुक्र, वृहस्पति नारद और कच आदि जीवन्मुक्त हैं। फिर सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन और दक्ष तथा सप्तर्षि आदि ये भी जीवन्मुक्त हैं।

फिर सिद्धोंमें कपिलमुनि और यक्षोंमें विद्याधर, दैत्योंमें हिरण्यकशिपु प्रह्लाद, बलि, विभीषण, इन्द्रजीत, चित्रासुर, स्वरमेय और नमुचि आदि भी जीवन्मुक्त हैं। इसी प्रकार मनुष्योंमें राजर्षि जनक और ब्रह्मर्षियों में तथा नागों में शेष नाग और वासुक जीवन्मुक्त हैं। बस यही सब जातियों में इनेगिने नाम जीवन्मुक्त और आत्मपद में स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं, शेष सारा जगत और अन्य स्थानों में भी जहां जहां मैंने देखा है कोई विरला ही ज्ञानी दिखलाई पड़ता है। सर्वत्र अज्ञानी ही भरे पड़े हैं। हे रामजी! उपरोक्त नामोंको छोड़कर मैंने और कोई ऐसा नहीं देखा कि जो कोई शूरमा हो। शूरमा तो वह है कि जो आत्मपद में स्थित हुआ हो। वही संसार को सुगमता से पार कर सकता है, दूसरा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७०॥

इकहत्तरवां सर्ग

हे रामजी! जो पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो गये हैं उनको राग-द्वेष और काम, क्रोध तथा मोह, मद और अभिमान आदिक दोष बाधक नहीं होते उनका हृदय सर्वदा ही शुभ गुणों से ओत प्रोत रहता है, बोध के उदय होने से उनके हृदय से आज्ञानान्धकार वैसे ही दूर हुआ रहता है कि जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार दूर हो जाता है विवेक के उदय होने पर समस्त विकार आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। विवेकी पुरुष किसी पर क्रोध नहीं करते। उनका हृदय सर्वदा ही शीतल और दया आदिक शुभ गुणों से भरा रहता है। उनके जो निकट जाता है वह भी शान्तिमान होता है। उनसे कोई भी पुरुष उद्वेगित नहीं होता उनके निकट जो कोई जाता है तो वे उसका अर्थ अवश्यही पूर्ण करते हैं। उनकी चेष्टायें शास्त्रानुकूल होती हैं और वे विधि निषेध को भासते हुये वैसाही आचरण करते हैं। उनके हृदय में किसी पदार्थ की भावना

रहे हैं। किसको श्रेष्ठ कहें। जो श्रेष्ठ हैं वे भी तो विषयरूपी अग्नि में जल रहे हैं। यह मृत्युलोक तो दुःखका ही स्थान है, देवलोक के देवता भी तो सर्वदा ही भोगरूपी अपवित्र स्थानों में अपने आप को प्रसन्न मानते हैं, इससे मैं तो उनको भी यव का कीट ही समझता हूं। फिर बेचारे गन्धर्व भी मूढ़ हैं। उन तक तो आत्मपद की गन्ध भी नहीं पहुँचती और बेचारे दिन रात रागमें ही उन्मत्त बने रहते हैं। इसी प्रकार विद्याधर भी मूर्ख ही हैं कि जो वेदों के अर्थ रूपी चातुर्य को भी अग्नि में ही जला देते हैं और इस प्रकार उन्हें वेदोंके सारभूत अमृत का भी नहीं ध्यान रहता, इससे वे भी आत्मपदसे वंचित ही रहते हैं। सिद्धोंका भी क्या कहना है। मेरे विचार से तो वे पक्षी ही हैं कि जो इधर उधर उड़ते फिरते हैं और अपने वास्तवरूप में स्थित नहीं रहते। यक्षों को धन का ही अभिमान रहता है। इससे वे भी आत्मपदको नहीं पाते और दिन रात उसी धनकी ही चिन्ता में पड़े रहते हैं और आत्मपदको नहीं पाते। योगनियां मदसे उन्मत्त रहती हैं। दैत्यों का सर्वदा ही देवताओं से युद्ध करने का ही ध्यान रहता है और इस प्रकार उन्हें भी आत्मलाभ नहीं होता। पाताल में नागों का बास है, वे जलमें भी रहते हैं। उनके पास एक से एक सुन्दर नागिनियां पड़ी रहती हैं कि जिनके काम पाशमें बँधे रहकर वे आत्मानन्द से सर्वथा ही वंचित रहते हैं। इस प्रकार जितने भी भूत-प्राणी हैं सब विषयों के ही सुखमें लगे हुये हैं और किसीको भी आत्मपद नहीं प्राप्त होता। परन्तु हाँ, इन सब जातियों में कोई कोई ज्ञानी और जीवन्मुक्त पदमें भी स्थित रहता है, ऐसा नहीं है कि बीजका ही नाश होवे। नहीं, देवताओं में ब्रह्म विष्णु और महेश सर्वदा आत्मानन्द में ही स्थित रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, कुबेर, शुक्र, वृहस्पति नारद और कच आदि जीवन्मुक्त हैं। फिर सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन और दक्ष तथा सप्तर्षि आदि ये भी जीवन्मुक्त हैं।

फिर सिद्धोंमें कपिलमुनि और यक्षोंमें विद्याधर, दैत्योंमें हिरण्यकशिपु प्रह्लाद, बलि, विभीषण, इन्द्रजीत, चित्रासुर, स्वरमेय और नमुत्रि आदि भी जीवन्मुक्त हैं। इसी प्रकार मनुष्योंमें राजर्षि जनक और ब्रह्मर्षियों में तथा नागों में शेष नाग और वासुक जीवन्मुक्त हैं। बस यही सब जातियों में इनेगिने नाम जीवन्मुक्त और आत्मपद में स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं, शेष सारा जगत और अन्य स्थानों में भी जहां जहां मैंने देखा है कोई विरला ही ज्ञानी दिखलाई पड़ता है। सर्वत्र अज्ञानी ही भरे पड़े हैं। हे रामजी ! उपरोक्त नामोंको छोड़कर मैंने और कोई ऐसा नहीं देखा कि जो कोई शूरमा हो। शूरमा तो वह है कि जो आत्मपद में स्थित हुआ हो। वही संसार को सुगमता से पार कर सकता है, दूसरा नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७०॥

——०::❀::०——

इकहत्तरवां सर्ग

हे रामजी ! जो पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो गये हैं उनको राग-द्वेष और काम, क्रोध तथा मोह, मद और अभिमान आदिक दोष बाधक नहीं होते उनका हृदय सर्वदा ही शुभ गुणों से ओत प्रोत रहता है, बोध के उदय होने से उनके हृदय से आज्ञानान्धकार वैसे ही दूर हुआ रहता है कि जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार दूर हो जाता है विवेक के उदय होने पर समस्त विकार आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। विवेकी पुरुष किसी पर क्रोध नहीं करते। उनका हृदय सर्वदा ही शीतल और दया आदिक शुभ गुणों से भरा रहता है। उनके जो निकट जाता है वह भी शान्तिमान होता है। उनसे कोई भी पुरुष उद्वेगित नहीं होता उनके निकट जो कोई जाता है तो वे उसका अर्थ अवश्यही पूर्ण करते हैं। उनकी चेष्टायें शास्त्रानुकूल होती हैं और वे विधि निषेध को भासते हुये वैसाही आचरण करते हैं। उनके हृदय में किसी पदार्थ की भावना

नहीं होती और वे जो कुछ प्रारब्धवेग से पा जाते हैं उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी दान—स्नान आदिक समस्त शुभ—क्रियायें स्वाभाविक ही होती हैं। और इसी प्रकार उनमें उदारता, वैराग्य, धैर्य और शम, दम आदिक गुण स्वभावतः ही विद्यमान होजाते हैं जो उन्हें इसलोक में भी सुख देते हैं और परलोक में सुखी बनाते हैं। ऐसे सन्त सहजही में संसार सागर को पार कर जाते हैं। जो ऐसे सन्तों की शरण जाता है वह तर जाता है। इस जगत-सागर से पार करने वाले सन्तजनही केवट हैं। इस जगत की प्रचण्ड लहरों से बचाने के लिये सन्तजन ही पर्वत हैं। वे अपनी रक्षा करते हुये दूसरों को भी संसार रूपी गढ़े में गिरने से बचा लेते हैं। चाहे उनका शरीर ही क्यों न जलने लगे अथवा उनका नगर भी क्यों न जलकर भस्म होजाय परन्तु वे स्वरूप से कदापि विचलित नहीं होते वैसेही वे भी चलायमान नहीं होते। हे रामजी! यह जो स्नान, दान, मैंने तुमसे कहा है इसके करने से जीव सुखी होता है और दुःख नष्ट होजाते हैं। जब मनुष्य स्नान दानकी ओर आता है तब उसे सन्तोंका साथ प्राप्त होता है और तभी सत्सङ्गतिमें उसका चित्त भी लगता है। तब क्रम पूर्वक उसे परमपदकी प्राप्ति होजाती है। फिर सन्तजन जैसा उपदेश करें उसीके अनुसार आचरण करने से, वैसा अभ्यास करने से मनुष्यको पाने योग्य वस्तु प्राप्त होजाती है। तब उस प्रकार से सत्सङ्गति करते हुये वह भी सन्त हो जाता है। हे रामजी! सन्तोंका साथ करना व्यर्थ नहीं जाता। जैसे अग्निसे मिला हुआ पदार्थ अग्निरूप होजाता है वैसेही सन्तोंके सङ्गसे असन्त भी सन्त होजाते है। परन्तु मूर्खोंकी सङ्गतिसे संत पुरुष भी मूर्ख हो जाता है। जैसे उज्ज्वल वस्त्र मैले के साथ मैला हो जाता है वैसेही मूर्खका साथ करने से साधु पुरुष भी मूर्ख हो जाता है। इससे चाहे जिस प्रकार होसके मूर्खों का साथ शीघ्र ही त्याग देवे, तभी कल्याण होता है! साधु पुरुषों में छिद्रान्वेषण कदापि न करना

चाहिये। उनमें गुणों को ही देखना चाहिये। जैसे भँवरा केतकी के कांटों की ओर न देखकर उसकी सुगन्धि की ही ओर जाता है वैसे ही जिज्ञासु को सन्तों के शुभ गुणों की ही ओर जाना चाहिये और उनके अवगुणों की ओर ध्यान भी न देवे। सन्तजन ही संसार सागर से पार करते हैं। उन्हीं की सङ्गति से संसार भ्रम नष्ट होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का इकहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७१॥

—०:֍:०—

बहत्तरवाँ सर्ग

परमार्थ-स्वरूप-वर्णन

वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर रामजी ने पूछा हे भगवन् ! हम मनुष्यों के दुःख तो स्नान, दान, और सतसङ्ग से दूर हो जाते हैं परन्तु उन जीवों का दुःख कैसे दूर होता है कि, जो कीट पतङ्ग, और पशु, पक्षी आदिक योनियों में पड़े हुये हैं। वशिष्ठजी ने कहा हे रामजी ! वास्तविक सत्ता का ही नाम ब्रह्म है। वह ब्रह्म अखण्ड और अद्वैत है। उसमें कुछ द्वैत का विभाग नहीं है। वह किंचनता के फुरने से ही नानात्व भासित हो रहा है परन्तु उसमें कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्न काल की सृष्टि में कुछ सत्यता नहीं होती और वह निद्रादोष से ही भासित होती है, वैसे ही जाग्रत-सृष्टि में भी कुछ सत्यता नहीं होती और वह जीवों की अज्ञानतावश ही उन्हें सत्य भासित हो रही है। परन्तु सब कुछ ब्रह्म रूप ही है स्वरूप के प्रमाद से ही उसने जीवत्व भाव का अङ्गीकार कर लिया है, वैसा अङ्गीकार करके उसने जैसा निश्चय किया है वैसी ही गतिको पाया है। उस अनुभव सत्ता में जिसने जैसे-जैसे देश काल क्रिया और द्रव्यका सङ्कल्प किया है उसे वैसा ही भासता है। उनमें भी चार अवस्थायें होती हैं एक सघन सुषुप्ति, दूसरी क्षीण सुषुप्ति, तीसरी स्वप्न अवस्था और चौथी

जाग्रत। पर्वत और पाषाण घन सुषुप्ति में हैं जैसे सुषुप्ति अवस्था में कुछ नहीं फुरता, जड़ी भूत हो जाता है, वैसे ही इसका कुछ फुरना नहीं फुरता-घन सुषुप्ति में स्थित है। वृक्ष क्षीण सुषुप्ति में स्थित है जैसे क्षीण सुषुप्ति में कुछ फुरना फुरता है वैसे ही वृक्षों में भी फुरना होता है इससे वृक्ष क्षीण सुषुप्ति में हैं। तिर्यक जो पक्षी, कीट पतङ्ग आदि जीव हैं वे स्वप्न अवस्था में स्थित हैं। जैसे स्वप्न अवस्था में पदार्थ भासता है परन्तु दृढ़ समष्ठि नहीं भासता वैसे ही इनको थोड़ा सूक्ष्म ज्ञान है इससे वे स्वप्न अवस्था में स्थित हैं। मनुष्य और देवता जाग्रत रूप जगत का अनुभव करते हैं। हे रामजी! यह चारों अवस्था आत्मा में स्थित और आत्मसत्ता ही में स्थित हैं। उसका अहं प्रत्ययरूप आत्मा है-बड़ेका क्या और छोटेका क्या। उसमें जैसा सङ्कल्प दृढ़ होता है वैसा ही हो भासता है। हे रामजी! हमको एक दिन व्यतीत होता है और चींटी को उसी में युग का अनुभव होता है, हमको जो सूक्ष्म अणु होता है उनको वही पर्वत के समान भासता है। हे रामजी! स्वरूप सबका एक आत्मसत्ता है परन्तु भावना से भिन्न २ भासता है। एक कीट जो बहुत सूक्ष्म है, जब वह चलता है तब जानता है कि, मेरा गरुड़ कासा वेग है, और उसको वही सत हो रहा है। बालखिल्य का अंगुष्ठ प्रमाण शरीर है, उनको वही बड़ा भासता है और विराट को वही अपना अपना बड़ा शरीर भासता है। निदान जैसी जिसको भावना होती है वैसा ही उसकी भासता है। मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी सबको अपना अपना भिन्न २ सङ्कल्प है, जैसा सङ्कल्प किसी को दृढ़ हो रहा है उसका वैसा ही स्वरूप भासता है। जैसे मनुष्य रागद्वेष, भय, क्रोध, लोभ, स्नेह, अहङ्कार, क्षुद्ध तृष्णा हर्ष, शोक आदि विकारों में आसक्त होता है वैसे ही कीट, पतङ्ग, पक्षी आदि को भी होता है परन्तु उनमें इतना भेद है कि जैसे हमको यह जगत स्पष्ट रूप भासता है वैसे ही उनको नहीं भासता। संसारी सब हैं, परन्तु वासना के अनुसार ही न्यूनाधिक्य भासता है और

दुःख का अनुभव स्थावर जङ्गम को भी होता है। जब किसी स्थान में अग्नि लगती है और उसमें वृक्ष और पाषाण जलते हैं तब उनको भी दुःख होता है परन्तु सूक्ष्म, स्थूल का भेद है। जैसे और जीवों को शस्त्र प्रहार करने से शरीर नष्ट होने को दुःख होता है वैसे ही वृक्षादिक को भी होता है परन्तु धन सुषुप्ति, क्षीण सुषुप्ति और स्वप्न, जाग्रत का भेद है। पर्वत पाषाण को सूक्ष्म दुःख होता है। वृक्षको पाषाण से अधिक होता है। परन्तु स्पष्ट मात्र और अपमान का दुःख नहीं होता। स्वप्न के समान होता है। मनुष्य और देवताओं को स्पष्ट रागद्वेष, जाग्रत की नाईं होता है क्योंकि, वे जाग्रत अवस्था में स्थित हैं और वृक्ष, पाषाण आदिक को स्पष्ट दुःख का विकल्प नहीं उठता क्योंकि वे जड़ता स्वभाव में स्थित रहते हैं परन्तु दुःख तो सबको होता है और आश्चर्य देखो कि, कीट महादुःखी रहते हैं, जब वे मृतक होते हैं तब सुखी होते हैं अज्ञान से जो इस शरीर में आस्था हुई है उसको भी मरना बुरा भासता है तो और जीव को भला कैसे न लगे। हे रामजी! अपने स्वरूप के प्रमाद से भय क्रोध, लोभ, मोह, राज, मृत्यु, क्षुधा, तृष्णा, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छादिक विकारों की अग्नि से जीव जलते हैं। आत्मा नन्द को नहीं प्राप्त होते और घटीयन्त्र की नाईं वासनावश भटकते हैं। जब पाप की वासना दृढ़ होती है तब जीव पाषाण और वृक्षयोनि पाते हैं और जब क्षीण वासना तामसी होती है तब तिर्यक पक्षी, सूर्य और कीट योनि पाते हैं। हे रामजी! राजसी वासना से जीव मनुष्य होते हैं और सात्त्विकी वासना से देवता होते हैं। पर जब मनुष्य शरीर धारणकर निर्वासनिक होते हैं तब मुक्ति पाते हैं। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब जीवों को दुःख नष्ट हो जाते हैं। दुःख के नाश करने का और कोई उपाय नहीं है यह जगत के दुःख तब तक भासते ही रहते हैं कि जब तक आत्मज्ञान नहीं उपजता, जब आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब जगत का सारा भ्रम मिट जाता

है। मुझसे पूछो तो वास्तव में न कोई देवता है, न मनुष्य है, न पशु है, न पक्षी है, न पाषाण है, न वृक्ष और न कीट है, सब चिदाकाश रूप ही हैं। अन्य कुछ नहीं बना। भ्रान्ति से ही नाना स्वरूप होकर भास रहे हैं और सदा सर्वदा काल और सर्व प्रकार आत्म सत्ता ही स्थित है। हे रामजी! न कुछ जगत को होना है न अनहोना है, न आत्मा है न परमात्मा है, न मौन है, न अमौन है, न शून्य है, न अशून्य है केवल अचेत चिन्मात्र अपने आपमें ही स्थित है और उसमें न तम है न प्रकाश और जन्मान्तर भ्रम से भासते हैं। जैसे स्वप्नसे स्वप्नान्तर भ्रमसे भासता है और जैसे स्वप्नमें एक अपना आप होता है और निद्रा दोष से ही द्वैत भासता है वैसे ही अब भी आत्मा अद्वैत रूप है। पर अविचार से नानात्व भास रहा है दुःख भी अज्ञान से भासता है, विचार किये से दुःख कुछ नहीं जो मृतक होकर उत्पन्न होता है तो शान्ति हुई, दुःख कोई नहीं और यदि मृतक होकर जो शान्त होजाता है वह उपजता नहीं तब भी दुःख नहीं वह मुक्त हो गया और जब मरे नहीं तब भी दुःख कुछ नहीं और जो सर्व चिदाकाश है तब भी दुःख नहीं हुआ। हे रामजी! अज्ञानी के निश्चय में ही दुःख विद्यमान है पर विचार करनेसे दुःख कुछ भी नहीं है। यह जगत आत्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित है परन्तु यह जगत रूपी कैसा प्रतिबिम्बित है कि जो अकारणरूप ही है। इसका कारण रूप बिम्ब कोई नहीं, कारण से रहित है, जैसे नदी में नीलता का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह अकारण रूप है। वैसे ही यह जगत अकारणरूप है। अज्ञानी के प्रमाद दोष से ही उसमें सत्यता भासती है और ज्ञानी को नहीं। हे रामजी! हमको तो सर्वदा चिदाकाश ही भासता है। हम जागे हुये हैं इससे हमको द्वैत कुछ नहीं भासता। जैसे सूर्य को अहङ्कार नहीं भासता वैसे ही हमको द्वैत नहीं भासता है परन्तु जो ज्ञानी है उसको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता, उसे सब कुछ ब्रह्म ही भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७२॥

तिहत्तरवां सर्ग

इच्छा-चिकित्सा

हे रामजी ! मनुष्य को नष्ट करने वाली इच्छा बड़ी ही दुष्ट है। इसके हाथों पकड़कर जीव की वह दुर्गति हो जाती है कि जो मुझसे कही नहीं जाती । इस कारण अब मैं तुम्हें फिर वही कथा सुनाना चाहता हूँ कि जिसके सुनने से तुम्हारी इच्छायें सर्वथा हीं ध्वंस हो जायें । देखो, यह संसार इच्छा से ही उत्पन्न हुआ है, इससे यह त्यागने ही योग्य है यदि इसमें आत्मा को पृथक कर दिया जाय तो न तो कहीं इच्छा रहती और न कहीं संसार ही रहता है। तब भला उस आत्मामें क्या इच्छा की जाये। उसमें तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ मिथ्या है। अविचार से ही ग्राह्य और ग्राहक इन्द्रियों का भान हुआ है। आत्मामें सुख दुःख कोई नहीं है। उसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य कल्पना मात्रही हैं। हे रामजी ! आज मैं कितने ही दिनों से इस खोजमें पड़ा हूँ कि उस आत्मा में कुछ द्वैत वस्तु दिखलाई पड़े किन्तु मुझे कुछ द्वैत न दीख पड़ा । ब्रह्मसत्ता ही ज्यों की त्यों भासित हो रही है । जैसे जल में तरङ्ग और आकाश में सूक्ष्मता शून्यता, वायु में गमनता, और अग्नि में उष्णता सब अनन्यरूप ही हैं वैसे ही आत्मा में जगत अनन्यरूप ही है । विश्व का सारा प्रपञ्च उस आत्मा से ही भासित हो रहा है, दूसरा कुछ हुआ नहीं । हे रामजी ! इच्छा ही समस्त बन्धनों का मूल मंत्र है। जिस पुरुष की इच्छा बढ़ती जाती है वह जगत् रूपी बन का मृग है, उस मृग और पशुका सङ्ग कदाचित् न करना। मूर्खका सङ्ग बुद्धि को विपर्यय कर डालता है, इससे विपर्यय बुद्धि को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो रहो। विश्व भी सब तुम्हारा अनुभवरूप ही है और इसका सुख दुःख विद्यमान भी दिखाता है परन्तु आत्मा में भ्रममात्र भासता है—कुछ है नहीं । विश्व भी आन-

नन्द रूप शिव ही है, तुम विचार करके देखो तो दूसरा कुछ नहीं है जैसे मृत्तिका में नाना प्रकार की सेना, हाथी, घोड़ा आदिक होती हैं परन्तु मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं वैसे ही सब विश्व आत्मरूप है, भिन्न नहीं और उसमें कारण कार्य भाव देखना भी मूर्खता है। क्योंकि जो दूसरी वस्तु ही नहीं तो कारण कार्य किसका हो और इच्छा किसकी करते हो? जिस संसार की इच्छा करते हो वह है ही नहीं। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है और सीपी में रूपा भासता है सो दूसरी वस्तु कुछ नहीं अधिष्ठान किरण और सीपी है वैसे ही अधिष्ठान परमार्थ-सत्ता ही है। न सुख है, न दुःख है, यह जगत केवल शिवरूप है। उस शिव चिन्मात्र से मृत्तिका की सेनावत् उपज कुछ नहीं तो इच्छा कैसे उदय हो? रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! जो सर्व ब्रह्म ही है तो इच्छा अनिच्छा भी भिन्न नहीं? इच्छा उदय हो चाहे न हो? फिर आप कैसे कहते हैं कि, इच्छा का त्याग करो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस पुरुष की ज्ञप्ति जागी है अर्थात् जो ज्ञानरूप आत्मामें जागा है उसको सब ब्रह्म ही हैं और इच्छा अनिच्छा दोनों तुल्य हैं। इच्छा भी ब्रह्म है और अनिच्छा भी ब्रह्म है। हे रामजी! ज्यों २ ज्ञान संवित् होता है त्यों-त्यों वासना क्षय होती है। जैसे सूर्य के उदय हुये रात्रि नष्ट हो जाती है वैसे ही ज्ञान के उपजे से वासना नहीं रहती। हे रामजी! ज्ञानवान् को ग्रहण और त्याग का कर्तव्य नहीं और उसे इच्छा अनिच्छा कुछ नहीं है। यद्यपि ऐसीही है परन्तु स्वाभाविक ही उसे वासना नहीं रहती। जैसे सूर्य के उदय हुये अन्धकार नहीं रहता वैसे ही आत्मा के साक्षात्कार हुये द्वैत वासना नहीं रहती। ज्यों २ ज्ञानकाल जागता है त्यों-त्यों द्वैत नाश हो जाता है और द्वैत के निवृत होने से वासना भी निवृत हो जाती है। हे रामजी! ज्यों २ स्वरूपानन्द उसको प्राप्त होता है त्यों-त्यों संसार विरस होता जाता है और जब संसार विरस होगया

तब वह वासना किसकी करे ? हे रामजी ! अमृत में इसको विषकी भावना हुई थी इससे अमृत विष भासता था पर सब विषकी भावना का त्याग हुआ तब अमृत जो आगे ही था सोई हो जाता है, वैसेही जो कुछ तुमको भासता है सो सब ब्रह्मरूपी अमृत ही है। जब उस ब्रह्मरूपी अमृत में अज्ञान से जगतरूपी विष की भावना होती है तब दुःख पाता है और सब संसार की भावना त्यागी तब आनन्दरूप ही है और उसका कुछ करना, न करना दोनों तुल्य है। यद्यपि ज्ञानवान् में इच्छा दृष्टि आती है तौ भी उसके निश्चय में नहीं। उसकी इच्छा भी अनिच्छा ही है क्योंकि, जब उसके हृदय में संसार की भावना ही नहीं है तो इच्छा भी किसकी रहे ? हे रामजी ! यह संसार है नहीं और हमको तो आकाशरूप ही भासता है। जैसे और के मनोराज के सङ्कल्प में आने जाने का खेद नहीं होता वैसेही यह जगत् हम को और की चिन्तनावत् है जैसे किसी पुरुष ने मनोराज से मार्ग में कोई स्थान रचकर उसमें किवाड़ लगाये हों और नाना प्रकार का प्रपञ्च रचा हो तो दूसरे पुरुष को उसमें जाने के लिये कोई नहीं रोकता और न कोई किवाड़ है, न कोई पदार्थ है, उसको शून्यमार्ग का निश्चय होता है, वैसे ही हमको तो प्रपञ्च शून्य ही भासता है। अज्ञानी के हृदय में हमारी चेष्टा है पर हमको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता। हे रामजी ! जिसको जगत् ही न भासे उसको इच्छा किसकी हो ? जिसके हृदय में संसार की सत्यता है उसको इच्छा भी फुरती है और रागद्वेष भी उठता है। जिसका रागद्वेष उठता है तो जानिये कि संसार सत्ता उसके हृदय में स्थित है और जिसको नाना पदार्थ सहित संसार सत्य भासता है सो मूर्ख है और वह अज्ञान निद्रा में सोया हुआ है। जैसे निद्रा दोष से कोई स्वप्न में अपना मरण देखता है वैसेही जिसको यह जगत सत्य भासता है सो निद्रा में सोया है। हे रामजी ! मैंने बहुत प्रकार के स्थान देखे हैं जिनमें रोग और औषध भी नाना प्रकार के हैं परन्तु इच्छारूपी छुरी के घाव की औषध नहीं

दृष्टि आई। वह जप, तप, पाठ, यज्ञ, दान, और तीर्थ से निवृत्त नहीं होती और जितने संसार के पदार्थ हैं उनसे भी इच्छारूपी रोग नष्ट नहीं होता, जब आत्मरूपी औषध कीजावे तब ही नाश होता है अन्यथा किसी प्रकार यह रोग नहीं जाता। हे रामजी! जिस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है उसकी इच्छा स्वाभाविक ही निवृत्त हो जाती है और आत्मज्ञान बिना अनेक यत्न से भी न जावेगी। जैसे स्वप्न की वासना जागे बिना नहीं जाती और अनेक उपाय करिये तौ भी दूर नहीं होती। हे रामजी! ज्यों २ वासना क्षीण होती है त्यों २ सुख की प्राप्ति होती है और ज्यों २ वासना की अधिकता है त्यों २ दुःख अधिक हैं। यह आश्चर्य है कि, मिथ्या संसार सत्य ही भासता है। जैसे बालक को वृक्षमें वैताल ही भासता है और उससे वह भय पाता है पर वह है नहीं, वैसे ही मूर्खता से आत्मा में संसार कल्पना है उससे जीव दुखी होता है। हे रामजी! स्थावर जङ्गम को कुछ जगत् भासता है सो सब ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से भिन्न नहीं पर भ्रम से भिन्न २ हो भासता है। जैसे आकाश में शून्यता जल में द्रवता और सत्यता में सत्यता ही है, वैसे ही आत्मा में जगत है सो न सत्य है और न असत्य है—आत्मा अनिर्वाच्य है। हे रामजी! दूसरा कुछ बना नहीं तो क्या कहिये? केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है सो सबका अपना आप वास्तवरूप है। जब उसका साक्षात्कार होता है तब अहं रूप भ्रम मिट जाता है। जैसे सूर्य के उदय हुये अंधकार का अभाव हो जाता है वैसे ही आत्मा के साक्षात्कार हुये अनात्म अभिमानरूपी अन्धकार का अभाव हो जाता है और परम निर्वाण भासता है उसको एक और दो भी नहीं कह सकते, वह केवल शांत रूप परम शिव है। जैसे आकाश में नीलता भासती है वैसे ही आत्मा में जगत भासता है। हे रामजी! जिन्होंने ऐसे निश्चय किया है उनको इच्छा अनिच्छा दोनों तुल्य हैं तो भी मेरे निश्चय में यह है कि, इच्छा के त्याग में सुख है। जिसकी इच्छा दिन दिन घटती

जावे और आत्माकी ओर आवे तो उसको ज्ञानवान् मोक्ष भागी कहते हैं क्योंकि, संसार भ्रम से सिद्ध है और अपनी ही कल्पना जगतरूप होकर भासती हैं, विचार किये से कुछ नहीं निकलता। संसार के उदय होने से आत्मा को कुछ आनन्द नहीं। और नाश होने से खेद नहीं होता क्योंकि, कुछ भिन्न नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और विनसते हैं तो जल को हर्ष और शोक कुछ नहीं होता क्योंकि वे जल से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप है तो इच्छा क्या और अनिच्छा क्या ? हे रामजी ! आदि जो आत्मा से चित्तशक्ति फुरी है उसमें जब अहं हुआ तब स्वरूप का प्रमाद हुआ और यही चित्तशक्ति मनरूप हुई, फिर आगे देह इन्द्रियाँ हुई और अज्ञान से मिथ्या भ्रम उदय हुआ इसी प्रकार अपने साथ मिथ्या शरीर देखता है। जैसे जल दृढ़ जड़ता से बरफ रूप हो जाता है वैसे ही चित् संवित् प्रमाद ही दृढ़ता, से मन, इन्द्रियाँ, देहरूप होता है। जैसे कोई स्वप्न में अपना मरना देखता है वैसे ही अपने साथ जीव शरीर को देखता है। जब चित्तशक्ति नष्ट होती है तब शरीर कहाँ—और मन कहाँ, यह कोई नहीं भासता ? जैसे स्वप्न में भ्रम से शरीरादिक भासते हैं वैसे ही इस जगत को भी जानो कि, मिथ्या-भ्रम से उदय हुये हैं। जब अपने स्वरूप की ओर आवे तब सबके भ्रम मिट जाते हैं। हे रामजी ! जैसे भ्रमसे आकाश में नीलता भासती है वैसे ही विश्व भी अनहोता ही भ्रम से भासता है, आत्मा में कुछ आरम्भ और परिणाम करके नहीं बना, वही स्वरूप है। जैसे आकाश और शून्यता और पवन और स्पन्द में भेद नहीं, वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभवरूप है—कुछ भिन्न नहीं, वैसे ही जगत् और आत्मा अनुभव से कुछ भिन्न नहीं है। हे रामजी ! चेतन आकाश परमशांत रूप है, इसमें देह और इन्द्रियाँ भ्रम से भासती हैं और क्रिया, काल पदार्थ सब भ्रममात्र हैं। जब आत्मस्वरूप में जागकर देखोगे तब

द्वैत भ्रम निवृत हो जावेगा और कैवल्य, अद्वैत आत्मा ही भासेगा-दृश्य का अभाव हो जावेगा। यह पृथ्वी आदिक तत्व जो भासते हैं सो अविद्यमान हैं और इनकी प्रतिभा मिथ्या उदय हुई है। जैसे स्वप्न में अनहोते पृथ्वी आदिक तत्व भासते हैं परन्तु हैं नहीं वैसे आत्मा में यह जगत भासता है। हे रामजी! दीवार, कीट, पर्वत आदि प्रपञ्च आकाश रूप हैं तो ग्रहण त्याग किसका हो? आकाशरूपी दीवार पर सङ्कल्प ने चित्र रचे हैं और रङ्ग आत्म चैतन्यता है इससे विश्व सङ्कल्प मात्र है और जैसा २ निश्चय होता है वैसी ही वैसी सृष्टि भासती है यदि कुछ बना होता तो और का और न भासता, इससे कुछ बना नहीं, जैसे सङ्कल्प होता है वैसा ही आगे रूप हो भासता है। हे रामजी! सिद्धों के पास एक चूर्ण होता है उससे वे जो चाहते हैं। सो करते हैं पर्वत को आकाश और आकाश को पर्वत करते हैं-वह चूर्ण मैं तुमसे कहता हूँ। जब चित्त रूपी सिद्ध सङ्कल्परूपी चूर्ण से फुरता है तब आत्म रूपी आकाश में पर्वत हो भासते हैं और जब चित्तरूपी सिद्ध का सङ्कल्प उलटता है तब पर्वत भी आकाशरूप हो भासता है। जैसे स्वप्न में सङ्कल्प फुरता है तब अनुभव में पर्वत आदिक पदार्थ भास आते हैं और जब सङ्कल्प से जागता है। तब स्वप्न के पर्वत आकाशरूप हो जाते हैं तो आकाशही पर्वतरूप हुआ और पर्वत ही आकाशरूप होता है, वैसे ही, हे रामजी! यह सृष्टि कुछ बनी नहीं सङ्कल्पमात्र है, जैसा सङ्कल्प होता है तैसा ही भासता है। जब विश्व के अत्यन्त अभाव का सङ्कल्प किया तब वैसा ही भासता है। जैसे विश्व का अभ्यास किया है और विश्व भासा है तैसे ही आत्मा का अभ्यास कीजिये तो क्यों न भासे? वह तो अपना आप है, जब आत्मा का अभ्यास कीजियेगा तब आत्मा ही भासेगा और विश्व का अभाव हो जावेगा। अनेक सृष्टि अपने २ सङ्कल्प से आकाश में भासती हैं, जैसा किसी का सङ्कल्प होता है वैसी ही सृष्टि उसको

भासती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में दृढ़ सङ्कल्प, होता है तो यथा इच्छित पदार्थ निकल आते हैं पर वे कुछ बने नहीं और चिन्तामणि भी परिणाम को प्राप्त हुई ज्यों की त्यों पड़ी है केवल सङ्कल्प की दृढ़ता से भास आते हैं, वैसे ही यह प्रपञ्च भी आकाश रूप है। जैसे आकाश में शून्यता है वैसे ही आत्मा में जगत् है। हे रामजी ! सिद्ध के जो वचन फुरते हैं सोई सङ्कल्प की तीव्रता होती है, जो चित्त शुद्ध होता है तो दूसरी सृष्टिको भी जानता है। जो पुरुष बचन सिद्धि होने के निमित्त वासना को सूक्ष्म करता है, अर्थात् रोकता है तो उससे वचन सिद्धि पाता है और जैसा सङ्कल्प करता है वैसे ही सिद्ध होता है। हे रामजी ! जितना यह दृश्य की ओर से उपराम होकर अन्तर्मुख होता है उतनी ही वचन सिद्धि होती जाती है—चाहे वरदे, चाहे शाप दे, वह सिद्ध होता है। हे रामजी ! एक प्रमाण ज्ञान है कि, यह पदार्थ इस प्रकार है। उसका जो नामरूप है वह सब आकाशरूप भ्रम मात्र है—आत्मा में और कुछ नहीं। आत्मरूपी समुद्र में जगत रूपी तरङ्ग उठते हैं सो आत्म-रूप ही है, जिसको ऐसा ज्ञान हुआ है उनको इच्छा और अनिच्छा का ज्ञान नहीं रहता और सब आकाशरूप भासता है। हे रामजी ! आत्मारूपी फूल में जगत्‌रूपी गन्ध है। जैसे पवन और स्पन्द में भेद नहीं वैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। पत्थर पर लकीर खैंचिये तो वह पत्थर से भिन्न नहीं होती वैसे ही ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं। हे रामजी ! देश, काल, पृथ्वी आदिक तत्व और मैं, मेरा सब आत्मरूप है और अविनाशी है। जिनको ऐसे निश्चय हुआ है उनको राग-द्वेष नहीं रहता उन्हें सब आत्मरूप भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण—उत्तरार्द्ध का तिहत्तरवा सर्ग समाप्त ॥७३॥

———o::❀::o———

चौहत्तरवाँ सर्ग

अनीश्वरवादी का निर्णय

वशिष्ठजी बोले—हेरामजी ! अब तुम्हें उन अनीश्वरवादियों के सम्बन्ध में कहता हूँ कि जो 'खाओ' पियो मौज करो—कोही अपने जीन का लक्ष्य मानते हैं। उनकी समझ में यही सिद्धान्त बैठा हुआ है कि मरजाने पर वह शरीर भस्म हो जाता है और फिर आवागमन कुछ नहीं रहता । सो देखो, उनका सिद्धान्त सर्वथा ही भ्रमपूर्ण है और उन्हें शान्ति नहीं मिलती वे जड़ हैं। उनको जड़ शून्यता का ही अभ्यास है और इसीसे वे सम्पत्ति सुख को ही अक्षय सुख मानते हैं। पर यथार्थ में ऐसा है नहीं । आत्मा अखण्ड और सर्वत्र पूर्ण भावसे स्थित है । अनीश्वरवादियों को इसका भान नहीं होता इसी से उनके मनकी तपता नहीं मिटती । यदि उनको आत्मा का साक्षात्कार होवे तो वे ऐसा कदापि न करें और फिर तो वे सर्वथा ही शांतिमान होकर अमरपद को प्राप्त कर लेवें। जिसको ऐसे अखण्ड का निश्चय होगया है वास्तव में वही सुखी और वही ब्रह्मदर्शी है। परन्तु जिसे ब्रह्मसत्ता का दर्शन नहीं हुआ है वह मनके तापसे सर्वदा ही तप्त रहता है। हे रामजी ! उस महाप्रलयरूप आत्मा में तो सर्व शब्दों का सर्वदा ही अभाव है । जिसे आत्मा का दर्शन होगया है वह महाज्ञानी है, उसको आत्मसत्ता का ही भान होता है। उसे मेरे उपदेश की आवश्यकता नहीं है। आत्मा में जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है । वह परमार्थ सत्ता अपने आप में ही स्थित है उसमें सृष्टि स्वप्नवत ही भास रही है, ज्ञानी पुरुष ऐसा ही जानते हैं। उन्हें यह सम्पूर्ण निश्चय रहता है कि आत्मा सर्व शास्त्रों का सिद्धान्त-तत्व है। उसको जान लेनेपर फिर कुछ करना नहीं रहता। परन्तु जिसे यह अवस्था नहीं प्राप्त हुई है वह निश्चय ही मेरे उप-

देश के योग्य है। हे रामजी! यह सारा जगत आत्म का किंचन मात्र है इसे अज्ञानी ही सत्य जानते हैं। और ज्ञानियों को तो यह सर्वथा ही असत्यरूप जान पड़ता है। आत्मा सर्वत्र और सर्व व्यापी है। उसमें जैसा स्फुरण होता है वैसाही अहं प्रत्यय की भावना से दृढ़ होकर भासने लगता है। परन्तु वह ज्ञानमात्र ही है। वही सबका अद्वैत संवित है और वही सबका ज्ञान-स्वरूप है। जिसको उस स्वरूप का ज्ञान हो गया है वह शास्त्रों के दण्ड से रहित होता है। उसके लिये वेद शास्त्र में वर्णित भले, बुरे, सत्य, असत्य, सिद्धान्त, कुछ नहीं हैं। उसके निश्चय में तो आत्मा ही सर्व शब्दों का अर्थ समूह सर्वदा ही विद्यमान स्थित है। उसके लिये आत्म अनात्म को विभाग कल्पना भी कुछ नहीं है। उसकी तो देह रहे या न रहे सब एक समान ही है। परन्तु जिसकी बुद्धि जगत के शब्द अर्थों में लगी हुई है वह तो पदार्थों के ही रागद्वेष को उठावेगा। उसे आत्म-सत्ता की खोज कैसे हो सकती है। नास्तिक एवं अनीश्वरवादियों को भी तुम ऐसा ही जानो। वे जड़स्वरूप को ही देखते हैं। उनकी बुद्धि मलिन वासनाओं में लगी रहती है इससे वे जड़स्वरूप ही हैं। वे उस जड़ता को भोगकर अपनी वासनाओं के अनुसार फिर उसी धन सुख को भोग करेंगे कि जिसके लिये उन्होंने मरते-मरते भी यत्न किया है। परन्तु भोगना तो अवश्य ही पड़ेगा। यह कदापि नहीं हो सकता कि एक बार भस्म होकर ही वे संसार से छूट जावें। नहीं, वे अपनी वासनाओं के कारण बारम्बार जन्म धारण करेंगे और तब जैसी कुछ भावना रहेगी वैसेही सुख दुःखको निश्चय ही प्राप्त करेंगे। हां, यह हो सकता है कि वे एक बार भावना करके जगत को शून्य जानलें परन्तु कुछ काल पीछे उन्हें फिर उन्हीं कर्मों को भोगना ही पड़ेगा कि जिसमें उनकी दृढ़ आस्था होगई है। क्योंकि यह जीव फुरना रूप है। जैसा फुरता एवं जैसा निश्चय करता है वैसा ही भास जाता है। जो आत्मा का निश्चय करता है वह आवागमन

से छूट जाता है और जो इस नाना रूपी जगत का निश्चय करता है वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा ही रहता है। भला यह कैसे हो सकता है कि जो दिन रात अपनी बुद्धि पर जगत की रंगरलियों का ही रंग चढ़ा रहा हो वह भी राग-द्वेषरूपी नरकसे छुटकारा पावे। नहीं, वह तो कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु जिसको एक आत्मदेव का भी भान होता है, जो आत्माभ्यासी होता है उसे सारा जगत आत्मतत्व से ही पूर्ण भासता है। उसे रागद्वेष कदापि स्पर्श नहीं कर पाते। वह सारे जगत को अपना ही रूप जानता है। उसके निकट सर्वदा आत्म की ही ज्योति जागती रहती है। परन्तु जो अनीश्वरवादी है, जिसे संसार की रंगरलियां ही पसन्द हैं वह तो निश्चय ही गढ़ेका कीड़ा होवेगा और इस प्रकार पाषाण, वृक्ष, पर्वत आदिक स्थावर योनियों को अवश्य ही प्राप्त होंगे और वे उनमें तब तक पड़े ही रहेंगे कि जब तक उनका द्वैत भ्रम न मिटेगा हां जब द्वैत का संयोग मिट जावेगा तब जगत भ्रम नष्ट हो जायगा और तब उस प्रकार के सम्यक ज्ञान से उनके सारे भ्रमों का सर्वथा ही अन्त हो जावेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७४॥

—०::*::०—

पचहत्तरवां सर्ग

परम उपदेश वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आपने अनीश्वरवादियों के सम्बन्ध में यह जो कहा है वह तो मैं समझ गया किन्तु अब आप यह बतलाइये कि जो सर्वथा ही मूढ़ है और जिसके हृदय में जगत ही दृढ़ होरहा है, उसको मोक्ष कैसे प्राप्त होगा। मेरे बोध के लिये कृपाकर यह भी समझाइये।

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह तो मैं तुम्हें पहले ही बतला

चुका हूँ । परन्तु फिर पूछते हो तो बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो । हे रामजी ! यह जगत न तो नेत्र में स्थित है, न श्रवण में और नासिका आदि किसी इन्द्रियों में ही स्थित है वरन् यह सब कुछ चैतन्य संवित में ही स्थित है। वह चैतन्य संवित ही पुरुषरूप है। जिसको उसका ज्ञान है वही सच्चा ज्ञानी कहलाता है । वह जगत् को प्रत्यक्ष और ठीक-ठीक रूपमें देखता भी है तो भी उसके निश्चय में जगत् का कुछ भी अस्तित्व भासित नहीं होता। जिस प्रकार आकाश में उड़ती हुई धूलि देखने में तो आती है कुछ स्पर्श नहीं करती वैसे ही ज्ञानी को द्वैत कलना का स्पर्श नहीं होता । चेतना संवित के फुरने से ही जगत आकारवत भासता है और जिसके हृदय में देश काल, क्रिया और द्रव्य युक्त यह जगत भासता है वह जानो सर्वथा ही कलंक युक्त है। उसका भ्रम कभी नहीं मिटता और वह शान्ति कभी नहीं पाता। वह सर्वथा ही अज्ञानी है और उसे आत्म-सत्ता का भान नहीं होता। आत्मा को जाने बिना संसार निवृत्त नहीं होता । आत्म साक्षात्कार हो तो भ्रम भी मिटे । कोई भी पुरुष न जीव है, न कलना। शरीर के नाश होने से इसका नाश नहीं होता। यह केवल चिन्मात्र स्वरूप ही है । वासनायें ही इसे इतना भ्रम दिखला रही है और इसीसे यह शून्यवादी वृक्ष, पर्वत और जड़ आदिक योनियों को प्राप्त होता रहता है। क्योंकि उसने अपने अनुभवरूप को त्यागकर इष्ट विषयों को अपना लिया है, इससे यह बड़ा मूर्ख है। उसे आत्म सुख नहीं प्राप्त होता। वह आत्मे भीतर बाहर चारों ओर से अहं त्वं में ही भरा रहता है। जब अहं त्वं को छोड़े तब आत्म-देव का दर्शन हो परन्तु बिना इस विकार के त्यागे वह पद अलभ्य है। आत्मज्ञान होजाये तो फिर कहना ही क्या है । फिर तो अहं त्वं आदिक समस्त शब्द एक उसमें ही लय होजाते हैं और तब वह आत्मरूप ही होजाता है । हे रामजी ! जो आत्मा अनात्मा को निर्णय करके [illegible] बड़ा ही [illegible] हूँ।

परन्तु जो अनात्मा में आत्मा को देखता है वह एक महान् पुरुष है, मैं उसको नमस्कार करता हूँ। किन्तु जो अनात्मा में भी अहङ्कार किये हुए आत्मा को त्याग रहा है वह निरा बालक ही है। जिस प्रकार आकाश में बादलों के बड़े-बड़े चकत्ते, हाथी घोड़े के आकारवत ही भासित होते हैं और समुद्र में तरङ्ग भासते हैं उसी प्रकार आत्मा में जगत भासित होरहा है। परन्तु वह सब कुछ आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। जिसने आत्मा साक्षात्कार कर लिया है उसके निकट जगत का कुछ रागद्वेष नहीं रहता और वह पुण्य पाप के फल को कुछ भी स्पर्श नहीं करता। उसका वह ज्ञान अजर अमर हो जाता है। इससे यह सारा जगत अनुभव रूप ही है। इसका न तो कोई निमित्त कारण है और न कोई कारण समवाय कारण ही है। यह सर्वथा अद्वैत सत्ता ही स्थित है। इस पर यदि यह कहो कि यह घर आदिक जो प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते हैं सो समवाय और निमित्त कारण से ही दीखते हैं तो जिस प्रकार स्वप्न के कार्य कारण अन-होते ही प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार इसे भी जानो। यह जगत केवल भ्रममात्र ही है। जैसे स्वप्न से जागे पर स्वप्न सृष्टि का अभाव हो जाता है वैसे ही ज्ञान के होने पर इसका अभाव होजाता है। इस प्रकार यह जगत दीर्घकाल का एक स्वप्न मात्र ही है। दीर्घ है इसी से जाग्रत होरहा है। परन्तु जिस प्रकार स्वप्न-सृष्टि अपने आप ही निद्रादोष से भासित होती है वैसे ही यह जगत भी अपना आप ही अज्ञान से भासित होरहा है। ज्ञान में जाग जावे तो सब कुछ अपना आप ही भासित होता है और तब रागद्वेष कुछ भी नहीं रहता। जिस प्रकार चन्द्रमा और उसके प्रकाश में कुछ अन्तर नहीं होता उसी प्रकार आत्मा और जगत में कुछ भी अन्तर नहीं है। आत्मा ही जगत रूप होकर भासित होरहा है। यदि तुम अपने में स्थित होकर अनुभव करो तो तुम्हें सब कुछ ब्रह्म ही भासेगा और ऐसा अनुभव करना कुछ भी कठिन नहीं है। साध्य है अभ्यास से सिद्ध

हो जाता है, और इस प्रकार जब उसमें स्थित हो जावे मान और मोह सभी नष्ट हो जाते हैं तथ कोई भी तृष्णा नहीं रहती। तब वह परमशान्त रूप हो जाता है।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषानिर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का पचहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७५॥

—०::❀::०—

छिहत्तरवां सर्ग

शान्ति योगोपदेश वर्णन

हे रामजी ! जिसने ज्ञान से अज्ञान को नष्ट नहीं कर दिया जानो उसने कुछ नहीं किया। अज्ञान ही समस्त अनर्थों का मूल मन्त्र है। अज्ञान से ही अहंकार उत्पन्न होता है और तब जगत भासने लगता है कि जिससे वह लोक परलोक की भावना करता हुआ आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। हे रामजी ! हृदय में जब तक जगत का शब्दार्थ विद्यमान है तब तक जगत का भान होवेगा ही, अतः इसको नष्ट कर जगत के सर्व शब्दार्थों में केवल एक ब्रह्म की ही भावना करो तभी आत्मपद प्राप्त होगा। हे रामजी ! इस संसार में दो पदार्थ मुख्य हैं। एक लोक दूसरा परलोक। अज्ञानी लोक की चिन्ता करते हैं, परलोक की नहीं, इससे इतना दुःख पाते हैं और तृष्णा नहीं जाती। किन्तु विचारवान पुरुष परलोक का चिन्तन करते हुए इस लोक में भी शोभित होते हैं और परलोक में तो सुख पाते ही हैं किन्तु जो केवल इस लोक का ही चिन्तन करते हैं उन्हें दोनों लोकों में कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है। परन्तु जो यहाँ आत्म चिन्तन कर लेता है, वह सर्वथा ही सुखी होता है। अतः अहंकार रहित होकर आत्मपद को पाने का ही यत्न करो। जब तक अहंकार नष्ट नहीं होगा तब तक दुखी ही बने रहोगे और इसी का नाम जीव है। स्फुरण से ही विश्व संसार की उत्पत्ति होती है। अहन्ता फुरता है तब दृश्य भासता है और जब अहन्ता अभाव

होता है तब दृश्य का अभाव होता है, और अहन्ता अज्ञान से उत्पन्न होती है। ज्ञान हो जाने तो अहंकार नष्ट हो जाता है। सत्संग और पुरुष प्रयत्न से संसार समुद्र बड़ी सुगमता से पार किया जाता है, अन्यथा कोई दूसरी युक्ति नहीं है। युक्ति से विष भी अमृत हो जाता है। पुरुषार्थ से ही सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इहलोक और परलोक यही दो मुख्य रोग हैं। इन्हीं दोनों से जीव दुःखी हो रहे हैं जिन्होंने सन्तों के उपदेश से औषधि किया है उनके यह रोग शान्त होगये हैं। परन्तु जिन्होंने यह औषधि नहीं की है वे चाहे कैसे भी पण्डित क्यों न हों दुःख ही पाते हैं। सो वह औषधि क्या है, यही शम, दम और सत्सङ्ग। इन्हीं साधनों पर यत्न से आत्मपद प्राप्त होता है। यही इसका साधन है और यही इसकी औषधि है। जिसने किया उसने पाया, जिसने किया वह भोगों में पड़कर सर्वदा लम्पट ही बना रहता है। अच्छा है, वह ऐसा करता है तभी तो वह घोरतर नरकरूपी दुःखों को भोगेगा। हे रामजी! तुम भोगों का त्याग करो। आत्म दर्शन के लिये यही औषधि है। जिसने मन पर विजय लाभ न किया वह मूर्ख है। निःसन्देह वह भोगरूपी कीचड़ में गिरेगा और यह महान् आपदाओं का पात्र है। हे रामजी! जैसे समुद्र में नदियां जाकर मिलती हैं वैसे ही उसकी सारी आपदायें जा लगती हैं। परन्तु जिसकी तृष्णा भोगों से निवृत्त होगई है और वैराग्य होगया है वह मुक्त हो जाता है जैसे बाल्यकाल से जीवन की प्रथम अवस्था है वैसे ही वैराग्य निर्वाण पद की प्रथम अवस्था है। हे रामजी! यह जगत सर्वथा ही भ्रम पूर्ण है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा, संकल्प पुर और मृगतृष्णा का जल भ्रम से ही भासता है वैसे ही यह जगत भ्रम से ही भास रहा है। इस प्रकार संसार का बीज अहंकार ही है। हे रामजी! जब यह अहंकार उत्पन्न होता है तब रूप और दृश्य भासने लगते हैं। अतः तुम यही चिन्ता करो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ'। यह निश्चय के पश्चात्

जो शेष रहता है तुम वही हो। हे रामजी! तुम सर्वथा ही शान्तरूप हो। तुम में अहं का उत्थान कुछ नहीं है, तुम आकाश के समान ही शून्य और जड़-अजड़ से परे, केवल आत्म तत्व मात्र ही हो। तुम में विश्व ऐसे ही है कि जैसे जल में तरङ्ग, वायु में स्पन्द और आकाश में शून्यता होती है। हे रामजी! तुम आत्मा हो। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। यदि कुछ भिन्न होता तो प्रलय में उसका भी नाश हो जाता परन्तु आत्मा तो प्रलय काल में भी रहता है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास रहता है वैसे ही आत्मा में विश्वका चमत्कार विद्यमान है। हे रामजी! आत्मा भीतर बाहर से रहित, अद्वैत, अजर, अमर चैत्य और चेतना से रहित समस्त शब्दों का अधिष्ठान रूप है, फुरने से ही भासता है और फुरना अफुरना सब कुछ वही है। जैसे स्पन्द निस्पन्द दोनों ही वायु के रूप हैं और जब चलता है तब उसकी गमनता प्रतीत होती है और जब नहीं चलता तब उसका ठहरना भी प्रतीत होता है वैसे ही जब चित्त शक्ति फुरती है तब विश्व सब प्रकट होता है और नहीं तो नहीं प्रकट होता और तब केवल मात्र पद शेष रहता है। तब वही भास रहित, अविनाशी, निर्विकल्प और सबका अपना आप स्वरूप है। उसी अधिष्ठान सत्ता में यह सब जड़ चैतन्य आदिक फुर रहे हैं। तुम अपने उसी स्वरूप में स्थित हो जाओ।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषानिर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का छिहत्तरवां सर्ग समाप्त ॥७६॥

—०::※::०—

सतहत्तरवां सर्ग

परमोत्तम ज्ञान वर्णन

इतना सुनकर रामजी ने पूछा हे मुनीश्वर! जिन पुरुषों को आत्म का साक्षात्कार हो जाता है उनके लक्षण क्या हैं और वे कैसा आचरण करते हैं कृपाकर मुझे यह समझाकर कहिये?

वशिष्ठजी बोले हे रामजी! तुम्हारा यह प्रश्न

वड़ा ही सुन्दर है। मैं तुम्हें ऐसे महात्माओं के आचार—विचार को खूब समझा कर कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। देखो, उनका निश्चय वड़ा ही पवित्र होता है। वे प्रत्येक से मित्र भाव रखते हैं यहाँ तक कि पत्थर से भी मित्रता कर लेते हैं। वे अपने स्त्री, पुत्र और वन्धु वान्धवों के प्रति ऐसा ही निश्चय करके उनसे उसी प्रकार का व्यवहार करके विचरते हैं कि जैसे वन के मृग अपनी सन्तानों के साथ प्रसन्नता से वन में विचरते हैं और उनमें कोई कठिन मोह नहीं स्थापित रखते। वे सब प्राणियों पर ऐसी ही दया दृष्टि रखते हैं कि जैसे माता को अपने पुत्र पर दया दृष्टि होती है। वे निश्चय ही सर्व से उदासीन रहते हैं, किसी से स्पर्शित नहीं होते और सर्वदा आकाश के ही समान अपनी वृत्तियों को निर्मल और निरवय वपु बनाये रहते हैं। आपदाओं में भी वे सुख मानते हैं और सुखमें कुछ मोह नहीं रखते। जगत के सारे रसों से विरस रहते हैं और न किसी से राग करते हैं न किसी से द्वेष। उनमें तृष्णा रहती भी है तो भी वे पत्थर के समानही जड़ वने रहते हैं। उनका निश्चय कुछ भी रूप नहीं धारण करता और वे सर्वदा ही समाधिस्थ वने रहते हैं। देखने में तो वे सारी क्रियायें करते हुए दृष्ट आते हैं परन्तु फिर भी वे ऐसे ही वने रहते हैं कि वे सर्व प्राणियों के वन्दनीय ही कहे जाते हैं। उनकी समस्त क्रियायें यत्न और आरम्भ से रहित रहती हैं। वे किसी कर्म में अपने को कर्त्ता नहीं मानते और प्रारब्ध वेग से उन्हें जो कुछ भी मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहते हैं और इसी प्रकार देश, काल और त्वचा आदिक सवको अङ्गीकार करते हैं किसी से घृणा नहीं करते। उनके लिये जैसा ही सुख है वैसा ही दुःख भी है। यदि संयोग वश उन्हें पर स्त्री आदिक अनिष्ट आकर प्राप्त होते हैं तो वे उन्हें अनिष्ट जानकर दूर ही से त्याग देते हैं और अपने निश्चय में सर्वदा ही अकर्ता वने रहते हैं उनके समस्त कर्म शास्त्रानुसार और सारी चेष्टायें स्वाभाविकता से भरी

रहती हैं। वे एक क्षण के लिये भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होते और सर्वदा ही निज स्वभाव सत्ता में ही स्थित रहते हैं। वे सुख दुःख को भोगते भी हैं तो भी उनके निश्चय में कुछ द्वैत का स्फुरण नहीं होता। उनकी समस्त चेष्टायें अज्ञानी के ही समान होती हैं परन्तु वे अपने निश्चय में सर्वदा ही समाधिस्थ बने रहते हैं। और अज्ञानियों के समान उन्हें राग, द्वेष हर्ष, क्लेश कुछ भी स्पर्श नहीं करता। उनकी सारी चेष्टायें स्वाभाविक ही होती हैं। वे सर्व से मयत्री भाव रखते हुए कभी भी खेदवान नहीं होते और उनके निश्चय में हर्ष भी नहीं होता। उनकी सारी चेष्टायें उस नटवा के समान ही होती हैं कि जैसे नट समस्त स्वांगों को धारण करता हुआ भी अपने ही निश्चय में दृढ़ बना रहता है। ऐसे ही ज्ञानीजन चाहे ऊपर से कैसी भी चेष्टा करते हुये क्यों न दृष्टि आवें परन्तु उनका निश्चय, उनका लक्ष्य सर्वदा आत्म तत्व की ही ओर लगा रहता है। वे पुत्र, धन और बन्धु-बान्धवों को जल में तरंग और जलके बुदबुदे के ही समान क्षणिक जानते हुये किसी में भी मोह स्थापित नहीं करते। जैसे तरंग और बुदबुदों में जल कुछ भी राग-द्वेष नहीं रखता वैसे ही सर्व पर दया भाव रखते हुये पतित प्रवाह में भी सुख दुःख आ जाता है उसको प्रसन्नता पूर्वक भोगते हैं और उनमें वे ऐसे ही राग हीन बने रहते हैं कि जैसे वायु अपने साथ सुगन्धि और दुर्गन्धि को भी ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार वे ज्ञानीजन दुःख सुख को सम दृष्टि से देखते हुये कुछ भी राग-द्वेष नहीं करते और अज्ञान बने हुये सर्व व्यवहारों को करते ही रहते हैं। परन्तु अपने निश्चय में ऐसा ही धारण किये रहते हैं कि यह जो कुछ है सब भ्रान्ति मात्र है और ब्रह्मभय ही है। उनके लिये सारा जगत सुषुप्ति की नाईं ही स्थित जान पड़ता है। वे भूत, भविष्य की कुछ चिन्ता नहीं करते। और वर्तमान परिस्थिति में ही उन्हें जैसा कुछ आन प्राप्त होता है

उसी में शीतल चित्त से विचरण करते हुये सर्व इष्टानिष्ट से रहित हृदय में अद्वैतरूप का ही निश्चय धारण किये रहते हैं। उनके सारे कर्म ज्ञानियों के ही समान होते हैं एवं ऐसे ज्ञानी पुरुष कर्म में भी अकर्म का ही दिग्दर्शन करते हैं और जीते ही मृतक के समान बने रहते हैं। उनको जगत की कलना नहीं रहती और वे यह भली भांति जानते हैं कि आत्मपद में ही अहं प्रत्यय होने से जगत आदि भासित हो रहा है, इससे उनको जब कुछ देखना होता है तब वे उसे आत्म सत्ता ही करके देखते हैं और इस प्रकार सर्वदा ही वे शान्त बने रहते हैं। अपने ऐसे लक्षणों को वे ही समझ पाते हैं, दूसरे नहीं। क्योंकि दूसरे कैसे समझ पावेंगे जबकि बाहर से तो वे भी अज्ञानी के ही समान बने रहते हैं। परन्तु वे हृदय से सर्वथा ही शान्तरूप हैं। वे ब्रह्मचर्य आदिक तपस्याओं से सर्वथा ही पूर्ण रहते हैं और उन्हें राग-द्वेष कभी नहीं फुरता। परन्तु एक ऐसे भी तपस्वी होते हैं कि जो धूनी आदि लगाकर तपस्वी बन बैठते हैं परन्तु उनको सत्य असत्य का भी ज्ञान नहीं होता। वे आत्मा दर्शन से सर्वथा ही वंचित होते हैं और कुछ भी आत्म विचार नहीं होता। आत्म साक्षात्कार का निश्चय तो अपने आप से ही जाना जाता है नकि अग्नि आदिक धूनी लगाने से अस्तु ज्ञानी ही ज्ञानी के निश्चय को समझ सकता है, भला अज्ञानी उसे क्या समझेगा। जैसे सर्प के बिल को सर्प ही जानता है, दूसरा नहीं वैसेही ज्ञानियों के लक्षण को ज्ञानी ही जानते हैं, दूसरा नहीं। हे रामजी! यह जो गुण मैंने बतलाये हैं यह ज्ञानियों में ही होते हैं और उनमें स्वभावतः ही विद्यमान रहते हैं, अन्य को तो यत्न करने से ही प्राप्त होते हैं। हे रामजी! ज्ञानी के लिये तो यह सारा जगत भ्रम मात्र ही है और उसकी दृष्टि में यह सब कुछ अनुभव से ही उत्पन्न हुआ जान पड़ता है और इसीसे उसके निश्चय में कुछ भी राग द्वेष नहीं फुरता। वे अपने निश्चय को किसी पर प्रकट

नहीं करते, जो अधिकार हैं उसीको जानते हैं परन्तु जो अज्ञानी हैं उनको नहीं बतलाते। जैसे चन्दन की सुगन्धि उसके निकट रहने वाले वृक्षों को ही प्राप्त होती है, दूरके वृक्षों को नहीं, वैसे ही ज्ञानियों की वृत्तिको व ज्ञानियों की सिद्धता को उनके निकट रहने वाले सत्पात्र जिज्ञासु ही जान पाते हैं, दूसरे अज्ञानी मूर्ख नहीं जान सकते। दिव्य दृष्टियाँ ही उन्हें देख सकती हैं। अर्थात् अधिकारी ही उनके गुणों को प्राप्त करता है। अनाधिकारी उनके महत्व को क्या जानेगा? जैसे अमूल्य चिन्तामणि के महत्व को नीच नहीं समझ सकता वैसेही मूर्ख महात्माओंके गुणों को नहीं समझ सकता। महात्मा मिलते भी हैं तो वह उनका निरादर कर देता है और उनके महात्म्य को वह कदापि नहीं समझ सकता। इसी कारण महात्मा पुरुष अपात्र को अपना गुण नहीं देते और उससे दूर ही दूर रहते हैं। हे रामजी! ज्ञानी जनों का ऐसा आचरण है कि वे किसी से अपना स्वार्थ नहीं चाहते, चेले नहीं बनाते, पूजा पाठ नहीं लेते मान सम्मान नहीं चाहते। वे मान सम्मान को गन्धर्व नगर के समान ही भ्रमवत समझते हैं, तब वे भला किसी अन्य वस्तु की इच्छा ही क्यों करेंगे? उन्हें इच्छा कुछ नहीं रहती इसी कारण वे अयोग्य पात्र को अपना निश्चय नहीं बतलाते और यदि ऐसा कोई उनके निकट जाकर बैठता भी है तौ भी वे अपने निश्चय रूपी अंगों को ऐसा सिकोड़ लेते हैं कि उस पर अपनी छाया भी नहीं पड़ने पाती और जिसको अधिकारी समझते हैं उसे अपना निश्चय बतलाकर अपने ही समान बना देते हैं। क्योंकि पात्र में ही रखा पदार्थ शोभा देता है। अपात्र में रखा पदार्थ अनिष्ट कारक हो जाता है। जैसे गौ को घास दी जाती है तो यह दूध के रूप में होकर निकलता है और वही दूध यदि सर्प को दिया जाता है तो वह विष बन जाता है ऐसे ही अधिकारी को दिया हुआ उपदेश अमृत का गुण करता है, शुभ प्रकट करता है और अनाधिकारी को दिया हुआ अशुभ और

अनिष्ट करता है। मेरा यह कथन ज्ञान के सम्बन्ध में है, अणिमा आदिक सिद्धियों के लिये नहीं। सिद्धियां तो अभ्यास से सभी को प्राप्त होती हैं ज्ञानी को भी अज्ञानी को भी। परन्तु ज्ञान काण्ड प्रत्येक को नहीं मिलता इसे अधिकारी ही पाते हैं। जब आदि के अभ्यास से प्रत्येक पुरुष सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु यह ज्ञान का फल नहीं है, मन्त्र के जाप का फल है जिस वस्तु का दृढ़ अभ्यास वार वार जपा जायगा वह अवश्य ही आवेगा, अवश्य ही सिद्ध होगा यहां तक कि आकाश मार्ग से आने और जाने की शक्ति भी अभ्याससे सिद्ध होजाती हैं और पुरुष आने जाने लगता है परन्तु ऐसी सारी सिद्धता आत्मपदसे शून्य हैं। इसे परम सिद्धता नहीं कही जाती। परम सिद्धता तो आत्मपद को पाना ही है। जो आत्मपद को प्राप्त कर लेता है उसे अणिमा आदिक सिद्धियों की इच्छा नहीं रहती। यह सिद्धियां तो क्या वस्तु हैं ज्ञानी के आगे समस्त भूमण्डल ऐश्वर्य देवताओं के एवं समस्त स्थानों के भी ऐश्वर्य तुच्छ ही प्रतीत होते हैं, ज्ञानी का चित्त किसी में कभी मोहित नहीं होता, वह समस्त पदार्थों को मृग तृष्णा के जलवत ही जानते हैं। हे रामजी! मैं ऐसा ही कहूँगा कि विषयों से सर्वदा ही उपराम बने रहो। तुम्हारा इष्ट आत्मा ही है। ज्ञान भी वही है और वही तुम्हारे सब इष्टों को सिद्ध करने वाला है। परन्तु उसके निकट करना न करना भी कुछ नहीं है। वह प्रत्येक अवस्था में समान ही रहता है। उसे प्रारब्ध वेग से जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी को करता है परन्तु उसमें वह अपना अर्थ कुछ भी नहीं रखता और न वह किसी के आश्रय ही रहता है। वह सर्वदा ही आप अपनी स्वभाव सत्ता में स्थित होता है और इस प्रकार सर्व निश्चयों को पाकर वह आश्चर्य वान होता है और कहता है कि बड़ा आश्चर्य है कि यह सर्वदा अपना आप स्वरूप ही है उसको विस्मरण करके मैं व्यर्थ ही में इतने काल तक भ्रमता रहा और अब मुझे शान्ति प्राप्त हुई। वह

जगत को देखकर हँसता है और कहता है कि यह व्यर्थ ही में अनायास ही उत्पन्न हो गया है नहीं तो यह अपने आप ही में स्थित है। वह अज्ञानी को देखकर हँसता है और अपने में कहता है कि यह भी तो मेरा ही स्वरूप है। वह समस्त व्यवहारों को करता भी है और सब से पृथक भी रहता है। वह इस सारे जगत को प्रतिक्षण जलता हुआ देखकर वैसे ही हँसता है कि जैसे कोई नगर को जलता हुआ देखकर पहाड़ पर चला जावे और हँसे वैसे ही वह ज्ञानी पुरुष जलते हुये संसार में अज्ञानियों को रागद्वेष में भस्म होते देखकर हँसते हैं और इस प्रकार स्वयं तो चिन्ता रहित रहकर मूर्खों को चिन्ता मग्न देखते हैं। हे रामजी! इस प्रकार ज्ञानियों को सब कुछ अद्वैत सत्ता ही भासती है और वे अपने आपको सर्वत्र शान्त-रूप देखते हैं। उनके निकट अणिमा आदिक सिद्धियां तुच्छ हैं और वे उन्हें रंचमात्र भी नहीं जानते। क्योंकि सिद्धियों का फल नश्वर है और ज्ञान का फल अजर—अमर और अविनाशी है। सिद्धियां संसार का कारण हैं और ज्ञान मोक्ष का कारण है। सिद्धियां दोष रूप हैं, ज्ञान निर्दोष है। जो इच्छा हो ग्रहण करलो। जैसे समुद्र में छोटे बड़े सभी तरंग उठते हैं परन्तु सब समुद्र ही में हैं, जिसका आश्रय करे वह प्राप्त होता है वैसेही ज्ञान और सिद्धियां सब कुछ आत्मा ही में हैं जिसका आश्रय करोगे वह प्राप्त होगा। परन्तु अन्तर्मुखी ज्ञानी होना संसार सागर को पार करना है। अन्यथा ऐसे जो अभ्यास करोगे वही प्राप्त होगा पाषाण का अभ्यास करोगे तो पाषाण ही प्राप्त होगा और आत्मा का अभ्यास करोगे तो आत्मपद ही प्राप्त होगा। नित्य के अभ्यास से पत्थर भी घिस जाता है। लोष्ठ भी चूर्ण हो जाता है। ऐसे ही जब जिस वस्तु का अभ्यास किया जाता है तब वही श्रेष्ठ बन जाती है इसी प्रकार ज्ञानाभ्यास से प्राणी दया की खानि बन जाता है और तब जगत आदि सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। जैसे मेघ समुद्र से ही जल लेकर वर्षा करते हैं सो जल

का स्थान समुद्र ही है वैसे ही जितने कुछ दया करते हुये दृष्टि आते हैं सो ज्ञान के प्रसाद से ही दया करते हैं इसलिये ज्ञान ही सर्व प्रकार से दया का स्थान है और वह ज्ञानी ही सब का हृदय है। उसके निकट जो कुछ भी प्रवाहपतित कार्य आन प्राप्त होता है उसको वह करता है और जो कुछ भी शरीर को दुःख आन प्राप्त होता है उसको वह ऐसे देखता है कि जैसे अन्य शरीर को होता है परन्तु अपने में वह सुख दुःख दोनों का ही अभाव देखता है। किन्तु जिसे यह अभ्यास नहीं होता वह शरीर के राग द्वेष से जलता है और ज्ञानी को शान्तिमान देखकर औरों को भी प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शीतलता उत्पन्न करता है वैसे ही ज्ञानवान की संगति से शीतलता उत्पन्न होती है। ज्ञानी आत्मपद को पाकर ऐसा आनन्दित होता है कि उसका आनन्द फिर कभी दूर नहीं होता। वह अपने उस आनन्द के आगे अष्टसिद्धियों को तृण के ही समान जानता है। हे रामजी ! ऐसे पुरुष सर्व प्रथम तो एकान्त सेवी होते हैं और कोई-कोई शुभ स्थानों में ही वास करते हैं। कुछ गृहस्थी में ही रहते हैं और कोई अवधूत होकर सबको दुर्वचन कहते हैं, कोई तपस्या करते हैं, कोई ध्यान लगाते हैं, कोई नग्न रहते हैं, कोई बैठे हुए राज्य करते हैं और कोई पण्डित होकर उपदेश करते हैं कोई मौन धारण किये रहते हैं, कोई पर्वत की गुफाओं में बैठते हैं कोई ब्राह्मण है, कोई सन्यासी है, कोई अज्ञानी के समान बने रहते हैं, कोई नीच और कोई पामर रहते हैं कोई आकाशमें उड़ते हैं और कोई-कोई अनेक प्रकार की चेष्टायें ही करते हैं परन्तु वे सभी अपने आप में ही सर्वथा स्थित रहते हैं वे अपने को ही अच्छेद्य अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष, नित्य, सर्वगत, स्थिर और अचल ही मानते हैं। वे अपनेको किसी में बन्ध्यायमान नहीं मानते और उनका नाश नहीं होता। ऐसे महात्माओं को कोई भी आरम्भ और कोई भी स्थान बन्धन का कारण नहीं होता वे चाहे आकाश में उड़ें, चाहे

पातालमें चले जावें अथवा चाहे देश देशान्तरों में ही क्यों न भ्रमण करते रहें उनको अधिकता और ऊनता कुछ भी नहीं भासती। उनके ऊपर पहाड़ ही टूट कर क्यों न गिर पड़ें और उस प्रकार वे चाहे कितना ही चूर्ण विचूर्ण क्यों न हो जावें परन्तु वे अपने को चूर्णित नहीं समझते। वे सर्वथा ही चैतन्यरूप रहते हैं, तब शरीर के नाश होने में वे अपना नाश भी क्यों कर मानें? हे रामजी! तुम भी ऐसा ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा-निर्वाण-प्रकरण-उत्तराद्ध का सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७७॥

—::*::—

अठहत्तरवां सर्ग

जगत और स्वप्नकी एकता

हे रामजी! अब मैं तुम्हें यह बतलाऊँगा कि यह जगत कैसे सुशील हो रहा है सुनो? जब उस आदि शुद्ध चिन्मात्र में चैतन्यता का स्फुरण हुआ तब उस वेदना के कारण उसमें शब्द की तन्मात्रा हुई कि जिससे आकाश उत्पन्न हुआ और जब स्पर्श की इच्छा हुई तब वायु उत्पन्न हुई। इस प्रकार वायु और आकाश के संघर्ष से अग्नि उत्पन्न हुई और जब अग्नि का उष्णभाव हुआ तब जल उत्पन्न हुआ। जब जलकी अधिकता हुई तब उसमें पृथ्वी उत्पन्न होगई। जब इस आकाश, वायु, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति होगई तब इन्हीं तत्वों से शरीर उत्पन्न हुये और फिर स्थावर जंगम नाना प्रकार का पंच-भौतिक जगत भासने लगा पर वास्तव में न कोई पंचभूत है, न कोई उत्पन्न हुआ है, न कोई नष्ट होता है, केवल आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। अतः आत्मसत्ता ही जगतके सब आरम्भों और परिमाणों से भासित हो रही है और वही चित्त के फुरने से जगतरूप होकर भासित होती है। भली भांति विचार करके देखिए तो जगत का कहीं भी पता नहीं चलता केवल आत्मतत्व ही

शेष रहता है। जैसे निद्रा दोष से ही स्वप्न में नाना प्रकार से जगत भासता है और निद्रा गाढ़ी हो तो स्वप्न ही भासता है वैसे ही चित्त के स्फुरण से ही जगत भासता है चित्त न रहे और आत्मसत्ता को ही लखता रहे तो जगत कुछ भी नहीं भासता। सारा जगत अपना अनुभवरूप ही है, भ्रम से आकार युक्त भास रहा है। भ्रम से निवृत्त होजावे तो एक अपना आप ही भासता है। तब अद्वैत ही अद्वैत प्रतीत होता है, द्वैत कुछ नहीं जान पड़ता। तब जब उस ज्ञानावस्था में द्वैत कुछ नहीं ज्ञात होता अज्ञानावस्था में भी यही समझना चाहिये कि द्वैत कुछ नहीं हुआ। हां, यदि ज्ञानावस्था में यह जगत सत्य भासे तो भले ही यह समझो कि सर्वदा ही यही सत्ता विद्यमान है। जगत की नश्वरता के लिये यही निश्चय धारण करना चाहिए कि जगत कुछ है नहीं। आकाश में नीलता और जेवरी में सर्प के समान ही यह मिथ्या है। कल्पना ही जगतरूप होकर भासित होरही है। राग द्वेष ही सब कुछ की प्रतीति करा रहा है। आत्मा में जागृत होजावे तो सारे क्षोभ स्वयं ही मिट जाते हैं। ज्ञान के आगे सभी ध्वंस होजाते हैं। तब इस भ्रमपूर्ण जगत का बिल्कुल ही पता नहीं चलता और तब ज्ञानी के निश्चय में सब कुछ चिदाकाश ही भासता है और अज्ञानी के निश्चय में तो जगतही भासता है। परन्तु यही जगत ज्ञानवान के लिए सर्वदा ही नश्वर जान पड़ता है। उसे जगत की सत्तातनिक भी विचलित नहीं कर सकती और उसके निश्चय में द्वैत का कुछ भी स्फुरण नहीं होता, और वह सर्वदा ही एक रस बना रहता है। जगत की साधारण विकृत तो उसका कुछ कर ही नहीं सकती अपितु यदि उसके मस्तक पर प्रलयकाल के मेघ भी गर्जें, समुद्र भी उछलें, पर्वत भी टूट पड़ें। कैसा भी भयानक शब्द क्यों न होवे किन्तु वह तनिक भी टस-से-मस तक नहीं होता विचलित और अस्थिर तनिक भी नहीं होता। परन्तु यही अनहोता जगत अज्ञानी की दृष्टि में प्रत्यक्ष दृष्टि आता है और उसे द्वैत-ही

द्वैत भासता है। जैसे कोई बन्ध्या स्त्री स्वप्न में अपने पुत्रको देखती है और पुत्र कहीं है नहीं अनहोते को ही सत्य जान रही है, वैसे ही अज्ञानी इस अनहोते जगत को सत्य जानता रहता है। जैसे कोई दिन में सोया हुआ रहे और यह स्वप्न देखे कि रात्रि हुई और कोई रात्रि में सोया हुआ दिन हुआ स्वप्न देखे, शून्य स्थान में भी नाना प्रकार के भ्रम होते देखे, अन्धकार में प्रकाश देखे और प्रकाश में भी अन्धकार देखे सो भ्रम से ही देखता है वैसे ही आत्म जागृत के अभाव में अज्ञानता के भ्रम वश उलटे ढङ्ग से जगत को स्थिर रूप में देखता है। जाग्रत और स्वप्न में कुछ अन्तर नहीं है। क्योंकि जैसा स्वप्न में बोलते और चलते हुये रहते हो वैसे ही जाग्रतमें भी तो रहते हो, फिर भेद और अन्तर कहां रहा? तब इसी प्रकार इसे समझो। देखो जब तुम्हें स्वप्न में नाना प्रकार का जगत भासता है तब तुम निद्रा से उठकर कहते हो कि मैंने यह जगत देखा है, परन्तु वास्तव में कहां रहता है, वह मिथ्या ही होता है? सब भ्रम मात्र ही तो रहा? इसी प्रकार यह जाग्रत जगत हमको भ्रम मात्र और स्वप्नवत ही जान पड़ता है। ऐसे ही जाग्रत और स्वप्नमें कुछ भेद नहीं।

इस पर रामजी ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर! स्वप्न जगत तो भ्रम मात्र हो सकता है क्योंकि वह जाग्रत होते ही ध्वंस हो जाता है और कुछ क्षण भी नहीं रहता परन्तु यह जगत तो कितने काल से ऐसाही प्रत्यक्ष भासित हो रहा है, फिर आप इस प्रत्यक्ष जगत को उस स्वप्न जगत के समान कैसे कहते हैं? भला जिसकी प्रतिमा प्रत्यक्ष ही अनुभव होरही है वह अप्रत्यक्ष के समान कैसे हो सकता है।

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! तुम्हारा यह कहना तो सत्य ही है कि जिसकी प्रतिमा प्रत्यक्ष भासित हो वह जाग्रत है। परन्तु जब ऐसा होवे तब न? यदि उसमें सो जावे तब? तब तो वह स्वप्न ही कहलायेगा न? देखो, यहां स्वप्न दो प्रकार का

हुआ। जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ वह तो जाग्रत हुआ और जब सो गया तब स्वप्न हुआ और उसी स्वप्न में स्मृति वश जगत का भान हुआ तब वही उसका जाग्रत हुआ और वही सबसे चेष्टा करने लगा और जब वहाँ से मृतक हो गया तब फिर वहाँ आया कि जहां पिछले को स्वप्न जानने लगा था। इसी प्रकार चित्त के भ्रम से उसने स्वप्न को जाग्रत और जाग्रत को स्वप्न देखा। सो यह क्या है? आखिर यही हुआ न कि जैसे किसीको स्वप्न आया और उसमें उसने अपनी चेष्टा और व्यवहार किये और फिर उसे स्वप्न हुआ तब उसके पश्चात् जब जाग्रत हुआ तब एक प्रकार का वह स्वप्न कहा गया। ऐसे ही यहाँ जाग्रत और स्वप्न का स्वरूप है। फिर एक और प्रकार का भी स्वप्न होता है। जैसे जाग्रत में मर जाये। शरीर छूट जाये तो परलोक को और वही परलोक उसके लिये जाग्रत हो गया और इस जगत को फिर वही प्राणी स्वप्न जानने लगा और तब यह जगत उसके लिये भ्रम प्रमाणित हुआ। फिर उसे परलोक में स्वप्न आया तो उसने परलोक में भी जाग्रत को स्वप्न देखा और जिस सृष्टि को उसने स्वप्न में जाग्रत देखी वही उसको स्वप्नवत होगई और जो स्वप्न में भासी थी वह जाग्रत होगई। फिर वहाँ से मृतक होकर आगे बढ़ा तो उसके लिये वहाँकी सृष्टि जाग्रत रूपमें भासित हुई और तब परलोकही स्वप्न हो गया। इस प्रकार हे रामजी! स्वप्न और जाग्रत दोनों ही असत्य हैं। जब मूर्ख स्वप्न से जाग्रत होवे तब उसे जाग्रत जाना जाय। और जब तक वह निज स्वरूप में जाग्रत नहीं हुआ तब तक उसे स्वप्नों में ही पड़ा हुआ कहते है। फिर इसको ऐसे भी समझो कि इस जगत में जो तीव्र संवेग होरहा है इसीसे जाग्रत जगत कह रहे हो पर यदि इसे स्वप्नही जानलो तो जाग्रत और स्वप्न दोनों ही समान हैं, भेद कुछ भी नहीं है। आत्मदृश्य में दोनों ही मिथ्यारूप हैं और वह आत्मा जन्म-मरण से सर्वथा ही परे है। तब

जब कि उसमें उत्पत्ति-प्रलय कुछ है ही नहीं तब उसमें यह जगत कहाँ से उत्पन्न होगया । यह तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में भी नहीं है । हाँ, भ्रमकाल में अवश्य ही जान पड़ता है। परन्तु आत्म ज्यों का त्यों सर्वदा ही प्रत्यक्ष रहने वाला है और उसमें जन्म मरण कुछ भी नहीं है । हे रामजी ! यह जगत उसी का आभास मात्र है और यह उस आत्मा चैतन्य का चमत्कार मात्र ही है। जैसे घट मृत्तिका रूपी है कुछ अन्य नहीं है, वैसे ही चेतन भी चैतन्यरूप ही है, कुछ भिन्न नहीं है। अतः चैतन्य से जगत कुछ भिन्न नहीं। और यह सारा स्थावर जङ्गम जगत चिन्मात्र ही है । अतः यह जितने भी पदार्थ तुमको भासते हैं सबको त्यागकर तुम अपने आत्मा की ओर देखो। सारा विश्व आत्मरूप ही है, तुम उसी दुःख रहित, आकाशवत निर्मल, चिदाकाश रूप में स्थित हो जाओ। जब तुमको अपनी सत्ताका अनुभव हो जायगा तब तुम्हारी समस्त द्वैत कलनायें नष्ट हो जायँगी और केवल आत्म तत्व मात्र ही शेष रहेगा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७८॥

——o::❀::o——

उन्यासीवाँ सर्ग

चिदाकाश-स्वरूप-वर्णन

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा-हे भगवन् ! आप बारम्बार चिदाकाश शब्द का प्रयोग करते हैं सो उस चिदाकाश का क्या रूप है और उसे जो अन्य परब्रह्म कहते हैं सो क्या है कृपाकर मेरी तृप्ति के लिये इसका कथन कीजिये।

वशिष्ठजी बोले-हे रामजी ! चिदाकाश और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है । केवल जगत के व्यवहार हेतु उसे दो नाम दिये गये हैं। परन्तु उसमें भेद कुछ भी नहीं है। जैसे एक माता के गर्भ से दो पुत्र साथ ही उत्पन्न होवें तो उनका आकार प्रकार एक

सा ही होता है किन्तु जगत व्यवहार में उनके दो नाम बोले जाते हैं, वैसेही जगत और ब्रह्म एक ही हैं जैसे दो पात्रों में जल रखा जाय तो जल एकही है, केवल पात्रों के ही नाम भिन्न २ होते हैं, ऐसे ही स्वप्न और जाग्रत भी दो नाम हैं परन्तु वास्तव में दोनों ही एक हैं और दोनों आत्मा ही में कल्पित हैं इससे वे चिदाकाश ही हैं कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी! यह जो तुम्हारी वृत्तियां बाह्य दृश्यों में फिरती हैं और जिससे तुम बैठे-बैठाये देश देशान्तर को चले जाते हो तो उस वृत्ति-स्फुरण में जो शक्ति है अथवा जो उसका संवित ज्ञान है कि जिसके आश्रय होकर वृत्ति फुरती है वही चिदाकाश है! उसी शक्ति को पाकर वृक्ष भी पृथ्वी से रस खींचकर ऊपर को जाते हैं। हे रामजी! वही सत्ता चिदाकाश रूप है। जैसे वृक्ष, फूल, फल और तेज आदिक सब केवल रस के ही आश्रय फुरते हैं वैसेही यह सारा जगत चिदाकाश के ही आश्रय फुरता है। जिसकी सारी इच्छायें नष्ट होगई हैं और जिसका राग-द्वेष रूपी मल शरत्काल के आकाश के समान निवृत एवं मल रहित हो गया है उसको चिदाकाश जानो। हे रामजी! जगत का जब अन्त हो जाये और जड़ता न आवे तब उसके मध्य में जो अद्वैत सत्ता होती वह चिदाकाश है और वेलि, लतायें जो फूलती और फलती हैं तथा जिसका आश्रय पाकर ही उनमें गुच्छे लटकते हैं और जो वृक्ष बढ़ते हैं वही चिदाकाश है। फिर चिदाकाश उसको कहा जाता है कि जिस शुद्ध संवित में रूप, अवलोक और मनस्कार सर्वथा ही नहीं रहते। हे रामजी! चिदाकाश ही सबका अधिष्ठान है और उसी से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब कुछ उत्पन्न हुये हैं। वही सर्वात्मा है और वही चिदाकाश है। फिर चिदाकाश को एक परिभाषा यह भी जानो कि जब अर्द्ध रात्रि के समय तुम उठते हो तब इन्द्रियां बिल्कुल ही शान्त रहती हैं और उन्हें विषयों का सर्वथा ही अभाव रहता है तब उस काल में जो अफुर सत्ता होती है वह चिदाकाश

कहा जाता है । जिस संवित में स्वप्न की सृष्टि फुरती है और फिर जाग्रत भासती है तब इस प्रकार स्वप्न-जाग्रत दोनों के ही मध्य में जो शोभायमान सत्ता है वह चिदाकाश है । हे रामजी ! फुरना ही तो जगत होकर भासित होता है और द्रष्टा, दर्शन दृश्य जो कुछ भासता है सब फुरना ही तो है। आत्मारूपी तागे में यह सत्यासत्य जगतरूपी मणि पिरोई हुई है और यह सब कुछ उसी चिदाकाश के आश्रय होकर फुरती है । हे रामजी ! वह चिदाकाश एवं अधिष्ठान सत्ता ऐसी है कि उसका आश्रय पाकर ही एक निमेष में जगत की उत्पत्ति और प्रलय हो जाती है । तब जबकि वह सत्ता ही सब कुछ है कि जिसमें ही सब उपजते और सब लीन होते हैं और जिसमें ही सब स्थित हैं—ऐसा-(उसीको) चिदाकाश जानो। फिर यह जगत मिथ्या नहीं तो क्या है । जैसे मरुस्थल की नदी भासती है वैसे ही यह जगत है । परन्तु जिसमें कुछ भी सङ्कल्प-विकल्प नहीं है, जो सर्वदा ही अपने आपमें स्थित और दुःख रहित निर्विकल्प सत्ता है वही चिदाकाश है । फिर चिदाकाश वह है कि जो नेति-नेति से भी आगे अनादि से भी और आगे रहता है, वही शुद्ध, चेतन, आत्मसत्ता सबका अपना आप और सबका अनुभव रूप कहा जाता है । इसमें जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही भासता है और वही चिदाकाश रूप है । वही शुद्ध आत्मसत्ता फुरने से रहित होकर जगत रूप से भासित हो रही है। हे रामजी ! ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त यह जो कुछ स्थावर जङ्गम तुम देख रहे हो सब चिदाकाश रूप ही है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ । इसमें द्रष्टा दृश्य, भोक्ता और भोग कुछ भी नहीं है। यह सब कुछ कल्पनामात्र ही है। कार्य कारण कहीं नहीं है। आत्म-अज्ञान से उठे हुए सङ्कल्प विकल्प गिरकर आत्मा ही में लीन हो जाते हैं। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही नगर रूप होकर भासता है, वैसे ही यह जगत भास रहा है जगत ही क्या—यह इन्द्र और रुद्र आदिक भी सब अनुभव

रूप ही हैं। जैसी भावना होती है वैसा ही भासता है। चिदाकाश की भावना हो जाये तो यह सारा प्रपञ्च नष्ट हो जाता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का उन्यासीवां सर्ग समाप्त ॥७९॥

—o:❀:o—

अस्सीवाँ सर्ग

सृष्टि की अकारणता

हे रामजी! यह सारा जगत मन के फुरने में ही स्थित है। मन फुरा नहीं कि जगत उठ खड़ा होता है। इस प्रकार जब मन फुरने से रहित होता है तब जगत की भावना नष्ट हो जाती है और वही ज्ञानी है कि जो अपने मन से जगत की भावना को उठा देवे। जिसके मन में जगत की भावना नहीं उठती वह मन निर्वासनिक कहा जाता है और उसका देखना सुनना, इन्द्रियों से ग्रहण करना आदि सब कुछ धन सुषुप्त हो जाता है। ऐसा जो वासना रहित और शान्त मनवाला है वह बोलता चालता, खाता, पीता सब कुछ पाषाणवत मौन होकर ही करता है और उसके निकट जगत की कुछ भी आस्था नहीं रहती। वह जगत को मृग तृष्णा के जलवत ही मिथ्या जानता है। और हे रामजी! यह जगत ऐसा ही है कि जैसे आकाश में भ्रमवश दूसरा चन्द्रमा भासे, वैसे ही भ्रमवश और बिना कारण ही यह जगत भासित हो रहा है। इसमें कुछ उपजा नहीं। सब कुछ अधिष्ठान ही है। स्वप्न में इन्द्रियादिक पदार्थ भासते हैं और उसमें दृश्य, दर्शन सब कुछ मिथ्या है, कुछ हुआ नहीं वैसे ही यह जाग्रत जगत मिथ्या ही है, इसमें कुछ न तो उत्पन्न हुआ और न कुछ स्थित हुआ, न आगे होगा और न इसका नाश होता है क्योंकि जब यह उत्पन्न ही नहीं हुआ तब नाश क्या होगा? उपजा होता तो नाश भी होता। यह सारा दृश्य रूप ही है। कारण ही दृश्य होकर भास रहा है। हे रामजी! यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सहित जो कुछ भी जगत भासित हो रहा

है सब आदि स्वरूप और चिदाकाश ही है—इसमें कार्य—कारण कुछ भी नहीं है। जब आत्मा में चित्त का स्फुरण होता है तब वही सत्ता जगत रूप होकर भासने लगती है। जैसे आकाश में शून्यता ही उसका रूप है वैसे ही आत्म में जगत् आत्मरूप ही है!

रामजी ने पूछा—हे भगवन्! जब फुरने के अनुसार ही वैसा ही हो जाता है तब इसमें यह जो कारण कार्य का भेद लगा हुआ है सो कैसे?

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! न कहीं कारण है, न कहीं कार्य है। सब जैसा का तैसा चिदाकाश स्वरूप ही स्थित है। उसमें जैसा फुरना हुआ वैसा हो गया। परन्तु यह सब कुछ विना कारण ही है। इस समग्र सृष्टि का न कोई कर्त्ता है, न कोई भोक्ता, केवल भ्रम वश कर्त्ता—भोक्ता जान पड़ता है। जैसे स्वप्न सृष्टि का कोई कारण नहीं होता और वह विना—कारण ही केवल विकल्पवश उत्पन्न हो जाती है वैसे ही चिदाकाश से यह सृष्टि भी विकल्पवश विस्तृत हो रही है। परन्तु वास्तव में यह ब्रह्मसत्ता ही है। जैसे स्वप्नपुर होता है, वैसे ही यह सृष्टि भी हो गई है। किन्तु यह सब कुछ चिदाकाश और अनुभव सत्ताही है केवल फुरने से ही उत्पन्न हुई है। जैसे मूर्ख बालक को अपनी परछाईं में ही बैताल की कल्पना होती है वैसे ही मनुष्य की अज्ञानताही उसे [जगत को] कार्य—प्रकरण के रूप में दृष्टि आ रही है। किन्तु यह सब कुछ ब्रह्म ही है और उसे ही चाहो तो तुम कारण मानलो अन्यथा कारण किसका? ब्रह्मसत्ता ही इन्द्र, रुद्र, पर्वत और नदियों में युक्त सारा जगत प्रकट रूप से जान पड़ता है। अतः चिदाकाश सत्ता में जैसा फुरना हुआ वैसा रूप हो गया। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण—प्रकरण—उत्तरार्द्ध का अस्सीवा सर्ग समाप्त ॥८०॥

—o::❀::o—

इक्यासीवाँ सर्ग

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! इस प्रकार जो चिदाकाश एवम् अचैत्य चिन्मात्र आकाशरूप आत्मसत्ता है वही जगतरूप होकर भासित हो रही है। उसी शुद्ध चिन्मात्र सत्ता में यह सारा जगत जगतरूप से भासित हो रहा है। शुद्ध चिन्मात्र में अहं का स्फुरण होता है। किन्तु वह केवल अहंरूप ही है। मैं तुम और यह सारा जगत जो एक दूसरे से बोलता चालता और व्यवहार करता हुआ देखने में आ रहा है वह काष्ठ के समान मौन ही है। परन्तु यह सब कुछ उसी आत्मरूपी रत्न का चमत्कार मात्र है कि जो आत्मा से भिन्न नहीं है। यह आकाश के तारे मरुस्थल का जल, धुयें का पहाड़ जैसा बादल जो कुछ भी दिखलाई पड़ रहा है, सब भ्रममात्र ही है। भला इस जगत को तुम वस्तु रूप कैसे मानते हो यह तो सर्वथा ही अवस्तु रूप और अन उपजा ही है। चित्त रूपी बालक ने ही जगज्जाल की यह सेनायें रच डाली हैं कि जो सर्वथाही असत्य और भ्रम पूर्ण हैं। यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदिक भूत सब भ्रमपूर्ण हैं। इसमें सत्य का विश्वास करना मूर्खता है, ये सर्वथा ही असत्य हैं। मूर्ख बालक ही इसे सत्य कहेंगे इसे सत्य कहने वाले वे मूर्ख ही होंगे कि जो इसके आश्रय होकर सुख की इच्छा करते हैं। करें, वे निश्चय ही आकाश धोने का सा प्रयत्न करते हैं। उनका सारा यत्न व्यर्थ है। क्योंकि जगत कुछ है नहीं, भ्रममात्र है। तब भला इस भ्रममात्र जगत को जान कर जो इसके पदार्थों के पाने की इच्छा करेगा, वह कैसे पावेगा ? भला, कहीं यत्न करने से पुत्र मिलता है। अतः जगत के लिये यत्न करना मूर्खता है। इस जगत में सुख कदापि नहीं मिलता। सुख के पाने की अभिलाषा व्यर्थ है। क्योंकि यह जो पृथ्वी आदिक समस्त भूत दिखलाई पड़ रहे हैं सब भ्रममात्र ही हैं, तब जो स्वयं ही भ्रमपूर्ण

हैं, जो स्वयं कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ वह प्राप्त कैसे होगा ? तब जगत् को मानने वाले मूर्ख नहीं तो क्या हैं ? ज्ञानजन इसे सर्वथा सत्य ही जानते हैं। अच्छा है, जानें, हमारा उनसे प्रयोजन ही क्या है ? हम तो ऐसा ही जानते हैं कि जगत निराकार ही है और जो कुछ है सब आत्मसत्ता ही है, जगत् कुछ है नहीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का इक्यासीवां सर्ग समाप्त ॥८१॥

—o::❀::o—

बयासीवां सर्ग

राजा विपश्चित की कथा

वशिष्ठजी ने ऐसा कहा ही था कि रामजी पूछ बैठे-हे भगवन् ! आप कहते हैं कि यह जगत् अज्ञान का एक स्वप्न मात्र है जो सत्य भासता है। सो यह हमारी समझ में नहीं आता कि यह अज्ञान क्या है और स्वप्ना क्या है ? भला कहिये तो सही कि किसको कितने काल का स्वप्ना है और किसको कहाँ अज्ञान बैठा हुआ है ? अविद्या भी कहाँ है और किसकी है ? यदि किसी को है तो आप उसका प्रमाण दीजिये। वशिष्ठजी कहने लगे-अच्छा प्रमाण लो। देखो, मैं हर प्रकार से तुम्हें प्रत्यक्ष करा देना चाहता हूँ कि यह जगत् अविद्यारूप ही है। इसका न आदि, न अन्त है और अज्ञानी ही इसे सत्य जानता है। सुनो, इस पर अब मैं तुम्हें एक प्रमाण देता हूं। देखो, चिदाकाश कोई साधारण सत्ता नहीं है। इसमें कितने ही ब्रह्माण्ड स्थित हैं। इसी के एक जगत् में तुरमत नाम का राजा राज्य करता था। एक समय वह अपनी सभा में ऐसे समय से बैठा हुआ था जब कि उसके चारों ओर उसकी परम तेजस्वी सेना भी बैठी हुई थी। तब उसके पास पूर्व दिशा से एक दूत दौड़ता हुआ आया और बोला कि हे राजन् ! जो आपका पूर्व दिशा का मण्डलेश्वर था वह जरा मृत्यु से मृतक होकर यम के लोक को

चला गया सो अब आप अपने पूर्व खण्ड का प्रबन्ध करें अन्यथा उस पर दूसरे मण्डलेश्वर आते ही जाते रहते हैं। हे रामजी! ऐसा वह दूत कह ही रहा था कि दूसरा दूत पश्चिम दिशा से आया और उस राजा से बोला—हे राजन्! आपने जो अपने पश्चिम दिशा पर मण्डलेश्वर नियुक्त किया था वह तप करते—करते मर गया, अब आप पिश्चिम दिशा की रक्षा करें, अन्यथा दूसरे मण्डलेश्वर आते रहते हैं। यहकर वे दोनों दूत ज्यों ही चले गये कि त्यों ही दक्षिण दिशा से एक दूत दौड़ता हुआ आया और जोर से राजा से बोला—हे राजन्! आपने दक्षिण दिशा में जो मण्डलेश्वर भेजा था वह मृतक हो गया, सो अब आप अपने दक्षिण दिशा का प्रबन्ध करें अन्यथा मण्डलेश्वर के अभाव में वहाँ दूसरे ही दूसरे मण्डलेश्वर दौड़ लगा रहे हैं। सो आप ध्यान दीजिये। ऐसा कहकर वह भी दूत चला गया। तब वह राजा कि जिसके पास ही सेना बैठी हुई थी उसने अपने समस्त सैनिकों से कहा—अहो! तुम लोग बैठे क्यों हो, मेरा पूर्व और पश्चिम दोनों ही शून्य हो गया दौड़ो वहाँ की रक्षा करो, विलम्ब न करो। परन्तु देखो जो जिधर की ओर जाओ मेरे ही ओर से होकर जाना। हे रामजी! वह राजा ऐसा कह ही रहा था कि उसी क्षण उत्तर दिशा से भी एक हरकारा आया और उसने वही कहा जो और कह गये थे। तब राजा विपश्चित बड़े आश्चर्य में पड़ा और महान् दुखित होकर मंत्रियों को बुलाकर परामर्श किया कि अब क्या किया जाये। तब मंत्रियों ने कहा—महाराज! अब तीन उपाय छोड़ दीजिये। जैसे १—नम्रता २—धन, ३—भेद बुद्धि। क्योंकि अब ये तीनों ही नहीं चाहिये। यद्यपि ये तीनों गुण एक धर्मात्मा राजा के प्रधान अङ्ग हैं परन्तु राजा का एक यह भी महान् अङ्ग है कि वह आततायी का वध करे, हमारे मंडलेश्वरों को मृतक करने वाले अततायी हैं। अतः आततायी का वध करना ही राजा का धर्म है। सो अब आप युद्ध का उपाय

करें। बिना युद्ध के काम न चलेगा। विलम्ब भी न कीजिये और देखिये, चाहे जिस प्रकार हो प्राणों की ममता त्यागकर उत्साह युक्त कर्म कीजिये। हे रामजी! मन्त्रियों के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—ठीक है, ऐसा ही हो। फिर तो बात की बात में हाथी, घोड़े और निशान नगारे युक्त वह वृहद सेना युद्ध के लिये सन्नद्ध होगई। बड़ा कोलाहल शब्द उत्पन्न हुआ। तब राजा विपश्चित ने मन्त्रियों से कहा—अहो मन्त्रिगण! तुम लोग तो सेना के साथ चलकर शत्रु से युद्ध आरम्भ कर दो और मैं स्नान, ध्यान करके अभी आता हूँ। मन्त्रियों ने कहा—ठीक है हम चलते हैं। हे रामजी! ऐसा कहकर सैनिक गण चले और आकर अपने शत्रुओं से युद्ध करने लगे। घोर युद्ध मच गया दोनों ओर सैनिक कट कटकर गिरने लगे। इधर राजा विपश्चित ने क्या किया कि—गङ्गा जल से-खूब स्नान कर स्वच्छ हो चन्दनादि से विभूषित हुआ और फिर यज्ञशाला में जाकर अपने अग्निकुण्ड में यज्ञ करने लगा। जब यज्ञ-धूम्र से यज्ञशाला भर गया तब राजा मुक्त कण्ठ से खड़े होकर अग्निदेव से प्रार्थना करने लगा कि हे ब्रह्मन्! तुम साक्षात् ब्रह्म हो, मैंने बहुत दिनों से तुम्हारी सेवा की है और तुमने भी मुझे सब प्रकार से सन्तुष्ट ही किया है सो हे भगवन्! अब मुझ पर ऐसा सङ्कट आया कि इसे दूर न करोगे तो लज्जा ही जावेगी। तुम सर्व शक्तिमान हो इससे मैं अब तुम्हारी ही शरण आया हूँ। यदि मुझे कुछ भी अपना भक्त समझो तो देखो या तो मुझे सर्वदा के लिये अपने पास ही बिठा लो ताकि मैं तुम्हें फिर कुछ कष्ट न दे सकूं और या तो मेरी हितकामना की दृष्टि से मुझमें ऐसा अभूत पूर्व बल दे दो कि मैं अपने चारों ही दिशाओं की रक्षा कर सकूं। हे रामजी! ऐसा कहकर राजा विपश्चित ने उसी प्रज्वलित अग्नि में अपना सिर काट कर अग्निदेव को चढ़ा दिया। धड़ बाहर था सो वह भी छटकर अग्निकुण्ड में जा

गिरा। अग्निदेव ने शिर के साथ ही धड़ को भी चर्वण कर लिया। इस प्रकार जब अग्नि ने शिर और धड़ दोनों को खाकर पचा लिया तो एक ऐसा हुँकार किया कि उससे वैसे ही वैसे चार विपश्चित् राजा अतुलित बलशाली उत्पन्न होकर अपने चारों दिशाओं की रक्षा करने के लिये उड़ चले। इधर युद्ध तो हो ही रहा था कि ये चारों राजा भी अपने-अपने दल में जाकर युद्ध कौशल देखने लगे। फिर तो युद्ध ने यह भीषणरूप धारण किया कि समस्त वीर अपने प्राणों का मोह त्याग कर एक दूसरे अपने विपक्षी को काटने मारने लगे। कायरों का दिल दहल उठा, भाग चले। किन्तु वीर पुरुष क्यों भागते, वे तो सम्मुख होकर महादारुण संग्राम करने ही लगे। रक्त की प्रचण्ड धारा वह चली। उसमें माँस मज्जा और कटे हुए वीर तथा बड़े-बड़े वृक्ष और कितने ही विशाल नगर भी कटकर वह चले। मांस खाने वाले पक्षी मांस का टुकड़ा लेकर आकाश को उड़ने लगे। योगिनियां माँस खा रक्त पीकर उन्मत्त हो नृत्य करने लगीं। कितने ही वीरों को अप्सरायें स्वर्ग ले जा रही थीं और कितनी विद्याधरियाँ अपने २ विमानों में बैठकर आकाश मण्डल से वह युद्ध देख रही थीं। उस समय तक राजा विपश्चित की बहुत सेना मारी जा चुकी थी और जो बची थी वह भी मर्माहत हो चली थी। तब सेना की ऐसी दुर्दशा देखकर राजा विपश्चित से न रहा गया, और वह महान् उत्तेजित होकर घोर युद्ध करने पर सन्नद्ध हो गया। फिर तो कहना ही क्या था, भीषण संग्राम छिड़ गया। किन्तु राजा जितना ही बल लगाता कि युद्ध भी उतना ही जोर पकड़ता जाता था। तब राजा ने जब वह दृश्य देखा तो उसने कहा—अहो, सत्य ही है अब मेरे इस प्रकार के उपाय से भी शत्रुओं का मान मर्दन न होगा इसलिये अब मुझे वायव्यास्त्र का प्रयोग करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर उसने वायु अस्त्र को हाथ में लिया। फिर तो वह प्रचण्ड आँधी चली कि दिन का रात हो गया चारों

और अंधकार ही अंधकार छा गया । तब अंधकार कैसे दूर हो राजा ने मेघ अस्त्र को चलाकर अंधकार दूर कर दिया और जल की घोर वर्षा से समस्त वायु जहाँ का तहाँ शान्त हो गया । परन्तु मेघास्त्र से उत्पन्न हुआ अगाध जल अपार हो गया तब राजा ने शिव अस्त्र चलाया तो उससे नदियाँ प्रकट होकर बहने लगीं । शस्त्रों का घोर प्रवाह बह चला । चक्रों की नदी, वज्र की नदी, बरछी की नदी, बिजली की नदी और क्या कहें इस प्रकार शस्त्रों की घोर वर्षा से कितनी ही नदियाँ बह चलीं । फिर तो उसके समक्ष जो भी सेना जाती वह मृतक हो जाती थी । परन्तु यही नहीं कि राजा विपश्चित के ही सैनिक कटे हों वरन् शत्रु पक्ष की भी सेना का अन्त हो चला था निदान लड़ते-लड़ते दोनों ही सेनायें कट मरीं । कितने ही वीर युद्ध के भय से कम्पित होकर पर्वत की कन्दराओं में जा छिपे और कितने ही उस प्रचण्ड रक्त की धारा में बह चले । हे रामजी ! जब इस प्रकार से दोनों ओर के सैनिक लड़ भिड़कर शेष हो गये तब आकाश निर्मल हो गया, दिशायें स्वच्छ हो गयीं । जैसे ज्ञानी का मन निर्मल होता है वैसे ही आकाश मण्डल क्षोभ रहित हो गया । तब वे चारों ही विपश्चित राजा वहाँ से चलकर समुद्र के तट पर जा पहुँचे ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बयासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८२॥

———०::❀::०———

तिरासीवाँ सर्ग

आकाश-आत्म-तुलना

हे रामजी ! जब इस प्रकार से राजा विपश्चित समुद्र के किनारे जा पहुँचा तो मन्त्रियों ने उसे समुद्र तट के स्थानों का दिग्दर्शन कराया और फिर कहा—हे राजन् ! शरीर पाकर मनुष्य को तीन पदार्थ महान् कष्टकारक होते हैं । १-लक्ष्मी, २-शरीर रोग, ३-युवावस्था । क्योंकि लक्ष्मी

को पाकर पापी उससे पाप करते हैं और शरीर की आरोग्यता से विषयों का सेवन करते हैं और जब तक युवावस्था रहती है तब तक कोई पुण्य एवं सुकृत कर्म नहीं करता। ऐसे ही कोई विचार वान और पुण्यवान होता है जो इनको पाकर शुभाचरण करे। ऐसे ही यह समुद्र भी है कि इसमें रत्न भी हैं और जीव हिंसक जलचर भी हैं। इससे यह जीवन्मुक्त ही हैं। क्योंकि यह सब कुछ को धारण किये हुए भी जीवन्मुक्त ही है। यह अपनी मर्यादा को कभी नहीं छोड़ता और इसे कुछ भी रागद्वेष नहीं होता। ऐसे ही वे ज्ञानी पुरुष हैं कि जो किसी से रागद्वेष नहीं करते परन्तु ऐसे ज्ञानवान भी कोई विरले ही होते हैं। जैसे सीप में मोती कहीं ही कहीं निकलता है वैसे ही तत्वदर्शी और ज्ञानी कोई विरला ही होता है। हे राजन् ! आप यहां की समस्त रचना देखिये कि यहां कैसे- कैसे पर्वत, कैसे पक्षी और कैसे २ विद्याधर किस २ स्थान में बस रहे हैं। यह देखिये कहीं देवियां विलास कर रही हैं, कहीं योगी वास करते है, कहीं ऋषि, मुनि, ब्रह्मचारी और कहीं वैरागी वास करते हैं। फिर तनिक इस द्वीप को तो देखिये कि जिसमें यह सात समुद्र विद्यमान हैं और जिन समुद्रों में बड़ी २ तरंगें उछल रही हैं। कहीं पर्वत का कौतुक दिखलाई पड़ रहा है, कहीं आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, तारे और कहीं ऋषि, मुनि ही दिखलाई पड़ रहे हैं, परन्तु यह सब भी क्या है—सबको एक आकाश ही दिखलाई पड़ रहा है और वास्तव में ये सभी वैसे ही एक दूसरे से असङ्ग है कि जैसे महान् पुरुष असङ्ग रहते हैं। इनके लिए शुभ अशुभ दोनों ही एक समान हैं। जैसे ज्ञानी का मन सर्व स्थानों से निर्लेप होता है वैसे ही यह आकाश सर्व पदार्थों से निर्लेप और सङ्ग रहित है। सो हे आकाश ! तू कैसा है कि तुझ में समस्त प्रकाश अन्धकार ही हो जाते हैं। क्या तू सबका आधारभूत है ? तब तुझे लोग शून्य क्यों कहते हैं ? जो तुझे शून्य कहें वे मूर्ख हैं। यद्यपि तुझ में सात्विकी,

राजसी और तामसी ये तीनों ही गुण विद्यमान हैं तथापि तू इन सब से परे ही दिखलाई देता है। हे आकाश! देखने में तो तू इतना निर्मल जान पड़ता है, परन्तु तुझ में यह अन्तर कहाँ से आ गया है। तुझे जब मैं देखता हूं तब तू ऐसा ही दिखलाई पड़ता है तो क्या तू अनित्यरूप है? परन्तु यह जो चन्द्रमा तुझ में रह कर तुझे शीतल करता है और जो सूर्य तुझे तपता है और जो तुझमें तीर्थ आदिक पवित्र और पापी आदिक अपवित्र स्थान हैं इन सबको धारण किये हुए तू सर्वदा एक समान कैसे बना रहता है? हे आकाश! वृक्षों को बढ़ाने और उन्हें ऊँचाई देनेवाला तू ही है सो अपनी इस माया को तू ही जान सकता है और कोई दूसरा तेरी माया को क्या जानेगा। तू सर्वथा ही निष्किञ्चन और अद्वैत है। तू ही सबको धारण कर रहा है और तुझी से सब को अर्थ सिद्ध होते हैं। यह तृण और जलतो सर्वदा नीचे को ही जाते हैं परन्तु तू तो सर्वदा ही ऊँचा और विभु है। तेरे ही में अनेक पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं और तू सर्वदा ही ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं और अग्नि ज्यों का त्यों ही बना रहता है वैसे ही तेरे में अनन्त जगत उपजते और लीन होते हैं और तू जैसा का जैसा ही बना रहता है। तुझे जो शून्य कहते हैं वे मूर्ख हैं। सो हे राजन्! ऐसा आकाश कौन है? ऐसा आकाश वह तुम्हारी आत्मा ही है कि जिस चेतन आकाश में एक नहीं अनेक और अनन्त जगत उतपन्न और लीन होते ही रहते हैं। तब भला उसे शून्य कहने वाला मूर्ख नहीं तो क्या है? क्योंकि वही तो सबका अधिष्ठान है, वही सबको धारण कर रहा है और वही सबसे निःसङ्ग और निर्विकार हैं, मैं ऐसे चिदाकाश को नमस्कार करता हूँ। पर यह बड़ा आश्चर्य है कि वह सर्वदा ही एक रस रहने वाला और बड़ा ही मायावी है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण का तिरासीवां सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौरासीवां सर्ग

राजा विपश्चित की कथा

मन्त्रियों ने कहा—हे राजन् ! यह आकाश-आत्म तुलना जो मैंने कही है जीवन मुक्त का प्रसङ्ग है । अब इसे स्पष्ट समझने के लिये मैं एक विद्याधर और विद्याधरी का आख्यान कहता हूँ, सुनो । हे राजन् ! विद्याधर और विद्याधरी अपने मन्दिर में बैठे थे कि वहाँ एक ऋषि आ पहुँचा। परन्तु वे दोनों कुछ ऐसे भाव में बैठे थे कि विद्याधर ने ऋषि का आदर न किया कि जिससे ऋषि ने क्रोधित होकर उसे ऐसा शाप दिया कि वह विद्याधर बारह वर्ष के लिये वृक्ष हो गया । सो हे राजन् ! वह कहीं दूर की बात नहीं है—यह देखो, वह यही विद्याधर है कि जो पहले वृक्ष होगया था और अब हम लोगों के आते ही शाप से मुक्त होगया । परमात्मा की नीति भी कैसी विलक्षण है कि कभी कुछ का कुछ हो जाता है । कहीं वर के शाप हो जाते हैं और कहीं शाप ही वर हो जाता है । परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी विचारवान की सङ्गति लाभप्रद होती है और अज्ञानी का सङ्ग महान् दुःखकर होता है । यद्यपि अज्ञानी की चेष्टा देखने में तो सुन्दर होती है पर वे हृदय से मूर्ख हैं, इससे उनकी सङ्गति भी अनिष्टकारक ही होती है । किन्तु अज्ञानी की चेष्टा देखने में भले ही सुन्दर न जान पड़े तब भी वह कल्याण ही करती है। हे राजन्! अज्ञानी पुरुष उस नीच कुक्कर (श्वान) के समान है कि कितने ही मलिन स्थानों में भी भटकता है और घर-घर में जाता है तथा उसके निकट जो कोई आता है । उसे काटने दौड़ता है वैसे ही वह अज्ञानी है कि जो श्रेष्ठ पुरुषों की निन्दा करता हुआ मनमें तृष्णा रखता है और विषयरूपी खाई में गिर पड़ता है । मानों वह मूर्ख मनुष्य श्वान ही है और श्वान से भी निकृष्ट है । ब्रह्मा की समस्त

सृष्टि में श्वान सबसे निकृष्ट है । देखो वह क्या समझता है । जैसे किसी ने कुत्ते से प्रश्न किया–हे कुकुर ! भला तुमसे भी कोई नीच है या नहीं ? कुकुर ने कहा क्यों नहीं, मुझसे नीच मूर्ख हैं । मैं मूर्ख मे भी श्रेष्ठ हूँ । क्योंकि मैं तो फिर भी हूं कि जो मुझे पालता है, मैं जिसका अन्न खाता हूँ. उसकी रक्षा करता हूँ, उसके द्वार पर बैठा रहता हूँ परन्तु मूर्ख से तो यह कार्य भी नहीं होता, इससे मैं उससे श्रेष्ठ ही हूँ । मूर्ख देहाभिमानी भी होता है परन्तु मुझे तो शरीर का कुछ भी अभिमान नहीं है । इससे मूर्ख मनुष्य कुत्ते से भी निकृष्ट है क्योंकि वह अभिमान करता है । तब भला जिसको देहाभिमान है वह आपदा को क्यों न प्राप्त होगा ? मैं तो उस मूर्ख मनुष्य को वह कौवा ही कहूँगा कि जो बैठ जाता है सबसे ऊँची डाल पर और व्यर्थ ही काँव–काँव करता है । जैसे एक कौवा उड़ता हुआ किसी सरोवर के तट पर ऐसे स्थान पर जा बैठा कि जहाँ खिले हुए कमल पर भौंरे बैठे हुये कमल–रस का पान कर रहे थे । तब भौंरों को देखकर कौवा उन्हें हँसने लगा और अपनी भाषा में कां कां करने लगा तो भँवर भी उसे देखकर हँसे कि अहो, इस मूर्ख कौवे को तो देखो देखो कि हम पर हँस रहा है, भला इसको कमल रस का स्वाद क्या जान पड़े हे राजन् ! ऐसे ही अज्ञानी मनुष्य कौवे के समान हैं कि जो ज्ञानरूपी कमलकी सुगन्धिको नहीं जानते परन्तु जिज्ञासी भँवर के समान हैं कि जो परमार्थरूपी सुगन्धि की खोज में ही घूमा करते हैं । इससे जिज्ञासी मूर्ख को देखकर उसी प्रकार हँसते हैं कि जैसे भँवरे उस कौवे को देखकर हँसते थे । इतनी कथा सुनकर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा हे भगवन् यह सब तो मैं जान चुका कि आप क्या कह रहे हैं । परन्तु यह तो बतलाइये कि ऐसा–ऐसा देखकर और मन्त्रियों से सुनकर उस राजा विपश्चित ने फिर क्या किया ? वशिष्ठजी बोले–हे रामजी ! वे चार विपश्चित थे न ? तब उनमें जो पश्चिम दिशा का विपश्चित था

वह वनों में विचरण करता हुआ एक मत्तहस्ती के वश में पड़ गया और उसने विपश्चित को पर्वत की एक कन्दरा में ले जाकर मार डाला और दूसरे विपश्चित को एक राक्षस ने वड़वाग्नि में ले जाकर झोंक दिया और अग्नि उसका भक्षण कर गया । तीसरे विपश्चित को एक विद्याधर उठाकर इन्द्र के पास ले गया तो उसने इन्द्र का तिरस्कार किया जिससे इन्द्र ने शाप देकर भस्म कर दिया और चौथे विपश्चित को एक मच्छ ने आठ टुकड़े कर डाला । इस प्रकार चारों विपश्चित नष्ट हो गये । परन्तु उनकी संवित तो नष्ट नहीं हुई थी इससे पहले तो आकाशरूप हो गई फिर उसमें संसार का भाव था उसमें वह फिर स्फुरित हुई और स्थावर जङ्गमरूपी जगत को देखने एवं अन्तवाहक चेष्टा करने लगे तब उनमें जो एक पश्चिम दिशा का विपश्चित था वह विष्णु भगवान के स्थान में मर कर निर्वाण हो गया जिससे कि उसकी सर्व शक्तियाँ अर्थ-शून्य होगईं और वह सर्वथा ही मुक्त होगया । दूसरा एक मच्छ के पेट में हजार वर्ष तक रहा, पश्चात् एक देश का राजा हुआ और राज्य करने लगा । तीसरा चन्द्रमा के निकट जाकर मरा तो वह चन्द्रलोक को प्राप्त हुआ और चौथा विपश्चित बहता हुआ समुद्र के पार जाकर ८२ हजार योजन की दूरी को पार कर गया । ऐसे ही चारों फिर जीवित हुये और फिर कितने ही समुद्र, वन और पर्वतों को लांघ गये । तब सबके ही आगे दश हजार सुवर्ण की पृथ्वी आई कि जहाँ देवताओं के विचरने के स्थान हैं; और वे उन्हें लांघ गये । तब उन्हें आगे लोका लोक पर्वत मिले कि जिसने सब पृथ्वी को घेर लिया था और जो साठ हजार योजन ऊँचा था उसको लांघकर वे सिद्धों के उस मण्डल को भी पार कर गये जहाँ तारों का चक्र चलता था । उसके आगे एक शून्य नक्षत्र था कि जहां पृथ्वी और जल आदिक कोई भी तत्व न थे और केवल एक आकाश ही शून्य अवस्था में दृष्टिगत होता था और

जहाँ स्थावर जङ्गम कोई भी पदार्थ न थे, न उपजते थे, न मिटते थे, उन्होंने उसे भी देखा। इस प्रकार उन्होंने समस्त भूगोल को देख लिया। हे रामजी! भूगोल का अर्थ यह है कि जैसे गेंद का गोला होता है वैसे ही भूगोल होता है कि जिसके चारों ही ओर आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र फिरते ही रहते हैं और जो संकल्प से ही ऐसा मान लिया गया है। वह पृथ्वी का नक्शा है कि जिससे आगे दशगुना जल, उससे आगे दशगुना अग्नि, उसके आगे दशगुणा वायु और उसके आगे वह ब्रह्माण्ड खप्पर है कि जो एक नीचे और एक ऊपर को गया है तब उसके मध्यमें जो एक पोल है वही आकाश कहलाता है कि जो वज्र के समान अनन्त कोटि योजन के विस्तार वाला है। उस ब्रह्माण्ड के भूगोल के उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत, पश्चिम में लोकालोक पर्वत और उसके ऊपर चक्र फिरता है। वह चक्र जहाँ जाता है वहां प्रकाश होता है और जहां वह नहीं जाता वहां अन्धकार ही रहता है। परन्तु यह सब कुछ संकल्प की ही रचना मात्र है। जैसे बालक संकल्प से मिट्टी का बट्टा रचे वैसे ही चैतन्य रूपी बालक ने यह संकल्परूपी गोला (भूगोल) रच लिया है। उस चैतन्य में जब-जब जैसा निश्चय हुआ है तब-तब तैसा ही होकर स्थित होगया। जहां पृथ्वी को स्थित किया वहां पृथ्वी ही स्थित है और जहां वृक्ष को स्थित किया वहां वृक्ष ही स्थित है, परन्तु यह सब कुछ संकल्प मात्र ही है। जैसे स्वप्न में कोई अविद्यमान रचना हो जाती है वैसे ही यह भूगोल आदिक सब कुछ संकल्प मात्र ही है। हे रामजी! जो यह जानते हैं कि सुमेरु आदिक पर्वतों में देवगण वास करते हैं और पूर्व रूप दिशा में मनुष्य गण रहते हैं सो पण्डित होते हुए भी मूर्ख ही हैं क्योंकि यह सब कुछ भ्रम मात्र ही है, वास्तव में कुछ बना नहीं है। ज्ञानियों को सब कुछ आत्मसत्ता ही भान होता है। मन सहित षदेन्द्रियों को तो अज्ञानी ही देखते हैं और सर्व प्रकार से उनको जगत का ही भान

होता है। किन्तु ज्ञानियों को तो परब्रह्म ही सूक्ष्म रूप में जान पड़ता है और वे जगत को सर्वथा ही असत्य मानते हैं। जैसे आकाश में नीलता कुछ है नहीं और नीलता भासती है वैसे ही यह अनउपजा जगत अज्ञानी को उपजा हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है और ऐसे ही अज्ञान वश मूर्ख को आत्मा में जगत दिखलाई पड़ता है किन्तु वह सब कुछ भ्रम मात्र ही है, केवल अज्ञान से ही जगत का भान हो रहा है। अन्यथा यह जगत कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, मनके सङ्कल्प से ही भासित होता है। सारा भूमण्डल एक सङ्कल्प में ही स्थित है। सब कुछ शुद्ध ब्रह्म का ही चमत्कार है और वह सर्वथा ही आकाशवत निर्मल है और उसमें कुछ भी क्षोभ नहीं है। वह परम शान्त अनन्त और सबका अपने आप ही है। हे रामजी! इस प्रकार जब वह निश्चित लोकालोक पर्वत पर स्थित हुये तब उन्हें शून्य खाई दृष्टि आयी। वे पर्वत से उतर कर उस खाई में जा पड़े कि जो पर्वत पर ही विद्यमान थी तब क्या देखते हैं कि उसमें पर्वत के समान ही बड़े २ पक्षी बस रहे हैं। इनका वहाँ पहुँचना था कि उन विशाल पक्षियों ने अपनी चोंचों से इनके शरीर को चूर्ण विचूर्ण कर दिया तब उस स्थूल शरीर के कष्ट होने पर उन्होंने वह अन्तवाहक शरीर धारण किया कि जिसमें वे दूर से भी दूर उड़कर जासके। परन्तु जो पञ्चभौतिक शरीर प्रत्यक्ष भासता है सो आधिभौतिक है। जब मार्ग से कहीं जाने को चित्त में सङ्कल्प उठता है तब स्थूल शरीर गये बिना नहीं पहुँच सकता और जब मार्ग में चले तब पहुँचता है तो वही आधिभौतिक है और यह प्रमाद से ही ऐसा होता है। जैसे जेवरी में सर्प भासित होता है वैसे ही आत्म अज्ञान से आधिभौतिक शरीर भासता है। जैसे कोई स्वप्न नगर में वा मनोराज नगर में अपने शरीर को रच लेता है, उसमें चेष्टा करता है और जब तक पूर्वका शरीर विस्मरण नहीं हुआ तब तक वह सङ्कल्प शरीर से ही चेष्टा करता है सो वह अन्त-

वाहक ही है। उसे सङ्कल्प शरीर भी कहते हैं और वह विशेष बुद्धि भी कहाती हैं । बिना आत्मज्ञान हुए सङ्कल्प शरीर में दृढ़ भावना जो होती है तो उसी का नाम आधिभौतिक कहाता है। अतः जब तक देह का स्मरण है तब तक आधिभौतिकता नहीं भासती और जब देहका विस्मरण होजाता है तब आधिभौतिकता दृढ़ हो जाती है। इसी प्रकार विपश्चित भी जो कि आधिभौतिक थे सो आत्मबोध से रहित थे इससे वे जहाँ चाहते थे वहाँ को चले जाते थे किन्तु अन्त वाहक भी शरीर से कुछ भिन्न नहीं है और जो कुछ भिन्न भासता है वह प्रमाद से वैसा भासता है। परन्तु वास्तव में वह सब कुछ चिदाकाश ही है दूसरा कुछ नहीं । उन्हीं के प्रभाव से विपश्चित ने उस अविद्यमान जगत को देखा । सो हे रामजी ! उस अविद्या को भी क्या कहे, अविद्या भी तो ब्रह्म में ही है । तब भला उस ब्रह्म का अन्त कहाँ ? इन सबके पश्चात् विपश्चित वहाँ से चला तो चलते-चलते वह समग्र पृथ्वी को लाँघ गया और यही नहीं वरन्-वह अग्नि के उस प्रकाशित आवरण को भी लाँघकर मेघ और वायु के भी आवरण को पारकर गया । फिर तो इस प्रकार उसने ब्रह्माकाश और ब्रह्माण्ड कपाट को भी लांघकर स्वरूप के प्रमाद से दृश्य के अन्त होने को भटकता रहा, किन्तु अविद्यारूप संसार का अन्त होता भी तो कैसे ? इसका तो अन्त लेने को जो जितनी ही चेष्टा करे यह उसे उतना ही अधिक से भी अधिक भटकाता ही फिरता है और जब अविद्यारूपी संसार का अन्त होता है तभी भ्रम मिटता है । परन्तु यह जगत कुछ बना नहीं, ब्रह्माकार ज्यों का त्यों ही स्थित है और उसका न जानना ही संसार है ! जब तक उसका प्रमाद है तब तक जगत का अन्त कदापि न होवेगा और जब स्वरूप ज्ञान होगा तब निश्चय ही अन्त हो जावेगा । सो, वह जानना भी क्या है। चित्त को निर्वाण करना ही तो उसका ध्येय है। जब चित्त निर्वाण होजाता है तब जगत नहीं भासता । परन्तु

जब तक चित्त भटकता रहता है तब तक संसार का भी अन्त नहीं होता। अतः चित्त ही जगत है और अचित ही आत्मा है। आत्मा में जाग्रत होजाने पर जगत नहीं रहता।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौरासीवां सर्ग समाप्त ॥८४॥

—०:※:०—

पचासीवाँ सर्ग

विपश्चित मृग शरीर प्राप्ति

महात्मा वशिष्ठ मुनि के ऐसा कहने पर रामजी ने प्रश्न किया हे मुनीश्वर! अब कृपा करके आप यह बतलाइये कि जो दो विपश्चित शेष बचे थे उनकी क्या दशा हुई?

वशिष्ठ जी कहने लगे—हे रामजी! एक विपश्चित तो निर्वाण हो गया और दूसरा सब ब्रह्माण्डों को लांघता हुआ जब एक ब्रह्माण्ड में पहुँचा तब वहाँ उसे सन्तों का सत्सङ्ग मिला जिससे उसको ज्ञान की प्राप्ति हुई और वह इस प्रकार से ज्ञान प्राप्तकर निर्वाण हो गया। तब एक विपश्चित रहा। सो अब यह पर्वत की कन्दरा में मृग होकर घूम रहा है। हे रामजी! क्या २ पूछोगे एक आत्मा में ही अनेकों आभास स्थित हैं।

इस पर रामजी ने प्रश्न किया—हे भगवन्! यहाँ मुझे यह शङ्का होगई है कि विपश्चित चाहे दो रहें अथवा चार ही रहें किन्तु संवित शक्ति तो सबकी एक समान ही थी। फिर जब संवित सबकी एक ही होती है तब उनमें भिन्न २ स्थानों में जन्म-मरण और इस प्रकार से भिन्न २ स्थानों में विचरण करना कैसे हो जाता है।

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! सुनो इसमें वासना की प्रबलता है और वही देश, काल और पदार्थों को दिखलाती है। देश, काल और द्रव्य में जिसकी जितनी दृढ़ भावना होती है उसकी उतनी ही अधिक विजय होती है। जैसे किसी एक पुरुष ने अपने

मनोबल द्वारा चार मूर्तियों की कल्पना की और उनमें भिन्न-भिन्न वासनायें स्थापित करदीं, परन्तु संवित तो सबमें एक ही रही! यदि भूल से उनमें पूर्वका शरीर दृढ़ होगया तो उसके शरीर में जैसी २ भावना दृढ़ रही वैसा ही प्राप्त हुआ। उसी प्रकार से संवित-शक्ति में नाना प्रकार की वासनायें फुरती हैं। कैसे? देखो, जैसे संवित तो एक ही है किन्तु स्वप्न में अनेकों रूप धारण करती है और भिन्न २ वासना फुर जाती है वैसे ही वह आकाशरूपी संवित शक्ति भिन्न २ वासनाओं का केन्द्र है। ऐसे ही उन चारों विपश्चित की संवित एक ही थी किन्तु देश काल क्रिया से उनकी वासनायें भिन्न २ होगई थीं और उन्हें पूर्वकी संवित-स्मृति जाती रही इसी कारण वे एक दूसरे से न्यूनाधिक्य फलको प्राप्त हुये। हे रामजी! अब यह देखो कि संवित का क्या रूप है। देखो, देशसे देशान्तर को जो कल्पना शक्ति जाती है उसके मध्यमें जो सूक्ष्म शक्ति संवित विद्यमान है और जिसकी शक्ति से वहाँ पहुँचती है वह ब्रह्मसत्ता है और वह है किंचनरूप। किंचनता ही जगत रूप होकर भासित हो रही है परन्तु वह भी उस ब्रह्मसत्ता से कुछ भिन्न नहीं है। वह एक ही है, उसमें द्वैत कुछ नहीं कहा जा सकता। वह एक भी नहीं है, तब जबकि उसे एक भी नहीं कहा जा सकता तब उसमें दो कैसे होगा और इस जगत को भी उसमें उत्पन्न हुआ कैसे कहें? यही तो अविद्या है कि जो न होते हुए भी प्रत्यक्ष भासित है। जिस स्वप्न में जैसी वासना फुरती है वैसी ही उसकी विजय होती है।

रामजी ने पूछा—हे भगवन्! अब यह जो चौथा विपश्चित मृग होकर पहाड़ की कन्दरा में विचर रहा है वह कहाँ–कहाँ से फिरता हुआ वहाँ आकर स्थित हुआ है, वह वृत्तान्त मुझे बतलाइये और कृपाकर यह भी बतलाइये कि आप उन चारों विपश्चित के पूर्व जन्मों को कैसे जान सके, जब कि आप यहाँ स्थूल शरीर लेकर बैठे ही रहते हैं?

वशिष्ठजी कहने लगे–हे रामजी मैं सब कुछ जानता हूँ। मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त है कि जिससे मेरे निकट सब प्रत्यक्ष सा हो जाता है। मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ और सारे ब्रह्माण्ड मेरे ही अङ्ग हैं। मैंने अपनी बुद्धि से सब कुछ जाना है। उसी बुद्धिरूपी नेत्रसे उनकी सर्व चेष्टाओं को देखा है। परन्तु तुम इसे नहीं जान सकते। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और समुद्र उन सबको जानता है वैसे ही मैं समुद्ररूप हूँ और मुझमें ही समस्त ब्रह्माण्डरूपी लहरें उठ रही हैं, इसी कारण मैं सबको जानता हूँ। हे रामजी ! यह जो चौथा विपश्चित मृग के रूप में विद्यमान है वह साधारण मृग नहीं है वरन् वह जैसा है वैसा सुनो। हे रामजी ! वह कितने ही ब्रह्माण्डों को लाँघता हुआ यहाँ आकर स्थित हुआ है। फिर तुम उसे स्पष्ट पूछना चाहते हो तो सुनो–तुम्हारी जो लीला भूमि है अथवा जहाँ तुम क्रीड़ा करते हो उसी स्थान में वह मृग बँधा हुआ है। इसे तुम्हें त्रिगर्त देश के राजा ने दिया था कि जो बड़ा ही सुन्दर है और इसी से तुमने उसे अपने पास रख लिया है। इच्छा हो तो उसे यहाँ मँगाकर अब देखो।

वाल्मीकजी कहते हैं कि जब मुनि शार्दूल वशिष्ठजी ने रामजी से ऐसे कहा तब सारी सभा चकित होकर उनकी ओर देखने लगी और राजा दशरथ आदि समस्त रघुवंशी भी आश्चर्य में पड़ गये। उसी क्षण रामजी ने एक भृत्य को बुलाकर कहा–जाओ, उस मृगको सभा में ले आवो। रामजी के ऐसा कहते ही भृत्य दौड़ गया और शीघ्र ही मृगको सभा में लाकर उपस्थित कर दिया। वह मृग बड़ा ही सुन्दर था और उसकी ग्रीवा भी बड़ी थी। उसके कमल के समान नेत्र थे। सभा में आकर वह कभी घास खाने लगा और कभी सभा स्थल में खेल कूद मचाने लगा, कभी स्थिर भी हो जाता था। तब उसी क्षण रामजी ने कहा––हे मुनीश्वर ! अब आप इसे अपने उपदेशों से जाग्रत करके मनुष्य बनाइये और मुझसे और

इससे प्रश्न कराइये, देखूं कि यह मुझसे प्रश्नोत्तर करता है या नहीं तब वशिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! इस प्रकार से इस पर मेरा कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा वरन् इसका कुछ इष्ट है। जब इसके इष्ट को बुलाऊँगा तभी वह इसका कार्य सिद्ध करेगा । सो, अब देखो मैं इसके इष्ट को अपने ध्यान द्वारा आकृष्ट करके यहां प्रत्यक्ष रूप से बुला लेता हूँ। रामजी से ऐसा कहकर वशिष्ठजी ने तुरन्त ही नेत्र बन्द कर ध्यान लगा लिया। उनके इस प्रकार ध्यानावस्थित होते ही, अग्निदेव का उनकर्षण हो गया। तब वशिष्ठजी ने अपने उसी स्थानावस्था में अग्नि से विनय किया—हे वह्ने ! मृग तुम्हारा भक्त है, तुम इसकी सहायता करो। इस पर दया करो तुम सन्त हो और सन्तों का यह स्वभाव होता है कि वे प्राणी मात्र पर दया दृष्टि रखते हैं । जब वशिष्ठजी ने अग्नि से ऐसा कहा तब उसी क्षण बिना वशिष्ठ और बिना अग्नि की कोई चिनगारी रहे ही सभा-स्थल के मध्य में अग्नि की प्रचंड ज्वाला उत्पन्न होगई और उससे सारी सभा में प्रकाश होगया। अग्नि के प्रकाश होते ही मृग बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसका चित्त अग्निदेव की भक्ति भाव में डूब गया। फिर तो वशिष्ठजी ने आँखें खोल दीं और अपनी उन्हीं अनुग्रह पूर्ण आँखों से मृग की ओर देखा। वशिष्ठजी के देखते ही मृग के समस्त पाप दग्ध हो गये। तब वशिष्ठजी ने अग्निदेव से कहा—भगवन् ! यह मृग तुम्हारा भक्त है अतः तुम अपनी प्राचीन भक्ति को स्मरण कर इस पर कृपा करो । भला ऐसी क्या वस्तु है कि जो तुम्हारे कृपा करते ही प्रकट न हो जावे। तब भला तुम्हारा यह भक्त मृग शरीर कब तक धारण किये रहेगा, सो अब तुम इसके इस शरीर को दूर करो जिससे कि यह फिर अपने उसी विपश्चित शरीर को पा सके यह शरीर तो इसने अविद्या-भ्रम से पाया है सो हे भगवन् ! इसके इस शरीर को नष्ट कर इसे पूर्व रूप प्रदान करो।

अग्निदेव से ऐसा कहकर वशिष्ठजी ने रामजी से कहा—हे

रामजी ! अब देखो, यही मृग इस अग्नि ज्वाला में प्रवेश करेगा और अपना पूर्व विपश्चित शरीर धारण कर लेगा, सावधान होकर देखो। वशिष्ठजी ने यह कहा ही था कि मृग एक पग पीछे हटकर धांयसे अग्नि में कूद पड़ा और उसके सारे पाप दग्ध हो गये। जैसे कपड़े को ओढ़ कर बहुरुपिया कोई दूसरा ही स्वांग बना लेता है वैसे ही अग्नि में कूदते ही मृग ने अपना दूसरा रूप धारण कर लिया और इस प्रकार कंठ में माला, मस्तक पर तिलक, शीश पर मुकट और यज्ञोपवीत आदि वस्त्राभूषणों से समलंकृत होकर अग्नि से प्रकट हो गया। फिर तो अग्नि शान्त हो गई और वह महातेजस्वी विपश्चित प्रकट हो गया। सभास्थल में जितने लोग बैठे थे विपश्चित उन सबसे ही महातेजस्वी था मानों अग्नि को भी लज्जित कर रहा था। जैसे सूर्यके उदय हो से चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण हो जाता है वैसे ही उस विपश्चित के आगे सभा-स्थलका तेज सर्वथा ही क्षीण हो गया और अग्निदेव भी ऐसे ही लीन हो गये, जैसे समुद्र से उठी हुई लहरें फिर समुद्रमें ही लीन हो जाती हैं। इस दृश्य को देखकर सभाके लोग आश्चर्य चकित होगये।

उधर अग्नि से निकलते ही विपश्चित ने भी ध्यान लगा लिया और सारी सभा उसकी ओर एक टक से देखने लगी तब कुछ ही क्षण बीता था कि विपश्चित ने नेत्र खोलकर देखा तो सामने ही वशिष्ठ जी बैठे थे। विपश्चित ने उठकर वशिष्ठजी को दण्डवत् किया और इस प्रकार उसने समस्त सभा मण्डली को झुक-झुक कर दण्ड प्रणाम करके कहा—अहो, आप सबको ही मेरा नमस्कार है। तब वशिष्ठजी बोले—कहो राजा विपश्चित ! अब तुम सावधान हो जावो मैं तुम्हारी अविद्या को दूर करूँगा। कहो, अब तक कहाँ २ विचरते रहे। आओ ! मेरे निकट आवो। विपश्चित वशिष्ठ के समीप ही में जा बैठा। वशिष्ठजी ने उसके शिर पर हाथ रख कर कहा—अहो भास (विपश्चित) तुम अब तक कहाँ-कहाँ भास रहे अपना वह सब वृत्तान्त यहाँ सभास्थल में कह सुनाओ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पिचासीवां सर्ग समाप्त ॥८५॥

छियासीवाँ सर्ग

परधान-उपाख्यान

वशिष्ठजी ने विपश्चित (भास) से ऐसा कहा ही था कि राजा दशरथ जो कि वशिष्ठजी के समीप ही में बैठे हुए थे बोले--अहो राजन् भास! अच्छा हो कि आप मेरे ही निकट में चले आवो। भास राजा दशरथ के पास जा बैठा तब राजा दशरथ ने उससे कहा--क्यों राजन्! अब तक तुम कहाँ-कहाँ भटकते रहे, कहो बहुत थक गये हो न? सो अब विश्राम करो और देखो अब तक तुम जो कुछ देशकाल क्रिया देखे हो उस सबका वर्णन मुझे सुना जाओ। परन्तु यह महान् आश्चर्य है कि अब तक भी तुम अपने मन्दिर में शयन ही करते रहे और निद्रा दोष के गढ़े में गिरे ही रहे, पर यह तो कहो कि इस प्रकार से देश देशान्तरों में गिरे रहने से तुम्हें क्या लाभ मिला। देखो, यही तुम्हारी अविद्या है और इसी ने तुमको समस्त जगज्जाल दिखलाया है कि जिस कारण से ही उस जगतों को देखने के लिये भटकते ही रहे। किन्तु हे राजन्! जगत कुछ वस्तु है नहीं और भासता है। इससे यह माया मात्र ही अविद्या से जगतरूप होकर सत्य प्रतीत हो रहा है। किन्तु यह जो कुछ तुम देख रहे हो सब आकाशरूप ही है और इस में वह शरीर ही स्थित है। उसी आकाश में आत्मारूपी चिन्तामणि के चमत्कार से तुम जो कुछ देखे हो, मुझे कह सुनाओ। हे भास! यह महान् आश्चर्य है कि तुम विपश्चित नाम रखते हुए भी अविपश्चित समय चेष्टा करते रहे। अहो, तुम्हारी बुद्धि कैसी हो गई थी। संसार की यह समस्त प्रतिभा मिथ्या ही उठ खड़ी हुई है। भला तुमने ऐसी अवस्था को क्यों कर देखी।

राजा दशरथ भास से ऐसा कह ही रहे थे कि समय पाकर विश्वामित्रजी राजा दशरथ से बोल उठे-हे राजन्! अवश्य ही इसकी

चेष्टायें अज्ञानियों के ही समान हुई हैं। केवल मूर्ख ही ऐसा करते हैं। मूर्खों को आत्मा का अनुभव नहीं होता। किन्तु विज्ञानी एवम विचारवान को तो सब कुछ आत्मा ही भासता है। हे राजन्! क्या कहा जाय। यह अविद्या बड़ी प्रबल है। इसके हाथ पड़ा हुआ जीव कदापि भी शान्तिमान नहीं होता। परधान भी तो इसी प्रकार आज कितने ही दिनों से भटक रहे हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि उन्हें इस प्रकार से भटकते हुए आज ६०-७० लाख वर्ष व्यतीत हो गये हैं किन्तु एक ही ब्रह्माण्ड में उन्होंने इतना समय लगा दिया और कदापि भी मुक्त नहीं हुए। उन्होंने भी यही देखना चाहा था कि देखें जगत का विस्तार कितना लम्बा है। परन्तु वे आज तक देख ही रहे हैं और सब कुछ देख न पाये। अभी तक उन्होंने एक ब्रह्मांड भी पूरा न देखा। वासनाओं की प्रबलता से कुछ और का और ही देखते रहते हैं। देखना चाहते हैं कुछ और भास जाता है कुछ। सङ्कल्प-विकल्प उन्हें इनका अभीष्ट पूर्ण नहीं होने देते। हे राजन्! यह एक प्रकार से भूगोल का ही दिग्दर्शन करना है सो यह भूगोल भी किसी काल में कोई परधान जीव ही उत्पन्न हुआ है। उसके तीन पुत्र थे। उन तीनों को यह सङ्कल्प उदय हुआ कि हम जगत का अन्त देखें तब इसी सङ्कल्प से वे भूगोल के चारों ओर देखने लगे तो क्या देखते हैं कि जैसे कोई गेंद हो, वैसे ही एक आकाश में ही सारा भूमंडल सन्निहित है और जिसका उर्द्ध और अर्द्ध कुछ भी नहीं है। परन्तु ऐसा भी जो उन्होंने देखा वह केवल स्वरूप के प्रभाव से ही देखते रहे। हे राजन्! स्वरूप की अज्ञानता से ही जगत का अभाव नहीं होता। किन्तु जब आत्मदेव का दर्शन हो जाता है तब सारा जगत ब्रह्मरूप ही भासित होता है। इस प्रकार यह जगत कुछ बना नहीं, सब कुछ उनके फुरने से भासित होता है। जैसे स्वप्न की अज्ञानता में अनेकों प्रकार के जगत-दृश्य दिखलाई पड़ते हैं कि यह द्रुम यह

हो रहा है आदि-आदि वैसे ही परब्रह्म में अविद्या से ही ऐसा फुरना हुआ है। सो वह फुरना भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं। आत्म सत्ता ही अपने आप में स्थित है। जैसे पत्थर की शिला घन रूप होती है वैसे ही आत्मसत्ता चेतनघन है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ अन्तर नहीं है वैसे ही ब्रह्म और जगत में कुछ अन्तर नहीं है। कल्पना ब्रह्मरूप ही है और ब्रह्म भी कल्पना रूप ही है। जड़-चैतन्य का कुछ भेद नहीं होता। अस्तु जगत शब्द ब्रह्म सत्ता ही है। ब्रह्म सत्ता से भी न कुछ उत्पन्न हुआ है, न प्रलय होता है, सब कुछ ब्रह्म ही है। जैसे पहाड़ और पत्थर में कुछ भेद नहीं होता वैसे ही जगत और ब्रह्म सत्ता में कुछ भेद नहीं है जैसे पत्थर की पुतली पाषाण रूप ही है वैसे ही यह सारा जगत ब्रह्मरूप ही है। केवल सूक्ष्म अणु ही अपने अनुभव से अनेक अणु होकर भासित हो रहा है। ऐसा जानकर ही ज्ञानीजनों को सारा जगत ब्रह्मरूप ही भासता है। किन्तु अज्ञानियों को तो यह नाना प्रकार का जगत ही भासित होता है। हे राजन्! जगत की कुछ भी सत्यता नहीं है, सङ्कल्प ही जगत होकर भासित होता है। जैसे रत्नों में चमत्कार होता है वैसे ही एक आत्मा में ही सारे जगत का चमत्कार स्थित है, और उस चेतन ब्रह्म एवं आत्मा के आकृत ही यह अनन्त सृष्टियाँ फुर रही हैं। अस्तु,यह समस्त सृष्टि आत्मरूप ही है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है फिर भी अज्ञानियों को यह सब कुछ नाना प्रकार से जगत ही भासित होता है। कोई जगत कहते हैं, कोई शून्य कहते हैं और कोई इसे ब्रह्म भी कहते हैं—इस प्रकार से जिसको जैसा अनुभव है वह वैसा कहता है और वही रूप उन्हें भासित होता है। अतएव, उस आत्मघन में जैसा २ सङ्कल्प फुरा वैसा ही वैसा भासने लगा। इस प्रकार ब्रह्म सत्ता ही सबका अधिष्ठान है और उसमें जैसा निश्चय होता है वैसा ही होकर भासता है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भी ब्रह्म ही है। त्रिपुटी को ब्रह्म से

भिन्न कहना मूर्खता है। जब तक वासनाओं का ऊना नहीं होता तब तक दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। हाँ. वासनाओं का अन्त हो जावे तो सारा जगत ब्रह्म रूप ही भासता है और तब सारे रूप अपने आप में ही प्रतीत होते हैं। राग-द्वेष नहीं रहता है और सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही जान पड़ता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का छयासीवां सर्ग समाप्त ॥८६॥

—०:❀:०—

सत्तासीवाँ सर्ग

विपश्चित का आख्यान वर्णन

मुनि शार्दूल विश्वामित्र के ऐसा कहने पर भास ने राजा दशरथ से कहा—हे राजन् ! निश्चय ही मैंने कितने ही जगतों को देखा और ऐसा देखा कि उन्हें देखते-देखते थक गया परन्तु उन्हें जो-जो देखने की मुझे इच्छा थी इस कारण उसका मुझे कुछ दुःख नहीं हुआ। उस अवस्था में मैंने कितने ही जन्म धारण किये और कितने ही बार मृग हुआ, कितने ही बार मुझे शाप भोगना पड़ा मैं ऊँच नीच जन्म को प्राप्त हुआ, मृतक हुआ, फिर उत्पन्न होकर कितने ही ब्रह्माण्डों को देखा परन्तु यह सब मैंने अग्नि देवता के ही वरदान से प्राप्त किया था। एक बार मैं वृक्ष हुआ तो हजार वर्ष तक वैसे ही फूलता फलता रहा और जब कोई मुझे काटता तो मैं महान् दुःखी हो जाता था। हजार वर्ष के पश्चात् जब मेरा वह शरीर छूटा तो मैं सुमेरू पर्वत में एक स्वर्ण कमल हुआ और अवस्था में केवल जल पीकर रहता था। फिर एक देश में पक्षी हुआ और सौ वर्ष तक उसी अवस्था में पड़ा रहा। फिर स्यार हुआ और मुझे एक हाथी ने मार डाला। तब मैं एक सुन्दर मृग हुआ और मुझे देवता तथा विद्याधर प्रीति से देखने लगे। फिर मैं देवताओं के वन में ता-वेलि हुआ और वहाँ देवियां तथा विद्याधारियाँ मुझे

स्पर्श करने लगीं। फिर देवताओं का स्त्री हुआ, फिर सिद्ध हुआ तब मेरा बचन फुरने लगा और उस प्रकार शरीर धारण कर मैं एक ब्रह्माण्ड को लांघ गया। ऐसे ही मैंने कई ब्रह्मांड लांघे। तब एक ब्रह्मांड में मैंने जो कुछ भी आश्चर्य देखा वह सुनिये। मैंने एक ऐसी स्त्री देखी कि जिसके शरीर में कितने ही ब्रह्मांड स्थित थे और उससे देश, काल क्रिया आदिक समग्र त्रिलोकी भासित होती थी। तब उससे मैंने पूछा--हे देवि! तुम कौन हो और यह तुम्हारे शरीर में क्या दिखलाई पड़ता है। तब वह बोली कि–हे साधो! मैं शुद्ध चिद्‌शक्ति हूँ और यह सारे अङ्ग मुझमें स्थित हैं मुझ से तुम क्या पूछते हो, यह सारा जगत जो कुछ तुम देख रहे हो सब चिद्रूप ही है और चैतन्यता से भिन्न कुछ है नहीं। उसी में यह सारा ब्रह्मांड स्थित है समग्र त्रिलोकी अपना ही रूप है। अपने ही में सब कुछ भासता है और सब कुछ अपना ही स्वरूप है जो अपने आप स्वरूप में स्थित हैं उनको ऐसा ही भासता है परन्तु जो स्वभाव में स्थित नहीं हैं उनको जगत बाहर और अपने आप से भिन्न भासता है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जगत कुछ बना नहीं। स्वप्न नगर एवं गन्धर्व नगर के समान ही सब कुछ भासता है। किन्तु उस चैतन्यसत्ता से कुछ भिन्न नहीं है। अपने स्वभाव में स्थित होकर देखो तो तुमको ऐसा ही भासेगा। किन्तु अज्ञान जगत से देखोगे तो नाना प्रकार का जगत ही भासित होवेगा। हे राजन् दशरथ! जब उस देवी ने मुझसे ऐसा कहा तब मैं वहाँ से एक दूसरी सृष्टिमें चला गया और देखा तो वहां सब पुरुष ही पुरुष रहते हैं और स्त्री कोई नहीं है। फिर वहां से दूसरी सृष्टि में गया तो वहां सूर्य, चन्द्रमा, तारे और अग्नि आदिका कुछ भी प्रकाश दिखलाई न पड़ा, सब अपने ही प्रकाश से स्वयं ही प्रकाशित होरहे थे। फिर यहांसे आगे गया तो एक ऐसे आकाश में पहुँच गया कि जहां आकाश से ही जीव उत्पन्न होकर आकाशमें ही लीन होजाते थे। यहाँ न कोई

मनुष्य था न देवता, न वेद न शास्त्र और न जगत कुछ भी न जान पड़ा और इस प्रकार सब कुछ विलक्षण ही दृष्टि आया। वहां से जब फिर आगे बढ़ा तो क्या देखता हूँ कि समस्त जीव एक समान ही हैं और न किसीके कुछ रोग है न किसीको कुछ दुःख है, सब लोग एक समान हो गङ्गा तट पर वास कर रहे है। तब वहाँसे फिर एक दूसरी सृष्टिमें गया तो क्या आश्चर्य देखा कि वहाँ क्षीरसागर में ही मन्दराचल से मथा जा रहा है और विष्णु भगवान बैठे हैं, शेषनाग रस्सी के समान मणियों के सदृश्य उसमें चमचमा रहा है। फिर मैं और आगे बढ़ा तो क्या देखता हूँ कि मनुष्य आकाशमें उड़ रहे हैं। देवताओं की पृथ्वी पर मनुष्य विचर रहे हैं और वे सभी वेद शास्त्र के ज्ञाता थे फिर तब सृष्टि में देखा कि कल्पतरु का वन शोभायमान है और उसमें मन्दरका नामक अप्सरा वास करती है। तब मैं उस बन में जाकर सुख की नींद से सो गया तो ज्यों ही रात्रि का समय आया कि त्योंही वह अप्सरा मेरे कण्ठसे आ लगी। तब मैं जागकर बोला—हे सुन्दरी! तू मुझे क्यों जगा रही है। मेरे पास क्यों आई? मैं तो यहाँ सुख से सोया था। तब उस सुन्दरी ने कहा—मैंने तुम्हें इसलिये जगाया है कि देखो, अब चन्द्रमा का उदय हुआ है सो तुम उसके शीतल चन्द्रकान्त स्रवितधारामें आनन्द लूटो। अप्सराने ज्यों ही ऐसा कहा कि त्यों ही उस प्रकार की नदी का प्रबल वेग चल पड़ा और वह अप्सरा मुझे साथ लेकर आकाश में उड़ चली। बहुत दूर जाकर उसने मुझे एक पर्वत पर उतारकर बैठा दिया। तब वहाँ मैं सात वर्ष तक रहकर फिर एक नवीन ब्रह्माण्ड को देखने गया तो वहां क्या देखा कि उसमें तारे और नक्षत्र आदिक कुछ भी नहीं हैं और न तो सूर्य है न चन्द्रमा। इस प्रकार मैंने अनेक ब्रह्माण्डों को देखा। ऐसा कोई भी प्रदेश न था कि जिसे मैंने न देखा हो। समस्त पृथ्वी, नदी और पहाड़ों को मैंने देख डाला। उस अवस्था में मैंने सब कुछ चेष्टा की, कई प्रकार से मैंने शारी-

रिक सुख भोगे कितने ही वन पर्वत और कन्दराओं में विचरण किया। कितने ही गुप्त स्थानों में घूमा। वारम्बार अग्नि देवता का बरदान प्राप्त किया। तब चलते २ मैं थक गया और एक अविद्यमान ब्रह्माण्ड में जाकर स्थित हुआ। उसके पश्चात् अब मुझे यह ब्रह्माण्ड भासित हुआ है। सो देखो, मैंने वेद शास्त्र सब कुछ सुने और उन सब में मुझे यही प्रतीत हुआ कि यह जगत कुछ है नहीं तो भी दुःख ही देता है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में बैतालका भ्रम भासित होता है वैसेही यह सारा जगत अविचार से ही भासित हो रहा है विचार करने से निवृत होजाता है। हे राजन्! एक आश्चर्य और भी सुनो। मैं एक ऐसे ब्रह्मांड में पहुँचा था कि जहाँ महाकाश ही दिखलाई पड़ा और जब मैं वहां से गिरा तो पृथ्वी पर जाकर नितान्त ही प्रगाढ़ निद्रा में सोकर सुषुप्ति रूप होगया और मुझे जगत बिल्कुल ही भूल गया। किन्तु ज्योंही वह सुषुप्ति हटी कि मुझे एक स्वप्न आया और उसमें यह सारा जगत भासित होने लगा। तब उसमें मुझे पर्वत, देश, कन्दरा और कितने ही गुप्त प्रकट स्थान भासित होने लगे। कहीं सिद्ध लोग विचर रहे थे, कहीं मैं विचर रहा था और कहीं सिद्धों की भी गम नहीं थी। इस प्रकार मैंने कितने ही जगत देखे परन्तु आश्चर्य तो यह है कि वह सब कुछ स्वप्न के ही समान था और वह स्वप्न सृष्टि भी मुझको प्रत्यक्ष के ही समान भासित हो रही थी। इससे यह सारा जगत स्वप्नवत ही है और इसीसे यह भ्रम मात्र दृष्टि आता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सतासीवां सर्ग समाप्त ॥८७॥

——o::❀::o——

अट्ठासीवाँ सर्ग

अपना अन्य माहात्म्य वर्णन

हे राजन्! एक सृष्टि मैंने और भी देखी है। वह इसी महाकाश में स्थित है परन्तु तुम वहां पहुँच नहीं सकते। एक स्थान तो मैंने ऐसा देखा कि जो छाया के ही समान स्फुरित हो रहा था परन्तु ऐसा देखा कि उसने दशों दिशाओं और सर्व मनुष्यों को रोक लिया था। ऊँचा तो ऐसा था कि आकाश से भी बड़ा जान पड़ता था। मैंने देखा कि उसने क्षण मात्र में सूर्य और चन्द्र मण्डल को भी ढँक लिया, भूकम्प आया, मानों प्रलय होगया। तब मैं व्याकुल होकर अपने इष्ट अग्निदेव से बोला—हे भगवन्! आप जन्म-जन्मसे मेरी रक्षा करते आये हैं, सो अब भी रक्षा करें, मैं नष्ट हो रहा हूँ तब अग्निदेव ने मुझे अपने वाहन पर चढ़ा लिया और कहा—भक्त! चिन्ता न करो, आवो मेरे स्थान पर चलो। मैं अग्नि देवता के स्थान की ओर चला तो अग्नि ने मेरे उस शरीर को नीचे गिरा दिया जिसके वेग के प्रहार से सुमेरु आदिक पर्वत भी चूर्ण-विचूर्ण होकर पाताल को धँस गये और उस प्रकार मन्दराचल, उदयाचल और अस्ताचल आदिक जो भी छोटे बड़े पर्वत थे वे सभी नीचे को चले गये। पृथ्वी भी जर्जर होकर उसमें यत्र तत्र गड्ढे पड़ गये, कितने ही मनुष्य, वृक्ष और स्थावर जङ्गम सभी नष्ट-भ्रष्ट हो गये। ऐसा कोलाहल मचा कि उससे दिशायें क्षुब्ध हो गईं, घोर उपद्रव होने लगा। तब मैंने अपने इष्ट देवता से कहा—प्रभो! अब यह उपद्रव क्यों हो रहा है, ऐसा शरीर तो मैंने कहीं नहीं सुना था कि जिसके गिरने से इतनी हल चल मचे? अग्नि देवता ने कहा—वत्स, अब इस सम्बन्ध में तुम सर्वथा ही चुप रहो। ऐसा क्यों हुआ है, इसका कारण मैं तुम्हें फिर बतलाऊँगा। अभी यह सब कुछ शान्त हो

जाने दी। मेरे अग्निदेव ऐसा कर ही रहे थे कि उस घोर उपद्रव को शान्त करने के विचार से समस्त देवता, सिद्ध चारण एकत्र होकर गये। देवी की आराधना करने का निश्चय हुआ फिर तो–'हे देवी शववाहिनी! हम तेरी शरण आये हैं, इन सारे उपद्रवों को शान्त कीजिये' ऐसी प्रार्थना होने लगी।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का अट्ठासीवां सर्ग समाप्त ॥८८॥

——०::❀::०——

नवासीवां सर्ग

मशक जन्मान्तर वर्णन

हे राजन् दशरथ! जब देवताओं ने देवी से बहुत प्रकार की प्रार्थना की तो क्या देखा कि सातों द्वीप देवी के पेट में समा गये और उसकी भुजाओं से सुमेरु आदिक पर्वत भी आच्छादित होगये; समस्त भूमण्डल क्षण भर में ढँक गया। विद्याधर और सिद्ध गन्धर्वों ने स्तुति की झड़ी लगा दी। फिर तो देवी चण्डिका आकाश से अपने पक्ष, बैताल और भैरव आदि गणों को साथ लेकर दिशाओं को आच्छादित करती हुई वहाँ आ पहुँची और उस समय उसका तेज मानों अग्नि के समान ही उद्दीप्त होरहा था। लाल लाल नेत्र, उज्वल केश और दांतों से वह महाभयानक जान पड़ती थी। वह कितने ही भयङ्कर शस्त्र धारण किए हुए थी। कई कोटि योजनों तक उसका लम्बा विस्तार था। सारी दिशायें और सारा आकाश एक उससे ही ढँका हुआ था। वह परमपद में स्थित थी। वह ऐसी प्रकाशमान हो रही थी मानों अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य समस्त प्रकाश उसके आगे क्षीण होरहे हैं। उसके हाथ में तलवार चमक रही थी और ध्वजा, मूशल तथा ऐसे सभी प्रकार के अश शस्त्र यथा स्थान सजे हुए थे। जब वह अपने ऐसे भयानक वेश से देवताओं के निकट आई तो देवता फिर उसकी प्रार्थना करने लगे। तब देवताओं की

प्रार्थना से प्रसन्न होकर देवी चण्डिका ने प्राण वायु को खींचकर उस शव में जितना भी रक्त था सब पान कर गई। उससे देवी के सब अङ्ग पूर्ण होगये और नेत्र लाल-लाल हो गये तथा वह मग्न होकर नृत्य करने लगी। फिर तो उसके गण उन सबका भक्षण करने लगे। हे राजन् दशरथ! उस समय में अपने इष्टदेव के हंसवाहन पर आरूढ़ होकर यह सब दृश्य देखता था। तब उन सब समग्र दृश्यों को देखते हुए मैंने अग्निदेव से पूछा हे भगवन्! वह शरीर जो पृथ्वी पर गिरा और जिससे ही इतना उपद्रव हुआ वह कैसा शव-शरीर है? तब अग्निदेव ने मुझसे कहा हे विपश्चित! एक परम आकाश का चिन्मात्र पुरुष है कि जिस सर्वज्ञ, अनामय और अनन्त का ही यह शरीर है और वह केवल अपने आप ही में स्थित है। वही संवेदन वश किञ्चन हो रहा है। वही जब जहाँ फुरता है तब तहाँ ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है और वह तेज अणु में ही हूँ। चित संवेदन ने ही अपने आपको अणु जान लिया है। उस ब्रह्म में जैसा स्फुरण हुआ है अधिष्ठान में वैसा ही भासता है। तभी उस अणु में शरीर की भावना होती है और तभी वह अपने साथ शरीर को देखता है। तब वह उसी को अपना आप जानकर इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने लगता है तब वही चिद्रूप जीव-प्रमाद से आधार आधेयभाव को मानने लगा परन्तु उस अधिष्ठान में कुछ उपजा नहीं, सब कुछ अद्वैत सत्ता ही अपने आप में स्थित है। केवल प्रमाद वश ही अपने को प्राण, मन और अहङ्कार को धारण कर कहता है कि यह मेरी माता है, यह पिता है किन्तु मैं अनादि जीव हूँ। उसी जीव में फुरने से अङ्ग प्रत्यङ्ग उत्पन्न होगये हैं। चित्तकला के स्फुरण ने ही अपने को तेज अणु जान लिया है अहंवृत्तिने ही अहंकार को उत्पन्न कर लिया है। तब निश्चयात्मक बुद्धि और चैत्यतारूपी चित्त और सङ्कल्प विकल्परूपी मन उत्पन्न होगया। तब तन्मात्रा उत्पन्न हुई और फिर उसकी इच्छा द्वारा शरीर और इन्द्रियाँ हुई और वह देखने लगीं।

तब उस शक्ति से जब आगे दृश्य भासित हुआ तब उस शक्तिने अपने को प्रमाद वश द्वेष से द्वैत जाना और साथ ही उसके अपने माता, पिता और कुल कुटम्ब फुर आये कि यह मेरी माता है यह मेरा पिता है, यह मेरा कुल है और यह चिदकाल से ही ऐसा चला आ रहा है। ऐसे ही एक दैत्य अहंकार वश विचरने लगा तो एक ऐसी कुटी में जा पहुँचा कि जहाँ एक ऋषि बैठे हुए थे। परन्तु कुटी में पहुँच ने के साथ ही उसने उसे चूर्ण कर दिया तब ऋषि के निकट गया तो ऋषि ने उससे पूछा कि रे दुष्ट तूने ऐसा क्यों किया, मैं तुझे शाप देता हूं मच्छर हो जा। फिर तो ऋषि के शाप से उसका शरीर भस्म होगया और उसकी निराकार चेतन संवित भूताकाश रूप हो गई और वह मच्छर होगया। और इस प्रकार दो तीन दिन तक उस शरीर में रह कर वह फिर और ही शरीर में प्रविष्ट हो गया। हे राजन् दशरथ! इसी प्रकार जितने जीव जन्म पाते हैं वे जन्म से जन्मान्तर को आते जाते ही रहते हैं कितने ही ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं, कितनों को पूर्व की वासना का संसार होता है कि जिससे वे वैसा शरीर धारण करते हैं। परन्तु आदि में समस्त जीव संसार रूपी बिना कारण के ही उत्पन्न हुए हैं और फिर जन्म से जन्मान्तर को प्राप्त होते हैं। जो जीव बिना संस्कार के ही उत्पन्न होते हैं उन्हें यह समझना चाहिये कि इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है और जिसकी सृष्टि संस्कार मय प्रतीत हो उसे जानना चाहिये कि यह कई जन्मान्तरों से होता हुआ आया है। इसी प्रकार जब राक्षस ने मच्छर का शरीर धारण किया तब घास, तृण और पत्तों के साथ मिलकर रहने लगा। एक दिन वह घास में विचरण कर रहा था कि एक मृग का पाँव पड़ने से वह मृतक होगया। वह मृतक होते ही वह फिर मृग योनि में उत्पन्न हुआ और वन-वन में विचरने लगा। उसे एक वधिक ने मार डाला। इससे वह फिर वधिक । वधिक होकर जब कि वह वन में आखेट करने लगा तपस्वी दिखलाई

पड़े और वह तपस्वी के निकट जाकर बैठ गया । तब उन महात्मा ने कहा—हे वधिक ! तुम यह क्या चेष्टा करते हो । तुम्हारी यह चेष्टा तो तुम्हें नरक में ले जाने वाली है यह आयु बड़ी ही क्षणभंगुर है। जैसे अंजुली का भरा क्षणभंगुर होता है और जैसे बिजली का चमत्कार नितान्त ही अस्थिर होता है वैसे ही यह आयुर्दा भी है। तब ऐसी अवस्था को पाकर तू अभिमान में फूला हुआ ऐसा जघन्य कार्य क्यों करता है ? यह आयु क्षणभंगुर और यह यौवन सर्वथा ही निस्सार रूप है, इसमें भोगों को क्या भोगना है ? यह भोग कदापि शान्ति को न देंगे । शान्ति चाहता हो तो सारी इच्छाओं का दमन कर दे । बिना इच्छाओं को निर्वाण किये दुःख नहीं मिटता । दुख मिटाने के लिये तू मुझसे निर्वाण का प्रश्न करे, तभी दुःखों से मुक्त होगा अन्यथा तेरे कार्य तुझे अवश्य ही नरक में ले जायेंगे । तू अपने हाथ से ही अपने पाँव में कुल्हाड़ी क्यों मारता है ? अपने नाश के लिये विपत्ति का बीज क्यों बोता है ? अतः तू वही चेष्टा कर कि जिससे संसार सागर को पार कर जाये ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का नवासीवां सर्ग समाप्त ॥८९॥

—०:::०—

नब्बेवाँ सर्ग

भीतरी महाप्रलय एवं स्वप्नावस्था वर्णन

हे रामजी ! तपस्वी के इस प्रकार कहने पर वधिक ने कहा हे भगवन् ! मैं क्या करूँ कि इच्छायें तो निर्वाण होती ही नहीं । मैं तो चाहता हूं कि ये न उठें । परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी इच्छाओं का दमन नहीं होता । आप ऐसा कहते हैं तो आप ही बतलावें कि इनका दमन कैसे होगा ? परन्तु देखिये, वह युक्ति भी ऐसी होवे कि न तो अधिक कठिन हो और न अधिक मृदु मध्यम कोटि की होवे । मैं अवश्य ही इसे निर्वाण करना चाहता हूँ । तपस्वी ने कहा—हे वधिक ! इसके लिये तुम

शम, दम को धारण करो। मन का विग्रह शम है और इन्द्रियों का दमन करना दम है मनको एकाग्र करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है कि जिससे जगत का भ्रम नष्ट होकर परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। हे राजन् दशरथ! जब उस तपस्वी ने वधिक से ऐसे कहा तब वह बधिक उठकर खड़ा हो गया और प्रणाम करके उसी के अनुरूप ही तप करने लगा। तब उस प्रकार से तप करते हुये उसने इन्द्रियों को वश में किया और तब जो कुछ अनिच्छित ही उसे प्राप्त होता उसे ही यथा शास्त्र भोजन करके हृदय से सर्व क्रियाओं को त्यागते हुए उसने मौन वृत्ति धारण कर ली। इस प्रकार से तप करते हुए जब उसे कुछ काल व्यतीत हुआ तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और वह ऋषि के निकट पहुँच दण्डवत् करके आ बैठा और बोला—हे भगवन्! यह जो वाह्य दृष्टि है वह भीतर कैसे होगी और यह भीतरी दृष्टि वाह्य विषयों में क्योंकर चलीगई। कृपया इसे बतलाइये। तपस्वी ने कहा-हे वधिक! यह तो तूने गूढ़ प्रश्न किया है यही प्रश्न मैंने गणेशजी से किया था, तब गणेशजीने मुझसे जैसा कहा, वैसा मैंने धारण किया। अब उसे ही कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो ऐसी ही शङ्का मुझे भी हुई थी और तबजो मैंने उपाय किया था वह यह है कि पद्मासन लगाकर ध्यान किया और उस ध्यान में मैंने अपनी समस्त वाह्य दृष्टि को रोककर पुर्यष्टका में स्थित किया। फिर उसे भी शरीर से विरक्त कर निराधन आकाश स्थिर किया। परन्तु वैसा करने पर भी वह रहकर बारम्बार जहाँ २ मैं ध्यान को एकाग्र करता वह वहाँ २ से भी निकल जाता। प्राण और मन उसे खैंच ले जाते थे। तब मैंने बड़ी ही दृढ़ता से ध्यान लगाया और भोग की धारा करके पद्मासन बाँधकर प्राण मार्ग से उसे भीतर किया। फिर तो मैं ही उसमें समा गया और इस प्रकार बलिष्ट ध्यान से भीतर पहुँच कर मैंने एक-एक इन्द्रियों को देखा तब

मुझे वह सभी इन्द्रियाँ दिखलाई पड़ीं कि यह अपने अमुक-अमुक रसको अमुक अमुक प्रकार से ग्रहण कर रही हैं। उसमें कई इन्द्रियाँ रक्त को ग्रहण करती थीं और कई इन्द्रियाँ वीर्य और कफको ही ग्रहण कर रही थीं। ऐसे ही मलमूत्रवाली इन्द्रियाँ मल मूत्रको और कई इसी प्रकार से सब अपने २ रसों को खींच रही थीं। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दृष्टि आता था और जब वहाँ से आगे बढ़ा तो मुझे हृदय कमलका दर्शन हुआ कि जिस महातेजस्वी से संवेदनावश सारी शक्तियाँ स्फुरित होरही थीं। फिर तो उसका दर्शन करने से मुझे यह ज्ञात होगया कि निश्चय ही यही एक ऐसा स्थान है कि जो समग्र त्रिलोकी का आदर्श कहा जा सकता है। यही समस्त जगत को प्रकाश देने वाला वह दीपक है कि जिसकी सत्ता पाकर सारे पदार्थ स्फुरित हो रहे हैं। उसे देखकर मैं उसी में तल्लीन हो गया। उसमें मेरा लीन होना था कि सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल तेज, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, देवता और गन्धर्व आदि नाना प्रकार के स्थावर जङ्गम सभी दिखलाई पड़ने लगे। ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी वहाँ विद्यमान थे। सारी सृष्टि को मैंने उसके भीतर देख लिया। तब मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि अहो, इसके भीतर यह सृष्टि कैसे भासित हुई ? परन्तु विचार करके देखा तो इस बाह्य जाग्रत और भीतरी सृष्टि में कुछ भी भेद नहीं है। जो बाहर था वही भीतर भासने लगा और जो भीतर था वही भूत सत्ता स्वप्न के समान बाहर भासित होती है। तब जैसे यह जाग्रत अर्थाकार भासता है वैसेही मुझे वह भीतरी सृष्टि भास गई इस प्रकार बाहरी और भीतरी सृष्टि में मुझे कुछ भी भेद नहीं दिखाई पड़ा दोनों ही समान हैं। चिरकाल से जो प्रतीति होगई है वही मुझे प्रत्यक्ष भासती है परन्तु यह सब कुछ उसी प्रतीति नाम का एक स्वप्न मात्र ही है। स्वरूपतः कुछ भेद नहीं है। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत दोनों का ही अधिष्ठान आत्म सत्ता ही तो है और वही चैतन्य सत्ता पर ब्रह्म

स्वरूप भी है कि प्रमोद वश जिसका सम्बन्ध प्राणके साथ हो गया है और तब से वह जो संवित हुआ उसी के कारण से उसके इतने नाम होगये। यथा मन, प्राण, चित्त, जीव, बुद्धि और अहंकार तब ये जो भीतर फुरते हैं वही वाह्य जगतरूप में प्रत्यक्ष भासता है और तभी से पाँच ज्ञान इन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और चतुष्टय अन्तःकरण से चौदहों मिलाकर अपने २ विषयों को ग्रहण करने लगे। बस, यही जाग्रत है कि जो मनके फुरने एवं स्पन्द से स्वप्न के समान ही भीतर होकर फुरता है। परन्तु सबका अधिष्ठान आत्म सत्ताही जगत है। जब वही उसकी ओर फुरे तब जाग्रत-स्वप्नका भेद कुछ भी नहीं रहता और तब केवल निर्विकल्प आत्मसत्ता ही शेष रह जाती है। हे वधिक ! मैंने खूब भली भाँति विचार कर देखा तो वस्तुतः जगत कुछ है नहीं, चित्तके फुरने से ही जगत भासता है। जब चित्त अफुर हो जावे तब जगत की कल्पना नष्ट हो जावे। अस्तु मेरा तो यही निश्चय है कि यह जो कुछ है सब चिन्मात्र ही है। उसमें जगत की कल्पना करना मूर्खता है। जगत कहीं है नहीं। इससे तुम सारी भावनाओं को त्यागकर अपने आप स्वरूप में ही स्थित हो रहो। जब मन फुरता है तभी जाग्रत भासता है। रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर ! जब प्राणों की गति से ही मन चलता है, तब इस मनका कुछ अपना रूप तो नहीं हुआ ? फिर आप मन-मन क्या कहते हैं ? वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! परमार्थतः तो यह शरीर ही कुछ नहीं है फिर तुम मन को क्या पूछते हो। यह शरीर भी स्वप्न—विकार के ही सदृश है और केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। तत्वदर्शियों को ऐसा ही भासता है किन्तु अज्ञानी के निश्चय को तो हम नहीं कह सकते क्योंकि उनके निश्चय की कुछ भी गणना नहीं होती और उनका अनेक प्रकारका भिन्न २ निश्चय होता है। मैं तो यही कहूँगा कि उस शुद्ध चिन्मात्र आकाश में जगत—भ्रम कुछ भी नहीं है। आत्मसत्ता के आश्रय ही मन

भावको प्राप्त हुआ है और वही प्राण वायु को अपना आश्रय भूत कल्पता हुआ कहता है कि यह मेरा प्राण है, यह मेरा मन है, यह मेरा चित्त ऐसा कहता है इत्यादि। इस प्रकार जैसे २ वह कल्पना करता है वैसे ही वैसे देह इन्द्रियां और जगत का भान होता है। क्योंकि वह सर्व शक्तिमान परब्रह्म से ओत-प्रोत है और उसमें वह जैसी २ भावना करता है वैसा ही वैसा रूप होकर भासता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अन्य कुछ हुआ नहीं, सब कुछ ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। मनमें जैसे स्फुरण की दृढ़ता हुई है वैसे ही वैसे देह, इन्द्रियां और जगत भासने लगा है। परन्तु यह सब कुछ स्वप्नवत ही है। समस्त सङ्कल्प विकल्पों को मनने ही रचकर खड़ा किया है। मनमें जब यह स्फुरण होता है कि यह पदार्थ सत्य है तो वह वैसा ही भासने लगता है और जब मन किसी वस्तु के सम्बन्ध में उसे असत्य जान लेता है तब वह असत्य हो जाता है। इससे यह जितने भी लेख हैं सबको इच्छा शक्ति एवं मनने ही रचा है। अतः मनके विस्मरण का ही उपाय करना चाहिये मन न रहे तो आत्म ज्ञानसे भिन्न कुछ भी भासित न होवे। मन के शांत हुये विना कोई भी शांति दुर्लभ है। सो मन कैसे शांत होगा, सुनो। मनको ठहराने के लिये प्राण की क्रिया करनी चाहिये। जब प्राण ठहर जाता है तब मन भी जड़ी भूत हो जाता है और उसी अवस्था का नाम सुषुप्ति अवस्था है। परन्तु अब यह देखना चाहिये कि मन कहां से चलता है। सो, सुनो—जिस स्थान में चर्वण किया हुआ अन्न जाकर स्थिर हो जाता है वहीं से मन चलता है, अस्तु वहीं से मनको रोकना चाहिये। जब वहां से वह वासना युक्त नाड़ी रोक दी जाती है तब मन ठहर जाता है। परन्तु उस अज्ञानी मनकी ऐसी कठिन गति है कि वह संसार को लेकर फिर उठ आता है और सुषुप्ति आदि का भी बन्धन नहीं भासता। इसके विपरीत जो ज्ञानी है उनका मन तो सर्वदा ही ठहरा रहता है और वे सर्वदा

ही चेतन भाव को प्राप्त रहते हैं। इसमें भी दो भेद हैं। एक योगीका मन और दूसरा ज्ञानी का मन। योगी समाधि अवस्था में पहुँच कर मन को स्थिर करता है और उसको समाधि निष्ठ चित्त कहते हैं। परन्तु जो जीवन्मुक्त और ज्ञानी हैं उनको चित्तकी वृत्ति सम्यक ज्ञान से ही स्थित रहती है उसके मनमें कुछ भी वासना नहीं रहती और सर्वदा प्रतिक्षण शांतरूप से स्थित ही रहता है और जो पुरुष इस प्रकार से स्थित रहता है जानो कि उसे ही निश्चय शान्ति प्राप्त हुई है किन्तु वासना युक्त चित्त में तो शान्ति कहाँ? उसके दुःख कभी नहीं मिटते और वह निर्वासनिक कभी नहीं होता। वासना रहित होने के लिए तो यह महारामायण अत्युत्तम है। यह यथातथ्य ज्ञान को देने वाला और सर्व शोक नाशक है। यदि मेरे उपरोक्त कथन के अनुसार अभ्यास करोगे तो शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जावेगी। यही विचार सर्वदा ही प्रयोग में लाना चाहिए। इस प्रकार के विचार से चित्त निर्वासनिक हो जाता है। हे रामजी! अब उस बधिक का प्रसङ्ग फिर सुनो जब मैंने उस शव-शरीर में प्राण मार्ग से प्रवेश किया तब देखा कि उसने जो अधिक से अन्न खा लिया था इसी कारण वह मृतक हुआ था। जब मैंने उसमें प्रवेश कर अन्न पचा दिया तो उसके प्राण फुरने लगे और वृत्तियाँ जड़ता भाव को त्यागने लगीं। फिर तो क्रमशः ही उसकी सारी जड़ता नष्ट होगई और फिर प्राणके स्फुरण से सूर्य, चन्द्रमा आदि सारा विश्व नाना प्रकार से भासने लगा। तब मैं सकुटुम्ब ही रहने लगा और वहाँ रहते २ मुझे अपनी कुटी भास आई और स्त्री, पुत्र, भाई जन, बान्धव सब जैसा तैसा ही भासित होने लगे। फिर कुछ क्षण पश्चात् देखा तो प्रलय के बादल उमड़ आये मूशलाधार जल वृष्टि होने लगी, सातों समुद्र उछलने लगे। प्रलयकाल जैसा अनेक उपद्रव उठ खड़ा हुआ। ऐसी प्रचंड अग्नि लगी कि उससे समस्त स्थान जल गये। तब जल का उपद्रव उठा और उसमें नगर, ग्राम, पुर, मनुष्य पशु, पक्षी सब बह चले। महान

क्षोभ उत्पन्न हुआ अनेक प्रकार का हाहाकार मच गया। उस भीषण प्रहार में मेरी कुटी बह चली और स्त्री, पुत्र भाई जन सब उस जल के प्रवाह में बह चले। मैं जहाँ बैठा था वह स्थान भी लुढ़क चला मुझे घोर कष्ट मिला। एक तरङ्ग ऊपर ले जाती तो एक नीचे। सारा जगत मुझे स्पष्ट रूप से भासने लगा। समस्त राग द्वेष मिट गये, हृदय शान्त होगया। मैंने स्पष्ट देखा कि उसमें नगरदेवा और मंडलों के सहित महादेवजी और समस्त विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर जहाँ के तहाँ ही वह चले। ब्रह्मा और रुद्र तथा इन्द्र, कुवेर और क्षीरशायी विष्णु भगवान् भी अपने २ वाहनों के सहित कहां के कहां बह चले किसी में ऐसी सामर्थ्य न थी कि जो एक दूसरे को निकाले। फिर कौन निकाले, जब कि सब आप ही बह रहे थे। जिन देवताओं के पास महान् ऐश्वर्य था, जो बड़ेही प्रतापी और यशस्वी थे वे भी बह गये।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त ॥९०॥

——०:::※:::०——

इक्यानबेवां सर्ग

भीतरी प्रलयाग्नि दाह वर्णन

हे रामजी! तपस्वी के ऐसा कहने पर वधिक ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि तो सर्वथा ही स्वतन्त्र ईश्वर रूप हैं फिर वे किसी परतन्त्र के समान ही कैसे बहे जाते थे? आपने उन्हें कैसे देखा? वे गुप्त क्यों न हुए? तपस्वी ने कहा—हे वधिक! यह महाप्रलय का क्रम युक्त नहीं था। जब जो महाप्रलय क्रम युक्त होता है तब उसमें ब्रह्मा आदिक ईश्वर समाधि से शरीर को अन्तर्ध्यान कर लेते हैं। परन्तु इनका भी तो कोई नियम नहीं है। ये भी तो सङ्कल्प रूप ही हैं और संकल्पवश ही उन्होंने जगत को रचा है, इस कारण यह सारा जगत कुछ है नहीं, सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। फिर उनमें क्या आस्था की जाय? स्वप्न में क्या नहीं बनता? स्वप्नमें भ्रम के कारण

यह सब कुछ विपर्यय होकर भासता है। तपस्वी के ऐसा कहने पर व्याध ने प्रश्न किया—हे मुने! जब वह स्वप्न भ्रम पूर्ण ही था तब उसका वर्णन ही आपने क्यों किया? तपस्वी ने उत्तर दिया—हे बधिक! सुनो, उसकी समता मैंने इसलिये दी है कि उस महाप्रलय में स्थावर जङ्गम सभी कुछ तो बह रहा था और स्वयं मैं भी बहा जा रहा था। परन्तु उन सारी तरङ्गों के थपेड़े खाकर भी मुझे रञ्च मात्र भी कष्ट न होता था। तब बहते-बहते मैं एक किनारे पर जा लगा तो क्या देखता हूँ कि मैं एक पहाड़ की कन्दरा में पड़ा हुआ हूँ। फिर क्या दिखलाई पड़ा कि जलके प्रवाह में जीव बह भी रहे हैं और जल सूख भी रहा है, उससे कीचड़ उत्पन्न हो गया है। किसी स्थान में कोई डूब रहा है, कहीं ब्रह्मा के हंस पड़े हुए हैं, कही यमदेव और विष्णुदेव के वाहन कीचड़ में पहाड़ के समान पड़े हुए हैं। कहीं इन्द्र का ऐरावत हाथी पड़ा हुआ है और कहीं विद्याधर के वाहन तथा कहीं देवता, लोकपाल और सिद्ध गन्धर्व ही पड़े हुए किनारे लगे हैं। हे बधिक! तब ऐसे आश्चर्य को देखकर मैं वहीं पहाड़ की कन्दरा में सो गया और तब मुझे अपनी उस संवित में एक ऐसा स्वप्न आया कि जिसमें सूर्य और चन्द्रमा आदिक नाना प्रकार के जगत जलते हुए दिखलाई पड़े, पर्वत भी जल रहे थे और जगत भी बड़े खेद को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार मैं सारी रात स्वप्न में ही पड़ा रहा और दूसरे दिन भी अनेकों प्रकार का स्वप्न ही दिखलाई पड़ा। उसमें मैंने अपने को देखा कि मैं १६ वर्ष का सुन्दर शरीर धारण किये अपने माता-पिता के पास स्थित हूँ। मुझे ज्ञान होता था कि ये मेरे माता-पिता हैं, यह मेरी स्त्री है, ये मेरे कुटुम्बी हैं, ये मेरे बन्धु बान्धव हैं। इस प्रकार तृष्णा युक्त बोध से रहित मुझे वह सब कुछ भासित हो आया। अहं—मम का मोह फुर आया। तब मैंने बहुत सा काष्ठ का संग्रह करके एक ग्राम में अपनी कुटी बनाई, उसके चारों ओर पुष्प-वाटिका

नियत किया फिर एक आसन बनाकर वहाँ रख दिया और उसके पास ही माला और कमण्डल भी रख दिया । यद्यपि मैं ब्राह्मण था तथापि मुझे धन की इच्छा हुई किन्तु मेरा जो कुछ ब्राह्मण का धर्म था मैं उसे करता ही रहा । मैंने वहाँ अपने कुछ शिष्य भी बना लिये । सेवक हमारी पूजा करने लगे, उन्हें यथा योग्य सब को आशीर्वाद देता था । इस प्रकार से ग्रहस्थाश्रम में रह कर ही मैं सर्व चेष्टाओं को करता हुआ जीवन बिता रहा था कि मुझे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मेरा अमुक कर्तव्य है, अमुक कार्य करने से मेरा भला होगा । मैं नदियों में स्नान करूँ, गौ की सेवा करूँ, अतिथि की पूजा करूँ आदि-आदि । इस प्रकार से चेष्टा करते हुए मैंने वहाँ पूरे सौ वर्ष व्यतीत किये । तब एक तपस्वी मेरे स्थान पर आया तो पहिले मैंने उसे स्नान कराया, फिर भोजन से संतुष्ट कर रात्रि में उसे सुन्दर आसन पर सुख से शयन कराया और सारी रात हम उससे सत्सङ्ग करते ही रहे उस तपस्वी ने भी हमें बहुत ही अच्छे २ आख्यान सुनाये, उपदेश दिये । तब उपदेश देते हुए उस तपस्वी ने मुझसे कहा—हे ब्रह्मन ! यह जो कुछ भी मैं तुमसे कह गया हूं उन सबमें सार वस्तु एक चिन्मात्र स्वरूप ही है । सारा जगत उसी का चमत्कार और किञ्चन मात्र है, उससे भिन्न वस्तु कुछ भी नहीं है । तुम उसी सत्ता को ग्रहण करो । वही सबका अनुभव और परमानन्द स्वरूप है । उसी में स्थित हो रहो । हे व्याधे ! जब उस तपस्वी ने मुझसे ऐसा कहा तब मेरा मन योगसे ऐसा निर्मल था कि उसका उपदेश मेरे हृदय में तुरत ही लग गया और मैं अपने स्वभाव सत्ता में स्थित हो गया तब मैंने देखा कि सब कुछ मेरा सङ्कल्प ही है और मुझ से भिन्न कुछ नहीं है, मैं मुनीश्वर हूँ और यह मुझे एक स्वप्न मात्र हुआ था । सो मैंने जागकर देखा कि यह तो उसी पुरुष का स्वप्ना था कि जिसके शरीर में मैं प्रविष्ट हुआ था और वह पुरुष विराट है तथा उसी के प्रमाद से यह मैं ऐसा हो गया हूँ । तब मैंने

पद्मासन लगाकर योग की धारणा की तो उस विराट का शरीर मुझे दिखलाई पड़ा। फिर तो मैं चित्त के फुरने के साथ ही प्राण मार्ग से निकल कर अपनी कुटी में पहुँचा तो वहाँ अपने शरीर को पद्मासन बांधे बैठे देखा। तब उसमें पहुंच कर जो मैंने नेत्र खोला तो अपने समस्त वहाँ शिष्यों को बैठे हुए देखा। फिर एक घड़ी के पश्चात् मुझे और क्या-क्या भ्रम, चेष्टायें आश्चर्य दिखलाई पड़ा कि जो वर्णनातीत है। एक मुहूर्त में ही उसे सौ वर्ष अनुभव हो आया। फिर मेरे मनमें यह उत्पन्न हुआ कि उसके चित्त में प्रवेश करके कुछ और भी कौतुक देखूँ। तब प्राण मार्ग से उसके चित्त में मैं प्रविष्ट हुआ और मेरी सारी कल्पनायें जाती रहीं तथा मुझे फिर एक दूसरे ही कल्पका भान हो आया बारह सूर्य उदय होकर सारे विश्व को भस्म कर रहे थे बड़वाग्नि दहक रही थी, मन्दराचल टूटकर गिर रहा था, पृथ्वी जर्जर होगई थी, स्थावर जङ्गम सभी हाहाकारी शब्द कर रहे थे, बिजली चमक रही थी, महान क्षोभ उत्पन्न हो गया था। मैं भी उस अग्निसे अछूता न बचा और मेरा भी शरीर जलने लगा किन्तु मुझे उसका तनिक भी कष्ट न हुआ। मैं हृदय से ज्यों का त्यों-शीतल बना रहा।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का इक्यानवेवां सर्ग समाप्त ॥९१॥

——०::*::०——

बानबेवां सर्ग

कर्म क्या है ?

तपस्वी ने कहा-हे व्याधे ! उस प्रलय के क्षोभ में मैं भी भटकता था परन्तु मुझे अपने पूर्व शरीर का विस्मरण न हुआ था इस कारण मुझे शरीर का दुःख तनिक भी स्पर्श न किया। तब मैंने विचार किया कि यह संसार तो मिथ्या है, फिर इसमें विचरने से मेरा क्या प्रयोजन है ? यह तो स्वप्न मात्र ही है, फिर इसमें मैं किस लिये खेद करता हूँ।

अतः इस जगत से मैं बाहर निकलूँ तो मेरा कल्याण होवे। व्याधने कहा—हे मुने! जो उस स्वप्न में आपको जगत दिखलाई पड़ा वह क्या वस्तु थी और आपको वह स्वप्न क्यों हुआ? आपने तो जाग्रत अवस्था में वह स्वप्न देखा था फिर उसमें पहाड़, नदियाँ और वृक्ष आदिक नाना प्रकार की भूत जातियाँ एवं आकाश जल, वायु और अग्नि आदिक विश्वकी समस्त रचना कहांसे आई कृपाकर मुझे यह बतलाइये?

तपस्वी ने कहा हे वधिक! यह स्वप्ना तो क्या है, स्वरूप के प्रमाद वश नाना प्रकार के भयानक स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। निद्रावस्था में ही स्वप्न नहीं आते वल्कि स्वरूप के प्रमाद एवं हृदय की अशान्ति के कारण जाग्रत दशामें भी मनुष्य नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। अपने को भूल जाना महान अनर्थों का द्योतक है। अपने को भूला नहीं कि हृदय में नाना प्रकार के जगत दीखने लगते हैं और उसीको जब अपना आप करके देखता है तो सब कुछ स्पष्ट ज्ञात होता है। कारण से उपजी हुई वस्तु सत्य होती है और विना कारण के उपजी हुई असत्य होती है। मुझे जो सृष्टि उसके स्वप्नमें भासित हुई थी वह बिना कारण ही थी—इससे मैं उसको भ्रम मात्र ही कहूँगा। क्यों कि वह बिना कारण ही भास आई थी। ऐसे ही भ्रम वश आत्मा में जगतका आभास हुआ है। जगत न भासा होता तो अद्वैत आत्मसत्ता ही थी। उसमें संवेदन के स्फुरण से जगत उत्पन्न हुये के समान भास रहा है। परन्तु यह किंचन एवं आभास मात्र ही है। उसमें शरीर, हृदय पृथ्वी, जल वायु, अग्नि, आकाश और उत्पत्ति—प्रलय कुछ भी नहीं हुआ, वह केवल चिन्मात्र रूप ही है। ज्ञान दृष्टिसे देखिए तो सब चिदानन्द ही भासता है कि जो सर्व दुःखों से रहित परमानन्द रूप ही है—वही जगतरूप से भासित हो गया है। परन्तु तुम्हारे जैसे को तो यह जगत शब्द युक्त ही भासता है। किन्तु उस आत्मा में जगत कुछ

हुआ नहीं केवल चिन्मात्र सत्ता ही अपने आप में स्वतः स्थित है। जल, वायु, अग्नि, आकाश, उत्पत्ति और प्रलय न कभी था, न है—सब केवल चिन्मात्र रूप ही है। ज्ञान दृष्टि से देखो तो सब कुछ शुद्ध, दुःख रहित आदि पुरुष परमात्मा हो भास रहे हैं। तुम्हारे ही जैसा कोई होगा कि उसमें कुछ और शब्द अर्थ भासता है। किन्तु मेरे को तो आत्मा से परे कुछ और नहीं दिखलाई पड़ता, केवल चिन्मात्र सत्ताही अपने आप में स्थित है। यह हमको सब प्रकार से आत्मरूप ही भासता है। यदि तुम्हें भी ऐसी इच्छा हो तो तुम भी अपनी सर्व कलनाओं को त्याग दो फिर देखो तो अन्त में तुम्हें भी भासता है कि नहीं। फिर भासेगा क्यों नहीं? फिर तो वही शेष बचता है कि जो सबका अनुभव रूप, प्रत्यक्ष शुद्ध और सर्वदा ही स्वभाव सत्तामें स्थित और अमर है। तुम उसी स्वभाव सत्ता में स्थित रहो। आत्म सत्ता ही परम सूक्ष्म अपने आपमें स्थित है। उसमें आकाश भी स्थूल ही भासता है। उसकी सूक्ष्मता को ऐसे ही जान लो कि बस वह आत्मतत्व मात्र ही है, उसमें कोई उत्पन्न नहीं, केवल स्वभाव सत्ता ही आभास रहित स्थित है, और उसमें यह सारा जगत भासित होरहा है। जैसे एक घड़ी में ही पल, घड़ी, पहर, दिन मास वर्ष और युग की संज्ञा होती है सो कालही है वैसेही एक ही आत्मा में अनेक ही नाम रूप और जगत होता है। जैसे एक बीज में ही फल फूल डाल और पत्ते आदि होते हैं वैसे ही एक आत्मा में नामरूप सहित जगत उत्पन्न होता है। तब उसे आत्मा से ही भिन्न कैसे कहा जाय। सब कुछ तो आत्म स्वरूप ही है यदि आत्मा से कुछ भिन्न भासित होवे तो उसे भ्रम मात्र ही समझो। संकल्पपुर के समान ही यह जगत है। इससे यह आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। आत्मा ही अपना अनुभव रूप परम रूप शुद्ध स्थित उसमें जन्म मरण कुछ भी नहीं है। वह मृत्यु, चिदाकाश, अपने आप में ही स्थित और अनुभव रूप ही है। उस शुद्धसत्ता को मेरा नमस्कार है। हे वधिक

तू उसी शुद्ध सत्ता में स्थित हो जा, तभी तेरे दुःख नष्ट होवेंगे। अज्ञानी को ही यह जगत भासता है, ज्ञानवान को तो सर्वदा आकाश रूप ही भासता है। जैसे कोई एक पुरुष सोया हो तो उस को स्वप्न में महल आदिक जगत ही भासता है और है वह आकाश रूप ही वैसे ही अज्ञानी को जगत भासता है—यद्यपि वह आकाश रूप ही है । किन्तु ज्ञानवान् को तो आत्मरूप ही है। यदि आत्मा कुछ और भासे तो वह भ्रम है। जैसे सङ्कल्प पुर होता है वैसे ही यह जगत है कुछ बना नहीं। अज्ञानी को ही सत्य जान पड़ता है ज्ञानवान के लिये तो यह सर्वदा आकाशरूप ही है। जैसे मान लो कि कोई दो मनुष्य सो रहे हैं परन्तु उनमें एक तो सो गया है और एक जाग रहा है तो जो सो गया है उसे ही स्वप्न होता है और उस स्वप्न में उसे ही महल, नदी और पर्वत आदि के दृश्य दिखलाई पड़ते हैं और जो सोया नहीं है तो उसे दिखलाई नहीं पड़ता, उसे तो आकाश रूप ही भासता है। वैसे ही अज्ञानी को जगत ही भासता है क्योंकि वह स्वरूप से शून्य है, स्वरूप में सोया हुआ है। परन्तु ज्ञानीजन जाग्रत रूप है इससे उनको सब कुछ आत्मरूप ही भासता है। इस पर व्याध ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर ! किसी-किसी का कहना ठीक है कि जीव कर्म से होता है और कोई कहते हैं कि बिना कर्म के ही जीवों की उत्पत्ति होती है। सो इन दोनों में क्या ठीक है यह आप मुझे बतलाइये ? तपस्वी ने कहा—देखो, आदि परमात्मा में जो ब्रह्मा आदिक फुरे हुए हैं, सो कुछ कर्म से नहीं बल्कि बिना कर्म के ही उत्पन्न हुए हैं। न उनका कहीं जन्म है न मरण है। सब ब्रह्मस्वरूप ही स्फुरित हुए हैं और उनका शरीर भी ज्ञान स्वरूप ही है। उनकी कोई अवस्था नहीं है और वे सर्वदा ही अधिष्ठान सत्ता में अहंके कारण विश्वासनीय हो रहे हैं। हे वधिक ! सृष्टि के आदि में जो ब्रह्मा आदिक फुरे हुए हैं वे सब ब्रह्मा से भिन्न कुछ नहीं हैं और इस प्रकार यह जितने भी अनन्त जीव स्फुरित हुए हैं वे सब

आत्मपद से ही प्रकट हुए हैं और वे भी ब्रह्मरूप ही हैं, ब्रह्म से भिन्न वे कुछ हुए नहीं। सबका ही आदि चेतन वह स्वयंभू ही है उसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश और यह अविद्या आदि कुछ भी स्पर्शित नहीं हैं। सब कुछ विद्यारूप ही है और उसमें दूसरे जीव अविद्या के वश से प्रमाद करके परतन्त्र ही उदय हुए हैं। वे ही कर्म करके कर्म के आधीन हुए और तब इन्हें शरीरकी प्राप्ति हुई है। जब उनको आत्मज्ञान होता है तब वे कर्म के बन्धनसे मुक्त होते हैं। इस प्रकार यह जो आदि सृष्टि उत्पन्न हुई सो बिना कर्म के ही उत्पन्न हुई है और फिर वही अज्ञान वश कर्मानुसार जन्म-मरणको देखती है। जैसे स्वप्न की सृष्टिके आदि में कुछ कर्म नहीं होता और उसका फलस्वरूप कर्म पश्चात् ही में उदय होता हैं वैसे ही यह जगत भासता है। इस प्रकार आदि जीव बिना कर्म के ही उत्पन्न हुए हैं और फिर कर्म के अनुसार ही जन्म पाते हैं। ब्रह्मा आदि का शरीर शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही है क्योंकि उनका कर्म कोई नहीं, केवल आत्मा ही भासता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न में द्रष्टा ही दृश्य रूप होता है और वह नाना प्रकार के कर्म पुरुष ही भासता है, पर वास्तव में वह कुछ हुआ नहीं वैसे ही यह जगत जो कुछ दृष्टि आता है सब चिन्मात्ररूप ही है। सुख दुःख भी जो भासता है वह अज्ञान से ही भासता है जब तक अज्ञानता रहती है तभी तक जगत की प्रतीति होती है और तभी तक यह जीव कर्मरूपी फांसी से बँधा हुआ दुःख पाया करता है किन्तु जब स्वरूप में स्थित हो जाता है तब उसके निकट कर्मों का बन्धन कुछ नहीं रहता और वास्तव में कर्म तथा बन्धन कुछ है भी नहीं। यह कर्म आदिक तो मिथ्या भ्रमसे ही केवल आत्म सत्ता मात्र अपने आप में ही स्थित है; दूसरा कुछ नहीं है। फिर कैसे कहा जाय कि अमुक कर्म ने अमुक को बन्धन में कर लिया है। यह सारा जगत आत्मा में ऐसा ही है कि जैसे जल में तरङ्ग होता है सो वह जल मे कुछ भिन्न नहीं है। फिर सका क्या रूप होवे। ऐसे ही यह सारा

जगत आत्मस्वरूप ही है और आत्मा से अन्य कुछ नहीं है यदि उसमें दूसरा कुछ होवे तो उसे अविद्या ही समझो । यह सब वृत्तियों का ही खेल हैं । जब तक वृत्तियाँ वहिर्मुख फुरती हैं तभी तक जगत भासता है और तभी तक, सब कर्म दृष्टि आते हैं जब वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब जगत कोई नहीं रहता और न कुछ कर्म ही दृष्टि आते, सब आत्मसत्ता ही भासित होती है। जैसे हमको सर्वदा आत्मसत्त ही भाव होता है वैसे ही तब मुझको भी भासित होवेगा ज्ञानी पुरुषों को यह सारा जगत आत्मतत्व ही दिखलाई पड़ता है। किन्तु जो अज्ञानी है उनको तो प्रमादवश द्वैत रूप ही भासता है और यही कारण है कि वे पदार्था को सुख रूप जानकर उसे पाने का प्रयत्न करते हैं। वे उसी के सुख से सुखी और उसी के दुःख से दुखी रहते हैं । उनका उसी में राग-द्वेष चला करता है और वे उसी के पाने का यत्न करते हैं। किन्तु जो ज्ञानी हैं वे सर्वदा ही परमानन्द में स्थित रह कर सब जगत को ब्रह्मस्वरूप ही जानते हैं । यह सारा जगत तुमको दिखलाई पड़ता है सब चिन्मात्र रूप ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म में न कोई स्वप्न है न कोई जाग्रत है, न कोई कर्म है और न कोई अविद्या है। ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। उसमें कुछ द्वैत का स्फुरण नहीं हुआ। जैसे जल में तरंगें स्थित रहती हैं और वे जलरूप ही हैं वैसे ही यह सारा जगत ब्रह्मरूप ही है । ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं हुआ सारा जगत ब्रह्म का ही स्वरूप है । इस विचार से देखोगे तो तुम्हारे समस्त दुखों का अन्त हो जावेगा । परन्तु जब तक विचार पूर्वक न देखोगे तव तक दुःखों का अन्त न होगा । स्वरूप को पा जाओगे तो सारे कर्म आप ही आप नष्ट हो जावेंगे जितना ही विचार करोगे उतना ही सुख पाओगे। विचार से ही अन्धकार दूर होता है और विचार से ही सत्य की प्राप्ति होती है। विचार ही अविद्या को नाश करने वाला है और विचार करने से ही संसार चक्र से छुटकारा मिलता है। विचारवान कभी दुखी नहीं हो सकते। ज्ञानको धारण

करने से दुःख नहीं होता और वह सर्वथा ही परमानन्द पद को प्राप्त कर लेता है। फिर तो उसे जैसा सुख मिलता है वैसा सुख आकाश पाताल और पृथ्वी में कहीं नहीं मिलता। तब भला वह ऐसे आनन्द को त्यागकर और किसीकी इच्छा ही क्या करेगा। परन्तु यह आत्मानन्द बिना आत्म अभ्यास के नहीं प्राप्त होता। आत्मा शुद्ध और सर्वदा अपने आपमें ही स्थित है। उसमें जो कुछ भासता है वह अविद्या का ही विलास मात्र है। यदि तुम अपने में स्थित हो जाओ तो तुमको सब कुछ ब्रह्म ही भासित होगा। उसमें यह पृथ्वी आदिक तत्व कुछ नहीं हैं। यदि यह कुछ होते तो इनका कारण भी होता परन्तु जब ये नहीं हैं तब इनका कारण भी कहाँ से और कैसे होगा। अतः यह सब कुछ भ्रम मात्र है। विचार करने से जगत का नितान्त ही अभाव हो जाता है। जैसे जेवरी का सर्प मिथ्या है वैसे ही आत्मा जगत मिथ्या ही है सारा जगत ब्रह्म के सङ्कल्प में ही स्थित है। सो यह उस आदि परमात्मा का किञ्चनमात्र ही है अज्ञान से ही सारे कर्म उत्पन्न हो गये हैं जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रम मात्र ही है। वैसे ही यह सारा जगत भ्रम मात्र ही है। ज्ञान से देखिये तो जगत का सर्वथा ही अभाव हो जाता है। अहं ममरूपी चित्त ने ही जगत को उत्पन्न किया है, निश्चय के अनुसार ही भासता है—इसी को नेति भी कहते हैं। उसी नेति में यह देशकाल और पदार्थ संज्ञा भासित होगई है और वही कार्य और कारण भी है। बिना कुछ उपजे ही यह नाना प्रकार का जगत भास रहा है। परन्तु यह अविचार ही है। विचार किये से आत्मा ही दृष्टि आता है। जैसे निश्चय आत्मा में होता है वैसा ही प्रत्यक्षरूप से भासित है। इससे यह सारा जगत सङ्कल्प मात्र ही है। सङ्कल्प शक्ति से ही लोग उड़ते फिरते हैं और इस प्रकार अनुभव सत्ता ही सङ्कल्प वश परलोक को देखती है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का बानवेवां सर्ग समाप्त ॥९२॥

———०::❀::०———

तिरानवेवाँ सर्ग

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी ! जब इस प्रकार उस तपस्वी ने वधिक से कहा तब वधिक वैसे ही ध्यानावस्थित होगया कि जैसे मानों कागज पर कोई चित्र लिखा होवे । परन्तु उस ध्यानावस्था में भी उसे कुछ शान्ति न प्राप्त होती थी कारण कि उसने अभ्यास काल को नहीं देखा था अर्थात् अभ्यास नहीं किया था—इस कारण उसे उस तपस्वी महात्मा का उपदेश कुछ भी प्रभावकर नहीं हुआ और मूर्खतावश केवल यही विचारने लगा कि यह संसार सर्वथा ही अविद्यमान है उसको जिस प्रकार भी होवे मैं अन्त करदूँ तभी मुझे आत्मपद भासित होवेगा । ऐसी भावना कर वह उठा और उस तपस्वी के पास ही इधर-उधर कुछ टहलकर फिर बैठ गया । तब तपस्वी जैसी चेष्टा करता व्याध भी वैसी ही अधिकाधिक चेष्टा करने लगा और उसने अपना व्याध कर्म भी त्याग दिया तथा तपस्वी के समान ही पवित्र चेष्टा एवं अभ्यास में लग गया । परन्तु उसके मन में यह चेष्टा लगी ही रही कि मैं इस अविद्यमान जगत को अविद्यमान ही देखूँ कि यह कहाँ तक चला गया है । क्योंकि जब इस अविद्या का अन्त होवेगा तभी आत्मदर्शन भी होवेगा । इस कारण अब मैं हजार वर्ष की समाधि लगाऊँ । निदान उसने समाधि ली और जब समाधि से उतरा तब गुरु के निकट जाकर दण्डवत की और बोला कि हे गुरुदेव ! मैंने इतने काल तक तप किया है परन्तु मुझे शान्ति न प्राप्त हुई—कृपाकर बतलाये कि क्या बात है ? तब तपस्वी बोला—हे वधिक ! तुझे लाभ इस कारण नहीं हुआ कि तुझे मैंने जो आदेश दिया था तूने उसका ठीक रूप में पालन नहीं किया यदि तू उसका ठीक रूपमें अभ्यास किये होता तो अवश्य ही तुझे लाभ होता और शान्ति मिलती । मैं क्या करूँ । मैंने तो तेरे हृदयमें ज्ञानरूपी चिनगारी डाल दी थी यदि तू अभ्यासरूपी

पवन से उसे जगाता तो वह जाग जाती और तुझे लाभ भी पहुँचता परन्तु तूने तो उसे प्रमादरूपी राखसे ढँक दिया कि जिससे तुझे लाभ न हुआ। इससे अब न तो तू मूर्ख रहा न पण्डित। पण्डित होता तो आत्मपद में स्थित ही हो जाता। अच्छा अब यदि वह नष्ट नहीं हुई है तो फिर अभ्यास करो और उस प्रकार अभ्यास की दृढ़ता से तुझे ज्ञान और शान्ति प्राप्त हो जायगी। फिर मैं देखता हूँ कि क्या बात है। तब जैसा कुछ मुझे ज्ञात होगा मैं तुझे बतलाऊँगा। हाँ मुझे ज्ञात होगया। क्या तू उस अविद्यमान जगत को देखना चाहता था? व्याध ने कहा—हाँ, मुनीश्वर मेरे चित्त में यह भावना अवश्य थी। तपस्वी ने कहा, तो इसी कारण से तुझे शान्ति न मिली। अब जब तू सौ युग तक उग्र तप करेगा तब तुझे शान्ति प्राप्त होने का एक अवसर हाथ लगेगा और ब्रह्माजी प्रसन्न होकर देवताओं सहित तेरे पास आकर तुझे वर देवेंगे और उस समय तू क्या वर माँगेगा। मैं यह भी जान रहा हूँ। वधिक ने कहा—भगवन्! तो कृपाकर उसे भी बतला दीजिये। तपस्वी ने कहा—देख, तब तू ब्रह्माजी से यह वर मांगेगा कि—'मेरा शरीर बहुत बड़ा होवे और मैं बहुत भोजन करूँ तथा मैं इस जगत का अन्त देखूँ।' इस प्रकार से तू अमर होने का और ब्रह्माण्ड खप्पर को भी लांघने का वर मांगेगा। तू अरोग्यता भी मांगेगा। तब ब्रह्माजी तुझे यह वर देवेंगे। और तब तेरा तप से सूखा हुआ शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जावेगा फिर तो इस प्रकार हे वधिक! तुझसे और क्या कहूँ जैसी वासना होती है वैसे ही आगे फुरता है। जो होना होता है, वही होता है। भावी को कोई मिटा नहीं सकता। वह इतनी प्रबल है कि कोई दाहिना से बाँया नहीं कर सकता। जब तक कर्मों की कल्पना स्पर्श करती है तब तक कर्म का बन्धन नहीं छूटता और जब कर्मोंकी कल्पना का स्पर्श आत्मा पर न होवे तब कोई कर्म लेपायमान नहीं होता। तब अद्वैत आत्मा ही का अनुभव होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का तिरानवेवां सर्ग समाप्त ॥९३॥

चौरानवेवां सर्ग

तपस्वी की निर्वाणता

तपस्वी के ऐसा कहने पर व्याध ने पूछा—हे भगवन् ! आपके इस कथन से तो मैं बड़े ही आश्चर्य में पड़ गया हूँ कि यह क्या होने वाला है। अच्छा तो जब सौ वर्ष की तपस्या के बाद मेरा शरीर गिरेगा तब मेरी क्या अवस्था होगी, कृपाकर, यह भी बतलाइये। तपस्वी ने कहा—हे व्याधे ! जब तेरा यह शरीर छूटेगा तब तेरी प्राण शक्ति आकाश रूप और महान सूक्ष्म से भी सूक्ष्म एक अणु के समान हो जावेगी और तब उस संवित शक्ति में तुझे फिर नाना प्रकार का जगत भास आवेगा। तब वहाँ तुझे यह फुरेगा कि मैं दस वर्ष का राजा हूं और मेरा पिता इन्द्र है तथा मेरी माता प्रद्युम्न की पुत्री वज्रलेखा है, पिता मुझे राज्य देकर वन में तपस्या करने गये हैं और इस प्रकार मैं आसमुद्रान्त पृथ्वी का राजा हूँ। तू सिद्ध नाम से विख्यात होकर सौ वर्ष तक राज्य भोग करेगा। तब एक विदूरथ नाम का और राजा उत्पन्न होगा कि जिससे तेरी शत्रुता हो जायगी और तू अभिमान में चूर्ण होकर कहेगा कि यह मेरा क्या कर सकता है मैं इसको मारता हूँ। तब तेरी वह वासना ऐसी प्रबल होगी कि तुमसे और विदूरथ से घोर युद्ध चलने पर तू विदूरथ द्वारा बारम्बार मारा काटा जावेगा किन्तु वासना की प्रबलता से तेरी पराजय न होगी और तू विदूरथ को समर में मार डालेगा। अब तुझे अपने पर खेद होगा और तू दुःख करेगा किन्तु जब तेरे मन्त्रिगण तुझे ऐसा समझा देंगे कि विदूरथ तो मोक्ष चाहता ही था। और उसकी स्त्री लीला सरस्वती की उपासना कर रही थी कि मैं राजा-रानी दोनों ही मुक्त होऊँ सो विदूरथ मुक्त हो गया, तुम उसके लिये खेद न करो। हे राजन् ! वह मोक्ष चाहता था इससे से मुक्ति मिली और तू उसे मार कर विजय चाहता था इससे तुझे

विजय मिलेगी। तेरा पूर्व जन्म तामसी संस्कार था—इससे तुझे शान्ति न मिली। तब तू राज्य से उदासीन होकर फिर वन में तपस्या करने के लिये जायगा और किसी संत के स्थान में बैठकर वैराग्य को प्राप्त करता हुआ तू फिर कथा सत्सङ्ग करेगा, तब तेरे हृदय की वासना नष्ट होवेगी और तब तू उन महात्मा से कुछ भी न माँगेगा परन्तु सन्तजन ऐसे दयालु होते हैं कि यदि उनसे कुछ भी न माँगो तब भी वे अपने अमृतरूपी वचनों की वर्षा कर ही देते हैं। जैसे पुष्प बिना माँगे ही सुगन्धि वर्षा देते हैं वैसे ही सन्तजन बिना मांगे ही अमृत वस्तु प्रदान करते हैं। बस, इसी प्रकार से तेरी भावी है जैसा कुछ ज्ञात हुआ वह मैंने तुझसे कहा। अब तेरी जो इच्छा हो वह कर ऐसा कहकर तपस्वी उठ पड़ा और उसके साथ ही वधिक भी उठ खड़ा हुआ। फिर दोनों एक ही साथ स्नान करने गये और जब स्नान करके आये, तब दोनों ही एक साथ तप करने बैठे। शास्त्रों का विचार होने लगा। तब इस प्रकार शास्त्र चिन्तन एवं तपश्चर्या करते हुए जब उन्होंने कुछ काल व्यतीत कर दिया तब तपस्वी तो निर्वाण हो गया और वधिक तप में ही पड़ा रह गया। पश्चात् जब उसका वह सौ युग वाला तप पूर्ण हुआ तब जैसा कि ब्रह्माजी के आने का निश्चय था वैसा ही हुआ और ब्रह्माजी ने आकर उसे वर दिया फिर तो वह (वधिक) ब्रह्माजी के वर से विशाल शरीर वाला होकर जैसी २ भावना उसने की थी वैसा ही वैसा देखने लगा। उस अवधि में उसने अनेकों सृष्टियाँ देखीं कि जो बड़ी ही विलक्षणता को प्राप्त थीं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का चौरानबेवां सर्ग समाप्त ॥९४॥

—o::❀::o—

पंचानबेवां सर्ग

विपश्चित आख्यान एवं स्वर्ग-नर्क व्याख्या

वाल्मीकिजी बोले—हे भारद्वाज ! जब इस प्रकार विपश्चित ने राजा दशरथ से कहा तब तक सायंकाल का समय हो गया था इससे सबके सन्ध्या-वन्दन का समय जानकर वशिष्ठजी ने कथा कहना स्थगित किया और सब लोग राजा दशरथजी की जय जयकार करते हुए यथा स्थान को उठ कर जाने लगे। घड़ी घण्टा और नौबत नगारों के बजने के शब्द से आकाश मण्डल भर गया। फिर तो राजा दशरथ बड़े उत्साह से राजा विपश्चित का पूजन कर अनेक प्रकार से धन वस्त्र दान करने लगे। पश्चात् सभाके समस्त श्रोताओं ने अपने २ स्थानों को जा संध्या-वन्दन किया और विचार सहित रात्रि व्यतीत कर जब सूर्य की किरणें प्रकाशित हुईं तब फिर अपने स्थानों पर एक दूसरे को नमस्कार करते हुए कथा सुनने आ बैठे। तब वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी यह बड़ा आश्चर्य है कि यह अविद्यमान अविद्या कहीं है भी नहीं और प्रत्यक्ष के समान ही भासती है। परन्तु आत्म सत्ता अनुभव रूप है और उसमें यह जगत कुछ हुआ नहीं फिर भी स्पष्टरूप से ही भासता है हे रामजी ! अब तो मैं तुम्हें बहुत कुछ सुना चुका हूँ। राजा विपश्चित के मंत्रियों से लेकर, तपस्वी और वधिक की ज्ञानचर्या तथा पुनः राजा विपश्चित के मुख से ही इनका वृतांत भी तुम सुन चुके हो इससे अब मेरा तुमसे कुछ अधिक कहना नहीं है अब यह देखो कि इस विपश्चित की अविद्या हमारे आशीर्वाद और हमारे ही यथार्थ वचनों से कैसे नष्ट होती है। अब मैं इसकी अविद्या को शीघ्र ही नष्ट करदूँगा और अब यह जीवन्मुक्त होकर विचरण करेगा। हे रामजी ! जब यह जीव आत्मा की ओर जाता है तब इसकी अविद्या नष्ट होती है। आत्मज्ञान से ही अनात्मज्ञान का नाश होता है। अंध-

कार तभी तक रहता है जब तक सूर्यदेव उदय नहीं होते। सूर्य उदय हुआ नहीं कि अंधकार नष्ट होजाता है। जब आत्मदेवका दर्शन हो जाता है तब अविद्या का सर्वथा ही लोप हो जाता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि यह अविद्यामान अविद्या असम्यकदर्शी को सत्य के समान ही भासती है। यह अविद्यारूपी विष की बेलि देखने मात्र को ही सुन्दर है, स्पर्श करते ही मार डालती है। इन्द्रियों के शब्द स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध आदिक जितने भी विषय हैं ये सब देखने ही को सुन्दर जान पड़ते हैं। जब इनका स्पर्श होता है तब तृष्णा रूपी कांटे वह चुभते हैं कि जिनसे महान कष्ट होता है। इनको भोगकर राग-द्वेष के अतिरिक्त और मिलता ही क्या है? ये तो सर्वथा ही शून्यरूप हैं। आकाश धनुष देखने में सुन्दर और नाना रङ्गों युक्त जान पड़ता है किन्तु यह निःसार ही है, अनहोता ही भासता है भला, उसमें जल में और बादल कहाँ होता है? इसी प्रकार यह अविद्या भी कहीं हुई, अनहोते ही भासित होती है। परन्तु खेद है कि इतने पर भी मूर्ख इनके साथ पड़े ही रहते हैं। हे रामजी! यह अविद्यारूपी धूलि जिसको घेर लेती है उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, वह ज्ञानसे सर्वथा ही शून्य हो जाता है। इस पर भी ज्ञान नहीं विचार करने से उसका सर्वथा ही अभाव हो जाता है। विचार के आगे इसकी चञ्चलता सर्वथा ही नष्ट हो जाती है। अविद्यारूपी नदी में तृष्णारूपी जल पड़ा हुआ है सो उसमें इन्द्रियों के अर्थरूपी भौंरे और राग-द्वेषरूपी व्याघ्र मरे हुए हैं। जो मनुष्य इस नदी के प्रवाह में पड़ जाता है वह बड़े कष्ट को प्राप्त होता है। तृष्णारूपी प्रवाह और अविद्यारूपी नदी का अन्त नहीं मिलता। परन्तु हाँ, यदि वैराग्य और अभ्यासरूपी नौका बैठ जाय तो इस नदी को सुगमता से ही पार कर लेवे। किन्तु इन अविद्यारूप पदार्थों को भावना करनी बड़ी मूर्खता है। फिर इस अविद्या का विलास भी बड़ा लम्बा है। इसमें नाना प्रकार की सृष्टियाँ फुर रही हैं। कोई प्रकाशयुक्त हैं,

कोई अन्धकार युक्त, कोई दुखी है, कोई आनन्दित है किमी में जीव सम भाव से स्थित हैं और किसी में करोड़ों सूर्य उदय हो रहे हैं। किसी में जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं, कोई वृद्ध हो रहे हैं, किसी में कोई सर्वदा एक रस रहता है। किसी सृष्टि में कोई स्त्री ही नहीं है। किसी में जीव पहाड़ के समान हैं और किसी में मरना भी नहीं है परन्तु मलय काल में तो सभी इकट्ठे ही मर जाते हैं। एक अविद्या में ही इतने ब्रह्माण्डों का स्फुरण हो रहा है। परमात्मारूपी समुद्रसे जगत रूपी तरंगें अविद्यारूपी वायु के संयोग से ही उठती और मिटती हैं। बड़े से बड़े मोती, मूंगा, सोना, चांदी और इस प्रकार धातु सम्बन्धी जितने भी पदार्थ हैं और भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य जो कुछ भी है सब उस परमात्मा से अविद्यावश फुरकर आये हैं। किन्तु यह सब कुछ संकल्परूप और अविद्या से ही रचे हुए हैं। सारा स्थावर जङ्गम जो कुछ भी तुम देख रहे हो सब अविद्या का ही विलास मात्र है। जैसे मरुस्थल में अनहोते ही नदी भासती है और विचार किये से उसका अभाव हो जाता है, वैसे ही आत्मविचार करने से अविद्या के विलास जगत का अभाव हो जाता है। हे रामजी! आत्म प्रमादी को ही देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का इष्टानिष्ट अनेक प्रकार के पदार्थ भासते हैं और इस प्रकार उन्हीं को यह कार्य-कारण जगत स्पष्टतया भासित होता है किन्तु जिनको आत्म साक्षात्कार हो गया है उनको तो सर्व आत्मा ही भासता है। सारा जगत सङ्कल्प मात्र ही है। जिसको जैसा संकल्प होता है उसे वैसे ही सृष्टि आत्मा में भासती है अस्तु आत्मरूपी रत्ने में ही सृष्टि रूपी अनेक रत्न भरे पड़े हैं। जिनको आत्म साक्षात्कार हो गया है उनको सब आत्म स्वरूप ही भासित होता है। जैसा संकल्प दृढ़ होता है वैसा ही पदार्थ हो भासता है। इससे यह जितना कुछ जगत है सब सङ्कल्प मात्र ही है। देखो, जब तुम्हें यह तीव्र संवेग होता है कि आकाश में कोई नगर बसा हुआ है तो वास्तव में वहाँ नगर बसा हुआ दृष्टि आता है। ऐसे ही तुम

जिस ओर दृष्टि डालोगे उधर वैसा ही सिद्ध होवेगा। आत्मा की ओर एकत्र होवोगे तो आत्मा ही भासेगा और यदि दोनों ओर लगोगे तो भटकते ही रहोगे। परन्तु तुम मेरा कहना मानो कि जगत की सत्यता को छोड़कर आत्मपरायण बन जाओ। यदि तुम आत्मा में तीव्र भावना करोगे तो निश्चय ही मोक्ष प्राप्त हो जायगी। जिज्ञासु जैसा अभ्यास करता है वैसा ही पाता है। सृष्टिका आदि कारण भी यही है कि जैसी भावना हुई वैसा ही स्थापित होगया। जो धर्म की भावना करता है उसकी वृत्ति धर्मकी ओर जाती है और जो सकाम कर्म करता है उसे स्वर्ग आदिक सुख प्राप्त होते हैं और जो अधर्मकी भावना करता है उसको नरक आदिक दुःख प्राप्त होता है। किन्तु शुभ कर्म से तो शान्ति की भी इच्छा नहीं रहती। कोई स्वर्ग–सुख चाहता है कोई सिद्ध–सुख चाहता है, और यह दोनों भावना के ही आधीन हैं। भावनावश जो चाहे प्राप्त कर लेवे। ऐसे ही अशुभ की भावना नाना प्रकार के नरक दुखों को प्रदान करती है। हे रामजी! जब यह संवित-शक्ति अनात्मा में आत्माभिमान करके उनके कर्मों में लग जाती है तो वह ऐसे२ जघन्य पाप करती है कि जिनमें वह अपनेको ही कर्त्ता मान बैठती है। फिर तो उसे ऐसे अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं कि वर्णन ही नहीं किये जासकते। कहीं वह शक्ति पहाड़ों में पीस दीजाती है, कहीं उसपर अग्निके अङ्गारे बरसाये जाते हैं, कहीं अंधकार कूपमें वह छोड़ दी जाती है और कहीं उसे कोल्हूमें जोत दिया जाता है कहीं उसे लहकतेहुए अङ्गारोंको स्पर्श कराया जाता है और इसीप्रकार जो स्त्री पर पुरुषगामिनी होती है उसे अन्धकूप रूपी ओखलीमें खड्ग रूपी मूशल से कूटा जाता है। देहाभिमानी एवं देव पितृ निन्दक यमराज के दूतों द्वारा तलवार बर्छी से मारे जाते हैं। वे यमके दूत उनके शरीर को काटकर टुकड़े टुकड़े कर देते हैं भूख और प्यास का कष्ट देते हैं इसी प्रकार जो पुरुष व्यभिचारी होते हैं, जिन्होंने अपनी आखों से पराई स्त्रियों पर कुदृष्टि फेंकी है जो व्यभिचारी हैं उनपर

भी यम के दूत छुरी का प्रहार करते हैं। परन्तु जो शुभ कर्मी हैं उनको स्वर्ग का सुख मिलता है। इसी प्रकार जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा जगत देखना पड़ता है। शरीर त्याग के समय जैसी चिन्तना होती है, उनको वैसा ही प्राप्त होता है। अस्तु! यह संसार वासना मात्र ही है। निश्चय के अनुसार ही भासता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का पचानवेवां सर्ग समाप्त ॥९५॥

—०:※:०—

छानवेवाँ सर्ग

निर्वाण उपदेश

इतनी कथा सुन कर रामजी ने वशिष्ठजी से पूछा हे मुनीश्वर! यह जो अपने तपस्वी और व्याधे का आख्यान कहा है वह तो बड़ा आश्चर्य जनक है। क्या यह आख्यान स्वाभाविक हुआ है या इसका कोई कार्य कारण है? वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! ब्रह्म सत्ता अपने आप में ही स्थित है और वह चिन्मात्र ही है उसमें कोई भी प्रतिमा स्वभावतः ही उठती है। जैसे समुद्र में तरङ्गों का उठना स्वाभाविक है वैसे ही आत्मा में चमत्कार स्वाभाविक है। सारा जगत उस आत्मा का ही चमत्कार है। उसमें स्वभावतः ही समस्त रचनायें उठ खड़ी हुई हैं। किन्तु समस्त स्फुरणों और समस्त स्थितियों के प्रकट होते हुये भी वह चिन्मात्र सत्ता ज्यों की त्यों ही स्थित है। जैसे शुद्ध चिदाकाश में स्वप्न सृष्टि भासती है तो उसमें वही सृष्टि साररूप है और चित्त के चमत्कार से ही फुरी हुई है। किन्तु वह वैसा ही है कि जैसे समुद्र में तरङ्गों का फुरना समुद्ररूप ही होता है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। सर्व शब्द अर्थों के संयुक्त यह जितना कुछ जगत भासता है सब कुछ वह चिन्मात्र ही है उससे भिन्न कुछ वस्तु नहीं है। सारा जगत स्वप्नपुर के समान ही संकल्पवत ही है। उसमें यह पृथ्वी आदिक पिण्डाकार कुछ भी

नहीं भासित होता, सब कुछ ब्रह्म का ही स्वरूप है। फिर इसको ऐसे ही समझ लेना चाहिये कि जो वस्तु व्यभिचारी और नाशवान है वह अविद्यारूप ही है और जो अव्यभिचारी एवं नश्वर है वही ब्रह्म सत्ता है! वह सत्ता सर्वदा ही ज्ञानस्वरूप है और वह अपने भाव को कदाचित भी नहीं त्याग करती। वह अनुभव युक्त सर्वदा ही प्रकटा करती है। तब उसमें अविद्या कैसे हो? क्या कहीं समुद्रमें भी धूलि होती है? सो आत्मा में अविद्या नहीं है। उमसे सब कुछ प्रकट होते हुए भी सर्वदा चिदाकाश रूप ही है। जैसा सङ्कल्प होता है वैसा ही भासता है। यदि तुम अपने मनमें इन्द्र की भावना धारण करके बैठोगे और चेष्टा भी इन्द्र के ही समान करोगे अथवा अपने ध्यान में इन्द्र की ही रचना करोगे तो तुम्हें इन्द्र की ही प्रतिमा सिद्ध होवेगी जब तक वह सङ्कल्प रहेगा तब तक तुम्हारा चि मात्र इन्द्ररूप ही भासित होवेगा। इसी प्रकार जो यह सारा जगत भासता है सो सब कुछ चिन्मात्र रूप ही है। संवेदना से ही पिण्डाकार हो भासता है। जब संवेदन में फुरना नहीं रहती जब सारा जगत आत्मस्वरूप ही भासता है। ब्रह्मसत्ता सर्वदा अपने आप में ही स्थित है जैसा फुरना होता है, वैसा ही भासता है। सारा जगत उसी का चमत्कार है। जैसे समुद्रकी लहरें समुद्ररूप ही हैं वैसे ही उस निराकार सत्ता में जगत निराकार ब्रह्मस्वरूप ही है। वही परमबोध स्वरूप भी है और उसी को पाने से मोक्ष होता है। जब उसका सच्चा बोध हो जाता है तब सारा जगत ब्रह्मस्वरूप और अपना आप ही भासने लगता है। पर जिसको सम्यक ज्ञान नहीं प्राप्त होता उसे तो यह नाना प्रकार का जगत ही भासता है। जो वैराग्य अभ्यास द्वारा शास्त्र चिन्तन करते हुये अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण बना लेता है, उसे निश्चय ही आत्मपद प्राप्त हो जाता है। परन्तु जिसने ऐसा नहीं किया उसे अज्ञान युक्त यह जगत ही भासता है। सारा जगत स्वप्न मात्र है वह स्वप्न अलपकाल का

होता है तो यह जाग्रत एवं दीर्घ काल का स्वप्न कहलाता है। पर आत्मा में दोनों ही एक समान हैं। जैसे जड़वे दो भाई जन्मते हैं तो नाम मात्र में ही वे दो हैं किन्तु वास्तव में वे एक रूप ही हैं-इसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न एक समान ही है। जैसे स्वप्न से जागकर स्वप्न के पदार्थों को भ्रम मात्र जानता है और जाग्रत को ही सत्य मानता है वैसे ही जब यह जीव पर लोक को जाता है तब वह इस जगत को स्वप्न तुल्य ही जानता है और यही कहता है कि वह जगत मेरे लिये एक स्वप्न जैसा था। फिर तो उसे पर लोक ही सत्य हो भासता है और यह जगत कि जिसे वह पहले सत्य जानता था परलोक में पहुँचकर स्वप्नवत मिथ्या भ्रम समझने लगता है। तब फिर वहांसे गिरकर जब इस लोकमें आता है तब उस पर-लोक को ही भ्रम जानने लगता है। इस प्रकार जब तक शरीर का सम्बन्ध है तब तक अनेक बार जाग्रत को देखता हुआ अनन्त स्वप्नों को देखता है। परन्तु जैसे मृत्यु में अनेक स्वप्न आते हैं वैसे ही मोक्ष पर्यन्त अनेक जाग्रत जगतरूपी स्वप्न आते ही रहते हैं किन्तु यह सब कुछ भ्रम मात्र ही है। जैसे सिद्ध ज्ञानवान होकर अपने पूर्व जन्मों को जान लेता है और फिर भी कहता है कि मेरे वे सभी जन्म भ्रम मात्र ही थे वैसे ही यह जीव अपने स्वरूप में जाग जावेगा तब यह सारी गतिमायें इसे भ्रममात्र ही प्रतीत होवेंगी। तब इसे पूर्ण निश्चय हो जायेगा कि बन्ध मोक्ष कुछ भी नहीं है सब चित्तमें ही स्थित है। जब चित्त की वृत्तियाँ निर्विकल्प हो जावेंगी तब मोक्ष ही भासित होगा। किन्तु जब तक वासनायें दृढ़ता पूर्वक बैठी हुई हैं तब तक बन्ध ही भासितहोगा। इस प्रकार आत्मा में बन्ध मोक्ष कुछ भी नहीं। बन्ध-मोक्ष दोनों ही चित्त संवेदन में ही भासते हैं। जब चित्त निर्वासनिक एवं निर्वाण हो जावेगा तब सारी कल्पनायें मिट जावेंगी। इससे तुम उस निर्मल ज्ञान मात्र आत्मसत्ता ही में स्थित होजाओ। खाना, पीना चलना, बोलना आदिक

सब चेष्टायें करो परन्तु हृदय से परमपद को ही पाने का प्रयत्न करो। पहले नेति २ ऐसा कहकर अन्य सर्व शब्दों एवं सर्व कलनाओं का त्याग कर फिर अभाव का भी अभाव कर दो। तब उसके पश्चात् जो शेष बचे उसीको आत्मसत्ता समझो, वही परम निर्वाण रूप कहा जाता है और तुम उसी में स्थित रहो।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का छानवेवां सर्ग समाप्त ॥९६॥

——०::❋::०——

सत्तानवेवां सर्ग

अविद्या को नाश करो

हे रामजी! यह जितने भी पदार्थ भासित हो रहे हैं सब उस चिदाकाश आत्मा का ही स्वरूप है। यह रूप, दृश्य, अव-लोक, नमस्कार और इन्द्रियों युक्त जो कुछ फुरना आदिक भास रहा है सब अज्ञान का ही स्वरूप है और सब आत्मा से ही प्रकट हुए हैं। जो इस चिन्मात्र आत्मा में जागा है उसे अपना आपही भासित होता है। अपनी चैतन्यसत्ता ही जगत होकर भासित हो रही है जैसे अपनी चैतन्यता ही स्वप्न नगर होकर भासती है, वैसे ही जो आदि सत्ता है वही जगतरूप होकर भासित हो रही है। सारा जगत आत्मा से कुछ भिन्न नहीं है और सब कुछ आत्मा का ही स्वरूप है। जैसे जल में डूबता ही जल का स्वरूप है वैसे ही आत्मा में चैतन्यता आत्मा का ही स्वरूप है। सब चैतन्यतावश ही आत्मसत्ता जगताकार होकर भास रही है। इस प्रकार यह जगत कुछ है नहीं। असत्य ही होकर प्रत्यक्षमा भासता है। यही तो आश्चर्य है कि निष्किञ्चन होते हुए भी उसमें किञ्चनता भासित हो रही है। परन्तु आत्मसत्ता सर्वदा अद्वैत और निराकार ही है। अज्ञान दृष्टि से ही उसमें नाना प्रकार के दृश्य भासित हो रहे हैं। जब सर्व विकारों को असतरूप जानकर उनका त्यागकर देवे तब आत्मसत्ता ही शेष रहती है। जब सत्शास्त्र एवं सत्सङ्ग में दृढ़ अभ्यास होता है तब

स्वभाव सत्तामें स्थिति प्राप्ति होती है। परन्तु आत्मा में यह अनउपजा जगत वैसे ही उत्पन्न होगया है जैसे कि शून्य स्थान में वैतालका भ्रम हो जाता है । तब मूर्ख अपनी अज्ञानतावश उसी को दृढ़ समझने लगते हैं । किन्तु यह सर्वथा ही असत्य है और इसी प्रकार इसके जितने भी पदार्थ अपना क्षणिक चमत्कार दिखला रहे हैं और जिनके लिए मनुष्य दिन रात ऐड़ी से चोटी तक पसीना ढुलकाते रहते हैं वे सर्वथा ही नश्वर और क्षण-क्षण में उदय और नष्ट हो जाने वाले हैं। विचार न होने से ही दृढ़ भासित होते हैं, मूर्ख ही उनकी इच्छा करते हैं और उन्हीं को यह जगत और इसके पदार्थ सत्य भासते हैं। ज्ञानी को जगत के पदार्थों की तृष्णा ही नहीं होती । वे जगत को मृग तृष्णा के ही समान असत्य जानते हैं । उनके हृदय में ब्रह्मकी ही भावना दृढ़ रहती है। तब भला ऐसे ज्ञानियों के निश्चयको अज्ञानी कैसे जान सकता है । परन्तु अज्ञानी के निश्चय को ज्ञानीजन वैसे ही जानते हैं कि जैसे सोये हुए पुरुष को निद्रा दोष से स्वप्न जान पड़ता है और वहीं पर जो बैठा हुआ जाग रहा है उसे स्वप्न कोई नहीं वह उसे सोया हुआ समझता है और वह जानता है कि इसे जो स्वप्न हुआ वह भ्रममात्र है। ऐसे ही ज्ञानीजन अज्ञानी को भली भांति जानते हैं जैसे मिट्टी की सेना को बालक ही सेना जानता है सयाने पुरुष उसे मिट्टी ही जानते हैं वैसे ही ज्ञानीजन अज्ञानियों के मन्तव्य को जानते हैं कि यह कहाँ अज्ञान कर रहा है । हे रामजी ! जब मनुष्य को आत्म अनुभव हो जाता है तब उसे जगत के पदार्थों की इच्छा नहीं रहती। फिर इच्छा हो भी तो किस लिये? शरीर के लिए। शरीर भी तो क्षणभंगुर है। जैसे वायु के लगने से पत्ते गिर जाते हैं वैसे ही यह शरीर भी नाशवान है । फिर इसके लिए यत्न करें? मूर्खता के कारण ही लोग दुःख उठा रहे हैं । विषय पदार्थों को सत्य जानना बड़ी मूर्खता है। जो इसमें पड़ेगा वह अवश्य ही कष्ट पायेगा। विषयों के लिए यत्न करने वाला कष्ट के सिवा तृप्ति कदापि

नहीं पा सकता। अपना आप ही मित्र है, अपना आपही शत्रु है। सत्य मार्ग से उद्धार होता है, पुरुष प्रयत्न से अपना आपही मित्र हो जाता है। किन्तु जो सत्य मार्ग में नहीं विचरता और पुरुष प्रयत्न करके जो अपना उद्धार नहीं करता वह आवागमन के चक्कर से नहीं छूटता और वही अपना शत्रु है। किन्तु जो अपना उद्धार करता है वह अपने पर दया करता है। हे रामजी! शान्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक इन्द्रियों को दमन न करेगा। जो इन्द्रिय रूपी कीचड़ से निकलने का यत्न नहीं करता वह महान् मूर्ख है। क्योंकि बालक अवस्था में बुद्धि से शून्य होता है और वृद्धावस्था में अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं और यौवन अवस्था में काम की प्रबलता होती है कि जिससे वह विषयों को दमन कर नहीं पाता। जब इस प्रकार तीनों ही अवस्थायें निकल जावेंगी तब कब प्राप्त करेगा। फिर तिर्यक आदिक योनियाँ तो मृतक ही हैं। पुरुषार्थ का समय युवावस्था ही है। जब इसमें भी लम्पट ही रहा तब तो निश्चय ही वह नर्कके गोते खावेगा। अस्तु! विषयों में प्रसन्न कदापि न होना चाहिये। यह शरीर सर्वथा ही नाशरूप है। फिर विषय किसके लिए भोगे? विषयों का सेवन तो मूर्ख ही करते हैं, दूसरे नहीं। हे रामजी! तुम अपने आप में जागृत न होकर उस अविनाशी पद को ही प्राप्त करो कि जो सर्वदा ही अच्युत और परमानन्द स्वरूप है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥९७॥

—०:*:०—

अट्ठानवेवाँ सर्ग

जीवन्मुक्त का लक्षण

इतनी कथा सुनकर रामजी ने पूछा—हे मुनीश्वर! जो पुरुष इन्द्रियों के सुख को पाकर न तो सुखी होता है और न उनके वियोग में दुखी होता है, वह पुरुष कैसा है। मैं तो उसे जड़ ही कहूँगा। क्योंकि यदि वह चैतन्य

होता तो उसे हर्ष शोक अवश्य होता । परन्तु इसमें क्या यथार्थता है, वह आप मुझे कृपाकर बतलाइये ? वशिष्ठजी कहने लगे—हे राम जी ! वह जड़ क्यों है ? वह तो सर्वथा ही जीवनन्मुक्त है। क्योंकि जब उसे इष्टानिष्ट का कुछ भी राग द्वेष नहीं होता और जब कोई भी उसे शुद्ध, अर्थद्वैत नहीं भासते तब वह जीवन्मुक्त ही है। ऐसे पुरुषों का चित्त तो सर्वदा आत्माकी ही ओर लगा रहता है। फिर सुख और दुःख तो तब होता है कि जब चित्तको जगत का सम्बन्ध होता है। जब चित्तको जगत से कुछ संबन्ध हीं नहीं रहेगा तब तो वह चिन्मात्र ही है, फिर उसे उपाधि सुख दुःख कैसे होवेंगे ? वह तो सर्वदा अपने स्वभाव में ही स्थिर रहता है । वे सब कुछ करते हैं परन्तु उनको स्वरूपतः कुछ उत्थान नहीं होता और वे सर्वदा ही अद्वैत में निश्चय वान बने रहते हैं । वे अपने नेत्रों से देखते तो सब कुछ हैं परन्तु उन्हें द्वैत की भावना कुछ भी नहीं होती । तब जिसे द्वैत भासता ही नहीं उसे राग-द्वेष का कष्ट ही कैसे होगा ? जैसे अत्यन्त उन्मत्त को सारे पदार्थ दृष्ट आते हैं परन्तु पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। ऐसे ही जिसकी बुद्धि अद्वैत में घनी भूत हुई है उसको द्वैत रूप पदार्थ नहीं भासते और तब जिनको द्वैत नहीं भासता उनको सुख-दुःख कैसे भासेंगे, क्योंकि उन पुरुषों ने तो वहाँ विश्राम किया है कि जहाँ न जाग्रत है न स्वप्न है न सुषुप्ति है । वे सर्व द्वेष से रहित अद्वैत रूपी शय्या में विश्राम कर रहे हैं और संसार मार्ग को पार कर गये हैं । जो अपनी ऐसी विभूति विद्याको त्यागकर प्रसन्न होता है और फिर संसार के क्रूर मार्ग में कष्ट पाता है वह मनुष्य नहीं मानो मृगा है । वह संसार रूपी वनमें भटक रहा है । जब तृष्णा उसे कायर बना देती है तब वह उसकी ओर दौड़ता है परन्तु वह जहाँ चाहता है वहाँ कष्ट ही पाता है। भला कहीं मृग तृष्णा का जल भी सुखी बनता है ? तब इस प्रकार जब उसे किसी एक स्थान में विषय नहीं मिलता तब वह उसे पाने के लिए और आगे दौड़ता

है और उत्तरोत्तर तृष्णा बढ़ती ही जाती है । परन्तु विषयों को सुख तो मिलता ही नहीं इससे वह उसके लिये नित्यशः दौड़ लगाता ही रहता है और इस प्रकार दौड़ते २ वह जड़ एवं मूर्ख हो जाता है कि जिससे अन्त में मृत्यु भी निकट आ जाती है और वह विषयरूपी मृगतृष्णा का जल उसे प्राप्त नहीं होता ? हे रामजी ! यह मनरूपी एक ऐसा मृग है जो संसाररूपी जलमें आन पड़ा है। वह इन्द्रियों के विषयरूपी जलाभास को सत्य जानकर शान्ति के निमित्त उनकी तृष्णारूपी मार्ग में दौड़ लगाता है । किन्तु विषयों का तो सर्वथा ही अभाव है वे मिलें भी तो कैसे ? शांतिरूपी जल तो वहाँ है ही नहीं । तब इस प्रकार जब दौड़ते २ वह वृद्धावस्था में जा पड़ता है तब थक जाता है और जड़ होकर महान कष्ट को पाता है और तृप्त नहीं होता । हे रामजी ! इस मनुष्यरूपी मजदूर के शिर पर एक बहुत बड़ा भार लगा हुआ है जब वह दुष्ट मार्ग से जाता है तब उसे वे इन्द्रियरूपी चोर लूट लेते हैं । इससे वह महान दुखी होता है। रागद्वेष रूपी चोर उसके चित्तरूपी धन को अपहरण कर लेते हैं । तब वह तृष्णारूपी अग्नि में जलने लगता है पर यह यह महान आश्चर्य है कि ऐसे दुष्ट मार्ग को त्यागकर लोग परमपद मोक्ष में विश्राम नहीं लेते । किन्तु जिन्होंने विषय रूपी आनन्द को त्याग दिया है वे परम आनन्द को प्राप्त हुए हैं उन मुक्त पुरुषों को संसार का दुःख सुख नहीं लगता और वे परम अद्वैत शुद्ध सत्ता को प्राप्त हो गये हैं । वे सबको देखते हैं पर उन्हें कोई नहीं देख पाता । उन्होंने ग्रहण और त्यागरूपी अग्निको सर्वथा ही त्याग दिया है, उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है, वे इन्द्रियों के विषयकी ओर से सदा सोते ही रहते हैं । उनके भीतर सर्वदा ही शान्ति विद्यमान रहती है। उनको जड़ता का दोष नहीं लगता और वे आकाश से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। उन्हें इन्द्रिय जन्य विषयों की तृष्णा कोई नहीं होती । वे विषयों

से रहित होकर सर्वदा ही विश्राम पाते हैं। किन्तु जो आत्मा की ओर से सर्वदा ही सोये रहते हैं उनको महान कष्ट प्राप्त होता है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का अट्ठानवेवां सर्ग समाप्त ॥९८॥

—०::❀::०—

निनानवेवां सर्ग

सदुविचार शक्ति वर्णन

रामजी ने प्रश्न किया—हे मुनीश्वर! उधर आपनें कहा कि आप ही अपना मित्र है और आपही अपना शत्रु है तो कृपाकर बतलाइये कि वह मित्र कौन है? वशिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! एक एक अकृत्रिम कर्म होता है। अपना सुकर्म ही उसका नाम है और अपना प्रयत्न ही उसका मित्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक ये तीनों ताप अज्ञानी को सदा जलाते ही रहते हैं। किन्तु ज्ञानी को नहीं जलाते। ज्ञानी इतना निर्द्वन्द होता है कि यदि उसे कोई महान से भी महान कष्ट क्यों न प्राप्त हो जावे वह उसे स्पर्श नहीं करता जैसे कमल को जल स्पर्श नहीं करता वैसे ही ज्ञानी को कष्ट स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह मित्र उसके साथ रहता है। जैसे बालक का मित्र बालक ही होता है और बड़ा होने पर भी वह उसका मित्र ही रहता है वैसे ही ज्ञानी जिस वस्तु का चिरकाल से अभ्यास किये रहता है तो वह अभ्यास ही उसका मित्र होता है। जो उसने चिरकाल से दुष्ट क्रियाको त्यागकर शुभाचरण किया है वही शुभाचरण उसका मित्र होता है। जैसे पिता पुत्र को अशुभ की ओर से मना कर शुभ की ओर लगाता है वैसे ही विचाररूपी मित्र उसे तृष्णा से भगाकर आत्मा की ओर लगाता है। विचाररूपी मित्र उसे राग-द्वेषरूपी अग्नि में नहीं पड़ने देता और समतारूपी शीतलता ही प्रदान करता है। अतः विचार ही उसका मित्र है और वही उसे सर्व दुःखों से मुक्त कर देता है। जैसे केवट नदी से पार कर देता है वैसे ही विचार क्लेशों

से मुक्त कर देता है। विचार के जैसा सुन्दर मित्र कोई नहीं है। अहो क्या कहना है विचाररूपी मित्र बड़ा ही शांत स्वरूप है। जैसे सुवर्ण के मैल को अग्नि भस्म कर उसे निर्मल बना देती है वैसे ही विचार रूपी अग्नि मनुष्य के सर्व मैलों को भस्म कर देती है। विचाररूपी मित्र के आते ही मनुष्य बड़ा निर्मल और सुन्दर हो जाता है। तब उसकी सारी चेष्टायें स्वभावतः ही सौन्दर्य पूर्ण हो जाती हैं। तब उसे देखकर सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं और तब उसमें दया, कोमलता निराभिमानता, निष्क्रोध आदिक गुण स्वभावतः ही आन प्राप्त होते हैं। विचाररूपी मित्र एक ऐसा महाबली योद्धा है कि यदि उसके समक्ष कोई अनिष्ट विचाररूपी शत्रु आता है अथवा ऐसे भी कोई शत्रु आजावे तो पहले तो वह उसे खूब पीटता है अथवा उसे अपने विचाररूपी कसौटी पर धरकर खूब परखता है, विचारता है फिर उसका नाशकर देता है। कदापि भी अन्धकूप में नहीं गिरने देता। हे रामजी! ये विषय भोग तो अन्धकूप के ही समान हैं। विचार उनमें गिरने से बचा देता है। वह चारों ओर से ही उसकी रक्षा करता है। तब वह पुरुष जिस ओर जाता है उधर ही उसे देखकर सबको प्रसन्नता ही होती है। उसके शब्द मीठे हो जाते हैं। उसका एक–एक शब्द स्निग्ध और मधुर हो जाता है। उसकी वाणी में मधुरता कूट–कूटकर भरी रहती है। यह जो कुछ बोलता है पराये हितकी दृष्टि से ही बोलता है। उसकी वाणी सुनकर सभी लोग प्रसन्न होते हैं। वह सर्वदा ही शान्तरूप और परम औदार्य होता है। वह सर्वदा ही प्रसन्न रहता है और वाणी देवी तो मानों उसको प्रतिक्षण प्रसन्न करने को चेष्टा किया करती है। जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने पुरुष को सर्वदा प्रसन्न करने की ही चेष्टा किया करती है वैसे विचाररूपी मित्र उसे सर्वदा प्रसन्न ही करना चाहता है। वह जब चलता है तब शुभाचार में ही चलता है। मिथ्याचार को वह दूर ही से भगा देता है। वह स्वयं भी दान–यज्ञ आदिक शुभ कर्मों को करना

है और दूसरों से भी शुभकर्म कराता है । तब इस प्रकार इसके अन्तःकरण में विवेक रूपी मंत्र आ जाता है वह अपने परिवार को भी ले आता है। स्नान, दान, तप, और ध्यान यह उसके पुत्र हैं। मुदिता उसकी स्त्री है और सर्वथा नमस्कार करने के ही योग्य है । जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को देखकर सभी प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं वैसे ही उसको देखकर सब प्रसन्न होते हैं और नमस्कार करते हैं । हे रामजी ! उस मुदितारूपी स्त्री के करुणा और दया नामक दो सहेलियाँ उसके ही साथ सर्वदा बनी रहती हैं और समतारूपी द्वार-पालनी उसके समक्ष ही खड़ी रहती है । जब उसका विवेकरूपी राजा अन्तःपुर में आता है तब वह सन्मुख खड़ी होकर उसे सर्व स्थानों का दिग्दर्शन कराती है और इस प्रकार छायावत उसके प्रत्येक कार्यों के साथ बनी रहती है । तब जिस ओर वह विचाररूपी राजा जाता है उधर की समता दृष्टि आती है । वह महा आनन्द को देने वाली है वह अपने दो पुत्रों को साथ लेकर अपनी पुरी में घूमती है और जिस ओर राजा भेजता है उस ओर धैर्य और धर्म को लेकर जाती है । जब राजा अपने विचाररूपी अश्व पर सवार होकर चलता है तब वह भी अपने समतारूपी अश्व पर सवार होकर राजाके साथ जाती है और तब राजा विषयरूपी पाँचों शत्रुओं से युद्ध करता है तब उसे धैर्य और सन्तोषरूपी मन्त्री मंत्र देता है और वह विचाररूपी बाणों से उन्हें नष्ट करता है । इस प्रकार वह विचार को अपना संघाती बना कर सर्वदा ही साथ लिए फिरता है और वह विचार ही उसके सर्व कार्यों को पूर्ण करता है । उसे कर्त्ता और भोक्तापन का कुछ भी अभिमान नहीं होता और वह सर्वदा ही अमान बना रहता है । तब उसकी सारी चेष्टायें स्वाभाविक होती हैं और वह कागज पर लिखी हुई मूर्ति के समान निराभिमान चित्रित हो जाता है । उसका कोई भी शब्द ऐसा नहीं निकलता कि जो परमार्थ से रहित होवे जो क्रिया शास्त्रों और लोगों से विरोध कीगई हो वह उसे नहीं करता जैसे शब्द

से कुछ क्रिया नहीं होती, वैसे ही उसको क्रिया का कुछ भी उत्थान नहीं होता। उसमें समस्त शुभ क्रियायें स्वाभाविक ही होती रहती हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण–प्रकरण–उत्तरार्द्ध का निन्यानवेवां सर्ग समाप्त ॥९९॥

—o::*::o—

एकसौवां सर्ग

सृष्टि का निर्णय

रामजी बोले–हे मुनीश्वर! यह तो मैं समझ गया कि विचार ही मित्र है और अविचार ही अपना शत्रु है परन्तु आप मुझे यह बतलाइये कि जगत के सम्बन्ध में आपने जो बात कही है कि यह जगत तो अनेक बार और असंख्य रूप से उत्पन्न होता है और आगे भी होवेगा सो आपने मुझे उन जगतों का उदाहरण देकर क्यों नहीं समझाया? वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! उनको क्या कहूँ और इस जगत को भी क्या कहूँ? सभी तो शब्द अर्थ से शून्य हैं। किसी में भी तो कुछ हुआ नहीं। तब व्यर्थ ही मैं क्या कहूँ? हे रामजी! जब तुम विदित वेद्य हो जाओगे, जब तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो जावेगी तब तुम आपही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की बातों को जानने लगोगे। मुझे कहना ही क्या है? इस पर मैंने आगे भी बहुत बार कहा है। बारम्बार कहने से पुनरुक्ति दोष होता है। परन्तु मैंने जो कुछ कहा है वह तुम्हारे समझाने के निमित्त ही कहा है। सो तुम अब इसको इसी प्रकार समझ लो कि जैसे अन्नकी ढेर में से एक मुट्ठी अन्न लेकर देख लिया जाता है कि सब ऐसा ही होगा ऐसे ही एक ही जब सृष्टि को जान लिया तो वैसे ही सब सृष्टियों के तारतम्य को जान लो हे रामजी! यह सारा जगत किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ, बिना कारण ही भास रहा है और जब जो पदार्थ बिना कारण ही भासित होवे तब उसे जानो कि वही रूप है। सृष्टि के आदि में भी वही सत्ता रही। अन्त में भी वह रहेगी और मध्य में भी वही

विद्यमान है। तुमको विदितवेद्य होने भर का विलम्ब है तुम निर्मल हुए नहीं कि सारा जगत तुमको अपना आपरूप ही भासित होवेगा। प्रत्येक अणु में सृष्टि विद्यमान है और वह सब कुछ आकाशरूप ही है कुछ हुआ नहीं? इस पर मैं एक आख्यान कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। हे रामजी! एक समय मैंने ब्रह्माजी को एकान्त में पाकर पूछा कि हे भगवन्! यह सृष्टि कितनी है और किसमें विद्यमान है? तब पितामह ब्रह्माजी ने मुझसे कहा—हे वशिष्ठमुनि! यह शब्द अर्थ संयुक्त जितने भी जगत भासते हैं सब ब्रह्म का ही स्वरूप है, ब्रह्म से भिन्न कुछ हुआ नहीं। अज्ञानीको ही नाना प्रकारका जगत भासता है, ज्ञानी को नहीं। ज्ञानी को तो सारा जगत आत्मरूप ही जान पड़ता है। फिर भी यह जगत जैसे हुआ है। वह सुनो। ये ब्रह्मरूपी अणु आकाश के ही समान निर्मल और सूक्ष्म है, उसी में स्फुरण हुआ कि—'मैं ब्रह्म हूँ।" जब उसमें ऐसी फुरना हुई तब वही जीव होगया। क्योंकि उसका ऐसा कहना अहंकार ही तो हुआ। बस अहंकार को धारण करके वह अपने को जीव जानने लगा और इस प्रकार उसमें जो निश्चय हुआ वही बुद्धि होगई। तब जिस प्रकार वायु में गमनता होती है वैसे ही उसमें सङ्कल्प विकल्प का फुरना रूप मन उत्पन्न हो गया और मन के साथ मिलकर जो वह चला तो उसके आगे शरीर को खड़े देखा। फिर तो वह बोल बैठा कि अहो यह मेरा शरीर है। परन्तु यह सब कुछ स्वप्न ही है और इसमें जो कुछ देश, काल और पदार्थ भासि आये हैं सब कुछ हैं नहीं। चित्त शक्ति का वहिर्मुख फुरना ही नाना प्रकार से जगतरूप में भासित होगया। जब वही वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है तब वह अशब्दरूप हो जाता है। जैसे वायु में गमनता और ठहर जाना एक ही रूप है वैसे ही फुरना अफुरना सब एक ही रूप संवित ही है सारा जगत आकाशरूप से अपने आप ही में स्थित है और अणु में सृष्टि विद्यमान है। किन्तु सब कुछ आकाश मात्र ही है। अविद्या

ने ही सृष्टि को उत्पन्न किया है और वह अविद्या भी चैत्य ही है। जब तुम अपने आप स्वरूप में स्थित हो जाओगे तब सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही भासित होवेगा और कल्पना कुछ न रहेगी उसी को चाहे जगत कहो, चाहे ब्रह्म सब एक ही है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौवां सर्ग समाप्त ॥१००॥

—o:::o—

एकसौ एकवाँ सर्ग

ब्रह्मगीता वर्णन

वशिष्ठ के ऐसा कहने पर रामजी बोले-हे भगवन् ! अब मुझे यह शङ्का है कि जो पदार्थ अन्धकार में नहीं दिखलाई पड़ता वही प्रकाश में कैसे दिखलाई पड़ने लगता है ? परन्तु इसके साथ ही मैं यह भी उत्तर रखना हूँ कि संशयरूपी अन्धकार के कारण वह ज्यों का त्यों नहीं भासता। किन्तु आपके वचनरूपी सूर्य के प्रकाश से जो पदार्थ सत्य है मैं उसे सम्यक प्रकारेण जान सकूंगा यह मुझे विश्वास है। हे भगवन्। ऐसे ही एक समय मुझे और शङ्का हुई थी। सो उसका यह प्रसङ्ग है कि जब मैं विद्यालय में विपश्चिन पण्डित से अध्ययन करता था और जहाँ बहुत से ब्राह्मण एवं विद्यार्थी बैठे हुए थे तब एक ब्राह्मण जो शरीर से बड़ा ही सुन्दर हृष्ट पुष्ट चारों वेदों का वक्ता, बड़ा तपस्वी और ब्रह्मलक्ष्मी से ऐसा तेजस्वी कि मानों जैसे दुर्वासा ब्राह्मण है, ठीक उसी के आकार-प्रकार का ब्राह्मण सभास्थल में एक दूसरे को नमस्कार करते हुए आकर बैठ गया। उस समय विद्यालय में वेदान्त, सांख्य और पातञ्जलादिक शास्त्रों का वाद-विवाद चल रहा था। पर उसे देखते सब के सब मौन हो गये मैंने जो उसकी ओर देखा नो वह महान् तेजस्वी था इस कारण मैं उससे पूछ बैठा कि-अहो तुम यहाँ किस लिए आये हो, तुम्हें कौन सा पदार्थ चाहिये और तुम्हारा कहाँ स्थान है ? तब उस ब्राह्मण

ने मुझसे कहा—हे रामजी ! मैं विदेह नगर का रहने वाला ब्राह्मण हूँ । मेरा नाम कुन्ददन्त है । विदेह में महाराज जनक राजा हैं कि जो बड़े ही शक्तिशाली और निर्मल हैं । उनके राज्य में कहीं भी पाप ताप नहीं हैं । स्वर्ग के समान ही विदेहराज की राजधानी है । सो मैं जब वहाँ जन्मा तो विद्या पढ़ने लगा और पढ़ते२ जब कुछ काल व्यतीत हो गया तब मेरे मनमें यह उद्विग्नता हुई कि यह संसार बड़ा ही दुष्ट बन्धन है । इससे कैसे मुक्त होऊँगा ? सो हे रामजी ! इस विचार में पड़े मुझे महा वैराग्य उत्पन्न होगया और मैं विदेह पुर अपने नगर को छोड़कर देश देशान्तरों में भ्रमण करने लगा । संतों और ऋषियों के स्थान, ठाकुरद्वारे और तीर्थ में भी कितने २ पवित्र स्थान थे उन सबमें मैं गया । स्नान किया, दर्शन किया । इस प्रकार मुझे जहां कहीं शुभ स्थान मिलता वहीं-वहीं जाकर विचरता था । अब भी मैं एक ऐसे स्थान में आ रहा हूँ । वहाँ से आते समय मार्ग में मुझे एक पर्वत मिला है कि जिस पर मैं चढ़कर वहां बहुत दिनों तक तप करता रहा हूं । जब वहाँ से चला हूँ तब मुझे मार्ग में एक ऐसा महावन दिखलाई पड़ा कि जो ठीक आकाश के ही समान श्यामवर्ण का था तब मैं उसमें प्रवेश कर गया तो वहां क्या देखता हूँ कि उस महावन के मध्य में एक बहुत ही देदीप्यमान वृक्ष खड़ा है कि टहनियों में मूँज के रस्से से एक मनुष्य लटक रहा है । मैंने समझा कि यह कोई फांसी लगाकर मृतक होगया है । मैं उसके निकट गया तो क्या देखता हूँ कि साँस चल रही है और वह युवावस्था का बड़ा ही वेद शास्त्र का पण्डित है और शीत उष्ण तथ्य मेघ को भी सहन करता है, इससे तपस्वी है । तब मैं उसके निकट जाकर बैठ गया और उसके पांवों में बँधी रस्सी को कुछ ढीला कर के पूछ बैठा कि हे तपस्वी तुम किस लिये ऐसी क्रूर तपस्या कर रहे हो ? तब उसने मुझसे कहा—हे साधो ! मेरी इस तपस्या को पूछ कर तुम क्या करोगे ? यह मैं अपने किसी एक अर्थ की सिद्धि के लिये कर

रहा हूँ—यदि तुम मेरे उस कार्य को सुनोगे तो मेरी हँसी ही करोगे, इससे मैं तुमसे क्या बतलाऊँ ? तब मैंने कहा–नहीं तुम्हारी हँसी मैं क्या करूँगा। अपना वृतान्त मुझसे बतलाओ । यदि मेरे योग्य कुछ होगा तो मैं तुम्हारी सेवा ही करूँगा । हे रामजी ! जब मैंने उससे ऐसा कहा तब वह बोला कि मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा मथुरा में जन्म हुआ है और मैं वहीं वाल्यावस्था व्यतीत कर युवा हुआ और वेद शास्त्र भी वहीं पर पढ़ा है। तब जब कि मैं वेद–शिक्षा ग्रहण कर रहा था कि उसी समय मुझे एक वासना उदय हुई कि सबसे बड़ा सुख राजा भोगता है उसलिये मैं भी राजा होकर सुख भोगूं । परन्तु मैं राजा होता भी तो कैसे ? मैंने विचार किया राजा तो अपने तप से होते हैं । अतः मैं भी तप करके राज्य को प्राप्त करूँ । बस, राजा होने के लिये ही मैं ऐसा तप कर रहा हूँ। बारह वर्ष मुझे तप करते बीत गये हैं, आगे और भी करूँगा। जब तक सातों द्वीप सहित पृथ्वी का राज्य मुझे न मिलेगा मैं तप करता रहूँगा । अब मैंने तो यही निश्चय किया है कि या तो मेरा शरीर रहेगा या नष्ट हो जावेगा अथवा मुझे राज्य ही मिलेगा। बस, यही मेरा कार्य है । इसे सुनकर अब तुम्हें जिधर जाना हो उधर को जाओ और मुझे तप करने दो । हे रामजी ! मुझसे ऐसा कहकर उस तपस्वी ने फिर आँखें बन्द करलीं और चित्त को स्थित करके इन्द्रियों के विषयों की चञ्चलता को त्याग कर निश्चल मन होगया। तब मैंने उससे कहा हे परम तपस्वी ! अब मैं भी तुम्हारे ही पास बैठूँगा। मुझे भी वर चाहिये । जब तक मुझे वर न प्राप्त होगा तब तक मैं भी तुम्हारी ही सेवा टहल में लगा रहूंगा। ऐसा कहकर मैं वहीं ठहर गया और छः मास तक उसके पास ही बैठा रहा। छः मास के पश्चात् सूर्य मण्डल से निकल कर एक पुरुष वहाँ आया जो बड़ा ही तेजस्वी और ऐसा दीप्तिमान था कि मानों विष्णु भगवान ही हैं। ऐसे वह आकर मेरे समीप ही में खड़ा होगया। मैंने

उसे देवता समझ कर शरीर मन और वाणी से उसका पूजन किया तब उस तेजस्वी पुरुष ने कहा—हे तेजस्वी ! अब इस तप को त्याग दे और तुझे जो इच्छा हो वह वर मांग। तब उसने कहा मैं सातों द्वीप का राजा होना चाहता हूँ। इस पर उस पुरुष ने एवमस्तु कहकर कहा तू सात हजार वर्ष तक राज्य करेगा। हे रामजी ! ऐसा कह कर वह पुरुष अन्तर्ध्यान हो गया और मैंने उस तपस्वी की रस्सी खोल दी। फिर तो हम दोनों ने वहां पास ही में विद्यमान एक सरोवर में जाकर खूब स्नान किया और पुनः आकर सन्ध्या-वन्दन करके फिर हम दोनों एक वृक्ष के नीचे आकर बैठे और जो कुछ फल मूल मिल सका उसे खाकर विश्राम किया। इसके तीन दिन बाद हम वहाँ से चल पड़े। तब वह मुझसे बोला—हे साधो ! अब हम भी तुम्हारे ही साथ अपने देश को चलेंगे। जब तक शरीर है तभी तक शरीर के स्वभाव भी हैं। हमने कहा, अच्छा चलो। इस प्रकार हम दोनों ही साथ-साथ चले थे कि जब हम मथुरापुरी के निकट पहुँचे तो हमारा साथ छोड़कर वह एक टेढ़े मार्ग को जाने लगा। तब मैंने कहा—अहो, तुम सीधा मार्ग छोड़कर टेढ़े मार्ग से क्यों जाते हो उसने कहा—इधर ही गौरा पार्वती का एक स्थान है आवो इधर ही से उनका दर्शन करते चलें। मेरे और भी सात भाई हैं जो यहीं गौरा भवानी के स्थान पर ही तप कर रहे हैं। चलो, इधर ही से उनकी भी सुधि लेते चलें। गौरा देवी का स्थान बड़ा पवित्र है, वहां पहुँचते ही पाप ताप सभी नष्ट हो जाते हैं तब मैंने कहा, जब पवित्र स्थान है तब तो वहां अवश्य ही चलना चाहिये, चलो देखते चलें। हे रामजी ! ऐसा विचार कर हम दोनों ही चले जाते थे कि आगे एक बड़ा रेतीला मैदान आया। उसमें पहुँच कर वह तपस्वी खड़ा ही गिर पड़ा और बोला-हाय, हाय, हमें बड़ा कष्ट हुआ हम कहां आन पड़े। फिर तो मुझे बड़ा ही भ्रम हुआ कि यह क्या हो गया। फिर वह कुछ क्षण पश्चात् चैतन्य होकर

उठा और हम दोनों फिर आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक वृक्ष के नीचे एक तपस्वी ध्यान में स्थित बैठा है। हम उसके निकट पहुंचे और बोले कि हे मुनीश्वर! जाग-जाग। तब उसने नेत्र खोलकर मुझे देखा तो यह बोला कि तुम कौन हो? हे रामजी! ऐसा कहकर वह फिर अपने आप ही बोला कि यहाँ गौरा भवानी का जो स्थान था वह कहाँ चला गया? अहो, यहां तो बड़ा परिवर्तन है। महान आश्चर्य है यह क्या हो गया? तब मैंने कहा-हे साधो! हम नहीं जानते, हम तो अभी यहां आये हैं। यह तो तुम्हीं जानो कि यह क्या था और अब क्या नहीं है। तब उसने कहा बड़ा आश्चर्य है। हे रामजी! ऐसे कहकर उसने फिर आँखें बन्द करलीं और ध्यान में स्थित हो गया। पश्चात् उसने फिर नेत्र खोले तो बोला-देखो, यहां एक भगवती देवी का स्थान था जिसमें शिव की गौरा भवानी अपने अर्द्ध शरीर से सर्वदा ही विद्यमान रहती थीं, सो अब नहीं हैं।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौ एकवां सर्ग समाप्त॥१०१॥

—०:※:०—

एकसौ दोवाँ सर्ग

सप्त ब्राह्मणों की कथा

हे रामजी! ऐसा कहकर वह तपस्वी मुझसे फिर बोला-हे साधो! तुम कहां से आते हो, मेरा वृतान्त यह है कि हम आठ ब्राह्मण यहां तपस्या करने आये थे। तब एक तो इसी पहाड़ पर तप करने लगा, दूसरा स्वामिकार्तिक के पहाड़ पर तप करने गया, तीसरा काशी में तप करने लगा, चौथा हिमालय पर तप करने चला गया। इस प्रकार चार तो चार स्थान में रहे और जो चार बचे थे वह यहीं पर एक साथ तप करते थे। अब सब की यह मनोकामना थी कि हम पृथ्वी के सात द्वीपों के राजा हों। सो हे साधो! इसको सूर्यदेव ने वर दे ही दिया है और जो सात बंचे उन्हें

वागेश्वरी देवी पर दे गई है । इस प्रकार सातों ने एक ही प्रकार के वर मांगे हैं । अब वागेश्वरी देवी भी अन्तर्ध्यान हो गई और यहाँ का सारा स्थान भी शून्य हो गया । केवल यह एक कदम्ब वृक्ष बच गया है क्योंकि इसे स्वयं देवी ने ही अपने हाथों से लगाया था । हे साधो ! उन हमारे आठों भाइयों में सात भाई तो आ गये और एक में कदम्ब ऋषि बैठा हूँ । अब मुझे भी घर जाना है । फिर हम वहाँ इकट्ठे होंगे । जब हम सब घर से तप करने निकले थे तब हमारी स्त्रियों ने भी तप करने का ही निश्चय किया । इसलिये उन्होंने भी चान्द्रायण व्रत किये । तब उन्हें एक तो भर्ता का वियोग, दूसरे तप का कठिन क्लेश, इससे वे शरीर से कृशित हो गईं । तब वागेश्वरी देवी ने आकर उनसे कहा—वर माँगो तो वे सब प्रसन्न होकर बोलीं कि हमारे पति को अमर कर दीजिये । तब वागेश्वरी देवी ने कहा—हे सुभगे ! शरीर से कोई अमर नहीं होता । अमरत्व कुछ दूसरी ही वस्तु है । यह शरीर तो सर्वथा ही नाशवान और अस्थिर है । इस कारण तुम सब कुछ दूसरा ही वर माँगो । तब उन स्त्रियों ने कहा अच्छा तो अब यह वर दीजिये कि जब हमारे पति मृतक हों तब उनकी संवित हम में ही आकर स्थित होवे । वागेश्वरी देवी ने कहा, एवमस्तु ! ऐसा ही होगा । यह कहकर देवी अन्तर्ध्यान हो गईं । तब हे रामजी ! कदम्ब ऋषि से ऐसा सुनकर मुझे महान् आश्चर्य हुआ और मैंने उनसे कहा—हे मुनीश्वर ! यह तो आपने बड़ी विस्मययुक्त कथा कह सुनाई है । सो अब तो बतलाइये कि जब सातों ब्राह्मण एक ही वर पाये हैं तब सात द्वीप का राज्य उन्हें कैसे प्राप्त होगा ? इस पर कदम्ब ऋषि ने मुझसे कहा—अहो, इसमें आश्चर्य क्या करते हो ? जब वे आठों भाई तप के लिए घर से निकले थे तब उनके माता पिता ने भी विचार किया कि हमारे पुत्र जो तप करने गये हैं तो हम भी उनके हेतु तप करने जावें और उनकी स्त्रियों को भी साथ ले जावें । तब उन्होंने भी तप करके वागेश्वरी देवी को प्रसन्न

किया और जब देवी को प्रसन्न कर वर लेकर वे घर की ओर लौटे तो उन्हें एक स्थान में दुर्वासा ऋषि मिले कि जो जटा खोले बैठे हुये थे। उन्हें देखकर वे पास ही चले गये और दण्डवत् न की इससे दुर्वासाजी के क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया कि तुम जो वर लेकर लौटे हो वह तुम्हारे अहङ्कार के कारण नष्ट हो जावे। निदान वह दुःखी होकर बहुओं सहित चिन्ता करते हुये घर चले आये। सो हे ब्रह्मन्! देखो, जब तक कि आत्मज्ञान नहीं होता तब तक अनेक दुःख होते ही रहते हैं और जब आत्म दर्शन एवं आत्म ज्ञान हो जाता है तब संसार की कोई भी विलक्षणता आश्चर्य जनक नहीं भासती। सब कुछ चिदाकाश में ही स्थित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण--उत्तरार्द्ध का एकसौ दोवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ।

—*—

एकसौ तीनवाँ सर्ग

ब्राह्मणों का भविष्यद्राज प्राप्ति

कदम्बतप के ऐसा कहने पर कुन्ददन्त ने उससे कहा-हे साधो! यह तो बड़ा आश्चर्य है कि एक ही द्वीपमें सात राजा होवेंगे और यह सात भी तो किसी प्रकार संवरण होता है कि वे आपस में एक-एक द्वीप ले लेवें परन्तु यहाँ तो अब आठ का भी प्रश्न हो गया है न? सो यह आठों कैसे राज्य करेंगे? फिर उन्होंने वर और शाप दोनों ही पाये हैं सो यह एकत्र कैसे होंगे? क्या धूप और छाया एकत्र हो सकती हैं? क्या रात्रि और दिन इकठ्टे हो सकते हैं? ऐसे ही वर और शाप एकत्र नहीं हो सकते। इस पर कदम्बतप ने कहा-हे साधो! इनका भविष्य यह होगा कि अभी तो ये कुछ समय तक ग्रहस्थी में ही रहेंगे और फिर जब शरीर छूटेगा तब इनके कुटुम्बी इनका अग्नि संस्कार करेंगे। तब इनकी पुर्यष्टका जो अनुभव से मिली हुई है वह इनको एक घड़ी तक के लिये जड़वत सुषुप्त अवस्था को प्राप्त होगी

और फिर चैतन्यता फुर आवेगी। तब शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारी विष्णु भगवान अपना प्रत्यक्ष रूप धारण किये आवेंगे और उन्हीं के साथ ही त्रिनेत्रधारी शङ्कर भगवान भी महाकुपित होकर आवेंगे। तब विष्णुजी तो वर के रूपमें होंगे और शङ्करजी शाप के रूपमें वहाँ उपस्थित होंगे तब वह कहेगा कि हे शाप! तुम क्यों आये हो अभी तो हमारा समय है। तब शाप कहेगा कि, नहीं हमारा समय है। इसमें विवाद हुआ तो वे दोनों ही एक तीसरे न्याय कर्ता के पास चले और चलते २ ब्रह्माजी के पास जायँगे। तब ब्रह्माजी कहेंगे हे साधो! तुम दोनों का निबटारा यह है कि जिसका अभ्यास उनके भीतर दृढ़ होवे वह प्रवेश करे। तब वर के स्थान में शाप जाकर ढूंढ़ेगा और शापके स्थान में वर ढूँढ़ेगा। इस प्रकार वरकी विजय होगी और शाप पराजित हो जायगा। परन्तु हे साधो! यह वर और शाप भी कुछ है नहीं, सब कुछ संकल्प रूपही है। हां, सङ्कल्प संवित से जो एकता होती है वह उसके निश्चय में दृढ़ हो जाता है और वही परिणाम स्वरूप में प्रकट होता है। जैसा सङ्कल्प अनुभव हृदयाकाश में दृढ़ होता है वैसा ही भासता है। अनुभव सत्ता ही वर देने वाला है और वही सङ्कल्प के अनुसार भासमान होता है। अस्तु वर और शापके सम्बन्ध में कोई बाह्य कर्म फल देने वाले नहीं होते। जो कुछ भीतर सार होता है वही होता है ऐसा समझ कर शाप चला गया और वर विद्यमान ही रहा। तब ब्रह्मा जी कहेंगे कि हे वर! अब तुम शीघ्र ही उनके पास जाओ और वह वर और दूसरा वर कि जो उनकी स्त्रियों ने लिया था उनकी पुर्यष्टका अन्तःपुर में रहे। फिर पूछना कि हे प्रभो! अब हमारे लिये क्या आज्ञा है, हमको तो राज्य भी भोगना है और दिग्विजय भी करना है। तब ब्रह्माजी कहेंगे कि उन्हें सप्तद्वीप का राज्य करना है तो उनका तुम्हारे से कुछ भी विरोध नहीं है तुमको भी उसी मन्दिर में अपनी पुर्यष्टका छोड़ देनी चाहिये, सो अब तुम

ऐसा ही करना । बस, इसी प्रकार से वे आठों ही अपने २ मन्दिर में राज्य करेंगे ।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौ तीनवां सर्ग समाप्त ॥१०३॥

—०:※:०—

एकसौ चारवाँ सर्ग

जगत-सत्ता-विवेचन

वशिष्ठजी के इतना कहने पर रामजी ने पूछा—हे भगवन्! आप कहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है तो यदि सब ब्रह्मा ही रहा तो उसमें नेति क्या रही और यह जो नाना प्रकार के पदार्थ भासित होरहे हैं सो यह ऐसे क्यों भासते हैं? कृपा करके आप मुझे बतलाइये कि यह जगत संकल्प से कैसे रचित है और इनमें जो यह असंख्य पदार्थ भासित हो रहे हैं उनकी संख्या क्यों नहीं की जाती। फिर इन सब पदार्थों का स्वभाव अचलरूप से कैसे स्थिर है। समस्त देवताओं में सूर्य का प्रकाश अधिक क्यों है और जब कि सूर्य एक ही है तब दिन और रात्रि छोटे और बड़े कैसे होते हैं। यह सब विलक्षणता कैसी?

वशिष्ठजी ने उत्तर दिया—हे रामजी! उस शुद्ध चिन्मात्र सत्ता में जो अकस्मात ही आभास का फुरना हुआ है, उस आभास का ही नाम नेति है। यह सृष्टि भी आभास मात्र ही है और इसकी उत्पत्ति का कोई भी कारण नहीं है। अधिष्ठान वस्तु वही है कि जिसके कारण से आभास होवे। सारा जगत ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। चिन्मात्र सत्ताही अपने आपमें स्थित है। उसमें उदय अस्त कुछ भी नहीं है वह परिणाम से रहित सर्वदा अद्वैतरूप अपने आपमें ही स्थित है। उसमें जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति कुछ भी नहीं है। वह तीनों अवस्थायें आभास मात्र हैं और उस चैतन्य सत्ता में द्वैत कुछ नहीं बना। सबमें इसी का स्वभाव प्रकाशरूप से स्थित है। इसमें भिन्नता कुछ नहीं है शुद्ध चिन्मात्र में जो चित्त-

भाव उदय हुआ है उसीमें चैतन्यता का आभास फुरा है तब उसमें जैसा संकल्प फुरा है वैसा ही स्थित हुआ है। उसी सङ्कल्पका नाम नेति है। वह नेति आदि कालमें जब जैसे सङ्कल्प रूप में दृढ़ हुआ है तबसे आज तक यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश अपने अपने स्वभाव में ज्यों का त्यों स्थित है। परन्तु वह सब कुछ आत्म से भिन्न नहीं है। जैसे समुद्र का द्रवना ही तरङ्ग रूप है वैसे ही संवेदन द्वारा नेति और जगत जो फुरे हुये हैं वह आत्मरूप ही है। सारा विश्व आत्मा का ही स्वभाव है। जब संवेदन चित्त के समक्ष आत्मा है तब शब्द तन्मात्रा फुरती है। फिर शब्द से आकाश उत्पन्न हो जाता है और जब उसने स्पर्श को चेता तो वायु तन्मात्रा फुरा और जब वायु को चेता तो अग्नि प्रकट हुई। फिर रस तन्मात्रा चेता तो जल प्रकट हुआ। फिर गन्ध हुआ और गन्ध से पृथ्वी प्रकट हो गई ऐसे ही यह पञ्चभूत उत्पन्न हो गये हैं ! परन्तु जो आदि में शब्द तन्मात्रा का स्फुरण हुआ है उसी से यह सर्व-शब्द समूह उत्पन्न हो गये हैं कि जिन सबका बीज यही है उसी से सार शब्द उत्पन्न हो गये हैं। उसी से यह सारे पदार्थ और वेद शास्त्र पुराण और पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदिक जो है सब उत्पन्न हुआ है। वही संवित सत्ता सबका बीज मात्र है जैसे बीज मे अंकुर उत्पन्न होता है वैसे ही यह समस्त भूत सङ्कल्प से ही उदय हुये हैं। संकल्प का स्फुरण संवेदन से ही हुआ है और संवेदन आत्मा का ही स्वरूप है। वह आत्मा ही अद्वैत, अच्युत निर्विकल्प और सर्वदा ही अपने आप में ही स्थित भी है। उसी के आश्रय से संवेदन का आभास स्फुरित हुआ है। इस प्रकार सङ्कल्प से ही जगत फुरा है और उसी में लीन होता है। वह चैतन्यरूप है इससे समस्त पदार्थ चैतन्यरूप ही है। सारे पदार्थ जो देखने सुनने में आते हैं सभी चैतन्य और एक उस आत्मा में ही स्थित हैं। आत्मा में भिन्न कुछ है नहीं। अपना अनु-

भव ही पदार्थ रूप में भासित हो रहा है। परन्तु वह कुछ बना नहीं। जब संवेदन फुरता है तक जगत भासता है। नहीं फुरता तो नहीं भासता। उत्पत्ति और प्रलय को ऐसे ही समझना चाहिये। दोनों ही आत्मा का आभास मात्र है। जैसे बालक अपने सङ्कल्प से मिट्टी का हाथी, घोड़ा, मनुष्य, पर्वत रच लेता है वैसे ही ब्रह्मा ने सङ्कल्प से आकाश, पृथ्वी, नक्षत्र, आदिक क्रम से रच रखे हैं। परन्तु संवेदन से कुछ भिन्न नहीं है। इन्द्रियाँ अपने २ विषयों को ग्रहण कर रही हैं।

श्री योगवशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण—उत्तरार्द्ध का एकसौ चारवाँ सर्ग समाप्त॥१०४॥

एकसौ पाचवां अध्याय

ब्रह्म—विवेचन

हे रामजी ! यह जितना कुछ जगत तुम देख रहे हो सब संवेदन रूप ही है। उस शुद्ध चिन्मात्र सत्ता में जो आदि आभास हुआ है वही 'अहं असि ब्रह्म, ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है। उसी को विष्णु, शिव और प्रजापति नाम से भी कहते हैं। उसी ने सङ्कल्प के स्फुरण से सारे विश्व की रचना कर डाली है कि जो बिना कारण ही है उसमें कारण कोई नहीं। बिना कारण ही अकस्मात और आभास मात्र स्फुरण हो गया है। किन्तु वह अन्तवाहक ही है। वह व्यवहार में भले ही आती हो किन्तु वह अव्यवहारिक है। तब उस अव्यवहारिक अन्तवाहक ने संवेदन वश जो यह समस्त विश्व की रचना कर डाली है वह भी अन्तवाहक रूप ही है और अज्ञानी को संकल्प की दृढ़ता से अधिकभौतिकरूप हो भासता है। इससे वह सङ्कल्पपुर और स्वप्न नगर से भिन्न कुछ है नहीं। सब कुछ सङ्कल्प की दृढ़ता से ही आकाररूप पहाड़, नदियाँ और घर पर आदिक पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से दृढ़ जान पड़ते हैं। किन्तु वे बने कुछ नहीं। सब कुछ शून्य रूप ही हैं। ऐसे ही यह जगत निराकार और शून्य रूप है। उस आदि अन्तवाहक रूप संवेदन के

वहिर्मुख फुरनेसे ही देश, काल और पदार्थरूप होकर स्थित हुये हैं। जब वाह्य-स्फुरण मिट जाता है, तब जगत का भी आभास मिट जाता है। यह स्वप्नाभास जाग्रत को तभी तक भासता है कि जब तक अज्ञान निद्रामें सोया हुआ है। जब अज्ञान मिटे तब एक अद्वैतरूप अपना आप ही भासता है। सारा जगत निराकार स्वरूप ही है। संकल्पकी दृढ़ता से आकारवत भास रहा है। संवेदन में जो संकल्प फुरा है वही ऐसा दृढ़ हो गया है कि वह आकारवत होकर भासता है और वही अन्तःकरण चतुष्टय हो गया है। जब वह पदार्थों की ओर चितवता है तब चित्त होता है, संकल्प विकल्प करता है। तो मन होता है और जैसा तैसा करके जो कुछ निश्चय कर लेता है वह बुद्धि होता है। वही वासना का समूह मिलने से पुर्यष्टका होती है किन्तु सब कुछ संकल्प मात्र ही है। इन्द्रजाल की वाजी के समान ही दृढ़ हो रहा है। परन्तु यह सब कुछ आकाशरूप ही है आत्मा से भिन्न कुछ नहीं बना। देश, काल, नदियाँ, पहाड़, पृथ्वी, मनुष्य, देवता, दैत्य और ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जो कुछ स्थावर जङ्गमरूप जगत भासता है सब ब्रह्मरूप ही है। वही निराकार अद्वैत ब्रह्मसत्ता संवेदनवश जगतरूप होकर भासित हो रही है। किन्तु जैसे स्वप्ने में अपना अनुभव ही सृष्टिरूप होकर भासित होता है वैसे ही अपना अनुभव जगतरूप होकर भासित हो रहा है। शुद्ध सत्ता के संवेदन से ही जगत का आभास फुरा है। किन्तु वह सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है।

श्रीयोगवाशिष्ठभाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौ पाचवा सर्ग समाप्त ॥१०५॥

❀:०:❀

एकसौ छःवाँ सर्ग

विविध प्रश्नोत्तर

हे रामजी! यह दृश्यरहित जो शुद्धसत्ता है, उसको तुम केवल बोध मात्र ही जानो। उसमें वाणी की गम नहीं। वह केवल भाव

से अचेत चिन्मात्र ही स्वयं स्थित है। फिर उसे जगत का भाव कैसे हुआ। उसमे जो संवेदन एवं चेत्यता हुई है वह चेतनारूप दृश्य होकर भासित हो रही है। किन्तु वह सब कुछ स्पन्द रूप ही है स्पर्श से भासती है। उसको ज्यों का त्यों जानना ही सम्यक ज्ञान है। जब उसका सम्यक ज्ञान होता है तब जगत का कोई भ्रम नहीं रहता और वह आत्मसत्ता सर्वदा निराकार रूप अपने आप में ही स्थित है। विचार करके देखा जाय तो दृश्योंका भ्रम कोई नहीं रहता और मोक्ष ही हो जाता है। उसमें व्यभिचार कोई नहीं हुआ। अविचार ही के कारण ही वह ऐसा भासता है। हे रामजी! यह अहं त्वं आदिक जगत कल्पनामात्र ही है। जैसे शशे की सींग और आकाश में दूसरा चन्द्रमा कल्पना एवं भ्रममात्र ही हैं वैसे ही यह जगत भी भ्रम मात्र ही है। जैसे मृग तृष्णा का जल और संकल्प नगर भ्रम मात्र है वैसे ही यह समस्त जगत भ्रममात्र है। यह किसी कारण से नहीं उपजता है। भ्रममात्र ही है। यदि इसमें कुछ कार्य कारण होता तो सत्य भी होता। परन्तु कारण तो कुछ भी नहीं है। बीज से वह होने में वृक्ष कारण है। रामजी ने कहा—हे भगवन्! तो क्या यह जगत जो सूक्ष्म अणु से उत्पन्न होता है वह फिर उसी सूक्ष्म तत्व के अणु में ही स्थित हो जाता है। इस पर वशिष्ठजी ने पूछा हे रामजी! सूक्ष्म अणु तुम किसको कह रहे हो और वह अणु किसमें रहता है? रामजी ने कहा—हे भगवन्? जो महाप्रलय में शुद्ध चिन्मात्र सत्ता शेष रहती है उसीमें अणु विद्यमान रहते हैं। वशिष्ठजी ने कहा—तो महाप्रलय क्या है? महाप्रलय तो वह न हुआ कि जिसमें सभी शब्दों और अर्थों का सर्वथा ही अभाव होवे। तब वहाँ तो शुद्ध चिन्मात्र सत्ताही शेष रहती है कि जिस में वाणी की भी गम नहीं है तब भला उससे सूक्ष्म अणु और कार्य कारण भाव कहाँ से और कैसे हुआ? हे रामजी! यदि यह जगत कुछ उत्पन्न हुआ होता तो मैं तुमसे कहता परन्तु यह तो कुछ उपजा

ही नहीं, तब मैं उसे क्या कहूँ? चिन्मात्र में जैसी चैतयना फुरती है वैसा ही अहंत्वं आदिक जगत भासने लगता है। हे रामजी! यह जो ज्ञान है वही जब दृश्य-भ्रमसे मिलता है तब वही बंधनका कारण हो जाता है उसका अभाव होना ही मोक्ष है। इस पर रामजी ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! ज्ञान के उत्पन्न होने से जगत का अभाव कैसे हो जाता है? तब तो जगत और भी दृढ़ एवं स्पष्ट प्रतीत होने लगता है, फिर उससे शान्ति कैसे मिली। वशिष्ठजी ने उत्तर दिया-हे रामजी! सत्य का ज्ञान हो जाने पर जो बोध हो जाता है तो उससे दृश्य का सम्बन्ध निवृत्त हो जाता है। इससे वह बोध निराकार और ऐसा शीतल स्वरूप है कि उसमें पड़कर फिर मोक्ष ही हो जाती है। रामजी ने प्रश्न किया-हे मुनीश्वर! यह सत्य ज्ञान क्या है, बोध तो मैं जानता हूँ कि केवल रूप है। सो कृपाकर बतलाइये कि यह सत्य ज्ञान किसको कहते हैं कि जिससे जीव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। वशिष्ठजी ने कहा-हे रामजी! जो ज्ञान दृश्यों का संयोग नहीं करता, वह अविनाशी रूप कहाता है और जब इस प्रकार ज्ञेय का भी अभाव हो जाता है तब सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे यह जगत ज्ञेय सर्वथाही अविचार से प्रतीत होता है। अतः बोध को ही ज्ञान कहते हैं और उससे ज्ञान ज्ञेय कुछ भी भिन्न नहीं है। रामजी ने प्रश्न किया-हे भगवन्! अहं त्वं आदिक जो प्रत्यक्ष भासमान होते हैं उनका अभाव कैसे होगा? वशिष्ठजी बोले-हे रामजी! यह सारा जगत उस विराट का ही शरीर है सो जब वह विराट भी आदिमें नहीं उत्पन्न हुआ तो और को ही उत्पन्न हुआ कैसे कहें

श्री योगवशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौ छवां सर्ग समाप्त॥१०६॥

एकसौ पाँचवाँ सर्ग

राम विश्रान्ति वर्णन

वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! न कोई द्रष्टा न दृश्य है। सब कुछ निर्विकार ब्रह्म सत्ता ही अपने आपमें स्थित है जैसे वृक्षके भुण्ड में दूसरेसे भ्रमवश मनुष्य भासते हैं वैसेही अज्ञानी को जगत भासता है। किन्तु हमको तो सर्वदा वह आत्मसत्ता ही अपने आपमें भासित होती है, न सुषुप्ति है, न स्वप्न है। सब कुछ आभास मात्र आत्मसत्ता ही स्थित है।

यह सुनकर रामजी ने वशिष्ठजीसे कहा—हे भगवन्! यह महान आश्चर्य है कि अब तक मैं अज्ञान से जगत को ही देखता था। किन्तु यह जगत तो कुछ हुआ नहीं, केवल अज्ञान से ही भासित होता है। परन्तु अब मुझे पूर्ण निश्चय होगया कि यह न तो पहले था और न आगे होवेगा। सब कुछ शान्त और निरावलम्बरूप विज्ञान घन सत्ता ही अपने आपमें सर्व व्यापक हो रही है। उसमें भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। सारा जगत अनुभव रूप ही है। हे मुनीश्वर! अब आपकी कृपा से मुझे ऐसा निश्चय हो गया है कि यह जगत अविचार मात्र से ही सिद्ध है और विचार करने से नष्ट हो जाता है। परन्तु यह तो देखिये कि इस असत्यरूप अविद्या ने किस प्रकार जगत को मोहित कर रखा है। सो यह अविद्या कुछ वस्तु है नहीं अपना सङ्कल्प-विकल्प ही अपने को बन्धन कर रहा है। विचार आया नहीं कि इसका पता भी नहीं लगता। जैसा रस्सी में भ्रमवश सर्पका भान हो जाता है और जब वह भ्रम नहीं रहा तब रस्सी ही जान पड़ती है वैसेही आत्मामें भ्रमके दूर होने यह से यह अविद्यारूप जगत नष्ट हो जाता है। जैसे बन्ध्याका पुत्र भ्रममात्र है और स्वप्न में मरना भ्रम मात्र है वैसेही यह अविद्या रूप जगत भ्रममात्र है और

असत्य ही भासता है प्रमाणरूप नहीं है। प्रमाण तो उसे कहते हैं कि जो यथार्थतः ज्ञानका साधक होवे। किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी यथार्थ रूपमें कर्ता नहीं है क्योंकि वस्तुरूप आत्मा है सो यह भी जैसे का तैसा नहीं भासता और सोया रहता है। ज्ञानवान और विचारवान हो जावे तो जगत कुछ नहीं रहता। हे मुनीश्वर! यह जगत कुछ वस्तु नहीं सब कल्पना मात्र ही है। आत्मा में जैसा २ संकल्प हुआ है वैसाही जगत भासने लगा है। जैसे यदि कोई पुरुष स्वर्ग में बैठा होवे और उसके हृदय में यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो जावे तो उसके लिये वह स्वर्ग भी नरक के समान ही है। ऐसे ही यह सारा जगत वासनामय है। उसमें आरम्भ परिणाम युक्त यह जगत कुछ नहीं बना, चित्त में ही स्थित है। हे मुनीश्वर! अब मुझे निश्चय होगया कि यह जगत न आगे कुछ था, न अब है और न आगे होगा, केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। वही सर्व सत्त, अद्वैत, मौनरूप और निर्विकल्प सर्व साधारण एवं परम मुनीश्वरों के भी सेवने योग्य है। हे भगवन्! सो अब मैं उस पदको प्राप्त हो गया और अब मुझे कोई दुःख नहीं रहा। अब मुझको सारा जगत आत्मरूप ही भासता है। अब मुझे ज्ञात होगया कि विद्या, अविद्या, सुख, दुःख कोई नहीं है, मैं सर्वदा अपने आप पदमें ही स्थित हूँ। वह पद ऐसा है कि और किसी उपाय से नहीं जाना जाता वरन् अपने आप ही जाना जाता है। वह ऐसा भी नहीं है कि कुछ शब्द बोल कर उसे किसी पर प्रकट किया जासके। वह आपही जानने योग्य और बोधस्वरूप ही है। उसमें यह भ्रम पूर्ण जगत कुछ नहीं बना, सब कुछ आत्मा ही है। फिर उसमें ज्ञान और अज्ञान भी कहां रहा? सब कुछ तो सूर्य रूप ही उदय हुआ है। जैसे स्वरूप से जागने पर स्वप्न का अन्धकार और प्रकाश कुछ भी नहीं रहता वैसेही उसमें जाग्रत होने पर द्वैत का सर्वथा ही अभाव होजाता है संवेदन ही जगत रूप से भासित हो

रहा है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं होता वैसे ही आत्मा और जगत में कुछ भेद नहीं है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं होता, वैसेही आत्मा और जगत में कुछ अन्तर नहीं होता। आत्मा और जगत दोनों ही अभेद रूप हैं। अज्ञानी ही इसे सत्य जानता है। किन्तु जो ज्ञानवान हैं वे अपने स्वभाव में ही स्थित हैं। उन्हें जगत की सत्यता नहीं भासती। वे जगत की ओर से सर्वदा ही सोये रहते हैं। सो हे मुनीश्वर! अब मैं अपने आपमें जागृत हुआ हूँ और मुझे सारा जगत अपना आपही भासता है। अब मुझे दुःख कोई नहीं है।

रामजी के ऐसा कहने पर वशिष्ठजी बोले हे रामजी! निश्चय ही अब तुम अपने आप जाग गये हो और यह तुम्हारा बड़ा कल्याण हुआ। हे राघव! जो अपने आप स्थित हो जाता है उसको व्यवहार और समाधि दोनों ही अवस्थायें एक समान हो जाती हैं वह जगत के व्यवहारों में भी लगा रहता है तो भी उसको निश्चय में कर्तापन का कुछ भी अभिमान नहीं होता है और वह सर्वदा ही परमध्यान में स्थित रहता है। जैसे पाषाण की शिला में स्पन्दता कुछ नहीं रहती वैसे ही उनको कुछ कर्तव्य बुद्धि नहीं होती और उनका शरीराभिमान नष्ट हो जाता है तथा अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हुये रहते हैं। वह आत्मपद परम शान्तरूप और द्वैत कल्पना से सर्वथा ही रहित और एकपद है वही कहलाता है और उसको मोक्ष भी कहते हैं। हे रामजी! मैं उसी पद में सर्वदा ही स्थित रहता हूँ। यह ब्रह्मा और विष्णु आदिक जितनी भी ऊँची आत्मायें हैं सब उसी पद में स्थित रहते हैं। यद्यपि वे देखने में अनेक प्रकार की चेष्टा भी करते हैं तो भी सर्वदा शान्तरूप ही रहते हैं। उनको क्रिया और समाधि दोनों में एक ही भासता है और इस प्रकार उन्हें आत्मा का ही निश्चय रहता है जैसे वायु और स्पन्द दोनों एकही है, जल और तरङ्ग ठहरने में एकही वैसे ही हैं ज्ञानी दोनों

में ही एक समान है। आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं होता। वैसे ही तुम्हारी कृपा से मुझे कोई कल्पना नहीं फुरती और ब्रह्मा, विष्णु रुद्र आदिक जो कुछ कीट पतङ्ग आदिक हैं सब मुझे आकाशरूप और अपना आपही भासित होता है। इस प्रकार मैं अपने आप में ही स्थित और अद्वैत रूप ही हूँ। मुझमें जगत की कोई कलना नहीं है। चित्तका संवेदन ही जगत रूप से भास रहा है। मैं स्वरूप से कभी भी चलायमान नहीं होता। हे रामजी! ऐसे ही मैं तुमको भी जानता हूँ कि तुम अब जाग गये हो किन्तु मेरा कहना यह है कि अभी तुम मुझसे और भी प्रश्न करो ताकि जो कुछ शंका तुम में और बैठी हो वह भी निकल जाये। रामजी ने कहा—हे भगवन्! इस जगत के सम्बन्ध में आपसे तो मैं तब पूछूँ कि जब मुझे जगत कुछ भासता होवे। मुझे जगत का कुछ आकार ही नहीं भासता। फिर जगत के सम्बन्ध में आपसे और क्या पूछूँ?

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाणप्रकणउत्तरार्द्ध का एकसौ सातवा सर्ग समाप्त ॥१०७॥

—०—

एकसौआठवाँ सर्ग

गुरु और शास्त्र

वाल्मीकि जी बोले—हे भारद्वाज! ऐसा कहकर रामजी मौन हो गये और एक घड़ी तक वैसे ही चुप साधे बैठे रहे। उन्हें देख कर सबको ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों अब उनके मनकी वृत्ति आत्मपद में स्थित हो गई है। पश्चात् वे वशिष्ठजी से बोले हे मुनीश्वर! अब यों तो मुझे शंका कोई नही रही तो भी मैं एक अत्यन्त ही कोमल प्रश्न आपसे करता हूँ, कृपाकर मेरे इस संशय को दूर कीजीये। हे भगवन्! आत्मा तो मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है तब वह गुरु शास्त्रों द्वारा कैसे जाना जा सकता है। वशिष्ठजी बोले—हे रामजी! दोनों

ही हो सकता है। गुरु और शास्त्र के द्वारा नहीं जाना जाता और गुरु और शास्त्र बिना भी उसका ज्ञान नहीं होता। शास्त्र भी नाना प्रकार के विकल्प ही हैं। तब भला उनसे निर्विकल्प का ज्ञान कैसे हो सकता है? इस प्रकार एक उदाहरण देता हूं। देखो एक समय व्यवधान देश में घोर दुर्भिक्ष पड़ा, लोग अन्न जल से दुःखी होकर मरने लगे। सारे देश में महान् चिन्ता उत्पन्न हो गई। प्रत्येक मनुष्य यही सोचा करता कि किस प्रकार से हमारा उदर पोषण होवे। तब इस दुःख से कुछ लोग बनमें लकड़ियां बटोरने चले जाते कि इसीसे हमारा कष्ट दूर होजावे दिनभर बनमें लकड़ियाँ चुनें और संध्या समय उसे बाजार में लाकर वेच देवें और जो कुछ मिले उसीमें उदर पोषण करें। इसप्रकार लोग नित्य ही लकड़ियाँ बटोर कर बाजार में बेच खाते थे। एक दिन किसीको बहुतसी चन्दनकीलकड़ी मिली। वह लाकर उसने बाजार मेंबेची तो उसे बहुत पैसे मिले। ऐसे ही किसी को ढूढ़ते २ रत्न मिल गये कि जिससे उनको महान् ऐश्वर्य प्राप्त हुआ और तब से उन्होंने लकड़ी इकट्ठा करना और वेचना छोड़ दिया। तब और भी दूसरे२ प्रान्तों में जाकर रत्नसे भी अधिक कुछ और हीढूँढ़ने लगे और इस प्रकार ढूंढ़ते२ उन्हें चिन्तामणि हाथ लग गई। फिर तो उनको अद्भुत ऐश्वर्य प्राप्त हो गया और तब वे मानो इन्द्र और ब्रह्मा ही हो गये। हे रामजी? इस प्रकार जिसने उद्यम द्वारा बन का सेवन किया उन्हें अत्यन्त सुख प्राप्त हुआ और लकड़ियाँ उठाते२ उनका उदर पोषण हुआ और इस प्रकार उनको समस्त दुःख नष्ट होगये जिनके चन्दन की लकड़ी मिली उनके तो उदर पोषण के साथ साथ अन्य दुःख भी मिट गये और जिनको चिन्तामणि मिली उनके तो जानो सभी दुःख नष्ट हो गये और वे परम शोभा को प्राप्त हुए किन्तु सबको बन से ही प्राप्त हुआ और जो बनमें नहीं गये आलसी बनकर गृह में ही बैठे रह गये उनको मृत्युने ग्रास करके ही छोड़ा। हे रामजी! ऐसे ही समस्त जीवों को अज्ञानरूपी आपदा लगी हुई है। किसी को आध्यात्मिक है

किसी को आधिदैविक और किसी को आधिभौतिक ताप जला रहे हैं। आध्यात्मिक क्रोध आदिक मानसिक ताप कहलाते हैं और आधिदैविक है ग्रह आदि का अनिच्छित दुःख प्राप्त हो जाना ऐसे ही आधिभौतिक दुःख वह कहलाता है कि जो शरीर के दुःख होवें जैसे वात, पित्त और कफ आदिक। इन सबकी निवृत्ति के लिये शास्त्र-रूपी वन बसा हुआ है। जो इस वनमें जाता है वह अवश्य ही सुखी होता है जिसका जो अर्थ होता है उसे शास्त्ररूपी वन पूरा कर देता है। शास्त्रों के सेवन से सत्कर्म रूपी लकड़ियाँ प्राप्त होजाती हैं और उनसे नरक रूपी उदर पूर्ण होता है, वे स्वर्ग का सुख पाते हैं। ऐसेही शास्त्ररूपी वन की सेवा करते २ उपासनारूपी वह चन्दन का वृक्ष प्राप्त होता है कि जिसमें दुःखों की निवृत्ति के साथ-साथ और भी कई प्रकारके विशेष सुख प्राप्त होजाते हैं। जब शास्त्रानुसार जो अपने इष्टदेव की (जैसा जिसका इष्ट हो) सेवा करता है तब उसे वैसा ही सुख प्राप्त होता है। तब उसी प्रकार शास्त्ररूपी वन की सेवा करते रहने से विचाररूपी विशेष रत्न प्राप्त होजाते हैं कि जिससे सत्यासत्य का विचार होकर सारे दुःखों का नाश होजाता है और जैसे चन्दन और लकड़ियां आदिक पदार्थ तो वन में प्रकट थे और चिन्तामणि गुप्त थी वैसे ही शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पदार्थ गुप्त हैं—जो खोजता है वह पाता है। उसको खोजने की विधि यह है कि वैराग्य और अभ्यास के बलसे उसे खोजे। इसी प्रकार ये शास्त्र और गुरु वनरूप हैं, इनमें जो जैसी खोज करेगा वह वैसी वस्तु को पावेगा। गुरु और शास्त्र हृदय की मलीनता को नष्ट कर देते हैं। अज्ञानी रहने से तो यही अच्छा है कि गुरु और शास्त्र की ही शरण जावे। शास्त्र में सब कुछ है। जिसकी जो इच्छा हो वह ले लेवे। शास्त्र में भोग भी है और मोक्ष भी है अज्ञानी भोग चाहते हैं और ज्ञानी मोक्ष। अतः आत्मपद पाने के लिये शास्त्र का श्रवण करना ही उचित है।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौआठवां सर्ग समाप्त ॥१०८॥

एकसौ नावां सर्ग

हे रामजी ! जितना कुछ सिद्धान्त मुझे कहना था सो मैंने तुमसे कह दिया। इसको बारम्बार कहने सुनने और विचार करने से बुद्धिमान तो बुद्धिमान ही हैं किन्तु मूढ़ भी बुद्धिमान हो जायगा। हे रामजी ! इस जगत की नश्वरता के सम्बन्ध में ही मैंने पहले तुम्हें उत्पत्ति प्रकरण सुनाया है और उसमें तुम्हें यह बतला दिया है कि जगत चित् संवेदन के स्फुरण से ही उत्पन्न हुआ है। तब वह फुरना क्या है—यह समझने के लिये ही मैं ने तुम्हें उपशम-प्रकरण सुनाया है। हे रामजी ! जब मन उपशम हो जाता है तब जगत की कल्पना भी नहीं होती। उसके पूर्व मैंने तुम्हें मुमुक्षु प्रकरण सुनाया है। उसमें मैंने तुम्हें आत्मज्ञान उत्पन्न होने का उपाय बतलाया है और यह भी कहा है कि ज्ञानियों का वह लक्षण है। उसके पूर्व वैराग्य प्रकरण कहा है। यह सबसे पहली और आरम्भिक अवस्था का उपदेश है। इस बाल्य अवस्था में पहले सन्तों का साथ करके सच्छास्त्रों का विचार करना चाहिये, इस प्रकार के अभ्यास द्वारा आत्मपद प्राप्त होता है। फिर तो उसके हृदय में समतारूपी बुद्धि बैठ जाती है और वह मनुष्य सबका सुहृद हो जाता है। हे रामजी ! सुहृदयता मनुष्य की परम आनन्दरूप माता है कि जो सर्वदा ही उसके साथ बनी रहती है। वह उस पुरुष को वैसा ही अपना परम प्रिय समझती है कि जैसे किसी अपने सुन्दर पुरुष को देखकर उसकी स्त्री प्रसन्न होती है और उसके अभाव में अपना प्राण त्यागना भी स्वीकार करती है किन्तु उस पुरुष को नहीं त्यागती वैसे ही जो पुरुष ज्ञान-लक्ष्मीजी से सुन्दर कान्ति वाला है उसे समता, मुदिता और सुहृदयतारूपी स्त्री नहीं त्यागती और उसके शुभाचार से वह पुरुषभी परम प्रसन्न ही रहता है। हे रामजी ! जिसको ज्ञान प्राप्त होजाता उससे अधिक प्रसन्न कोई नहीं रहता। समताके कारण मनुष्यके पास द्विधारूपी अन्धकार नहीं आता और उसके हृदय के समस्त ताप नष्ट होजाते हैं। सुहृदयता मनुष्यका

परम सौभाग्य सूचक है। जैसे चन्द्र किरणों द्वारा अमृत को पान करके चकोर तृप्त होजाता है वैसेही आत्मारूपी चन्द्रमा की समता और सुहृद्-यता को पाकर व्रत आदिक चकोर प्रसन्न एवं तृप्तहो जाते हैं। फिर तो वह ज्ञानवान् ऐसी शोभा को प्राप्त हो जाता है कि जो फिर कभी नहीं मिटती। चन्द्रमा में तो फिर भी कालिमा होती है है किन्तु ज्ञानवान् का मुख सर्वदा ही प्रकाशवान एवं निर्मल होता है। हाँ, उसकी उपमा चिन्तामणि के समान भले ही हो सकती है। उसे राग-द्वेष कुछ भी नहीं होता और वह सर्वदा ही प्रसन्न रहता है। सब लोग उसके कृत्य की प्रशंसा एवं स्तुति करते हैं। वह ब्रह्मादिकों के भी पूजने योग्य है और सभी लोग उसका मान और उसकी इज्जत करते हैं। उसके दर्शनों की सभी को इच्छा होती है और सब लोग उसका दर्शन करके प्रसन्न होते हैं। उसको देखकर सबको उत्साह प्राप्त होता है और वह चाहे जो करे उसकी निन्दा कोई भी नहीं करता। वह समदर्शी हो जाता है। शत्रु भी उसके मित्र होजाते हैं और इस प्रकार समता से वह सभी का सुहृद एवं मित्र हो जाता है। उसको अग्नि, जल और वायुका भय नहीं रहता और वह जैसी कुछ इच्छा करता है वैसा ही सिद्ध होता है। वह अतोल हो जाता है और उसके समान सांसारिक मनुष्य तुच्छ हो जाते हैं। वह अपने शत्रु को भी मित्र बना लेता है। सो हे रामजी! अब तुम निश्चय ही आत्मपद में जाग गये हो और अब तुम्हारा राग द्वेष नष्ट हो गया है। मुझे भी तुमसे जो कुछ कहना था, कह चुका। अब तुम निर्द्वन्द होकर विचरो तुम्हें कोई भी शङ्का न रहेगी और अब इस प्रकार तुम्हें क्षय और अतिशय से रहित पद प्राप्त हो गया है। ऐसा कहकर वशिष्ठजी चुप होगये। तब समस्त सभा के लोग उनकी ओर एक टक देखने लगे और आकाश से फूलों की अपार वृष्टि हुई। देवताओं ने वशिष्ठजी को धन्य-धन्य कहा। तब उन वशिष्ठजी का वारम्बार चन्दनादि से पूजन कर राजा दशरथ ने हाथ जोड़कर कहा—हे भगवन्! आपकी कृपामृत वाणी से हम सर्वथा ही कृत कृत्य

होगये और इस प्रकार सर्वदा ही आप हमारा उपकार ही करते हो कि जिससे हम सर्व ऐश्वर्यों से सम्पन्न होगये हैं। सो हे भगवन्! हम आपकी क्या पूजा करें और आपको क्या धन्यवाद दें, यह हमारा जो कुछ राज्य है और हमने जो कुछ लोक में यश और परलोक में पुण्य प्राप्त किया हो वह सब कुछ आज तुम्हारे चरणों में अर्पित करता हूं। ऐसा कहकर राजा दशरथ वशिष्ठजी के चरणों में गिर पड़े। तब वशिष्ठजी ने कहा हे राजन्। तुम्हें भी धन्यवाद है कि जो तुम में ऐसी श्रद्धा विद्यमान है। हमारा क्या है, हम तो ब्राह्मण हैं। हमको राज्य तो करना नहीं है, भला हम ब्राह्मण राजकीय व्यवहारों को क्या जान सकते हैं इस से आप अपना राज्य तो आपने ही पास रखें हाँ, मैं आपके शरीर को अपना ही शरीर जानता हूँ और यह जो तुम्हारे चार पुत्र हैं इन्हें मैं अपना ही पुत्र करके जानता हूँ। हम तो तुम्हारे ही प्राण में स्थित हैं और यह राज्य हमने ही तुमको दिया है। तब राजा दशरथ ने कहा—हे भगवन्! यह सब तो आपकी ही विभूति है, इसमें मेरा कुछ नहीं है। परन्तु मैंने जो आप से यह मोक्ष उपायक शास्त्र श्रवण किया है उसकी दक्षिणा में आपको किस रूप में दूं—यह मुझे कुछ नहीं जान पड़ता। अतः मैं आपका सविधि पूजन ही किया चाहता हूं। क्योंकि आप सब देवों के देव हैं। आप समग्र ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं। हे भगवन्! आपको यह भी कहते मुझे लज्जा ही आ रही है। तब मैं किस विधि से आपको उपमा दूँ, मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता। तब वशिष्ठजी ने कहा—बैठो राजन्! बैठो। दशरथजी बैठ गये। तब रामजी बड़ी ही नम्रता पूर्वक उठकर बोले—हे सर्व संशयों के नाश कर्ता सूर्य! आपका पूजन हम किस प्रकार करें? अब तो आपके उपदेशों से मैं समझता हूँ कि मेरे गृह में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसे लेकर मैं आप की पूजा करूँ। सो हे गुरुदेव मैं आपको केवल नमस्कार ही करता हूँ। ऐसा कहकर रामजी वशिष्ठजी के चरणों में गिर पड़े। तब वशिष्ठजी ने कहा—अच्छा-अच्छा बहुत हुआ, अब बैठ जाओ। रामजी भी

बैठ गये। उनके नेत्रों से जल बहने लगा। तब तक लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न और राजर्षि ब्रह्मर्षि आदिक उठकर अर्घ्यपाद्य से वशिष्ठजी का पूजन करने लगे और इस प्रकार फूल मालाओं से वशिष्ठजी का शरीर ऐसा ढँक गया कि जब उन्होंने अपने हाथसे फूलों को हटाया तब उनका मुख दिखलाई पड़ा। तब उन्होंने व्यासदेव, वामदेव, विश्वामित्र और नारद और अत्रि तथा भृगु आदिक ऋषियों से कहा—हे सन्तों! अब तक तो मुझे जो कुछ ज्ञात था सो मैंने कहा। परन्तु अब तुम लोग भी कुछ कहो। तब व्यास आदिक ऋषियों ने कहा—हे तपोधन! जो आपने कहा है उससे न्यूनाधिक्य कहकर भला कौन पाप का भागी होगा। आपके समस्त वचन परमपद पाने के कारण हैं। आपके इन वचनों से तो हमारा जन्म २ का आवरण नष्ट होगया। यद्यपि हम लोग पूर्ण ज्ञानी हैं तथापि पूर्व में हमने जो २ जन्म धारण किये हैं उनकी स्मृति हमारे चित्त में स्थित थी कि जो अब आपके उपदेश से नष्ट हो गई है। इससे अब हम जानते हैं कि न कोई जन्मा है न कोई मरा है, हम अपने ही आप में स्थित हैं। हे मुने! आप समस्त संसार के आचार्य साक्षात् ज्ञान स्वरूप हैं, अतः हमारा आपको नमस्कार ही है ये महाराज दशरथ भी धन्य हैं कि जिनके योग से हमने यह मोक्ष शास्त्र का श्रवण किया है, और यह रामजी तो साक्षात् विष्णु भगवान के अवतार ही हैं सो अब हम इनकी भी स्तुति करते हैं। राजा दशरथ भी स्तुत्य हैं कि जिनके गृह में ये विष्णुरूप राम अवतरित हुए हैं सो हे वशिष्ठजी! हम सभी लोग आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं। आप गुरु के भी गुरु हैं। आपके उपदेश के समान ऐसा युक्ति पूर्ण उपदेश और ऐसे मृदु शब्द तो सरस्वती भी नहीं कह सकतीं। आपको हमारा बारम्बार नमस्कार है।

राम आदिक ऋषीश्वर ऐसा कह ही रहे थे कि स्थित मण्डली वशिष्ठजी पर फूलों की वर्षा करने लगी। यहाँ तक कि वे उसमें फिर ढँक गये और ज्यों ही उन्होंने वे पुष्प अपने शरीर से हटाये कि त्यों ही

आकाशवासी देवता और ब्रह्मर्षि भी अपने २ विमानों में बैठकर उन पर पुष्प वर्षा करने लगे। सब लोग प्रसन्नता से वैसे ही हँसे कि जैसे कोई स्वप्न सृष्टि का कौतुक देखकर जाग उठे और हँसने लगे। तब वशिष्ठजी बोले—हे रघुकुल के चन्द्रमा रूपी रामचन्द्र! कहो अब तुम किस अवस्थामें स्थितहो और अब तुम क्या जान रहे हो? तब रामचन्द्र बोले—हे भगवन्! अब मैं आपकी कृपासे अपने आपही में स्थित हूँ और मुझे दूसरी कोई कल्पना नहीं है। अब मैं परम शक्तिमान हो गया हूँ और अब मुझे संशय कुछ भी नहीं रहा। अब मुझे कोई सङ्कल्प नहीं उठते और मैं सर्वदा ही निरुपाधि भाव से स्थित हूँ। हे भगवन्! आपकी कृपा से मुझे समान पद प्राप्त होगया।

श्री योगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण-उत्तरार्द्ध का एकसौनौवा सर्ग समाप्त ॥१०९॥

——o::❀::o——

एकसौ दसवाँ सर्ग

आनन्दोत्सव

वाल्मीकिजी कहते हैं—हे भारद्वाज! जब रामने ऐसा कहा तब तो सभा मंडल में बड़ा ही हर्ष उत्पन्न हुआ और सब लोग कृत कृत्य होगये तब दशरथ ने खड़े होकर कहा—हे मुनीश्वर! अब हमें परमपद प्राप्त होगया है और अब हमारे सभी ताप नष्ट होगये हैं। अब हमें इस संसार में चलते २ शान्ति और विश्राम प्राप्त हुआ है फिर शान्ति मिलती भी तो कैसे नहीं? आपके दृष्टान्त ही अपूर्व थे। जैसे जेवरी में सर्प, मृगतृष्णा का जल, आकाश में दूसरा चन्द्रमा, गन्धर्वपुर, स्वर्ण में भूषण, सङ्कल्पपुर स्वप्नपुर, वन्ध्या का पुत्र आदि यह कोई साधारण दृष्टान्त नहीं थे। दशरथजी के ऐसा कह चुकने पर रामजी ने हाथ जोड़कर वशिष्ठजी से कहा—हे मुनीश्वर! आपकी कृपा से निश्चय ही अब मेरा तम नष्ट होगया है और अब मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूं। अब मुझे कुछ भी राग-द्वेष नहीं और इस प्रकार अब मैं परम शान्ति को प्राप्त हुआ हूं। सो हे मुनीश्वर! यह आपकी कृपा

ही है। अब मेरे समस्त सन्देह नष्ट होगये और अब मुझे सब कुछ ब्रह्माकार ही भासता है। जब रामजी ऐसा कहकर बैठ गये तब लक्ष्मण जी ने उठकर वशिष्ठजी से हाथ जोड़कर कहा—हे मुनीश्वर! मैं सर्वदा से ही आप सन्तों की वाणी का संग्रह कर रहा था सो अब निश्चय ही उस का यह फल प्रकट हुआ कि आपकी कृपासे मेरे सभी संशय नष्ट होगये और मैं परमपद को प्राप्त होगया। आपके ये वचन चन्द्रमा की किरणों के ही समान शीतल और सर्व तापोंके नष्ट कर्ता हैं। लक्ष्मणजी के ऐसा कह चुकने पर भरत और शत्रुघ्न भी उठे और हाथ जोड़कर वशिष्ठजी से बोले—हे मुनीश्वर! अब आपकी कृपासे मेरे सभी भ्रम नष्ट होगये और अब तो मैं सर्वदा ही अजर अमर हो गया हूँ, नहीं तो इस जगत में आकर क्षण-क्षण में मृत्यु को प्राप्त होता था किन्तु आपकी अमृत वाणी ने मुझे अमृत पिलाकर सदा के लिए अमर बना दिया और अब इस प्रकार हमारे सभी संशय नष्ट होगये और हमें आत्मपद की प्राप्ति हो गई। तब इसी प्रकार विश्वामित्र और नारद आदिक ऋषीश्वरों ने भी महाज्ञानी वशिष्ठजी की कोटिशः प्रशंसा करके उन्हें साधुवाद देने लगे। तदनन्तर वशिष्ठजी ने रामजी से कहा—हे रामजी! अब जो तुमने इस मोक्षोपायक शास्त्रों का श्रवण किया है उसके उपलक्ष्य में सब ब्राह्मणों की यथा योग्य पूजा करके उन्हें ज्ञानमान से सन्तुष्ट करो। राजा दशरथ ने उठकर एक हजार मथुरावासी ब्राह्मणों को भोजन कराया और वस्त्राभूषण हाथी, घोड़े, धन, रत्न, जो कुछ हो सका सबको दान मान देकर सन्तुष्ट किया। आनन्द के बाजे बजे। अङ्गनायें नृत्य करने लगीं। इस प्रकार राजा दशरथ ने बड़ा उत्सव किया। दीन दुखियों को धन देकर सन्तुष्ट कर दिया।

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा, निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध का एकसौ दसवां सर्ग समाप्त ॥११०॥

❀ श्री निर्वाण-प्रकरण का उत्तरार्द्ध ❀

❀ इति श्रीयोगवाशिष्ठ-भाषा छठा प्रकरण समाप्त ❀

—०::❀::०—